वीरसेवामन्दिर-ग्रन्थमालाका आठवाँ ग्रन्थ

तार्किकशिरोमणि श्रीमद्विद्यानन्दस्वामि-विरचिता

आप्त-परीक्षा

स्वोपज्ञाप्तपरीक्षालङ्कृति-टीकायुता

(हिन्दी-अनुवाद-प्रस्तावनादि सहित)

सम्पादक और अनुवादक

न्यायाचार्य पण्डित दरबारीलाल जैन, कोठिया,

जैनदर्शनशास्त्री, न्यायतीर्थ

[सम्पादक-अनुवादक—न्यायदीपिका, अध्यात्मकमलमार्त्तण्ड, श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र और शासनचतुस्त्रिंशिका]

प्रकाशक

वीर-सेवा-मन्दिर,

सरसावा जिला सहारनपुर

प्रथमावृत्ति
१००० प्रति

अगहन वीरनिर्वाण सं० २४७६,
विक्रम सं० २००६,
दिसम्बर १९४९,

लागत मूल्य
आठ रुपये

ग्रन्थाऽनुक्रम

१. समर्पण ३

२. धन्यवाद ४

३. प्रकाशकीय वक्तव्य ५

४. सम्पादकीय ७

५. प्राक्कथन १-६

६. प्रस्तावनागत विषय-सूची ११

७. प्रस्तावना १-५४

८. शुद्धि-पत्र ५५

९. संकेत-सूची ५५

१०. आप्तपरीक्षाकी विषय-सूची ५६

११. मूलग्रन्थ (सानुवाद) १-२६६

१२. परिशिष्ट १-७

- १. आप्तपरीक्षाकी कारिकानुक्रमणिका १
- २. आप्तपरीक्षामें आये हुए अवतरणवाक्योंकी सूची ३
- ३. आप्तपरीक्षामें उल्लिखित ग्रन्थोंकी सूची ४
- ४. आप्तपरीक्षामें उल्लिखित ग्रन्थकारोंकी सूची ५
- ५. आप्तपरीक्षामें उल्लिखित न्यायवाक्य ५
- ६. आप्तपरीक्षागत विशेष नामों तथा शब्दोंकी सूची ५
- ७. प्रस्तावनामें चर्चित विद्वानोंका अस्तित्व-समय ७

3号館

L 253968

10510

J

समर्पण

स्वर्गीय पूज्य पिता पण्डित हजारीलालजीको,
जिनका मुझे मृदुल स्नेह प्राप्त रहा और
जिन्हें मेरी प्रगतिकी निरन्तर आकांक्षा
रही तथा मेरी ६ वर्षकी अवस्था
में ही जिनका स्वर्गवास
हो गया।

दरबारीलाल

धन्यवाद

इस महान् ग्रन्थके प्रकाशनका प्रधान श्रेय श्रीमान् बाबू नन्दलालजी जैन सुपुत्र सेठ रामजीवनजी सरावगी कलकत्ताको प्राप्त है, जिन्होंने श्रुत-सेवाकी उदार भावनाओंसे प्रेरित होकर, गत वर्ष (जुलाई १९४८ में), वीरसेवामन्दिर सरसावाका निरीक्षण करते हुए उसे अनेक ग्रन्थोंके अनुवादादि-सहित प्रकाशनार्थ, दस हज़ार रुपयेकी महती सहायता प्रदान की है और उसी सहायता-से यह ग्रन्थरत्न प्रकाशित हो रहा है। अतः प्रकाशनके इस शुभ अवसरपर आपका साभार स्मरण करते हुए आपको हार्दिक धन्यवाद है।

—प्रकाशक

प्रकाशकीय वक्तव्य

'आप्तपरीक्षा' के साथ मेरा बहुत पुराना प्रेम एवं घनिष्ठ सम्बन्ध है। स्वामी समन्तभद्रकी 'आप्तमीमांसा' के बाद मुझे इसकी उपलब्धि हुई थी। जिस समय यह सबसे पहले मुझे मूलरूपमें देखनेको मिली थी बड़ी ही सुन्दर तथा प्रिय मालूम हुई थी और मैंने उसी समयके लगभग स्वयं अपने हाथसे इसकी प्रतिलिपि की थी, जो अभी तक मेरे संग्रहमें सुरक्षित है। आप्तमीमांसा (देवागम) की तो मुझे एक हिन्दी-टीका मिल गई थी और उस टीकाकी मैंने स्वयं अपने हाथसे विद्यार्थी जीवनमें ही कापी कर ली थी, जो शास्त्राकार पत्रों पर देशी पक्की स्याहीसे की गई थी और वह भी अपने संग्रहमें सुर-क्षित है। एक समय ये दोनों ग्रन्थ मेरे नित्य पाठके विषय बने हुए थे और मैंने जल्दी ही इन्हें कण्ठस्थ कर लिया था। सन् १९०५ के अन्तमें ये दोनों ग्रन्थ प्रथमवार निर्णय-सागर प्रेस बम्बईद्वारा सनातन जैनग्रन्थमालाके प्रथम गुच्छकमें मुद्रित होकर प्रकाशित हुए थे। इस संस्कृत गुटकेमें बारह ग्रन्थरत्न और थे और इससे यह गुटका मेरे जीवनका खास साथी बन गया था।

अपनी शक्ति और योग्यताके अनुसार मैं उस समय आप्तपरीक्षाको मूलपरसे ही लगानेका यत्न करता रहता था। यद्यपि कितनी ही बातें स्पष्ट नहीं हो पाती थीं फिर भी जो स्पष्ट हो जाती थीं उनके सहारे अस्पष्ट बातोंकी महत्ताका कितना ही आभास मिलकर आनन्द होता था और उनको किसी तरह स्पष्ट करनेकी बराबर उत्कण्ठा बनी रहती थी—पासमें तद्विषयक विद्वान्का कोई समागम नहीं था। दैवयोगसे ग्रन्थकार महोदय श्रीविद्यानन्द आचार्यकी स्वोपज्ञ संस्कृत टीकाकी एक प्रति मुझे स्वर्गीय डा० भागीरथलालजीके सौजन्य-द्वारा प्राप्त हो गई, जो उस समय सहारनपुरके डिपोमें डाक्टर थे, अपनेसे बड़ा स्नेह रखते थे और जो बादको फैजाबाद बदल गये थे। यह प्रति उनके रिश्तेदार पं० पन्नाबराय कान्यकुब्ज श्रावकके हाथकी मिती फाल्गुण शुक्ल नवमी बुध-वार संवत् १९५७ की लिखी हुई है, जिनका और जिनकी इस प्रतिका कुछ दिन पहले उन्हींसे परिचय प्राप्त हुआ था और जिनका बादको सहारनपुरमें ही दुःखद देहावसान हो गया था। इस टीकाके, जो बादको काशीसे प्रकाशित भी हो गई, उपलब्ध होने तथा अध्ययन करनेपर मुझे बड़ी प्रसन्नता मिली और उससे कितने ही वे विषय स्पष्ट हो गये जो मूलपरसे स्पष्ट नहीं हो पाये थे; फिर भी कितनी ही नई बातें ऐसी जान पड़ीं जो दर्शनशास्त्रोंके विशिष्ट अध्ययनसे सम्बन्ध रखती थीं और अपना जुदा ही स्पष्टीकरणा-दिक चाहती थीं। और इसलिये मेरे हृदयमें यह भावना बराबर उत्पन्न होती रही कि मूलग्रन्थ और उसकी इस टीकाका यदि अच्छा हिन्दी अनुवाद हो जाय तो लोकका बड़ा उपकार हो। दो-एक विद्वानोंसे इसके लिये निवेदन भी किया पर सफलता नहीं मिली।

हाँ, वीरनि० सं० २४४१ (सन् १९१४) में, पं० उमरावसिंहजीने आप्तपरीक्षा मूल-का हिन्दी अनुवाद करके उसे बनारससे प्रकाशित किया। यह अनुवाद, जो कि उनका इस विषयका प्रथम प्रयास था, अपने साहित्य और प्रतिपादनकी शैली आदिपरसे

मुझे पसन्द नहीं आया—ग्रन्थ गौरवके अनुकूल ही नहीं जँचा बल्कि उसके गौरवको कुछ कम करनेवाला भी जान पड़ा—और इसलिये टीकाके साथ मूलके समुचित अनुवादका भी अभाव बराबर खटकता ही रहा।

अन्तको अपने वीरसेवामन्दिरमें न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजी कोठियाकी योजना हो जाने और उनके द्वारा न्यायदीपिका-जैसे ग्रन्थका अनुवादादिक सम्पन्न हो जानेपर यही उचित समझा तथा निश्चय किया गया कि इस सटीक ग्रन्थका अनुवादादिकार्य उन्हींसे कराया जाय और वीरसेवामन्दिरसे ही इस ग्रन्थरत्नको प्रकाशित किया जाय। तदनुसार कोठियाजीको जून सन् १९४५ में इस ग्रन्थका सम्पादन तथा अनुवाद कार्य सौंपा गया और उन्होंने लगातार परिश्रम करके दो वर्षमें अनुवाद और सम्पादनके कार्यको प्रस्तावना-सहित ५ जून सन् १९४७ को पूरा किया। इसके बाद प्रेसादिकी कुछ परिस्थितियोंके वश यह ग्रन्थ दो वर्ष तक छपनेके लिये नहीं दिया जा सका। इस अर्सेमें विद्वान् सम्पादककी तत्परताके कारण अनुवाद तथा प्रस्तावनामें यथावश्यक संशोधन अथवा परिवर्तनादिका कार्य भी होता रहा है और वह छपनेके समय तक भी चालू रहा है, जिससे अनुवाद तथा प्रस्तावनामें कितनी ही विशेषता आगई है। ग्रन्थकी छपाईका काम अनेक असुविधाओंका सामना करते हुए देहली ठहरकर कराया गया है और कोठियाजीको उसके प्रूफरीडिङ्ग आदिमें बहुत परिश्रम उठाना पड़ा है। जून सन् १९४९ में यह ग्रन्थ अकलंक प्रेसको छपनेके लिये दिया गया था और अधिक-से-अधिक तीन महीनेमें छापकर देनेका वादा था, परन्तु छपनेमें करीब छह महीनेका समय लग गया है। अस्तु।

ग्रन्थ कितना उपयोगी बन गया है और उसका अनुवादादिकार्य कैसा रहा, इसको बतलानेकी यहाँ जरूरत नहीं, विज्ञपाठक ग्रन्थपरसे उसका स्वयं अनुभव कर सकते हैं। अनुवादके विषयमें मेरा इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि वह अपने विषयके एक अधिकारी विद्वानके द्वारा प्रस्तुत किया गया है जिन्हें उसके लिये पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री जैसे प्रौढ विद्वानने अपने उस 'प्राक्कथन' में शुभाशीर्वाद दिया है जो ग्रन्थकी प्रस्तावनापर सुवर्णकलशका काम दे रहा है। और इस तरह प्रकृत ग्रन्थके हिन्दी-अनुवादादिके अभावकी पूर्तिका श्रेय पं० दरबारीलालजी कोठियाको प्राप्त है।

मेरे लिये तो प्रसन्नता तथा गौरवका विषय इतना ही है कि ग्रन्थके जिस अनुवादको देखने आदिकी भावना हृदयमें वर्षोंसे घर किए हुए थी उसे प्रस्तुत करने तथा प्रकाशमें लानेका सत्सौभाग्य मुझे स्वयं ही प्राप्त हो रहा है। अब इस ग्रन्थको पाठकोंके हाथोंमें देते हुए मुझे बड़ी प्रसन्नता होती है और मेरी हार्दिक भावना है कि यह ग्रन्थ अपने प्रभाव-द्वारा लोकमें फैले हुए आप्त-विषयक अज्ञानभाव तथा मिथ्या धारणाओंके विकल्प-जालको छिन्न-भिन्न करके सबको सन्मार्ग दिखाने और सबका हित साधन करने-करानेमें समर्थ होवे।

देहली, दरियागंज
मंगसिर सुदि ११ सं० २००६

जुगलकिशोर मुख्तार
'अधिष्ठाता वीरसेवामन्दिर'

सम्पादकीय

वीरसेवामन्दिरके संस्थापक और अधिष्ठाता माननीय पण्डित जुगलकिशोरजी मुख्तारका विचार जब आप्तपरीक्षा सटीकका हिन्दी अनुवादादि कराकर उसे संस्थासे प्रकाशित करनेका हुआ और उन्होंने जून सन् १९४५ में उसका सब कार्यभार मेरे सुपुर्द किया तो मुझे उससे बड़ी प्रसन्नता हुई; क्योंकि मेरा खुदका विचार भी बहुत अर्सेसे उस कार्यकी आवश्यकताका अनुभव करते हुए उसे करनेका हो रहा था और पण्डित परमानन्दजी शास्त्री तथा जैनदर्शनाचार्य पण्डित अमृतलालजी जैसे कुछ विद्वान् मित्रोंकी प्रेरणा भी उसके लिये मिल रही थी, परन्तु अवकाश तथा समयादिके अभावमें मैं उसे कर नहीं पाता था। इधर आचार्य विद्यानन्दके प्रकाशित दूसरे भी ग्रन्थोंके अशुद्ध संस्करणोंको[1] देखकर बड़ा दुःख होता था और चाहता था कि उनमेंसे किसीकी भी सेवाका मुझे कुछ अवसर मिले। प्रस्तुत संस्करण इसी सब आयोजनादिका फलद्रूप परिणाम है। उसे आज उपस्थित करते हुए विशेष हर्ष होता है।

संशोधन और उसमें उपयुक्त प्रतियाँ—

ग्रन्थका संशोधन तथा सम्पादन दो मुद्रित और तीन अमुद्रित (हस्तलिखित) प्रतियोंके आधारसे किया गया है। अशुद्धियाँ, पाठ-भेद और त्रुटित-पाठ यद्यपि इन मुद्रित तथा अमुद्रित दोनों तरहकी प्रतियोंमें पाये जाते हैं तथापि मुद्रितोंकी अपेक्षा अमुद्रितोंमें वे कम हैं और इसलिये संशोधनमें अमुद्रित प्रतियोंसे ज्यादा और अच्छी सहायता मिली है। इनमें देहलीकी प्रति सबसे प्राचीन है और अनेक स्थलोंमें अच्छे पाठोंको लिये हुए है, अतः सम्पादनमें उसे आदर्श एवं मुख्य प्रति माना है।

इन मुद्रित और अमुद्रित प्रतियोंका परिचय इस प्रकार है:—

मुद्रित प्रथम संस्करण—आप्तपरीक्षा सटीकका पहला संस्करण वी० नि० सं० २४३९ (ई० सन् १९१३) में पं० पन्नालालजी बाकलीवालने श्रीजैनधर्मप्रचारिणी सभा, काशी द्वारा पं० गजाधरलालजी शास्त्रीके सम्पादकत्वमें प्रकाशित कराया था, जो अब अलभ्य है और काफी अशुद्ध है।

मुद्रित द्वितीय संस्करण—दूसरा संस्करण वी०नि० सं० २४५७ (ई० सन् १९३०)में श्रीविहारीलालजी कठनेराने अपने जैनसाहित्यप्रसारक-कार्यालय, बम्बई द्वारा प्रकट कराया था। यह संस्करण पहले संस्करणका ही प्रतिरूप है और इसलिये उसकी वे सब अशु-

---

१ जिस मुद्रित अष्टसहस्रीको शुद्ध संस्करण समझा जाता है वह भी मुनि पुण्यविजयजीके सौजन्यसे प्राप्त वि० सं० १४९४ की लिखी हुई एक प्राचीन प्रतिसे मिलान करनेपर काफी अशुद्ध और त्रुटित जान पड़ी है। उसके संशोधन तथा त्रुटित पाठ वीरसेवामन्दिरकी मुद्रित प्रतिपर ले लिये गये हैं, अवसर मिलते उस पर भी कार्य करनेका विचार है। —सं०।

द्धियाँ इसमें भी दुहराई गई हैं। इतनी विशेषता है कि यह १६ पेजी साइजमें छपा है जब कि प्रथम संस्करण २२×२९=८ पेजी साइजमें । इन दोनों मुद्रितोंकी 'मु' संज्ञा रखी गई है। अमुद्रित प्रतियोंका परिचय निम्न प्रकार है—

'द'—यह देहलीके पंचायती मन्दिरकी प्रति है। इसमें कुल ५६ पत्र हैं जिनमें अंतिम पत्र उद्धारके रूपमें पिछले जीर्ण पत्रके स्थानपर लिखा गया जान पड़ता है और उसपर समय-सूचक अन्तिम पुष्पिका-वाक्य इस प्रकार दिया हुआ है—"॥छ॥ शुभमस्तु इत्याप्त-परीक्षा समाप्तम् (प्ता) संवत् १५७८ वर्षे श्रावणसुदि ३ शनौ ॐ ॥ श्री ॥ श्री ॥" यह प्रति कुछ अशुद्ध है और कुछ जगह पंक्तियाँ भी छूटी हुई हैं, किन्तु अनेक पाठ इसमें अच्छे उपलब्ध हुए हैं। यह जीर्ण प्रति बा० पन्नालालजी अग्रवाल देहलीकी कृपासे प्राप्त हुई।

'प'—यह मुख्तारसाहबके संग्रहमें मौजूद पं० पंजाबरायके हाथकी लिखी हुई प्रति है।

'स'—यह वीरसेवामन्दिर, सरसावाकी सीताराम शास्त्री द्वारा सं० १९६६ की लिखी हुई प्रति है। इसमें ११० पत्र, प्रत्येक पत्रमें २४-२४ पंक्तियाँ और प्रत्येक पंक्तिमें २८-२८ के करीब अक्षर हैं।

प्रस्तुत संस्करणकी आवश्यकता और उसकी विशेषताएँ—

इस संस्करणसे पूर्वके दोनों मुद्रित संस्करणोंमें न कहीं पैराग्राफ हैं और न कहीं विषय-विभाजन। पढ़ने और पढ़ानेवालोंको वे एक बीहड़ जंगल-से मालूम पड़ते हैं—कहाँ ठहरना और कहाँ नहीं ठहरना, यह भी उनसे सहजमें ज्ञात नहीं होता। अशुद्ध भी वे काफी छपे हुए हैं। इधर आप्तपरीक्षाकी लोकप्रियता उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। विद्वानों, विद्यार्थियों और स्वाध्यायप्रेमियोंमें वह विशिष्ट स्थान प्राप्त किये हुए हैं। गवर्नमेन्ट संस्कृत कालेज बनारसकी जैनदर्शनशास्त्रिपरीक्षा, बंगाल संस्कृत एसोसिएशन कलकत्ताकी जैन न्यायमध्यमा, माणिकचन्द परीक्षालय बम्बई तथा महासभा परीक्षालय इन्दौरकी विशारद परीक्षाओंमें भी वह सन्निविष्ट है। ऐसी स्थितिमें उसके सर्वोपयोगी और शुद्ध संस्करणकी बड़ी आवश्यकता बनी हुई थी। उसीकी पूर्तिका यह संस्करण एक प्रयत्न है। इस संस्करणकी जो विशेषताएँ हैं वे ये हैं:—

१. मूलग्रन्थको प्राप्त प्रतियोंके आधारसे शुद्ध किया गया है, और अशुद्ध पाठों अथवा पाठान्तरोंको फुटनोटोंमें दे दिया गया है। ग्रन्थसन्दर्भानुसार अनेक स्थानोंपर कुछ पाठ भी निक्षिप्त किए गए हैं, जो मुद्रित और अमुद्रित दोनों ही प्रतियोंमें नहीं पाये जाते और जिनका वहाँ होना आवश्यक जान पड़ा है। ऐसे पाठोंको [ ] ऐसी ब्रेकटमें रख दिया है और प्रस्तावनाके अन्तमें शुद्धि-पत्रके नीचे निक्षिप्त-पाठ उपशीर्षकके साथ उनका संकलन भी एकत्र कर दिया है।

२. मूलग्रन्थमें पैराग्राफ, उत्थानिकावाक्य, विषयविभाजन (ईश्वर-परीक्षा, कपिल-परीक्षा आदि) जैसा निर्माण कार्य किया गया है।

३. अवतरणवाक्योंके स्थानोंको ढूंढ़कर उन्हें [ ] ऐसी ब्रेकटमें दे दिया है। अथवा स्थानका पता न लगनेपर ब्रेकटको खाली छोड़ दिया है।

४. मूलकारिकाओं और टीकाका साथमें हिन्दी अनुवाद उपस्थित किया गया है। अनुवादको मूलानुगामी और सरल बनानेकी पूरी चेष्टा की गई है। इससे आप्तपरीक्षाके दार्शनिक विषयों और गहन चर्चाओंको हिन्दीभाषा-भाषी भी समझ सकेंगे और उनसे लाभ ले सकेंगे।

५. ग्रन्थके साथमें परिशिष्ट भी लगाये गये हैं, जिनकी संख्या सात है और जिनमें आप्तपरीक्षाकी कारिकानुक्रमणी, अवतरणवाक्यों, उल्लिखित ग्रन्थों, ग्रन्थकारों, न्याय-वाक्यों, विशेष शब्दों एवं नामों और प्रस्तावनामें चर्चित विद्वानोंके समयका संकलन किया गया है।

६. चउअन (५४) पृष्ठकी उपयोगी प्रस्तावना निबद्ध की गई है जो इस संस्करण की और भी खास विशेषता है और जिसमें ग्रन्थ तथा ग्रन्थकार एवं उनसे सम्बन्धित दूसरे विद्वानों आदिके विषयमें यथेष्ट ऊहापोह किया गया है।

७. समाजके बहुश्रुत विद्वान् और स्याद्वादमहाविद्यालय काशीके प्रधानाध्यापक माननीय पण्डित कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीद्वारा लिखे महत्वके प्राक्कथनकी भी योजना की गई है।

आभार

प्रकृत कार्य मेरे अनुग्राहक महानुभावोंकी सहायताका ही सुफल है, अतएव उनके प्रति मेरा मस्तक नत है। माननीय गुरुवर्य पं० कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीने मेरी प्रेरणा और प्रार्थनाको स्वीकार करते हुए अपना विचारपूर्ण 'प्राक्कथन' भेजकर अनुगृहीत किया और अपना हार्दिक आशीर्वाद भी प्रदान किया। माननीय मुख्तारसाहब, अधिष्ठाता वीरसेवामन्दिरने मेरे लिये वे सब सुविधाएँ प्रदान कीं जिनसे मैं ग्रन्थको इस रूपमें उपस्थित कर सका। साथमें जब मुझे उनसे कोई बात पूछनी पड़ी तो उसका उन्होंने आत्मीयभावसे उत्तर दिया। माननीय पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यने कुछ अवतरणवाक्योंके स्थल खोजकर भेजनेकी कृपा की। मित्रवर पं० परमानन्दजी शास्त्रीने 'सुदंसणचरिउ' की प्रशस्ति आदि देकर मेरी सहायता की। बन्धुवर पं० अमृतलालजी जैनदर्शनाचार्यने अपनी सहज प्रेरणा और परामर्श दिये। श्रीमान् पं० अजितकुमारजी शास्त्रीने ग्रन्थके प्रकाशनमें तत्परता दिखाई और मेरे साथ कुछ प्रूफोंके पढ़ने-पढ़वानेमें मदद पहुंचाई। इन सब सहायकोंके तथा जिन विद्वानोंके ग्रन्थों, लेखों प्रस्तावनाओं आदिसे कुछ भी सहायता मिली है उनके और उल्लिखित प्रतिदाताओंके प्रति मैं अपना हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ।

दरियागंज, देहली,
१ दिसम्बर १९४९ }

दरबारीलाल कोठिया

———

प्राक्कथन

आप्तका अर्थ है–प्रामाणिक, सच्चा, कभी धोखा न देनेवाला, जो प्रामाणिक है, सच्चा है वही आप्त है। उसीका सब विश्वास करते हैं। लोकमें ऐसे आप्त पुरुष सदा सर्वत्र पाये जाते हैं जो किसी एक खास विषयमें प्रामाणिक माने जाते हैं या व्यक्ति-विशेष, समाजविशेष और देशविशेषके प्रति प्रामाणिक होते हैं। किन्तु सब विषयोंमें खासकर उन विषयोंमें जो हमारी इन्द्रियोंके अगोचर हैं सदा सबके प्रति जो प्रामाणिक हो ऐसा आप्त-व्यक्ति प्रथम तो होना ही दुर्लभ है और यदि वह हो भी तो उसकी आप्तताकी जाँच करके उसे आप्त मान लेना कठिन है।

प्रस्तुत ग्रन्थके द्वारा आचार्य विद्यानन्दने उसी कठिन कार्यको सुगम करनेका सफल प्रयास किया है।

वैदिक दर्शनोंकी उत्पत्ति—

प्राचीनकालसे ही भारतवर्ष दो विभिन्न संस्कृतियोंका संघर्षस्थल रहा है। जिस समय वैदिक आर्य सप्तसिंधु देशमें निवास करते थे और उन्हें गंगा-यमुना और उनके पूर्वके देशोंका पता तक नहीं था तब भी यहां श्रमण संस्कृति फैली हुई थी जिसके संस्थापक भगवान ऋषभदेव थे। जब वैदिक आर्य पूरबकी ओर बढ़े तो उनका श्रमणोंके साथ संघर्ष हुआ। उसके फलस्वरूप ही उपनिषदोंकी सृष्टि हुई और याज्ञिक क्रिया-काण्डका स्थान आत्मविद्याने लिया। तथा इन्द्र, वरुण, सूर्य, अग्नि आदि देवताओंके स्थानमें ब्रह्माकी प्रतिष्ठा हुई। माण्डूक्य उपनिषदमें लिखा है कि 'दो प्रकारकी विद्याएँ अवश्य जाननी चाहिये—एक उच्च विद्या और दूसरी नीची विद्या। नीची विद्या वह है जो वेदोंसे प्राप्त होती है और उच्च विद्या वह है जिससे अविनाशी ब्रह्म मिलता है।' इस तरह जब वेदोंसे प्राप्त ज्ञानको नीचा माना जाने लगा और जिससे अविनाशी ब्रह्मकी प्राप्ति हो उसे उच्च विद्या माना जाने लगा तो उस उच्च विद्याकी खोज होना स्वाभाविक ही था। इसी प्रयत्नके फलस्वरूप उत्तरकालमें अनेक वैदिक दर्शनोंकी सृष्टि हुई, जो परस्परमें विरोधी मान्यताएँ रखते हुए भी वेदके प्रामाण्यको स्वीकार करनेके कारण वैदिक दर्शन कहलाये।

सर्वज्ञताको लेकर श्रेणिविभाग—

वैदिक परम्पराके अनुयायी दर्शनोंमें सर्वज्ञताको लेकर दो पक्ष हैं। मीमांसक किसी सर्वज्ञकी सत्ताको स्वीकार नहीं करता, शेष वैदिक दर्शन स्वीकार करते हैं। किन्तु श्रमण-परम्पराके अनुयायी सांख्य, बौद्ध और जैन सर्वज्ञताको स्वीकार करते हैं। इसी तरह श्रमण-परम्पराके अनुयायी तीनों दर्शन अनीश्वरवादी हैं, किन्तु वैदिक दर्शनोंमें मीमांसकके सिवा शेष सब ईश्वरवादी हैं। ईश्वरवादी ईश्वरको जगतकी उत्पत्तिमें निमित्तकारण मानते हैं और चूंकि ईश्वर जगतकी रचना करता है

इस लिये उसे समस्त कारकोंका ज्ञान होना आवश्यक है। अतः वे अनादि-अनन्त ईश्वरमें सर्वज्ञताको भी अनादि-अनन्त मानते हैं। अन्य जो जीवात्मा योगाभ्यासके द्वारा समस्त पदार्थोंका ज्ञान प्राप्त करते हैं–यानी सर्वज्ञ होते हैं वे मुक्त हो जाते हैं और मुक्त होते ही उनका समस्त ज्ञान जाता रहता है। अतः ईश्वर मुक्तात्माओंमें विलक्षण है। निरीश्वरवादी दर्शनोंमें बौद्ध तो अनात्मवादी है, सांख्य ज्ञानको प्रकृतिका धर्म मानता है, अतः पुरुष और प्रकृतिका सम्बन्ध छूटते ही मुक्तात्मा ज्ञानशून्य हो जाता है। केवल एक जैन दर्शन ही ऐसा है जो मुक्त हो जानेपर भी जीवकी सर्वज्ञता स्वीकार करता है; क्योंकि उसमें चैतन्यको ज्ञानदर्शनमय ही माना गया है।

सर्वज्ञतापर जोर—

ऐसा प्रतीत होता है कि शुद्ध जीवकी सर्वज्ञतापर जितना जोर जैनदर्शनने दिया तथा उसकी मर्यादाको विस्तृत किया, दूसरे किसी दर्शनने न तो उतना उसपर जोर दिया और न उसकी इतनी विस्तृत रूप-रेखा ही अंकित की। बौद्ध त्रिपिटकोंमें बुद्धके समकालीन धर्मप्रवर्तकोंकी कुछ चर्चा पाई जाती है, उनमें जैनधर्मके अन्तिम तीर्थङ्कर निगंठ नाटपुत्त (महावीर) की भी काफी चर्चा है। उससे[1] पता चलता है कि उस समय लोगोंमें यह चर्चा थी कि निगंठ नाटपुत्त अपनेको सर्वज्ञ कहते हैं और उन्हें हर समय ज्ञानदर्शन मौजूद रहता है। यह चर्चा बुद्धके सामने भी पहुँची थी। इससे भी उक्त धारणाकी पुष्टि होती है।

अतः यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि जैनदर्शनके सर्वज्ञतापर इतना जोर देनेका कारण क्या है?

उसका कारण—

जैनधर्म आत्मवादी है और आत्माको ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि गुणमय मानता है। तथा उसमें गुण और गुणीकी पृथक् और स्वतंत्र सत्ता नहीं है। द्रव्य अनन्त गुणोंका अखण्ड पिण्ड होनेके सिवा और कुछ भी नहीं है। आत्माके वे स्वाभाविक गुण संसार-अवस्थामें कर्मोंसे आच्छादित होनेके कारण विकृत हो जाते हैं। आत्माका स्वाभाविक ज्ञान और सुख गुण कर्मावृत होनेके साथ ही साथ पराधीन भी हो जाता है। जिससे ऐसा प्रतीत होने लगता है कि इन्द्रियोंके विना आत्माको ज्ञान और सुख हो ही नहीं सकता। किन्तु ऐसा है नहीं, इन्द्रियके विना भी ज्ञान और सुख रहता है। अतः जैसे सोनेको आगमें तपानेसे उसमें मिले हुए मलके जलजाने या अलग होजानेसे सोना शुद्ध हो जाता है और उसके स्वाभाविक गुण एकदम चमक उठते हैं वैसे ही ध्यानरूपी अग्निमें कर्मरूपी मैलको जला डालनेपर आत्मा शुद्ध हो जाता है और उसके स्वाभाविक गुण अपने पूर्ण रूपमें प्रकाशमान हो जाते है। आत्माको कर्मरूपी मलसे मुक्त करके अपने शुद्ध स्वरूपमें स्थित करना ही जैनधर्मका चरम लक्ष्य है, उसीका नाम मुक्ति या मोक्ष है। प्रत्येक आत्मा उसे प्राप्त करनेकी शक्ति रखता है। जब कोई विशिष्ट

---

1 बुद्ध चर्या, पृ० २३०।

आत्मा चार घाति कर्मोंको नष्ट करके पूर्ण ज्ञानी हो जाता है तब वह अन्य जीवोंको मोक्षमार्गका उपदेश देता है। इस तरह एक ओर तो वह वीतरागी हो जाता है और दूसरी ओर पूर्ण ज्ञानी हो जाता है। ऐसा होनेसे ही न तो उसके कथनमें अज्ञानजन्य असत्यता रहती है और न राग-द्वेषजन्य असत्यता रहती है। इसीसे स्वामी समन्तभद्रने आप्तका लक्षण इस प्रकार किया है:—

> आप्तेनोच्छिन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना।
> भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत् ॥ ५ ॥—रत्न० श्रा०।

'आप्तको नियमसे वीतरागी, सर्वज्ञ और आगमका उपदेष्टा होना ही चाहिए, बिना इनके आप्तता हो नहीं सकती।'

यह ऊपर लिख आये हैं कि ईश्वरवादियोंने ईश्वरको सर्वज्ञ माना है, क्योंकि वह सृष्टिका रचयिता है, साथ ही साथ वह जीवको उसके कर्मोंका फल देता है, वही उसे स्वर्ग या नरक भेजता है, उसीके अनुग्रहसे ऋषियोंके द्वारा वेदका अवतार होता है। किन्तु जैनदर्शन सृष्टिको अनादि मानता है, कर्मफल देनेके लिये भी किसी माध्यमकी उसे आवश्यकता नहीं है। उसे तो मात्र मोक्षमार्गका उपदेश देनेके लिये ही एक ऐसे आप्त पुरुषकी आवश्यकता रहती है जो राग-द्वेषकी घाटीको पार करके और अज्ञानके बीहड़ जङ्गलसे निकालकर मनुष्योंको यह बतलाये कि कैसे उस घाटीको पार किया जाता है और किस प्रकार अज्ञान दूर हो सकता है?

आत्मज्ञ बनाम सर्वज्ञ—

अब प्रश्न यह हो सकता है कि मात्र मोक्षमार्गका उपदेश देनेके लिए सर्वज्ञ होने की या उस उपदेष्टाको सर्वज्ञ माननेकी क्या आवश्यकता है? मोक्षका सम्बन्ध आत्मासे है अतः उसके लिये तो केवल आत्मज्ञ होना पर्याप्त है। उपनिषदोंमें भी 'यो आत्मविद् स सर्वविद्' लिखकर आत्मज्ञको ही सर्वज्ञ कहा है। बौद्धोंने भी हेयोपादेय तत्त्वके ज्ञाताको ही सर्वज्ञ[1] माना है।

इस प्रश्नका समाधान दिगम्बर[2] और श्वेताम्बर दोनोंके आगमोंमें एक-ही-से शब्दोंमें मिलता है और वह है—'जो एकको जानता है वह सबको जानता है।' क्योंकि आत्मा ज्ञानमय है और ज्ञान प्रत्येक आत्मामें तरतमांशरूपमें पाया जाता है। अतः ज्ञानरूप अंशी अपने सब अंशोंमें व्याप्त होकर रहता है। और ज्ञानके अंश जिन्हें ज्ञान-विशेष कहा जा सकता है, अनन्त द्रव्य-पर्यायोंके ज्ञायक हैं। अतः अनन्त द्रव्य-पर्यायोंके ज्ञायकस्वरूप ज्ञानांशोंसे परिपूर्ण ज्ञानमय आत्माको जानना ही सबको जानना है। आचार्य कुन्दकुन्दने अपने प्रवचनसारमें तर्कपूर्ण आगमिक शैलीमें आत्माकी सर्वज्ञताका सुन्दर और सरल रीतिसे उपपादन किया है। उसके प्रकाशमें जब हम उनके ही नियमसार[3] नामक ग्रन्थके शुद्धोपयोगाधिकारमें आई गाथामें पढ़ते हैं—'व्यवहारनयसे केवली भगवान सबको जानते देखते हैं और निश्चयसे आत्माको जानते हैं' तो

१ हेयोपादेयतत्त्वस्य साभ्युपायस्य वेदकः। यः प्रमाणमसाविष्टो न तु सर्वस्य वेदकः॥ —प्र० वा०।
२ प्रवच० गा० १-४८,४९। ३ गा० १५६।

उससे यह भ्रम नहीं होता कि कुन्दकुन्द केवलज्ञानीको मात्र आत्मज्ञानी ही मानते हैं। क्योंकि वह तो कहते हैं कि जो सबको नहीं जानता वह एकको जान ही नहीं सकता। उनके मतसे आत्मज्ञ और सर्वज्ञ ये दोनों शब्द दो विभिन्न दृष्टिकोणोंसे एक ही अर्थके प्रतिपादक हैं। अन्तर इतना है कि 'सर्वज्ञ' शब्दमें सब मुख्य हो जाते हैं आत्मा गौण पड़ जाती है जो निश्चयनयको अभीष्ट नहीं है किन्तु 'आत्मज्ञ' शब्दमें आत्मा ही मुख्य है शेष सब गौण हैं। अतः निश्चयनयसे आत्मा आत्मज्ञ है और व्यवहारनयसे सर्वज्ञ है। आध्यात्मिक दर्शनमें आत्माकी अखण्डता, अनश्वरता, अभेद्यता, शुद्धता आदि ही ग्राह्य है क्योंकि वस्तुस्वरूप ही वैसा है। उसीको प्राप्त करनेका प्रयत्न मोक्षमार्गके द्वारा किया जाता है। अतः प्रत्येक सम्यग्दृष्टि— जिसे निश्चयकी भाषामें आत्मदृष्टि कहना उपयुक्त होगा—आत्माको पूर्णरूपसे जाननेका और जानकर उसीमें स्थित होनेका प्रयत्न करता है। उस प्रयत्नमें सफल होनेपर ही वह सर्वज्ञ सर्वदर्शी हो जाता है। अतः आत्मज्ञतामेंसे सर्वज्ञता फलित होती है। सर्वज्ञतामेंसे आत्मज्ञता फलित नहीं होती; क्योंकि मुमुक्षुका प्रयत्न आत्मज्ञताके लिये होता है सर्वज्ञताके लिये नहीं। अतः अध्यात्मदर्शनमें केवलीको आत्मज्ञ कहना ही वास्तविक है भूतार्थ है और सर्वज्ञ कहना अवास्तविक है अभूतार्थ है। भूतार्थता और अभूतार्थका इतना ही अभिप्राय है। इस नयदृष्टिको भुलाकर यदि यह अर्थ निकालनेकी चेष्टा की जायगी कि व्यवहारनय जो कुछ कहता है वह दृष्टिभेदसे अयथार्थ न होकर सर्वथा अयथार्थ है तब तो स्याद्वादनय-गर्भित जिनवाणीको छोड़कर जैनोंको भी शुद्धाद्वैतको अपनाना पड़ेगा। जैनसिद्धान्तरूपी वन विविध भंगोंसे गहन है उसे पार करना दुरूह है। मार्गभ्रष्ट हुए लोगोंको नयचक्रके संचारमें प्रवीण गुरु ही मार्गपर लगा सकते थे। खेद है कि आज ऐसे गुरु नहीं हैं और जिनवाणीके ज्ञाता विद्वान् लोग स्वपक्षपात या अज्ञानके वशीभूत होकर अर्थका अनर्थ करते हैं, यह जिनवाणीके आराधकोंका महद् दुर्भाग्य है, अस्तु।

सर्वज्ञकी चर्चाका अवतरण—

ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य समन्तभद्रके समयमें बाह्य विभूति और चमत्कारोंको ही तीर्थंकर होनेका मुख्य चिह्न माना जाने लगा था। साधारण जनता तो सदासे इन्हीं चमत्कारोंकी चकाचौंधके वशीभूत होती आई है। बुद्ध और महावीरके समयमें भी उन्हींकी बहुलता दृष्टिगोचर होती है। बुद्धको[1] अपने नये अनुयायियोंको प्रभावित करनेके लिये चमत्कार दिखाना पड़ता था। आचार्य समन्तभद्र जैसे परीक्षाप्रधानी महान् दार्शनिकको यह बात बहुत खटकी; क्योंकि चमत्कारोंकी चकाचौंधमें आप्तपुरुषकी असली विशेषताएँ जनताकी दृष्टिसे ओझल होती जाती थीं। अतः उन्होंने 'आप्तमीमांसा' नामसे एक प्रकरण-ग्रन्थ रचा जिसमें यह सिद्ध किया कि देवोंका आगमन, आकाशमें गमन, शरीरकी विशेषताएँ तो मायावी जनोंमें भी देखी जाती हैं, जादूगर भी जादूके जोरसे बहुत-सी ऐसी बातें दिखा देता है जो जनसाधारणकी बुद्धिसे परे होती हैं। अतः इन बातोंसे किसीको आप्त नहीं माना जा सकता। आप्तपुरुष तो वही है जो

१ बुद्धचर्या, पृ० २६, ८६ आदि।

निर्दोष हो, जिसका वचन युक्ति और आगमसे अविरुद्ध हो। इस तरह उन्होंने आप्तकी मीमांसा करते हुए आगम मान्य सर्वज्ञताको तर्ककी कसौटीपर कसकर दर्शनशास्त्रमें सर्वज्ञकी चर्चाका अवतरण किया।

इस प्रसंगमें सर्वज्ञको न माननेवाले मीमाँसककी चर्चा कर देना प्रासंगिक होगा।

स्वामीसमन्तभद्र और शबरस्वामी

मीमांसक वेदको अपौरुषेय और स्वतः प्रमाण मानते हैं। शबरस्वामीने अपने शाबर भाष्यमें लिखा है कि वेद भूत, वर्तमान और भावी तथा सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट पदार्थोंका ज्ञान करानेमें समर्थ है। यथा—"चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टमित्येवं जातीयकमर्थमवगमयितुमलम्" [शा० १-१-२]

श्रमणसंस्कृति केवल निरीश्वरवादी ही नहीं है किन्तु वेदके प्रामाण्य और उसके अपौरुषेयत्वको भी वह स्वीकार नहीं करती। जैन और बौद्ध दार्शनिकोंने ईश्वरकी ही तरह वेदके प्रामाण्य और अपौरुषेयत्वकी खूब आलोचना की है। अतः जब वेदवादी वेदको त्रिकालदर्शी बतलाते थे तो जैन और बौद्ध दार्शनिक पुरुषविशेषको त्रिकालदर्शी सिद्ध करते थे। शबरस्वामीकी उक्त पंक्तियां पढ़कर आचार्य समन्तभद्रकी सर्वज्ञ-साधिका कारिकाका स्मरण बरबस हो आता है। जो इस प्रकार है—

सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षा कस्यचिद्यथा।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः॥ ५॥ –आ० मी०।

भाष्यके सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट शब्द तथा कारिकाके सूक्ष्म, अन्तरित और दूरार्थ शब्द एकार्थवाची हैं। दोनोंमें प्रतिबिम्ब-प्रतिबिम्बकभाव जैसा झलकता है। और ऐसा लगता है कि एकने दूसरेके विरोधमें अपने शब्द कहे हैं। शबरस्वामीका समय ई० स० २५० से ४०० तक अनुमान किया जाता है। स्वामी समन्तभद्रका भी लगभग यही समय माना जाता है। विद्वानोंमें[1] ऐसी मान्यता प्रचलित है कि शबरस्वामी जैनोंके भयसे बनमें शबर अर्थात् भीलका वेष धारण करके रहता था इसलिये उसे शबरस्वामी कहते थे। शिलालेखों वगैरहसे स्पष्ट है कि आचार्य समन्तभद्र अपने समयके प्रखर तार्किक, वाग्मी और वादी थे तथा उन्होंने जगह-जगह भ्रमणकर शास्त्रार्थमें प्रतिवादियोंको परास्त किया था। हो सकता है कि उन्हींके भयसे शबरस्वामीको वनमें शबरका भेष बनाकर रहना पड़ा हो। और इसीलिये समन्तभद्रका निराकरण करनेका उन्हें साहस न हुआ हो। जो हो, अभी इस विषयमें कुछ निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। किन्तु इतना सुनिश्चित है कि शाबर-भाष्यके टीकाकार कुमारिलने समन्तभद्रकी सर्वज्ञताविषयक मान्यताको खूब आड़े हाथों लिया है। पहले तो उसने यही आपत्ति उठाई है कि कोई पुरुष अतीन्द्रियार्थदर्शी नहीं हो सकता। किन्तु चूंकि ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वरको अवतारका रूप देकर पुरुष

1. हिन्दतत्त्वज्ञाननो इतिहास उ० पृ० ११२।

मान लिया गया था और उन्हें भी सर्वज्ञ माना जाता था। अतः उसे कहना पड़ा कि ये त्रिमूर्ति तो वेदमय हैं अतः वे सर्वज्ञ भले ही हों किन्तु मनुष्य सर्वज्ञ कैसे हो सकता है। उसे भय था कि यदि पुरुषकी सर्वज्ञता सिद्ध हुई जाती है तो वेदके प्रामाण्य को गहरा धक्का पहुँचेगा तथा धर्ममें जो वेदका ही एकाधिकार या वेदके पोषक ब्राह्मणों-का एकाधिकार चला आता है उसकी नींव ही हिल जावेगी। अतः कुमारिल कहता है[1] कि भई ! हम तो मनुष्यके धर्मज्ञ होनेका निषेध करते हैं। धर्मको छोड़कर यदि मनुष्य शेष सबको भी जान ले तो कौन मना करता है ?

जैसे आचार्य समन्तभद्रके द्वारा स्थापित सर्वज्ञताका खण्डन करके कुमारिलने अपने पूर्वज शबरस्वामीका बदला चुकाया वैसे ही कुमारिलका खण्डन करके अपने पूर्वज स्वामी समन्तभद्रका बदला भट्टाकलङ्कने और मयव्याजके स्वामी विद्यानन्दिने चुकाया। विद्यानन्दिने आप्तमीमांसाको लक्ष्यमें रखकर ही अपनी आप्तपरीक्षाकी रचना की। जहाँ तक हम जानते हैं देव या तीर्थंकरके लिये आप्त शब्दका व्यवहार स्वामी समन्तभद्रने ही प्रचलित किया है। जो एक न केवल मार्गदर्शक किन्तु मोक्षमार्गदर्शकके लिये सर्वथा संगत है।

आप्तमीमांसा और आप्तपरीक्षा—

मीमांसा और परीक्षामें अन्तर है। आचार्य हेमचन्द्रके[2] अनुसार मीमांसा शब्द 'आदरणीय विचार' का वाचक है जिसमें अन्य विचारोंके साथ सोपाय मोक्षका भी विचार किया गया हो वह मीमांसा है और न्यायपूर्वक परीक्षा करनेका नाम परीक्षा है। इस दृष्टिसे तो आप्तमीमांसाको आप्तपरीक्षा कहना ही संगत होगा, क्योंकि आप्तमीमांसामें विभिन्न विचारोंकी परीक्षाके द्वारा जैन आप्तप्रतिपादित स्याद्वादन्यायकी ही प्रतिष्ठा की गई है, जबकि आप्तपरीक्षामें मोक्षमार्गोपदेशकत्वको आधार बनाकर विभिन्न आप्तपुरुषोंकी तथा उनके द्वारा प्रतिपादित तत्त्वोंकी समीक्षा करके जैन आप्तमें ही उसकी प्रतिष्ठा की गई है। यद्यपि आप्तपरीक्षामें ईश्वर कपिल, बुद्ध, ब्रह्म आदि सभी प्रमुख आप्तोंकी परीक्षा की गई है, किन्तु उसका प्रमुख और आद्य भाग तो ईश्वरपरीक्षा है जिसमें ईश्वरके सृष्टिकर्तृत्वकी सभी दृष्टिकोणोंसे विवेचना करके उसकी धाज्जियां उड़ा दी गई हैं। कुल १२४ कारिकाओंमें से ७७ कारिका इस परीक्षाने घेर रक्खी हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि ईश्वरके सृष्टिकर्तृत्वके निराकरणके लिये ही यह परीक्षाग्रन्थ रचा गया है। और तत्कालीन परिस्थितिको देखते हुए यह उचित भी जान पड़ता है; क्योंकि उस समय शङ्करके अद्वैतवादने तो जन्म ही लिया था। बौद्धोंके पैर उखड़ चुके थे। कपिल वेचारेको पूछता कौन था। ईश्वरके रूपमें विष्णु और शिवकी पूजाका जोर था। अतः विद्यानन्दिने उसकी ही खबर लेना उचित समझा होगा।

1. धर्मज्ञत्वनिषेधस्तु केवलोऽत्रोपयुज्यते। सर्वमन्यद् विजानानः पुरुषः केन वार्यते॥
2. न्यायतः परीक्षणं परीक्षा। पूजितविचारवचनश्च मीमांसाशब्दः। प्रमा० मीमां० —पृ० २।

विद्यानन्दके उल्लेखोंकी समीक्षा—

स्वामी विद्यानन्दने आप्तपरीक्षाकी रचना 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' आदि मंगलश्लोकको लेकर ही की है और उक्त मंगलश्लोकको अपनी आप्तपरीक्षाकी कारिकाओंमें ही सम्मिलित कर लिया है। जिसका नम्बर ३ है। दूसरी कारिकामें शास्त्रके आदिमें स्तवन करनेका उद्देश्य बताते हुए उत्तरार्द्धमें 'इत्याहुस्तद्गुणस्तोत्रं शास्त्रादौ मुनिपुङ्गवाः' लिखा है। इसकी टीकामें उन्होंने 'मुनिपुङ्गवाः' का अर्थ 'सूत्रकारादयः' किया है। आगे तीसरी कारिका, जो कि उक्त मंगलश्लोक ही है, की उत्थानिकामें भी 'किं पुनस्तत्परमेष्ठिनो गुणस्तोत्रं शास्त्रादौ सूत्रकाराः प्राहुः' 'सूत्रकार' पदका उल्लेख किया है। चौथी कारिकाकी उत्थानिकामें उक्त सूत्रकारके लिए 'भगवद्भिः' जैसे पूज्य शब्दका प्रयोग किया है। इससे स्पष्ट है कि विद्यानन्दि उक्त मंगलश्लोकको तत्त्वार्थसूत्रकार भगवान उमास्वामी की ही रचना मानते हैं। आप्तपरीक्षाके अन्तमें उन्होंने पुनः इसी बातका उल्लेख करके उसमें इतना और जोड़ दिया है कि स्वामीने जिस तीर्थोपम स्तोत्र (उक्त मंगलश्लोक) की मीमांसा की विद्यानन्दिने उसीका व्याख्यान किया। यह स्पष्ट है कि 'स्वामिमीमांसित' से विद्यानन्दिका आशय स्वामी समन्तभद्रविरचित आप्तमीमांसासे है। अर्थात वे ऐसा मानते हैं कि स्वामी समन्तभद्रकी आप्तमीमांसा भी उक्त मंगलश्लोकके आधारपर ही रची गई है। किन्तु विद्यानन्दिके इस कथनकी पुष्टिकी बात तो दूर, उसका संकेत तक भी आप्तमीमांसासे नहीं मिलता और न किसी अन्य स्तोत्रसे ही विद्यानन्दिकी बातका समर्थन होता है। यद्यपि स्वामी समन्तभद्रने अपने आप्तको 'निर्दोष' और 'युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्' बतलाया है तथा 'निर्दोष' पदसे 'कर्मभूभृद्भेतृत्व' और 'युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्' पदसे सर्वज्ञत्व उन्हें अभीष्ट है यह भी ठीक है, दोनोंकी सिद्धि भी उन्होंने की है। किन्तु उनकी सारी शक्ति तो 'युक्तिशास्त्राविरोधवाक्त्व' के समर्थनमें ही लगी है। उनका आप्त इसलिये आप्त नहीं है कि वह कर्मभूभृत्भेत्ता है या सर्वज्ञ है। वह तो इसीलिये आप्त है कि उसका 'इष्ट' 'प्रसिद्ध' से बाधित नहीं होता। अपने आप्तकी इसी विशेषता (स्याद्वाद) को दर्शाते-दर्शाते तथा उसका समर्थन करते-करते वे ११३वीं कारिका तक जा पहुँचते हैं जिसका अन्तिम चरण है—'इति स्याद्वादसंस्थितिः।' यह 'स्याद्वादसंस्थितिः' ही उन्हें अभीष्ट है वही आप्तमीमांसाका मुख्य ही नहीं, किन्तु एकमात्र प्रतिपाद्य विषय है। इसके बाद अन्तिम ११४वीं कारिका आजाती है जिसमें लिखा है कि हितेच्छु लोगोंके लिये सम्यक् और मिथ्या उपदेशके भेदकी जानकारी करानेके उद्देश्यसे यह आप्तमीमांसा बनाई।

आप्तमीमांसापर अष्टशतीकार भट्टाकलंकदेवने भी इस तरहका कोई संकेत नहीं किया। उन्होंने आप्तमीमांसाका अर्थ 'सर्वज्ञविशेषपरीक्षा' अवश्य किया है अतः विद्यानन्दिकी उक्त उक्तिका समर्थन किसी भी स्रोतसे नहीं होता। फिर भी आचार्य समन्तभद्रके समयनिर्धारणके लिये विशेष चिन्तित रहनेवाले विद्वानोंने विद्यानन्दिकी इस उक्तिको प्रमाण मानकर और उसके साथमें अपनी मान्यताको (कि उक्त मंगलश्लोक आचार्य पूज्यपादकृत सर्वार्थसिद्धिका मंगलाचरण है तत्त्वार्थसूत्रका नहीं) सम्बद्ध करके लिख

ही तो दिया[1]—'जो कुछ हो, पर स्वामी समन्तभद्रके बारेमें अनेकविध ऊहापोहके पश्चात् मुझको अब अतिस्पष्ट होगया है कि वे पूज्यपाद देवनन्दिके पूर्व तो हुए ही नहीं। 'पूज्यपादके द्वारा स्तुत आप्तके समर्थनमें ही उन्होंने आप्तमीमांसा लिखी है' यह बात विद्यानन्दने आप्तपरीक्षा तथा अष्टसहस्रीमें सर्वथा स्पष्टरूपसे लिखी है।' यह कितना साहसपूर्ण कथन है। आचार्य विद्यानन्दिने तो पूज्यपाद या उनकी सर्वार्थसिद्धि टीकाका उल्लेख तक नहीं किया। प्रत्युत आप्तपरीक्षामें उक्त मंगलश्लोकको स्पष्टरूपसे सूत्रकारकृत बतलाया है और अष्टसहस्रीके प्रारम्भमें 'निश्रेयसशास्त्रस्यादौ······मुनिभिः संस्तुतेन' आदि लिखकर स्पष्टरूपसे 'मोक्षशास्त्र—तत्त्वार्थसूत्रका निर्देश किया है। पता नहीं पं० सुखलालजी जैसे दूरदर्शी बहुश्रुत विद्वानने ऐसा कैसे लिख दिया। हो सकता है परनिर्भर होनेके कारण उन्हें दूसरोंने ऐसा ही बतलाया हो; क्योंकि पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यने न्यायकुमुदचन्द्र भाग २ की प्रस्तावना[2] में पं० सुखलालजीके उक्त कथन का पोषण किया है। किन्तु न्यायाचार्यजी अपनी भूलको एक बार तो स्वीकार कर चुके हैं। तथापि भारतीयज्ञानपीठ काशीसे प्रकाशित तत्त्वार्थवृत्तिकी प्रस्तावना[3] में उन्होंने उक्त मंगलश्लोककी कर्तृकताके सम्बन्धमें अपनी उसी पुरानी बातको संदेहके रूपमें पुनः उठाया है। किन्तु यह सुनिश्चित है कि विद्यानन्द उक्त मंगलश्लोकको सूत्रकार उमास्वामीकृत ही मानते थे। अतः उनके उल्लेखोंके आधारपर स्वामी समन्तभद्रको पूज्यपादके बादका विद्वान तो नहीं ही माना जा सकता।

समन्तभद्र और पात्रस्वामी—

प्रारम्भमें कुछ भ्रामक उल्लेखोंके आधारपर ऐसा मान लिया गया था कि विद्यानन्दि और पात्रकेसरी एक ही व्यक्ति हैं। उसके बाद गायकवाड़सिरीज बड़ौदासे प्रकाशित तत्त्वसंग्रह नामक बौद्ध ग्रन्थमें पूर्वपक्षरूपसे दिगम्बराचार्य पात्रस्वामीके नामसे कुछ कारिकाएँ उद्धृत पाई गईं। तब इस बातकी पुनः खोज हुई और पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारने अनेक प्रमाणोंके आधारपर यह निर्विवाद सिद्ध कर दिया कि पात्रस्वामी या पात्रकेसरी विद्यानन्दिसे पृथक् एक स्वतंत्र आचार्य हो गये हैं। फिर भी पं० सुखलालजीने[4] स्वामी समन्तभद्र और पात्रस्वामीके एक व्यक्ति होनेकी सम्भावना की है जो मात्र भ्रामक है क्योंकि पात्रकेसरीका नाम तथा उनके त्रिलक्षणकदर्थन आदि ग्रन्थोंका जुदा उल्लेख मिलता है जिनका स्वामी समन्तभद्रसे कोई सम्बन्ध नहीं है। हाँ, मात्र 'स्वामी' पदसे दोनोंका बादरायण सम्बन्ध बैठानेसे इतिहासकी हत्या अवश्य हो जायेगी।

विद्यानन्दका समय—

प्रस्तावनामें विद्वान सम्पादकने आचार्य विद्यानन्दके समयकी विवेचना करके एक तरहसे उसे निर्णीत ही कर दिया है। अतः उसके सम्बन्धमें कुछ कहना अनावश्यक है।

---

१ 'अकलंकग्रन्थत्रय' के प्राक्कथनमें। २ पृ० २५-२६। ३ पृ. ८६।

४ अकलङ्कग्रन्थत्रयके प्राक्कथनमें।

इतना प्रासङ्गिक कथन कर देनेके पश्चात् प्रस्तुत संस्करणके सम्बन्धमें भी दो शब्द कहना उचित होगा। आप्तपरीक्षा मूल तो हिन्दी अनुवादके साथ एक वार प्रकाशित हो चुकी है किन्तु उसकी टीका हिन्दी अनुवादके साथ प्रथम वार ही प्रकाशित हो रही है। अनुवादक और सम्पादक पण्डित दरबारीलालजी कोठिया, जैन समाजके सुपरिचित लेखक और विद्वान हैं। आपका दर्शनशास्त्रका तुलनात्मक अध्ययन गम्भीर है, लेखनी परिमार्जित है और भाषा प्रौढ़ किन्तु शैली विशद है। दार्शनिक ग्रन्थोंका अनुवादकार्य कितना गुरुतर है इसे वही अनुभव कर सकते हैं जिन्हें उससे काम पड़ा है। फिर आप्तपरीक्षा तो दर्शनशास्त्रकी अनेक गहन चर्चाओंसे ओत-प्रोत है। अतः उसका अनुवादकार्य सरल कैसे हो सकता है तथापि अनुवादक अपनी उक्त विशेषताओंके कारण उसमें कहाँ तक सफल हो सके हैं, इसका अनुभव तो पाठक स्वयं ही कर सकेंगे। मैं तो अनुवादकको उनकी इस कृतिके लिये हृदयसे शुभाशीर्वाद देता हूँ।

अन्तमें उस संस्थाके सम्बन्धमें भी दो शब्द कहना आवश्यक है जिससे प्रस्तुत ग्रन्थ सुन्दररूपमें प्रकाशित हो रहा है। वीरसेवामन्दिर एक ऐसे ज्ञानाराधक तपस्वीको साधनाका फल है जिसे जिनवाणीकी निस्वार्थ सेवा करते-करते अर्ध शताब्दीसे भी अधिक हो गई और जिसने अपना तन, मन, धन, सर्वस्व उसीमें अर्पण कर दिया, फिर भी जो सदा जवान है और ७२ वर्षकी उम्र होनेपर भी उसी लगन, उसी उत्साह और उसी तत्परतासे कार्यमें संलग्न है। उसने न जाने कितने आचार्यों और ग्रन्थकारोंको प्रकाशमें लाया है, न जाने कितने भूले हुए ग्रन्थरत्नोंकी याद दिलाई है और उनकी खोज की है। दिगम्बर जैनाचार्योंके समय-निर्धारणमें उसने अपार श्रम किया है। उसने ऐसी खोजें की हैं जिसके आधारपर उसे विश्वविद्यालयोंसे डाक्टरेटकी डिग्रियां मिलना साधारण बात थी। मगर चूंकि वह जैन है, जैनों तक ही उसकी खोज सीमित है, आजके जमानेकी टीपटाप उसमें नहीं है। अतः उसे जैसा श्रेय और साहाय्य मिलना चाहिए था वह भी नहीं मिला। फिर भी वह प्रसन्न है और कार्यमें रत है। उस निस्स्वार्थसेवी विद्याव्यसनी नररत्नका नाम है—जुगलकिशोरजी मुख्तार। उनका सान्निध्य पाकर कोठियाजीकी प्रतिभा और पं० परमानन्दजीकी अन्वेषक अभिरुचि चमक उठी है। भगवान् जिनेन्द्रदेवसे प्रार्थना है कि मुख्तार सा० शतायु हों और यह त्रिमूर्ति जिनवाणीकी सेवामें सदा संलग्न रहे।

स्याद्वादजैनविद्यालय, काशी
कार्तिकी पूर्णिमा वी० नि० सं० २४७७

कैलाशचन्द्र शास्त्री
(प्रधानाध्यापक, स्याद्वादमहाविद्यालय, काशी)

प्रस्तावना

प्रस्तावनागत विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
१. आप्तपरीक्षा	१
(क) ग्रन्थपरिचय	१
(ख) ग्रन्थका महत्व और श्रेष्ठता	३
२. आचार्य विद्यानन्द	५
(क) विद्यानन्द नामके अनेक विद्वान्	५
(ख) विद्यानन्द और पात्रस्वामीकी एकताका भ्रम	८
(ग) ग्रन्थकारकी जीवनी	६
१ कुमारजीवन और जैनधर्मग्रहण	६
२ मुनिजीवन और जैनाचार परिपालन तथा आचार्यपद	१०
३ गुणपरिचय-दिग्दर्शन	१६
(क) दर्शनान्तरीय अभ्यास	१६
(ख) जैनशास्त्राभ्यास	१७
(ग) सूक्ष्मप्रज्ञतादि गुणपरिचय	१८
(घ) विद्यानन्दपर पूर्ववर्ती जैनग्रन्थकारोंका प्रभाव	२०
१ गृद्धपिच्छाचार्य	२०
२ समन्तभद्रस्वामी	२०
३ श्रीदत्त	२१
४ सिद्धसेन	२२
५ पात्रस्वामी	२४
६ भट्टाकलङ्कदेव	२५
७ कुमारनन्दिभट्टारक	२६
(ङ) विद्यानन्दका उत्तरवर्ती ग्रन्थकारोंपर प्रभाव	२६
१ माणिक्यनन्दि	२६
२ वादिराज	३४
३ प्रभाचन्द्र	३५
४ अभयदेव	३६
५ वादि देवसूरि	३७
६ हेमचन्द्र	३६
७ लघुसमन्तभद्र	३६
८ अभिनव धर्मभूषण	३६
६ उपाध्याय यशोविजय	४०
(च) विद्यानन्दकी रचनाएँ	४०
१ तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक	४०
२ अष्टसहस्री	४१
३ युक्त्यनुशासनालङ्कार	४२
४ विद्यानन्दमहोदय	४२
५ आप्तपरीक्षा	४३
६ प्रमाणपरीक्षा	४३
७ पत्रपरीक्षा	४३
८ सत्यशासनपरीक्षा	४३
६ श्रीपुरपार्श्वनाथ स्तोत्र	४५
(छ) विद्यानन्दका समय	४७
(ज) विद्यानन्दका कार्यक्षेत्र	५४
३. उपसंहार	५४

प्रस्तावना

आप्तपरीक्षा और आचार्य विद्यानन्द

१. आप्तपरीक्षा

(क) ग्रन्थ-परिचय

प्रस्तुत ग्रन्थ आप्तपरीक्षा है। इसके रचयिता विद्यानन्दमहोदय, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक आदि उच्चकोटिके दार्शनिक ग्रन्थोंके कर्त्ता तार्किकशिरोमणि आचार्य विद्यानन्द हैं। आ० विद्यानन्दने इस ग्रन्थ-रत्नकी रचना श्रीगृद्धपिच्छाचार्यके,[1] जो आचार्य 'उमास्वाति' अथवा 'उमास्वामी' के नामसे अधिक प्रसिद्ध हैं, 'तत्त्वार्थसूत्रके' मङ्गलाचरण-पद्यपर[2] उसी प्रकार की है, जिस प्रकार आचार्य समन्तभद्रस्वामीने उसी पद्यपर अपनी

---

१ विन्ध्यगिरिपर सिद्धरबस्तीमें दक्षिणकी ओर एक स्तम्भपर एक अभिलेख उत्कीर्ण है, जो शकसंवत् १३५५ का है। इस लेखमें इन आचार्यके 'गृद्धपिच्छाचार्य' नामकी उपपत्ति बतलाते हुए कहा गया है कि 'आचार्यने प्राणिसंरक्षणके लिये गृद्धके पंखोंकी पिच्छी धारण की थी तबसे उन्हें विद्वान् 'गृद्धपिच्छाचार्य कहने लगे।' यथा—

स प्राणिसंरक्षण-सावधानो बभार योगी किल गृद्धपक्षान् ।
तदा प्रभृत्येव बुधा यमाहुराचार्यशब्दोत्तर-गृद्धपिच्छं ॥१२॥ —शि० नं. १०८(२५८)।

—देखो, शिलालेखसं० पृ० २१०,२११।

षट्खण्डागमकी विशाल और प्रसिद्ध टीका श्रीधवला, तत्त्वार्थसूत्रकी विस्तृत टीका तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक आदि प्राचीन जैनसाहित्यमें 'गृद्धपिच्छाचार्य' नामका ही उल्लेख हुआ है। इससे जान पड़ता है कि सुदूर कालमें इनकी उक्त नामसे ही अधिक प्रसिद्धि रही। मूल नाम उमास्वाति हो, पर विद्वानोंमें उन्हें उनकी विद्वत्ता, त्याग-तपस्या आदिके कारण गौरव प्रदान करनेके लिये गृद्धपिच्छाचार्य नामका व्यवहार ही मुख्य रहा।

२ जो इस प्रकार है—

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम् ।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये ॥

यह पद्य प्रस्तुत ग्रन्थमें कारिका नं० तीनके रूपमें भी स्थित है और उसे ग्रन्थका आधार-अङ्ग बनाकर उसीकी व्याख्याके रूपमें यह ग्रन्थ लिखा गया है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि ग्रन्थकारके दूसरे ग्रन्थ अष्टसहस्रीके मङ्गलपद्य और इसी ग्रन्थके उपान्त्य पद्य 'श्रीमत्तत्त्वार्थ' के आधारसे श्रीयुत पण्डित सुखलालजी और न्यायाचार्य पण्डित महेन्द्रकुमारजीने अपना यह विचार बनाया था कि आचार्य विद्यानन्दने 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' इत्यादि स्तोत्रको पूज्यपादाचार्यकी

अमर कृति आप्तमीमांसा (देवागमस्तोत्र)की रचना की है। इस बातको आ० विद्यानन्दने ग्रन्थके अन्त (का० १२३-१२४) में स्पष्टतया बतलाया है। तत्त्वार्थसूत्रके मङ्गलाचरणमें मोक्षमार्गनेतृत्व (हितोपदेशिता), कर्मभूभृद्भेतृत्व (वीतरागता) और विश्वतत्त्वज्ञातृत्व (सर्वज्ञता) इन तीन गुणोंसे विशिष्ट आप्तका वन्दन और स्तवन किया गया है। आप्तपरीक्षामें आप्तमीमांसाकी तरह इन्हीं तीन गुणोंसे युक्त आप्तका उपपादन और समर्थन करते हुए अन्ययोगव्यवच्छेदसे ईश्वर, कपिल, बुद्ध और ब्रह्मकी परीक्षापूर्वक अर-

---

तत्त्वार्थसूत्रपर लिखी गई तत्त्वार्थवृत्ति अपरनाम सर्वार्थसिद्धिका मङ्गलाचरण बतलाया है और इस लिये वह तत्त्वार्थसूत्रका मङ्गलाचरण नहीं है, (देखो, अकलंकग्रन्थत्रय प्राक्कथन पृ० ८।, न्यायकुमुदचन्द्र प्राक्कथन पृ० १७ तथा इसी ग्रन्थकी प्रस्तावना पृ० २५-२६)। उनके इस विचारपर हमने अनेकान्त वर्ष ५ किरण ६-७ और १०-११ में 'तत्त्वार्थसूत्रका मङ्गलाचरण' शीर्षक दो लेखोंद्वारा विस्तृत चर्चा की थी और विद्यानन्दके ही सुस्पष्ट विभिन्न ग्रन्थोल्लेखोंपरसे यह सिद्ध किया था कि विद्यानन्दने 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' इत्यादि स्तोत्रको आ० उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रका मङ्गलाचरण बतलाया है, पूज्यपादकी तत्त्वार्थवृत्ति अपरनाम सर्वार्थसिद्धिका नहीं। इसे बादको न्यायाचार्य पण्डित महेन्द्रकुमारजीने अनेकान्त वर्ष ५ किरण ८-९ में स्पष्टतया स्वीकार कर लिया है और यह लिख कर कि 'इस मङ्गलश्लोकको सूत्रकार (उमास्वाति) कृत लिखनेवाले सर्वप्रथम आ० विद्यानन्द हैं' 'अपने विचारमें संशोधन भी कर लिया है। और अब यह असन्दिग्ध है कि 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि पद्य आ० विद्यानन्दके प्रामाणिक उल्लेखों आदिके आधारसे तत्त्वार्थसूत्रका मङ्गलाचरण सिद्ध है। इस चर्चाका परिणाम यह हुआ कि जो उक्त मङ्गलस्तोत्रके मीमांसाकार आचार्य समन्तभद्रस्वामीको पूज्यपादका उत्तरवर्ती बताया जाने लगा था वह बन्द हो गया और इसीसे 'अनेकान्त' सम्पादक विद्वद्वर्य पण्डित जुगलकिशोरजी मुख्तारने अपने 'सर्वार्थसिद्धिपर समन्तभद्रका प्रभाव नामक' सम्पादकीय लेखमें स्पष्टतया लिखा था कि—'प्रोत्थानारम्भकाले' पदके अर्थकी खींचतान उसी वक्त तक चल सकती थी जब तक विद्यानन्दका कोई स्पष्ट उल्लेख इस विषयका न मिलता कि वे 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' इत्यादि मङ्गलस्तोत्रको किसका बतला रहे हैं। चुनाँचे न्यायाचार्य पण्डित दरबारीलालजी कोठिया और पण्डित रामप्रसादजी शास्त्री आदि कुछ विद्वानोंने जब पण्डित महेन्द्रकुमारजीकी भूलों तथा गलतियोंको पकड़ते हुए, अपने उत्तरलेखोंद्वारा विद्यानन्दके कुछ अभ्रान्त उल्लेखोंको सामने रक्खा और यह स्पष्ट करके बतला दिया कि विद्यानन्दने उक्त मङ्गलस्तोत्रको सूत्रकार उमास्वातिकृत लिखा है और उनके तत्त्वार्थसूत्रका मङ्गलाचरण बतलाया है, तब उस खींचतानकी गति रुकी तथा मन्द पड़ी। और इसलिये उक्त मङ्गलस्तोत्रको पूज्यपादकृत मानकर तथा समन्तभद्रको उसीका मीमांसाकार बतलाकर निश्चितरूपमें समन्तभद्रको पूज्यपादके बादका (उत्तरवर्ती) विद्वान् बतलानेरूप कल्पनाकी जो इमारत खड़ी की गई थी वह एकदम धाराशायी होगई है। और इसीसे पण्डित महेन्द्रकुमारजीको यह स्वीकार करनेके लिये बाध्य होना पड़ा है कि आ० विद्यानन्दने उक्त मङ्गलश्लोकको सूत्रकार उमास्वाति-कृत बतलाया है।"—('अनेकान्त वर्ष ५, किरण १०-११) अतः 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' को विद्वानोंने तत्त्वार्थसूत्रका ही मङ्गलाचरण स्वीकार करके एक महत्वपूर्ण समस्याको हल कर लिया है।

हन्तजिनको आप्त सुनिर्णीत किया गया है।

इस ग्रन्थमें कुल एक-सौ चौबीस (१२४) कारिकाएँ हैं और उनपर स्वयं विद्यानन्दस्वामीकी 'आप्तपरीक्षालङ्कृति' नामकी स्वोपज्ञटीका है जो बहुत ही विशद और प्रसन्न है। इन कारिकाओं और उनकी टीकाओंमें प्रथमकी दो कारिकाएँ और उनकी टीका मङ्गलाचरण तथा मङ्गलाचरणप्रयोजनकी प्रतिपादक हैं। तीसरी कारिका तत्त्वार्थसूत्रका मङ्गलाचरणपद्य है और उसे ग्रन्थकारने अपने इस ग्रन्थका उसी प्रकार अङ्ग बना लिया है जिस प्रकार अकलङ्कदेवने आप्तमीमांसाकी 'सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः' (का० ५) को न्यायविनिश्चय (का० ४१५) और पात्रस्वामीकी 'अन्यथानुपपन्नत्वं' इस कारिकाको न्यायविनिश्चय (का० ३२३) का तथा न्यायावतारकार सिद्धसेनने रत्नकरण्डश्रावकाचारके 'आप्तोपज्ञमनुल्लङ्घ्य-' (श्लोक ९) को न्यायावतार (का० ९) का अङ्ग बनाया है। चौथी कारिका और उसकी टीकामें तीसरी कारिकामें आप्तके लिये प्रयुक्त हुए असाधारण विशेषणोंका प्रयोजन दिखाया गया है। पाँचवींसे सतहत्तर (५-७७) तककी बहत्तर कारिकाओं और उनकी टीकामें वैशेषिकदर्शन सम्मत पदार्थों, मान्यताओं व उनके उपदेशक महेश्वरकी विस्तारसे परीक्षा की गई है। अठहत्तरसे तेरासी (७८-८३) तककी छह कारिकाओं और उनकी टीकामें सांख्यदर्शन-अभिमत तत्त्वों व उनके उपदेशक कपिल अथवा प्रधानकी समीक्षा की गई है। चौरासीसे छयासी (८४-८६) तक तीन कारिकाओं और उनकी टीकामें बौद्धदर्शन सम्मत तत्त्वों व उनके उपदेशक बुद्धकी परीक्षा करते हुए वेदान्तदर्शनके मोक्षमार्गप्रणेता परमपुरुषकी आलोचना की गई है। सतासीसे एक-सौ नव (८७-१०९) तक तेईस कारिकाओं और उनकी टीकामें सर्वज्ञाभाववादी मीमांसकोंके सर्वज्ञाभावप्रदर्शक मतका समालोचन करते हुए सामान्यतः सर्वज्ञ सिद्ध करके अरहन्तको सर्वज्ञ सिद्ध किया गया है। और इस तरह 'विश्वतत्त्वज्ञातृत्व' विशेषणकी विस्तृत व्याख्या की गई है। एक-सौ दससे एक-सौ पन्द्रह (११०-११५) तक छह कारिकाओं और उनकी टीकामें 'कर्मभूभृद्भेतृत्व' विशेषणकी सिद्धि की गई है। एक-सौ सोलहसे एक-सौ उन्नीस (११६-११९) तक चार कारिकाओं और उनकी टीकामें 'मोक्षमार्गनेतृत्व' का प्रसाधन एवं व्याख्यान किया गया है। एक-सौ बीस (१२०) वीं कारिका तथा उसकी टीकामें कारिका तीसरीके वक्तव्यको दोहराते हुए अरहन्तको ही आप्त-वन्दनीय प्रसिद्ध किया है। एक-सौ इक्कीस (१२१) वीं कारिका व उसकी टीकामें अरहन्तके वन्दनीय होनेमें हेतु बतलाया गया है। एक-सौ बाईससे एक-सौ चौबीस (१२२-१२४) तक तीन कारिकाओंमें आप्तपरीक्षाके सम्बन्धका उपसंहारात्मक अन्तिम वक्तव्य उपस्थित किया गया है। इस तरह ग्रन्थका यह सामान्यतः परिचय है।

(ख) ग्रन्थका महत्व और श्रेष्ठता

यह जैनदर्शनका एक अपूर्व और श्रेष्ठ ग्रन्थ है। इसमें दर्शनान्तरीय पदार्थोंकी व्यवस्थित मीमांसा और उनके उपदेशकों (ईश्वर, कपिल, बुद्ध और ब्रह्म) की परीक्षाका जो विशद, विस्तृत युक्तिपूर्ण वर्णन किया गया है वह प्रायः

अन्यत्र अलभ्य है। ग्रन्थकारके तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक और अष्टसहस्रीगत उनके अगाध पाण्डित्यको देखकर यह आश्चर्य होने लगता है कि उनकी उस पाण्डित्यगर्भ लेखनीसे इतनी सरल और विशद रचना कैसे प्रसूत हुई? वास्तवमें यह उनकी सुयोग्य विद्वत्ताका सुन्दर और मधुर फल है कि उसके द्वारा जटिल और सरल दोनों तरहकी अपूर्व रचनाएँ रची गई हैं। सूक्ष्मप्रज्ञ विद्यानन्दने जब देखा कि मीमांसादर्शनके प्रतिपादक जैमिनिके मीमांसासूत्रपर शबरके भाष्यके अलावा भट्ट कुमारिलका मीमांसाश्लोकवार्तिक भी है तब उन्होंने जैनदर्शनके प्रतिपादक श्रीगृद्धपिच्छाचार्यरचित सुप्रसिद्ध तत्त्वार्थसूत्रपर अकलङ्कदेवके तत्त्वार्थवार्त्तिकभाष्यसे अतिरिक्त तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक बनाया और उसमें अपना अगाध पाण्डित्य एवं तार्किकता भरदी, जिसे उच्चकोटिके विशिष्ट दार्शनिक विद्वान् ही अवगत कर सकते हैं। साधारण लोगोंका उसमें प्रवेश पाना बड़ा कठिन है। अतएव उन्होंने जैनदर्शनजिज्ञासु प्राथमिक जनोंके बोधार्थ प्रमाण-परीक्षा, आप्त-परीक्षा, पत्र-परीक्षा, सत्यशासन-परीक्षा आदि परीक्षान्त सरल एवं विशद ग्रन्थोंकी रचना की। प्रतीत होता है कि इन ग्रन्थोंका नामकरण आ०विद्यानन्दने दिग्नागकी आलम्बनपरीक्षा, त्रिकालपरीक्षा, धर्मकीर्तिकी सम्बन्धपरीक्षा, धर्मोत्तरकी प्रमाणपरीक्षा व लघुप्रमाणपरीक्षा, और कल्याणरक्षितकी श्रुतिपरीक्षा जैसे पूर्ववर्ती परीक्षान्त ग्रन्थोंको लक्ष्यमें रखकर किया है।

इस प्रकार जटिल और सरल दोनों तरहकी रचनाएँ करके विद्यानन्दने व्युत्पन्न और अव्युत्पन्न उभयप्रकारके तत्त्वजिज्ञासुओंकी ज्ञान-पिपासाको शान्त किया है। और वे इसमें पूर्णतः सफल हुए हैं। उनकी प्रसन्न रचनाशैली पाठकपर आश्चर्यजनक प्रभाव डालती है और निश्चय ही पाठक उसकी ओर आकर्षित होता है। इसमें सन्देह नहीं कि उनके ये परीक्षान्त ग्रन्थ अधिक लोकप्रिय रहे हैं[1] और आप्तपरीक्षा तो विशेष लोकप्रिय रही है[2]। यही कारण है कि वह आज भी समाजकी सभी शिक्षासंस्थाओंके पठनक्रम और परीक्षाक्रममें निहित है। अतः स्पष्ट है कि आप्तपरीक्षा महत्वपूर्ण श्रेष्ठ ग्रन्थ है और वह जैन दार्शनिक साहित्यमें ही नहीं, समग्र भारतीय दार्शनिक साहित्यमें भी आप्तविषयपर लिखा गया अनुपम आद्य परीक्षाग्रन्थ है। यद्यपि ईसाकी

१ लघुसमन्तभद्र (१३वीं शती) ने अपने 'अष्टसहस्रीटिप्पण' (पृ० १० लि०) में 'पत्रपरीक्षायामुक्तत्वात्' कहकर पत्रपरीक्षा तथा अभिनव धर्मभूषण (१५ वीं शती) ने न्यायदीपिका' (पृ० १७, पृ० ८१) में 'प्रपञ्चः पुनरवयवविचारस्य पत्रपरीक्षायामीक्षणीयः' और 'तदुक्तं प्रमाणपरीक्षायां ज्ञप्तिं प्रति' कह कर पत्रपरीक्षा और प्रमाणपरीक्षाके समुल्लेख किये हैं। इससे इन ग्रन्थोंकी लोकप्रियता प्रकट है।

२ गणधरकीर्ति (वि० सं० ११८९) जैसे प्रमुख विद्वानोंने अपनी अध्यात्मतरङ्गिणीटीका आदिमें आप्तपरीक्षाका निम्न प्रकार समुल्लेख किया है:—

'यतः श्रेयःशब्देन मोक्षमभिधीयते। श्रेयः परमपदं च प्राप्तविचारावसरे आप्तपरीक्षायां तथाऽभिधानात्।'—अध्या० टी० लि० प० ५।

दूसरी, तीसरी शतीके महान् तार्किक स्वामी समन्तभद्रने इससे पूर्व 'आप्त' पर आप्तमीमांसा रची है और जिसे ही आदर्श मानकर आ० विद्यानन्दने प्रस्तुत आप्तपरीक्षा लिखी है, पर आप्तविषयक परीक्षान्त (आप्त-परीक्षा) ग्रन्थ उन्हींने सर्वप्रथम रचा मालूम होता है[1] और यह भी ज्ञात होता है कि उनके परीक्षान्त ग्रन्थोंमें आप्तपरीक्षा सबसे पहली रचना है[2]।

२. आचार्य विद्यानन्द

अब हम ग्रन्थकार तार्किकचूडामणि आचार्य विद्यानन्द स्वामीका अपने पाठकोंके लिये परिचय कराते हैं। यद्यपि उनका परिचय कराना अत्यन्त कठिन कार्य है, क्योंकि उसके लिये जिस विपुल सामग्रीकी जरूरत है वह नहीं-के-बराबर है। उनकी न कोई गुर्वावली प्राप्त है और न उनके अथवा उत्तरवर्ती दूसरे विद्वान् द्वारा लिखा गया उनका कोई जीवनवृत्तान्त[3] उपलब्ध है। उनके माता-पिता कौन थे? वे किस कुलमें पैदा हुए थे? उनके कौन गुरु थे? उन्होंने कब और किससे मुनिदीक्षा ग्रहण की थी? आदि बातोंका ज्ञान करनेके लिये हमारे पास कोई साधन नहीं है। फिर भी विद्यानन्द और उनके ग्रन्थवाक्योंका उल्लेख करनेवाले उत्तरवर्ती ग्रन्थकारोंके समुल्लेखोंसे, विद्यानन्दके स्वयंके ग्रन्थोंके अन्तःपरीक्षणोंसे और प्राप्त विश्वसनीय इतर प्रमाणोंसे आचार्यप्रवर विद्यानन्दके सम्बन्धमें जो भी हम जान सके हैं उसे पाठकोंके सामने प्रस्तुत करनेका प्रयास करते हैं।

(क) विद्यानन्द नामके अनेक विद्वान्

प्राप्त जैन-साहित्यपरसे पता चलता है कि जैनपरम्परामें विद्यानन्द नामके एक-से-अधिक विद्वानाचार्य हो गये हैं। एक विद्यानन्द वे हैं जिनका और जिनके जैनधर्मकी प्रभावना सम्बन्धी अनेक कार्योंका उल्लेख शकसं० १४५२, ई० १५३०में उत्कीर्ण हुम्बु-

१ विविध परीक्षाओंके संग्रहरूप तत्त्वसंग्रहमें बौद्ध विद्वान् शान्तरक्षित (ई० ७४०-८४०) ने भी, जो विद्यानन्द (ई० ७७५-८४०) के समकालीन हैं, ईश्वरपरीक्षा, पुरुषपरीक्षा जैसे प्रकरण लिखे हैं, परन्तु आप्तपरीक्षा नामका प्रकरण उनने भी नहीं लिखा।

२ युक्त्यनुशासन और प्रमाणपरीक्षामें आप्तपरीक्षाका उल्लेख है और इसलिये आप्तपरीक्षा इनसे पहले रची गई है। तथा पत्रपरीक्षा और सत्यशासनपरीक्षाके सूक्ष्म अध्ययनसे मालूम होता है कि ये दोनों परीक्षाग्रन्थ भी आप्तपरीक्षाके बाद रचे गये हैं। इस सम्बन्धमें आगे 'विद्यानन्दकी रचनाएँ' उपशीर्षकके नीचे विशेष विचार किया जावेगा।

३ 'राजावलीकथे' में, जो शकसं० १७६१ (वि० सं० १८९६ और ई० सन् १८३९) में देवचन्द्रद्वारा रचा गया एक कनडी कथा-ग्रन्थ है, विद्यानन्दके सम्बन्धमें एक कथा पायी जाती है। परन्तु इस कथाका ग्रन्थकार विद्यानन्दके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

चके, जो मैसूर राज्यके अन्तर्गत नगरताल्लुकेमें है, एक शिलालेख (नं०४६)में[1] विस्तारके साथ पाया जाता है और वर्द्धमान मुनीन्द्रने[2], जो इन्हीं विद्यानन्दके प्रशिष्य और बन्धु थे, अपने शकसं० १४६४में समाप्त हुए 'दशभक्त्यादिमहाशास्त्र' में[3] खूब विरुद और स्तवन किया है तथा जिनके स्वर्गवासका समय शकसं० १४६३, ई० १५४१ इसी ग्रन्थमें[4] दिया है। ये विद्यानन्द विजयनगर साम्राज्यके समकालीन हैं[5]। इन्होंने नंजराज, देवराज, कृष्णराज आदि अनेक राजाओंकी सभाओंमें जा-जाकर इतर विद्वान्वादियोंसे शास्त्रार्थ किये थे और उनमें विजय तथा यश दोनों प्राप्त किये थे। ये वादी होनेके साथ तार्किक, कवि, समालोचक और जैनधर्मके प्रभावशाली प्रचारक भी थे। इन्होंने गेरुसोप्पे, कोपण, श्रवणबेलगोल आदि स्थानोंमें अनेक धार्मिक कार्य किये हैं। इनके देवेन्द्रकीर्ति, वर्द्धमानमुनीन्द्र, अकलङ्क, विद्यानन्दमुनीश्वर आदि अनेक शिष्य हुए हैं और इन सभी गुरु-शिष्योंने विजयनगरके राजाओंको खूब प्रभावित किया है तथा जैनधर्मकी उनमें अतिशय प्रभावना की है। श्री० पं० के० भुजवलीजी शास्त्रीके उल्लेखानुसार[6] स्वर्गीय आर० नरसिंहाचार्यका अनुमान है कि ये विद्यानन्द भल्लातकीपुर अर्थात् गेरुसोप्पेके रहनेवाले थे और इन्होंने कन्नडभाषामें 'काव्यसार'के अतिरिक्त एक और ग्रन्थ रचा था। शास्त्रीजीने[7] इनके बारेमें यह भी लिखा है कि 'गेरुसोप्पेमें इन (विद्यानन्द)का एक-छत्र आधिपत्य था।' उपर्युक्त शिलालेखमें इन्हीं विद्यानन्दको 'बुधेशभवनव्याख्यान' का कर्ता बतलाया है[8]।

दूसरे विद्यानन्द वे हैं जिनका उल्लेख उपर्युक्त हुम्बुचके शिलालेख और 'दशभक्त्यादिमहाशास्त्र' दोनोंमें हुआ है और जिन्हें उक्त विद्यानन्दका ही शिष्य बतलाया गया है[9]। आश्चर्य नहीं, ये वही विद्यानन्द हों जिन्हें श्रुतसागरसूरि(वि सं० १६वीं शती)ने

१ यह शिलालेख कनडी और संस्कृत भाषाका एक बहुत बड़ा शिलालेख है। इस शिलालेखका परिचय प्राप्त करनेके लिये देखिए, मुख्तारसा.का'स्वामी पात्रकेसरी और विद्यानन्द' शीर्षक लेख, अनेकान्त वर्ष १, किरण २ पृ० ७०।

२ देखिये, प्रशस्तिसं. (पृ. १२०) में परिचय प्राप्त 'दशभक्त्यादिमहाशास्त्र'।

३ 'शाके वेदखराब्धिचन्द्रकलिते संवत्सरे श्रीप्लवे, सिंहश्रावणिके प्रभाकरशिवे कृष्णाष्टमीवासरे। रोहिण्यां दशभक्तिपूर्वकमहाशास्त्रं पदार्थोज्वलम्, विद्यानन्दमुनिस्तुतं व्यरचयत् सद्वर्द्धमानो मुनिः ॥'—प्रशस्तिसं. पृ. १४३ से उद्धृत।

४ 'शाके वह्निखराब्धिचन्द्रकलिते संवत्सरे शार्वरे, शुद्धश्रावणभाक्कृतान्तधरणीतुग्मैत्रभेरवौ। कर्किस्थे सगुरौ जिनस्मरणतो वादीन्द्रवृन्दार्चितः विद्यानन्दमुनीश्वरः स गतवान् स्वर्गं चिदानन्दकः ॥'—प्रशस्तिसं. पृ. १२८ से उद्धृत।

५ इनके विशेष परिचयके लिये देखिये, डा. सालेतोरका 'Vadi Vidyananda Aernowned Jain Guru oF Karnataka' नामक महत्वपूर्ण लेख, जो 'जैनएन्टिक्वेरी' भाग ४, नं० १ में प्रकट हुआ है, तथा देखिये, प्रशस्तिसं० पृ० १२५-१४१। ६ प्रशस्तिसं० पृ० १२८। ७ वही पृष्ठ १४४। ८ 'अनेकान्त' वर्ष १, किरण २, पृ० ७१।

९ 'विद्यानन्दार्यतनयो भाति शास्त्रधुरन्धरः।
वादिराजशिरोरत्नं विद्यानन्दमुनीश्वरः॥'—प्रशस्तिसं० पृ० १२७।

अपने प्रायः सभी ग्रन्थोंमें गुरुरूपसे स्मरण किया है और उन्हें देवेन्द्रकीर्तिका शिष्य बतलाया है[1]। परन्तु इसमें दो बाधाएँ आती हैं। एक तो यह कि श्रुतसागरसूरिके गुरु विद्यानन्दिका भट्टारक-पट्ट गुजरातमें ही किसी स्थान (सम्भवतः सूरत)में बतलाया जाता है[2] जबकि इन दूसरे विद्यानन्दका अस्तित्व विजयनगर (कर्णाटकदेश)में पाया जाता है। दूसरी बाधा यह है कि श्रुतसागरसूरिने अपने गुरु विद्यानन्दिको देवेन्द्रकीर्तिका और देवेन्द्रकीर्तिको पद्मनन्दिका शिष्य और उत्तराधिकारी प्रकट किया है[3] जबकि वर्द्धमान मुनीन्द्रके 'दशभक्त्यादिमहाशास्त्र' और हुम्बुचके शिलालेख (नं० ४६) में दूसरे विद्यानन्दिको प्रथम वादिविद्यानन्दका तनय—शिष्य तथा इन्हींका शिष्य देवेन्द्रकीर्तिको बतलाया है। इन दो बाधाओंसे सम्भव है कि उक्त दूसरे विद्यानन्द श्रुतसागरसूरिके गुरु न हों और श्रुतसागरसूरिके गुरु विद्यानन्द उनसे अलग ही हों। यदि यह सम्भावना ठीक हो[4] तो कहना होगा कि तीन विद्यानन्दोंके अलावा चौथे विद्यानन्द भी हुए हैं, जो श्रुतसागरसूरिके गुरु, देवेन्द्रकीर्तिके शिष्य और पद्मनन्दिके प्रशिष्य थे और गुजरातके किसी स्थानपर भट्टारकपट्टपर प्रतिष्ठित थे। हमें यह भी सन्देह होता है कि दूसरे विद्यानन्दका उल्लेख भ्रान्त न हो, क्योंकि प्रथम विद्यानन्दकी तरह दूसरे विद्यानन्द मुनीश्वरका दशभक्त्यादिमहाशास्त्र और हुम्बुचके शिलालेखमें नामोल्लेखके सिवाय विशेष कथन कुछ भी नहीं किया गया है और इस लिये आश्चर्य नहीं कि प्रथम और दूसरे विद्यानन्द

१ 'सूरिर्देवेन्द्रकीर्त्तिर्विबुधजननुतस्तस्य पट्टाब्धिचन्द्रो,
रुन्द्रो विद्यादिनन्दी गुरुरमलतया भूरिभव्याब्जभानुः।
तत्पादाम्भोजभृङ्गः कमलदललसल्लोचनश्चन्द्रवक्त्रः,
कर्ताऽमुष्य व्रतस्य श्रुतसमुपपदः सागरः शं क्रियाद्वः ॥ ४७ ॥' —अनन्तव्रतकथा।

२ देखिए, 'जैन साहित्य और इतिहास' पृष्ठ ४०६।

३ 'स्वस्ति श्रीमूलसंघे भवदमरनुतः पद्मनन्दी मुनीन्द्रः, शिष्यो देवेन्द्रकीर्तिर्लसदमलतया भूरिभट्टारकेज्यः। श्रीविद्यानन्दिदेवस्तदनु मनुजराजार्च्यपत्पद्मयुग्मस्तच्छिष्येणारचीदं श्रुतजलधिना शास्त्रमानन्दहेतुः' ॥ ६६ ॥—चन्दनषष्ठिकथा।

४ ठीक होनेका एक पुष्ट प्रमाण भी है। वह यह कि श्रुतसागरसूरिके गुरु विद्यानन्दिने, जिन्हें मुमुक्षु विद्यानन्दि भी कहा जाता है, अपने सुदर्शनचरितकी रचना गांधारपुरी (गुजरात) में वहांके जिनमंदिरमें की है। जैसाकि उनके सुदर्शनचरितके निम्न दो प्रशस्तिपद्योंसे प्रकट है:—

गान्धारपुर्यां जिननाथचैत्ये छत्रध्वजाभूषितरम्यदेशे।
कृतं चरित्रं स्वपरोपकार-कृते पवित्रं हि सुदर्शनस्य ॥ १०६ ॥

—उद्धृत जैनप्रशस्तिसंग्रह पृ० १२।

इससे ज्ञात होता है कि श्रुतसागरसूरिके गुरु और देवेन्द्रकीर्तिके शिष्य विद्यानन्दि गुजरातमें सम्भवतः सूरत या गांधारपुरीके, जिसे गांधारमहानगर भी कहा गया है (श्रीप्रशस्तिसंग्रह द्वि० भा० पृ०१८, प्रति ७३), पट्टाधीश होंगे और इसलिये ये विद्यानन्दि उक्त दूसरे विद्यानन्दसे, जिनका अस्तित्व विजयनगर (कर्नाटक देश) में पाया जाता है, भिन्न सम्भवित हैं।—सम्पादक।

एक हों। जो हो[1]।

तीसरे विद्यानन्द प्रस्तुत ग्रन्थके कर्ता प्रसिद्ध और पुरातनाचार्य तार्किकशिरोमणि विद्यानन्दस्वामी हैं जो तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक आदि सुप्रसिद्ध दार्शनिक ग्रन्थोंके निर्माता हैं और जिनके सम्बन्धमें ही यहाँ विचार प्रस्तुत है।

(ख) विद्यानन्द और पात्रकेसरी (पात्रस्वामी) की एकताका भ्रम

आजसे कोई सोलह-सतरह वर्ष पहले तक यह समझा जाता था कि आ० विद्यानन्दस्वामी और पात्रकेसरी अथवा पात्रस्वामी एक हैं—एक ही विद्वान्के ये दो नाम हैं[2] परन्तु यह एक भारी भ्रम था। इस भ्रमको श्रीयुत पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारने अपने 'स्वामी पात्रकेसरी और विद्यानन्द' शीर्षक एक खोजपूर्ण लेखद्वारा दूर कर दिया है[3]। इस लेखमें आपने अनेक प्रबल और दृढ प्रमाणोंद्वारा सिद्ध किया है कि "स्वामी पात्रकेसरी और विद्यानन्द दो भिन्न आचार्य हुए हैं—दोनोंका व्यक्तित्व भिन्न है, ग्रन्थसमूह भिन्न है और समय भी भिन्न है।" स्वामी पात्रकेसरी अकलङ्कदेव (वि० की ७ वीं ८ वीं शती) से बहुत पहले हो चुके हैं और विद्यानन्द उनके बाद हुए हैं। और इसलिये इन दोनों आचार्योंके समयमें शताब्दियोंका—कम-से-कम दो-सौ वर्षका—अन्तर है। मुख्तारसा०ने 'सम्यक्त्वप्रकाश' आदि अर्वाचीन ग्रन्थोंके भ्रामक उल्लेखोंका, जो उक्त दोनों आचार्योंकी अभिन्नताको सूचित करते थे और जिनपरसे दोनों विद्वानाचार्योंकी अभिन्नताकी भ्रान्ति फैल गई थी, सयुक्तिक निरसन किया है और उनकी भूलें दिखलाई हैं। हम ऊपर कह आये हैं कि हुम्बुचके शिलालेख नं० ४६ (ई० १५३०) में जिन विद्यानन्दके शास्त्रार्थों और विजयोंका उल्लेख किया गया है वे प्रथम नं० के वादि विद्यानन्द हैं, जिनका समय १६ वीं शती है—ग्रन्थकार विद्यानन्दका उन शिलालेखगत शास्त्रार्थों और विजयोंसे कोई सम्बन्ध नहीं है और इसलिये जो विद्वान् उक्त शिलालेख-को ग्रन्थकार विद्यानन्दके परिचयमें प्रस्तुत करके दोनों विद्यानन्दोंको अभिन्न समझते थे, वह भी एक भ्रम था और वह भी मुख्तारसा० के उक्त लेख तथा इस स्पष्टीकरणद्वारा दूर हो जाता है। और इस तरहपर अब सभी विद्वान्[4] एक मत हैं कि स्वामी

---

१ मुख्तारसाहबके पुस्तकभण्डारमें 'दशभक्त्यादिमहाशास्त्र' की एक प्रति मौजूद है जो हमें उनसे देखनेको प्राप्त हुई है। यह प्रति आराकी प्रतिपरसे तैयार की गई है। इस ग्रन्थमें बहुत ही घुटाला, पुनरुक्तियाँ और स्खलन हैं। इसमें उल्लिखित विद्वानोंका क्रमबद्ध निर्णय करनेके लिये बड़े परिश्रम और समयकी अपेक्षा है। समयाभावसे हमने विशेष विचारको अप्रस्तुत समझ कर छोड़ दिया है।—सम्पादक। २ देखिए, श्री०पं० नाथूरामजी प्रेमीद्वारा लिखित 'स्याद्वादविद्यापति विद्यानन्दि' नामक लेख, जैनहितैषी वर्ष ९, अंक ९।

३ देखो, अनेकान्त वर्ष १, किरण २। ४ बा० कामताप्रसादजीका जैनसि० भा० वर्ष ३, किरण ३ गत लेख। तथा सिद्धान्तशास्त्री पं० कैलाशचन्द्रजीकी न्यायकुमुदचन्द्र प्रथमभागगत प्रस्तावना पृ० ७५१।

पात्रकेसरी और विद्यानन्द जुदे-जुदे दो आचार्य हैं और दोनों भिन्न-भिन्न समयमें हुए हैं। तथा वादी विद्यानन्द भी उनसे पृथक् हैं और विभिन्नकालीन हैं।

(ग) ग्रन्थकारकी जीवनी

कुमारजीवन और जैनधर्मग्रहण

आ० विद्यानन्दके ब्राह्मणोचित प्रखर पाण्डित्य और महती विद्वत्तासे प्रतीत होता है कि वे ब्राह्मण और जैन विद्वानोंकी प्रसवभूमि दक्षिणके किसी प्रदेश (मैसूर अथवा उसके आस-पास[1])में ब्राह्मणकुलमें पैदा हुए होंगे और इसलिये यह अनुमान किया जासकता है कि वे बाल्यकालमें प्रतिभाशाली होनहार विद्यार्थी थे। उनके साहित्यसे ज्ञात है[2] कि उनकी वाणीमें माधुर्य और ओजका मिश्रण था, व्यक्तित्वमें निर्भयता और तेजका समावेश था, दृष्टिमें नम्रता और आकर्षण था। धार्मिक जनसेवा और विनय उनके सहचर थे। ज्ञान-पिपासा और जिज्ञासा तो उन्हें सतत बनी रहती थी, जो भी विशिष्ट विद्वान्, चाहे बौद्ध हो, चाहे जैन, अथवा ब्राह्मण, मिलता उसीसे कुछ-न-कुछ ज्ञान प्राप्त करनेकी उनकी अभिलाषा रहती थी। ब्राह्मणकुलमें उत्पन्न होनेके कारण वैशेषिक, न्याय, मीमांसा, वेदान्त आदि वैदिक दर्शनोंका कुमार अवस्थामें ही उन्होंने अभ्यास कर लिया था। इसके अलावा, वे बौद्धदर्शनके मन्तव्योंसे विशेषतया दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर आदि बौद्ध विद्वानोंके ग्रन्थोंसे भी परिचित हो चुके थे। इसी बीचमें समय-समयपर होनेवाले ब्राह्मण, बौद्ध और जैन विद्वानोंके शास्त्रार्थोंको देखने और उनमें भाग लेनेसे उन्हें यह भी जान पड़ा कि अनेकान्त और स्याद्वादसम्बन्धी जैन विद्वानोंकी युक्तियाँ एवं तर्क अत्यन्त सबल और अकाट्य हैं और इसलिये स्याद्वाददर्शन ही वस्तुदर्शन है। फिर क्या था, उन्हें जैनदर्शनको विशेष जाननेकी भी तीव्र आकांक्षा हुई और स्वामी समन्तभद्रका देवागम, अकलङ्कदेवकी अष्टशती, आचार्य उमास्वाति (श्रीगृद्धपिच्छाचार्य) का तत्त्वार्थसूत्र और कुमारनन्दिका वादन्याय आदि जैनदार्शनिक ग्रन्थ उनके हाथ लग गये। परिणामस्वरूप विद्यानन्दने जैनदर्शन अंगीकार कर लिया और नन्दिसंघके[3] किसी अज्ञातनाम जैनमुनिद्वारा जैनधर्म तथा जैनसाधुकी दीक्षा ग्रहण कर ली।

---

१ मुझे अपने हालके ताजे स्वप्नसे लगता है कि आ० विद्यानन्द 'तौलव' देशके रहने वाले थे! २ विद्यानन्दके अष्टसहस्री, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक आदि ग्रन्थोंको देखिये उन सबमें उनकी वाणीमें, व्यक्तित्वमें और शैलीमें ये सभी गुण देखनेको मिलते हैं। उनके श्लोकवार्तिक (पृ० ४५३) गत निम्न स्वोपज्ञ पद्यमें भी इन गुणोंका कुछ आभास मिलता है—

अर्हत्पूजापरता वैयावृत्योद्यमो विनीतत्वम्।
आर्जव-मार्दव-धार्मिक-जनसेवा-मित्रभावाद्याः॥

३ शकसं० १३२० के उत्कीर्ण एक शिलालेख (नं० १०५) में, नन्दिसंघके मुनियोंमें विद्यानन्दको भी गिनाया है और उनका वहाँ नन्द्यन्त नामोंवाले आचार्योंमें प्रथम स्थान है। इससे जान पड़ता है कि विद्यानन्द नन्दिसंघमें दीक्षित हुए थे।

प्रतीत होता है कि विद्यानन्द अब तक गृहस्थाश्रममें प्रविष्ट नहीं हुए थे और ब्रह्मचर्य-पूर्वक रह रहे थे, क्योंकि प्रथम तो वे अभीतक लगभग अठारह-बीस वर्षके ही हो पाये थे और विद्याध्ययनमें ही लगे हुए थे। दूसरे, उन्होंने जिन नव (९) महान् दार्शनिक ग्रन्थोंकी रचना की है उनको देखकर हम ही नहीं, कोई भी विद्यारसिक यह अनुमान कर सकता है कि वे अखण्ड ब्रह्मचारी थे, क्योंकि अखण्ड ब्राह्म तेजके बिना इतने विशाल और सूक्ष्म पाण्डित्यपूर्ण एवं प्रखर विद्वत्तासे भरपूर ग्रन्थोंका प्रणयन सम्भव नहीं है। स्वामी वीरसेन और जिनसेन अखण्ड ब्रह्मचारी रहकर ही धवला, जयधवला जैसे विशाल और महान् ग्रन्थ बना सके हैं। दक्षिणी ब्राह्मणोंमें यह अब भी प्रथा मौजूद है कि बच्चेके उपनयन और विद्याभ्यास संस्कारके बाद जब तक उसका विद्याभ्यास पूरा नहीं हो लेता तब तक वे उसका विवाह—पाणिग्रहण नहीं करते हैं। इस तथ्यको अथवा सम्प्रदायविशेषके रीति-रिवाजको जब हम सामने रखते हैं तो यह मालूम होता है कि कुमार विद्यानन्दका भी उस समय जब वे लगभग बीस वर्षके थे और विद्याभ्यास चल रहा था, विवाह नहीं हुआ था और जब वे जैनधर्ममें दीक्षित हो गये तथा जैनसाधु बन गये तब उनके विवाह होनेका प्रसङ्ग ही नहीं आता। अतः यदि यह कल्पना ठीक हो तो कहना होगा कि विद्यानन्दने गृहस्थाश्रममें प्रवेश नहीं किया और वे जीवनपर्यन्त अखण्ड ब्रह्मचारी रहे।

यहाँ कहा जासकता है कि विद्यानन्दने जिस तीक्ष्णतासे वैशेषिक आदि वैदिक दर्शनोंका निरसन किया है और जैनदर्शनका बारीकी तथा मर्मज्ञतासे समर्थन किया है उससे यह जान पड़ता है कि विद्यानन्द वैदिक ब्राह्मण न होंगे, जैनकुलोत्पन्न होंगे? इसका समाधान यह है कि यदि नागार्जुन, असङ्ग, वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्त्ति आदि बौद्ध विद्वान् वैदिक ब्राह्मण कुलमें उत्पन्न होकर कट्टरता और तीक्ष्णतासे वैशेषिक आदि वैदिक दर्शनोंके मन्तव्योंका खण्डन और बौद्धदर्शनका अत्यन्त सूक्ष्मतासे समर्थन कर सकते हैं, तथा इसी तरह यदि सिद्धसेन दिवाकर प्रभृति विद्वान् ब्राह्मणकुलमें पैदा होकर तीक्ष्णतासे ब्राह्मण दर्शनोंकी मान्यताओंकी आलोचना और जैनदर्शनका सूक्ष्मतासे प्रतिपादन कर सकते हैं तो विद्यानन्दके ब्राह्मणकुलोत्पन्न होकर ब्राह्मणदर्शनोंका निरसन करने और जैनदर्शनका सूक्ष्म विवेचन एवं समर्थन करनेमें कोई आश्चर्य अथवा सन्देहकी बात नहीं है। यह तो विश्वासपरिवर्तनकी चीज है, जो प्रत्येक विचारवान् व्यक्तिको सम्प्राप्त हो सकता है। दूसरे, 'विद्यानन्द' नामपरसे भी ज्ञात होता है कि उन्हें ब्राह्मण होना चाहिये, क्योंकि ऐसा नामकरण अक्सर ब्राह्मणों विशेषतया वेदान्तियोंमें होता है। आजकल भी प्रायः उन्हींमें विवेकानन्द, विद्यानन्द जैसे नाम पाये जाते हैं जब कि जैनोंमें उनका अभाव-सा है।

मुनिजीवन और जैनाचारपरिपालन तथा आचार्यपद

विद्यानन्दके मुनिजीवनपर भी एक दृष्टि डाल लेना चाहिये। जान पड़ता है, सूक्ष्मविवेकी विद्यानन्द जैन-मुनि हो जानेके बाद लगातार कई वर्षों (कम-से-कम चार-पाँच वर्ष) तक जैन-मुनिचर्या और जैनतत्त्वज्ञानके आकण्ठपान अभ्यासमें लगे रहे

और यह ठीक भी है क्योंकि पहलेके संस्कारोंको एकदम परिवर्तित करना और जैन-साधुकी कठिनतम चर्याको निर्दोष शास्त्रविहित पालन करना नवदीक्षितके लिये पहले-पहल बड़ा कठिन प्रतीत होता है। अतएव यदि वे अपने दार्शनिक ग्रन्थोंके रचनारम्भके पूर्व कुछ वर्षों तक मुनिचर्या और विभिन्न शास्त्रोंके अध्ययन (पठन-पाठन-व्याख्यान) आदिमें रत रहे हों तो कोई असम्भव नहीं है। यद्यपि उन्होंने दार्शनिक ग्रन्थोंके सिवाय चारित्र सम्बन्धी कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं रचा, जिसपरसे उनके साधुजीवनके बारेमें कुछ विशेष जाना जाता, फिर भी उनके तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक और अष्टसहस्रीमें प्रदर्शित व्याख्यानोंपरसे उनके साधुजीवन अथवा साधुचर्याके बारेमें उनके कितने ही विशद और प्रामाणिक विचार जाननेको मिलते हैं। यहाँ हम उनके दो विचारोंको ही प्रस्तुत करते हैं जिनसे उनकी चर्याका पाठक कुछ अनुमान कर सकते हैं।

१. तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक[1] (पृष्ठ ४५२) में तत्त्वार्थसूत्रके छठे अध्यायके ग्यारहवें सूत्रका व्याख्यान करते हुए जब उन्होंने दुःख, शोक आदि असातावेदनीयरूप पापास्रवके कारणोंका समर्थन किया, तब उनसे कहा गया कि जैन मुनि कायक्लेशादि दुश्चर तपोंको तपते हैं और उस हालतमें उन्हें उनसे दुःखादि होना अवश्यम्भावी है। ऐसी दशामें उनके भी पापास्रव होगा। अतः कायक्लेशादि तपोंका उपदेश युक्त नहीं है और यदि युक्त है तो दुःखादिको पापास्रवका कारण बतलाना असङ्गत है? इसका विद्यानन्द अपने पूर्वज पूज्यपाद, अकलङ्कदेव आदिकी तरह ही आर्षसम्मत उत्तर देते हैं कि जैन मुनियोंको कायक्लेशादि तपश्चरण करनेमें द्वेषादि कषायरूप परिणाम उत्पन्न नहीं होते, बल्कि उसमें उन्हें प्रसन्नता होती है। जिन्हें उसमें द्वेषादि संक्लेश-भाव होता है और प्रसन्नता नहीं होती—उसे भार और आपद मानते हैं उन्हींके वे दुःखादिक पापास्रवके कारण हैं। यदि ऐसा न हो तो स्वर्ग और मोक्षके जितने भी साधन हैं वे सब ही दुःखरूप हैं और इसलिये सभीके उनसे पापास्रवका प्रसङ्ग आवेगा। तात्पर्य यह कि सभी दर्शनकारोंने यम, नियमादि विभिन्न साधनोंको स्वर्ग-मोक्षका कारण बतलाया है और वे यम, नियमादि दुःखरूप ही हैं तब जैनेतर साधुओंके भी उनके आचरणसे पापबन्ध प्रसक्त होगा। अतः केवल दुःखादि पापास्रवके कारण नहीं हैं, अपितु संक्लेशपरिणामयुक्त दुःखादिक ही पापास्रवके कारण हैं। दूसरे, तपश्चरण करनेमें जैन मुनिके मनोरति—आनन्दात्मक परम समता रहती है, बिना उस मनोरतिके वे तप नहीं करते और मनोरति सुख है। अतः जैनमुनिके लिये कायक्लेशादिक तपश्चरणका उपदेश अयुक्त नहीं है।

विद्यानन्दके इस सुदृढ और शास्त्रानुसारी विवेचनसे प्रकट है कि वे जैनमुनियों-

---

१ 'तत एव न तीर्थंकरोपदेशविरोधात् दुःखादीनामसद्वेद्यास्रवत्वायुक्तिः, सर्वेषां स्वर्गापवर्ग-साधनानां दुःखजातीयानां पापास्रवत्वप्रसङ्गात्। तपश्चरणाद्यनुष्ठायिनो द्वेषाद्यभावाच्च, आसादित-प्रसादत्वाच्च। द्विष्टाप्रसन्नमनसामेव स्वपरोभयदुःखाद्युत्पादने पापास्रवत्वसिद्धेः।.......। न च मनोरत्यभावे बुद्धिपूर्वः स्वतन्त्रः कश्चित्तपःक्लेशमारभते, विरोधात्। ततो न प्रकृतहेतोः तपश्चरणादिभिर्व्यभिचारः सर्वसम्प्रतिपत्तेः।'

केलिये उपदिष्ट अनशनादि व कायक्लेशादि बाह्य तपोंको कितना महत्व देते थे और उनके परिपालनमें कितने सावधान और विवेकयुक्त तथा जागृत रहते थे।

२. विद्यानन्दका दूसरा विचार यह है कि जैन साधु वस्त्रादि ग्रहण [1] नहीं करता, क्योंकि वह निर्ग्रन्थ और मूर्छारहित होता है। यद्यपि यह विचार सैद्धान्तिक शास्त्रोंमें प्राचीनतम कालसे निबद्ध है, पर तर्क और दर्शनके ग्रन्थोंमें वह अधिक स्पष्टताके साथ विद्यानन्दसे ही शुरू हुआ जान पड़ता है। उनका कहना है कि जैन सिद्धान्तमें जैन मुनि उसीको कहा गया है जो अप्रमत्त और मूर्छारहित है। अतः यदि जैनमुनि वस्त्रादिको ग्रहण करता है तो वह अप्रमत्त और मूर्छारहित नहीं हो सकता; क्योंकि मूर्छाके बिना वस्त्रादिका ग्रहण किसीके सम्भव नहीं है। इस सम्बन्धमें जो उन्होंने महत्वपूर्ण चर्चा प्रस्तुत की है उसे हम पाठकोंके ज्ञानार्थ 'शङ्का-समाधान' के रूपमें नीचे देते हैं:—

शङ्का— लज्जानिवारणके लिये मात्र खण्ड वस्त्र (कौपीन) आदिका ग्रहण तो मूर्छाके बिना भी सम्भव है?

समाधान—नहीं; क्योंकि कामकी पीडाको दूर करनेके लिये केवल स्त्रीका ग्रहण करनेपर भी मूर्छाके अभावका प्रसङ्ग आवेगा और यह प्रकट है कि स्त्रीग्रहणमें मूर्छा है।

शङ्का—स्त्रीग्रहणमें जो स्त्रीके साथ आलिङ्गन है वही मूर्छा है?

समाधान—तो खण्डवस्त्रादिके ग्रहणमें जो वस्त्राभिलाषा है वह वहाँ मूर्छा हो। केवल अकेली कामकी पीडा तो स्त्रीग्रहणमें स्त्रीकी अभिलाषाका कारण हो और वस्त्रादि ग्रहणमें लज्जा कपड़ेकी अभिलाषाका कारण न हो, इसमें नियामक कारण नहीं है। नियामक कारण तो मोहोदयरूप ही अन्तरङ्ग कारण है जो वस्त्रग्रहण और स्त्रीग्रहण दोनोंमें समान है। अतः यदि स्त्रीग्रहणमें मूर्छा मानी जाती है तो वस्त्रग्रहणमें भी मूर्छा अनिवार्य है, क्योंकि बिना मूर्छाके वस्त्रग्रहण हो ही नहीं सकता।

शङ्का—यदि मुनि खण्डवस्त्रादि ग्रहण न करें—वे नग्न रहें तो उनके लिङ्गको देखनेसे कामनियोंके हृदयमें विकारभाव पैदा होगा। अतः उस विकारभावको दूर करनेके लिये खण्डवस्त्रका ग्रहण उचित है?

समाधान—यह कथन भी उपरोक्त विवेचनसे खण्डित हो जाता है, क्योंकि विकारभावको दूर करनारूप चेष्टा ही वस्त्राभिलाषाका कारण है। तात्पर्य यह कि यदि विकारभावको दूर करनेके लिये वस्त्रग्रहण होता है तो वस्त्राभिलाषाका होना अनिवार्य

---

[1] 'तदेवं वस्त्रपात्रदण्डाजिनादिपरिग्रहाणां न परिग्रहो मूर्च्छारहितत्वात् तत्त्वज्ञानादिस्वीकरणवदिति वदन्तं प्रत्याह—

मूर्छा परिग्रहः सोऽपि नाप्रमत्तस्य युज्यते। तया विना न वस्त्रादिग्रहणं कस्यचित्ततः॥

लज्जापनयनार्थं कर्पटखण्डादिमात्रग्रहणं मूर्च्छाविरहेऽपि सम्भवतीति चेत्; न; कामवेदनापनयनार्थं स्त्रीमात्रग्रहणेऽपि मूर्च्छाविरहप्रसङ्गात्। तत्र योषिदभिषङ्ग एव मूर्छा, इति चेत्, अन्यत्रापि वस्त्राभिलाषा साऽस्तु, केवलमेकं तु कामवेदना योषिदभिलाषहेतुः परत्र लज्जा कर्पटाभिलाषकारणम्, इति न तत्कारणनियमोऽस्ति, मोहोदयस्यैवान्तरङ्गकारणस्य नियतत्वात्।

एतेन लिङ्गदर्शनात् कामनीजनदुरभिसन्धिः स्यादिति तन्निवारणार्थं पटखण्डग्रहणमिति प्रत्युक्तम्, तन्निवारणस्यैव तदभिलाषकारणत्वात्। नयनादिमनोहराङ्गानां दर्शनेऽपि वनिताजनदुरभिप्रायसम्भवात् तत्प्रच्छादनकर्पटस्यापि ग्रहणप्रसक्तिश्च तत एव तद्वत्।

सोऽयं स्वहस्तेन बुद्धिपूर्वकपटखण्डादिकमादाय परिदधानोऽपि तन्मूर्च्छारहित इति कोशपानं विधेयम्, तन्वीमाश्लिष्यतोऽपि तन्मूर्च्छारहितत्वमेवं स्यात्। ततो न मूर्च्छामन्तरेण पटादिस्वीकरणं सम्भवति, तस्य तद्धेतुकत्वात्। सा तु तदभावेऽपि सम्भाव्यते, कार्यापायेऽपि कारणस्य दर्शनात्। धूमाभावेऽपि मुमुर्शाद्यवस्थपावकवत्।

नन्वेवं पिच्छादिग्रहणेऽपि मूर्च्छा स्यात्, इति चेत्, तत एव परमनैर्ग्रन्थ्यसिद्धौ परिहारविशुद्धिसंयमभृतां तत्त्यागः सूक्ष्मसाम्परायथाख्यातसंयमभृन्मुनिवत्। सामायिकच्छेदोपस्थापनसंयमभृतां तु यतीनां संयमोपकरणत्वात् प्रतिलेखनस्य ग्रहणं सूक्ष्ममूर्छासद्भावेऽपि युक्तमेव, मार्गाविरोधित्वाच्च। नन्वेवं सुवर्णा(वस्त्रा ?)दिग्रहणप्रसङ्गः, तस्य नाग्न्य-संयमोपकरणत्वाभावात्।

है। दूसरे, नेत्रादि सुन्दर अङ्गोंके देखनेमें भी कामिनियोंको विकारभाव उत्पन्न होना सम्भव है, अतः उनको ढकनेके लिये भी कपड़ेके ग्रहणका प्रसङ्ग आवेगा, जैसे लिङ्गको ढकनेके लिये कपड़ेका ग्रहण किया जाता है। आश्चर्य है कि मुनि अपने हाथसे बुद्धिपूर्वक खण्डवस्त्रादिको लेकर धारण करता हुआ भी वस्त्रखण्डादिकी मूर्छारहित बना रहता है? और जब यह प्रत्येय एवं सम्भव माना जाता है तो स्त्रीका आलिङ्गन करता हुआ भी वह मूर्छारहित बना रहे; यह भी प्रत्येय और सम्भव मानना चाहिए। यदि इसे प्रत्येय और सम्भव नहीं माना जाता तो उसे (वस्त्रग्रहण करनेपर भी मूर्छा नहीं होती, इस बातको) भी प्रत्येय एवं सम्भव नहीं माना जा सकता; क्योंकि वह युक्ति और अनुभव दोनोंसे विरुद्ध है। अतः सिद्ध हुआ कि मूर्छाके बिना वस्त्रादिका ग्रहण सम्भव नहीं है, क्योंकि वस्त्रादिग्रहण मूर्छाजन्य है—वस्त्रादिका ग्रहण कार्य है और मूर्छा उसका कारण है और कार्य, कारणके बिना नहीं होता। पर, कारण कार्यके अभावमें भी रह सकता है और इस लिये मूर्छा तो वस्त्रादिग्रहणके अभावमें भी सम्भव है, जैसे भस्माच्छन्न अग्नि धूमके अभावमें।

शङ्का—यदि ऐसा है तो पिच्छी आदिके ग्रहणमें भी मूर्छा होना चाहिए?

समाधान—इसी लिये परमनिर्ग्रन्थता हो जानेपर परिहारविशुद्धिसंयमवालोंके उसका (पिच्छी आदिका) त्याग हो जाता है, जैसे सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यातसंयमवाले मुनियोंके हो जाता है। किन्तु सामायिक और छेदोपस्थापनासंममवाले मुनियोंके संयमका उपकरण होनेसे प्रतिलेखन (पिच्छी आदि) का ग्रहण सूक्ष्म मूर्छाके सद्भावमें भी युक्त ही है। दूसरे, उसमें जैनमार्गका विरोध नहीं है। तात्पर्य यह कि जिन सामायिक और छेदोपस्थापना संयमवाले मुनियोंके पिच्छी आदिका ग्रहण है उनके सूक्ष्म मूर्छाका सद्भाव है और शेष तीन संयमवाले मुनियोंके पिच्छी आदिका त्याग हो जानेसे उनके मूर्छा नहीं है। दूसरी बात यह है कि मुनिके लिये पिच्छी आदिका ग्रहण जैनमार्गके अविरुद्ध है, अतः उसके ग्रहणमें कोई दोष नहीं है। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि मुनि वस्त्र आदि भी ग्रहण करने लगें;

क्योंकि वस्त्र आदि नाग्न्य और संयमके उपकरण नहीं हैं। दूसरे, वे जैनमार्गके विरोधी हैं। तीसरे, वे सभीके उपभोगके साधन हैं। इसके अलावा, केवल तीन-चार पिच्छ व केवल अलाबूफल—तूमरी (कमण्डलु) प्रायः मूल्यमें नहीं मिलते, जिससे उन्हें भी उपभोगका साधन कहा जाय। निःसन्देह मूल्य देकर यदि पिच्छादिका भी ग्रहण किया जाय तो वह न्यायसंगत नहीं है, क्योंकि उसमें सिद्धान्तविरोध है। मतलब यह कि पिच्छी आदि न तो मूल्यवान् वस्तुएँ हैं और न दूसरोंके उपभोगकी चीजें हैं। अतः मुनिके लिये उनके ग्रहणमें मूर्छा नहीं है। लेकिन वस्त्रादि तो मूल्यवाली चीजें हैं और दूसरेके उपभोगमें भी वे आती हैं, अतः उनके ग्रहणमें ममत्वरूप मूर्छा होती है।

शंका—क्षीणमोही बारहवें आदि तीन गुणस्थानवालोंके शरीरका ग्रहण सिद्धान्तमें स्वीकृत है, अतः समस्त परिग्रह मोह—मूर्छाजन्य नहीं है?

समाधान—नहीं; क्योंकि उनके पूर्वभव सम्बन्धी मोहोदयसे प्राप्त आयु आदि कर्मबन्धके निमित्तसे शरीरका ग्रहण है—वे उस समय उसे बुद्धिपूर्वक ग्रहण नहीं किये है। और यही कारण है कि मोहनीयकर्मके नाश हो जानेके बाद उसको छोड़नेके लिये परमचारित्रका विधान है। अन्यथा उसका आत्यन्तिक त्याग सम्भव नहीं है। मतलब यह कि बारहवें आदि गुणस्थानवाले मुनियोंके शरीरका ग्रहण आयु आदि कर्मबन्धके निमित्तसे है—इच्छापूर्वक नहीं है।

शङ्का—शरीरकी स्थितिके लिये जो आहार ग्रहण किया जाता है उससे मुनिके अल्प मूर्छा होना युक्त ही है?

समाधान—नहीं; क्योंकि वह आहार ग्रहण रत्नत्रयकी आराधनाका कारण स्वीकार किया गया है। यदि उससे रत्नत्रयकी विराधना होती है तो वह भी मुनिके लिये अनिष्ट है। स्पष्ट है कि भिक्षाशुद्धिके अनुसार नवकोटि विशुद्ध आहारको ग्रहण करनेवाला मुनि कभी भी रत्नत्रयकी विराधना नहीं करता। अतः किसी पदार्थका ग्रहण मूर्छाके अभावमें किसीके सम्भव नहीं है और इसलिये तमाम परिग्रह प्रमत्तके ही होता है, जैसे अब्रह्म।

सकलोपभोगसम्पन्निबन्धनत्वाच्च। न च त्रिचतुरपिच्छमात्रमलाबूफलमात्रं वा किञ्चिन्मूल्यं लभते यतस्तदप्युपभोगसम्पत्तिनिमित्तं स्यात्। न हि मूल्यदानक्रययोग्यस्य पिच्छादेरपि ग्रहणं न्याय्यम्, सिद्धान्तविरोधात्। ननु मूर्छाविरहे क्षीणमोहानां शरीरपरिग्रहोपगमात्र तद्धेतुः सर्वः परिग्रहः इति चेत्, न, तेषां पूर्वभवमोहोदयापादितकर्मबन्धनिबन्धनशरीरपरिग्रहाभ्युपगमात्। मोहक्षयात्तत्त्यागार्थं परमचारित्रस्य विधानात्। अन्यथा तत्त्यागस्यात्यन्तिकस्य करणायोगात्। तर्हि तनुस्थित्यर्थमाहारग्रहणं यतेस्तनुमूर्छाकारणत्तमं युक्तमेवेति चेन्न, रत्नत्रयाराधननिबन्धनस्यैवोपगमात्। तद्विराधनहेतोस्तस्याप्यनिष्टेः। न हि नवकोटिविशुद्धमाहारं भैक्ष्यशुद्ध्यनुसारितया गृह्णन् मुनिर्जातुचिद्रत्नत्रयविराधनविधायी। ततो न किञ्चित्पदार्थग्रहणं कस्यचिन्मूर्छाविरहे सम्भवतीति सर्वः परिग्रहः प्रमत्तस्यैवाब्रह्मवत्।' –तत्त्वार्थश्लो. पृ.४६४।

विद्यानन्द इसी ग्रन्थमें एक दूसरी जगह और भी लिखते हैं[1] कि 'जो वस्त्रादि ग्रन्थ रहित हैं वे निर्ग्रन्थ हैं और जो वस्त्रादि ग्रन्थसे सम्पन्न हैं वे निग्रन्थ नहीं हैं—सग्रन्थ हैं, क्योंकि प्रकट है कि बाह्य ग्रन्थके सद्भावमें अन्तर्ग्रन्थ (मूर्छा) नाश नहीं होता। जो वस्त्रादिकके ग्रहणमें भी निर्ग्रन्थता बतलाते हैं उनके स्त्री आदिके ग्रहणमें मूर्छाके अभावका प्रसङ्ग आवेगा। विषयग्रहण कार्य है और मूर्छा उसका कारण है और इसलिये मूर्छारूप कारणके नाश हो जानेपर विषयग्रहणरूप कार्य कदापि सम्भव नहीं है। जो कहते हैं कि 'विषय कारण है और मूर्छा उसका कार्य है' तो उनके विषयके अभावमें मूर्छाकी उत्पत्ति सिद्ध नहीं होगी। पर ऐसा नहीं है, विषयोंसे दूर वनमें रहने वालेके भी मूर्छा देखी जाती है, अतः मोहोदयसे अपने अभीष्ट अर्थमें मूर्छा होती है और मूर्छासे अभीष्ट अर्थका ग्रहण होता है। अतएव वह जिसके है स्वयं उसके निर्ग्रन्थता कभी नहीं बन सकती। अतः जैनमुनि वस्त्रादि ग्रन्थ रहित ही होते हैं।'

सूक्ष्मप्रज्ञ विद्यानन्दके इन युक्तिपूर्ण सुविशद विचारोंसे प्रकट है कि उनकी चर्या कितनी विवेकपूर्ण और जैनमार्गाविरुद्ध रहती थी और वे नाग्न्यको कितना अधिक महत्त्व प्रदान करते थे तथा मुनिमात्रके लिये उसका युक्ति और शास्त्रसे निष्पक्ष समर्थन करते थे। वे यह सदैव अनुभव करते थे कि यदि साधु लज्जा अथवा अन्य किसी कारणसे नाग्न्यपरीषहको नहीं जीत सकते हैं और इस लिये वस्त्रादि ग्रहण करते हैं तो वे कदापि निर्ग्रन्थ और अप्रमत्त नहीं हो सकते हैं; क्योंकि वस्त्रादिग्रहण तभी होता है जब मूर्छा होती है। मूर्छाके अभावमें वस्त्रग्रहण हो ही नहीं सकता। अतः जैनमार्ग तो पूर्ण नग्नताके आचरण और धारण करनेमें है। जब वे आहार (भिक्षा) के लिये जाते तो वे उसे रत्नत्रयकी आराधनाके लिये ही ग्रहण करते थे और इस बातका ध्यान रखते थे कि वह भिक्षाशुद्धिपूर्वक नवकोटि विशुद्ध हो और इस तरह वे रत्नत्रयकी विराधनासे बचे रहते थे। कदाचित् रत्नत्रयकी विराधना हो जाती तो उसका वे शास्त्रानुसार प्रायश्चित्त भी ले लेते थे। इस तरह मुनि विद्यानन्द रत्नत्रयरूपी भूरि भूषणोंसे सतत आभूषित रहते थे[2]

[1] "वस्त्रादिग्रन्थसम्पन्नास्ततोऽन्ये नेति गम्यते
बाह्यग्रन्थस्य सद्भावे ह्यन्तर्ग्रन्थो न नश्यति ॥
ये वस्त्रादिग्रहेऽप्याहुर्निर्ग्रन्थत्वं यथोदितम्।
मूर्छानुद्भूतिस्तेषां स्त्र्याद्यादानेऽपि किं न तत् ॥
विषयग्रहणं कार्यं मूर्छा स्यात्तस्य कारणम्।
न च कारणविध्वंसे जातु कार्यस्य सम्भव ॥
विषयः कारणं मूर्छा तत्कार्यमिति यो वदेत्।
तस्य मूर्छोदयोऽसत्त्वे विषयस्य न सिद्ध्यति ॥
तस्मान्मोहोदयान्मूर्छा स्वार्थे तस्य ग्रहस्ततः।
स, यस्यास्ति स्वयं तस्य न नैर्ग्रन्थ्यं कदाचन ॥"—तत्त्वार्थश्लो० पृ०४०७।

[2] 'स जयतु विद्यानन्दो रत्नत्रयभूरिभूषणः सततम्'—आप्तप० टीका प्रश०८ पद्य ३।

और अपनी चर्याको बड़ी ही निर्दोष तथा उच्चरूपसे पालते थे। ईसाकी ११ वीं शताब्दीके विद्वान् आ० वादिराजने भी इन्हें न्यायविनिश्चयविवरणमें[1] एक जगह 'अनवद्यचरण' विशेषणके साथ समुल्लेखित किया है। यही कारण है कि मुनि-संघमें उन्हें श्रेष्ठ स्थान प्राप्त था और आचार्य जैसे महान् उच्चपदपर भी वे प्रतिष्ठित थे।

गुणपरिचय-दिग्दर्शन

(क) दर्शनान्तरीय अभ्यास

यहाँ विद्यानन्दके कपितय गुणोंका भी कुछ परिचय दिया जाता है। सबसे पहले उनके दर्शनान्तरीय अभ्यासको लेते हैं। आ० विद्यानन्द केवल उच्च चारित्राराधक तपस्वी आचार्य ही नहीं थे, वल्कि वे समग्र दर्शनोंके विशिष्ट अभ्यासी भी थे। वैशेषिक, न्याय, मीमांसा, चार्वाक, सांख्य और बौद्धदर्शनोंके मन्तव्योंको जब वे अपने ग्रन्थोंमें पूर्वपक्षके रूपमें जिस विद्वत्ता और प्रमाणिकतासे रखते हैं तब उससे लगने लगता है कि अमुक दर्शनकार ही अपना पक्ष उपस्थित कर रहा है। वे उसकी ओरसे ऐसी व्यवस्थित कोटि-उपकोटियाँ रखते हैं कि पढ़नेवाला कभी उकताता नहीं है और वह अपने आप आगे खिंचता हुआ चला जाता है तथा फल जाननेके लिये उत्सुक रहता है। उदाहरणार्थ हम प्रस्तुतः ग्रन्थके ही एक स्थलको उपस्थित करते हैं। प्रकट है कि वैशेषिकदर्शन ईश्वरको अनादि, सदामुक्त और सृष्टिकर्ता मानता है। विद्यानन्द उसकी ओरसे लिखते हैं:—

'नन्वीश्वरस्यानुपायसिद्धत्वमनादित्वात्साध्यते। तदनादित्वं च तनुकरणभुवनादौ निमित्तकारणत्वादीश्वरस्य। न चैदसिद्धम्। तथा हि—तनुकरणभुवनादिकं विवादापन्नं बुद्धिमन्निमित्तकम्, कार्यत्वात्। यत्कार्यं तद्बुद्धिमन्निमित्तकं दृष्टम्, यथा वस्त्रादि। कार्यं चेद प्रकृतम्, तस्माद् बुद्धिमन्निमित्तकम्। योऽसौ बुद्धिमांस्तद्धेतुः स ईश्वर इति प्रसिद्धं साधनं तदनादित्वं साधयत्येव।........इति वैशेषिकाः समभ्यमंसत।'

अब उनका उत्तरपक्ष देखिये,

'तेऽपि न समञ्जसवाचः, तनुकरणभुवनादयो बुद्धिमन्निमित्तका इति पक्षस्य व्यापकानुपलम्भेन बाधितत्वात् कार्यत्वादिहेतोः कालात्ययापदिष्टत्वाच्च। तथा हि—तन्वादयो न बुद्धिमन्निमित्तकाः तदन्वयव्यतिरेकानुपलम्भात्। यत्र यदन्वयव्यतिरेकानुपलम्भस्तत्र न तन्निमित्तकत्वं दृष्टम्, यथा घटघटीशरावोदञ्चनादिषु कुविन्दाद्यन्वयतिरेकाननुविधायिषु न कुविन्दादिनिमित्तकत्वम्, बुद्धिमदन्वयव्यतिरेकानुपलम्भश्च तन्वादिषु, तस्मान्न बुद्धिमन्निमित्तकत्वमिति व्यापकानुपलम्भः तत्कारणकत्वस्य तदन्वयव्यतिरेकोपलम्भेन व्याप्तत्वात्, कुलालकारणकस्य घटादेः कुलालान्वयव्यतिरेकोपलम्भप्रसिद्धेः सर्वत्र बाधकाभावात्तस्य तद्व्यापकत्वव्यवस्थानात्। न चायमसिद्धः, तन्वादीनामीश्वरव्यतिरेकानुपलम्भस्य प्रमाणसिद्धत्वात्। स हि न तावत्कालव्यतिरेकः, शाश्वतिकत्वदीश्वरस्य कदाचिदभावासम्भवात्। नापि देशव्यतिरेकः, तस्य विभुत्वेन क्वचिदभावानुपपत्तेरीश्वराभावे कदाचित्क्वचित्तन्वादिकार्याभावानिश्चयात्।'

उत्तर पक्षमें पर्वपक्षकी तरह वही शैली और वही पञ्चावयववाक्यप्रयोग सर्वत्र मिलेंगे। हाँ, बौद्धों आदिके पूर्वपक्ष और उत्तरपक्षमें उनकी मान्यतानुसार द्व्यवयव आदि

१ न्यायवि० वि० लि० पत्र ३८२।

वाक्यप्रयोग मिलेंगे। विद्यानन्दका वैशेषिक दर्शनका अभ्यास वस्तुतः विशेष प्रतीत होता है और उसकी विशदतम छटा उनके सभी ग्रन्थोंमें उपलब्ध होती है। वे जब मीमांसादर्शनकी भावना-नियोग और वेदान्तदर्शनकी विधिसम्बधी दुरूह चर्चाको अपने तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक और अष्टसहस्रीमें विस्तारसे करते हैं तो उनका मीमांसा और वेदान्तदर्शनोंका गहरा और सूक्ष्म पाण्डित्य भी विदित हुए बिना नहीं रहता। जहाँ तक हम जानते हैं, जैनवाङ्मयमें यह भावना-नियोग-विधिकी दुरवगाह चर्चा सर्वप्रथम तीक्ष्णबुद्धि विद्यानन्दद्वारा ही लाई गई है और इस लिये जैनसाहित्यके लिये यह उनकी एक अपूर्व देन है। मीमांसादर्शनका जैसा और जितना सबल खण्डन तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकमें पाया जाता है वैसा और उतना जैनवाङ्मयकी अन्य किसी भी उपलब्ध कृतिमें नहीं है। इससे हम विद्यानन्दके मीमांसादर्शन और वेदान्तदर्शनके अभ्यासको जान सकते हैं। न्याय, सांख्य और चार्वाक दर्शनकी विवेचना और उनकी समालोचनासे विद्यानन्दकी उन दर्शनोंकी विद्वत्ता भी भलीभांति अवगत होजाती है। उनका बौद्धशास्त्रोंका अभ्यास तो इसीसे मालूम होजाता है कि उनके ग्रन्थोंका प्रायः बहुभाग बौद्धदर्शनके मन्तव्योंकी विशद आलोचाओंसे भरा हुआ है और इस लिये हम कह सकते हैं कि उनका बौद्धशास्त्रसम्बन्धी भी विशाल ज्ञान था। इस तरह विद्यानन्द भारतीय समग्र[1] दर्शनोंके गहरे और विशिष्ट अध्येता थे। संक्षेपमें यों समझिये कि आचार्य विद्यानन्दने कणाद, प्रशस्तकर, व्योमशिव, शङ्कर इन वैशेषिक ग्रन्थकारोंके, अक्षपाद, वात्स्यायन, उद्योतकर इन नैयायिक विद्वानोंके, जैमिनि, शवर, कुमारिलभट्ट, प्रभाकर इन मीमांसक दार्शनिकोंके, ईश्वरकृष्ण, माठर, पतञ्जलि, व्यास इन सांख्य-योग विद्वानोंके, मण्डनमिश्र, सुरेश्वरमिश्र इन वेदान्त विद्वानोंके और नागार्जुन, वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्त्ति, प्रज्ञाकर, धर्मोत्तर, जयसिंहराशि इन बौद्ध तर्कग्रन्थकारोंके ग्रन्थोंको विशेषतया अभ्यस्त और आत्मसात् किया था। इससे स्पष्ट है कि उनका दर्शनान्तरीय अभ्यास महान् और विशाल था।

(ख) जैनशास्त्राभ्यास

आ० विद्यानन्दको अपने पूर्ववर्ती जैन ग्रन्थकारोंसे उत्तराधिकारके रूपमें जैनदर्शनकी भी पर्याप्त ग्रंथराशि प्राप्त थी। आचार्य गृद्धपिच्छाचार्यका लघु, पर महागम्भीर और जैनवाङ्मयके समग्र सिद्धान्तोंका प्रतिपादक तत्त्वार्थसूत्र, उसकी पूज्यपादीय तत्त्वार्थवृत्ति (सर्वार्थसिद्धि), अकलङ्कदेवका तत्त्वार्थवार्तिक और श्वेताम्बर परम्परामें

१ माधवके 'सर्वदर्शनसंग्रह' में जिन सोलह दर्शनोंका वर्णन किया गया है उनमें प्रसिद्ध छह दर्शनोंको छोड़कर शेष दर्शन आ० विद्यानन्दके बहुत पीछे प्रचलित हुए हैं और इस लिये उन दर्शनोंकी चर्चा उनके ग्रन्थोंमें नहीं है। दूसरे, उन शेष दर्शनोंका प्रसिद्ध वैदिक दर्शनोंमें ही समावेश है। यही कारण है कि आ० हरिभद्र आदिने प्रसिद्ध छह दर्शनोंका ही 'षड्दर्शन-समुच्चय' आदिमें संकलन किया है। अतः प्राचीन समयमें प्रसिद्ध छह दर्शन ही भारतीय समग्र दर्शन कहलाते थे। सम्पा०।

प्रसिद्ध तत्त्वार्थभाष्य ये तीन तत्त्वार्थसूत्रकी टीकाएँ, आचार्य समन्तभद्रस्वामीके देवागम-आप्तमीमांसा, स्वयम्भूस्तोत्र और युक्त्यनुशासन ये तीन दार्शनिक ग्रन्थ और रत्नकरण्ड-श्रावकाचार यह उपासकग्रन्थ उन्हें प्राप्त थे। इसके अतिरिक्त, सिद्धसेनका सन्मतिसूत्र, अकलङ्कदेवके अष्टशती, न्यायविनिश्चय, प्रमाणसंग्रह, लघीयस्त्रय, सिद्धिविनिश्चय ये जैनतर्कग्रन्थ, पात्रस्वामीका त्रिलक्षणकदर्थन, श्रीदत्तका जल्पनिर्णय और वादन्यायविचक्षण कुमारनन्दिका वादन्याय ये जैनन्यायग्रन्थ उन्हें उपलब्ध थे। इसके अलावा, आ० भूतवलि तथा पुष्पदन्तकृत षट्खण्डागम, गुणधराचार्यकृत कषायपाहुड, यतिवृषभाचार्यकृत 'तिलोयपण्णत्ति', कुन्दकुन्दाचार्यकृत प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, नियमसार आदि आगमग्रन्थ और पर्याप्त श्वेताम्बर ग्रन्थ उन्हें सुलभ थे। सैंकड़ों ऐसे भी जैनाचार्य ग्रन्थकारोंके ग्रन्थ उन्हें प्राप्त थे, जिनका अथवा जिनके ग्रन्थोंका कोई नामोल्लेख न करके केवल उनके वाक्योंको 'उक्तं च' जैसे शब्दोंद्वारा अपने प्रायः सभी ग्रन्थोंमें उन्होंने उद्धृत किया है। उदाहरणार्थ पत्रपरीक्षामें किन्हीं पूर्वाचार्योंकी कुछ कारिकाएँ उन्होंने 'तदुक्तं' करके उद्धृत की हैं। और प्रमाणपरीक्षामें 'अत्र संग्रहश्लोकाः' रूपसे सात कारिकाएं उपस्थित की हैं जो पूर्वाचार्योंकी हेतुभेदोंका प्रतिपादन करने वाली हैं। तात्पर्य यह कि जैनदार्शनिक, जैन आगमिक और जैनतार्किक साहित्य भी उन्हें विपुल मात्रामें प्राप्त था और उसका उन्होंने अपने ग्रन्थोंमें खूब उपयोग किया है तथा अपने जैनदार्शनिक ज्ञानभण्डारको समृद्ध बनाया है।

(ग) सूक्ष्मप्रज्ञतादिगुण-परिचय

अब हम विद्यानन्दके सूक्ष्मप्रज्ञता, स्वतन्त्र विचारणा आदि दो-एक गुणोंका दिग्दर्शन और कराते हैं।

जैनदर्शनमें गुण और पर्याययुक्तको द्रव्य कहा गया है[1]। इसपर शङ्का की गई कि 'गुण' संज्ञा तो जैनेतरोंकी है, जैनोंकी नहीं है। जैनोंके यहाँ तो द्रव्य और पर्यायरूप ही तत्त्व वर्णित किया गया है और इसीलिये द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक इन दो ही नयोंका उपदेश दिया गया है। यदि गुण भी कोई वस्तु है तो तद्विषयक तीसरा गुणार्थिक मूल नय भी होना चाहिये। परन्तु जैनदर्शनमें उसका उपदेश नहीं है?

इस शङ्काका उत्तर सिद्धसेन, अकलङ्क और विद्यानन्द इन तीनों विद्वान तार्किकोंने दिया है। सिद्धसेन कहते हैं[2] कि गुण पर्यायसे भिन्न नहीं है—पर्यायमें ही 'गुण' शब्दका प्रयोग जैनागममें किया गया है और इसलिये गुण और पर्याय एकार्थक होनेसे पर्यायार्थिक और द्रव्यार्थिक इन दो ही नयोंका उपदेश है, गुणार्थिक नयका नहीं, अतः उक्त शङ्का युक्त नहीं है।

अकलङ्कका कहना है[3] कि द्रव्यका स्वरूप सामान्य और विशेष है। और

१ 'गुणपर्ययवद्द्रव्यम् ।' –तत्त्वार्थसू० ५–३७। २ सन्मतिसूत्र ३–६, १०, ११, १२, नं० की गाथाएँ। ३ तत्त्वार्थवा० ५–३७ पृ० २४३।

सामान्य, उत्सर्ग, अन्वय, गुण ये सब पर्यायवाची हैं। तथा विशेष, भेद, पर्याय ये एकार्थक शब्द हैं। उनमें सामान्यको विषय करनेवाला नय द्रव्यार्थिक नय है और विशेषको विषय करनेवाला नय पर्यायार्थिक नय है। सामान्य और विशेष इन दोनोंका अपृथक् सिद्धरूप समुदाय द्रव्य है। इसलिये गुणविषयक भिन्न तीसरा नय नहीं है, क्योंकि नय अंशग्राही हैं और प्रमाण समुदायग्राही। अथवा, गुण और पर्याय अलग-अलग नहीं हैं—गुणोंका नाम ही पर्याय है। अतः उक्त दोष नहीं है।

सिद्धसेन और अकलंकके इस समाधानके बाद फिर प्रश्न उपस्थित हुआ कि यदि गुण और पर्याय दोनों एक हैं—भिन्न नहीं हैं तो द्रव्यलक्षणमें उन दोनोंका निवेश किस लिये किया जाता है? इस प्रश्नका सूक्ष्मप्रज्ञतासे भरा हुआ उत्तर देते हुए विद्यानन्द कहते हैं[1] कि सहानेकान्तकी सिद्धिके लिये तो गुणयुक्तको द्रव्य कहा गया है और क्रमानेकान्तके ज्ञानके लिये पर्याययुक्तको द्रव्य बतलाया गया है और इसलिये गुण तथा पर्याय दोनोंका द्रव्यलक्षणमें निवेश युक्त है।

विद्यानन्दके इस युक्तिपूर्ण उत्तरसे उनकी सूक्ष्मप्रज्ञता और तीक्ष्ण बुद्धिका पता चलता है। उनके स्वतंत्र और उदार विचारोंका भी हमें कितना ही परिचय मिलता है। प्रकट है कि अकलङ्कदेव[2] और उनके अनुगामी आ० माणिक्यनन्दि[3] तथा लघु अनन्तवीर्य[4] आदिने प्रत्यभिज्ञानके अनेक भेद बतलाये हैं। परन्तु आ. विद्यानन्द अपने ग्रन्थोंमें प्रत्यभिज्ञानके एकत्वप्रत्यभिज्ञान और सादृश्यप्रत्यभिज्ञान ये दो ही भेद बतलाते हैं[5]।

आचार्य प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ४८२-४८७) और न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ७६८-७७६) में जो ब्राह्मणत्व जातिका विस्तृत और विशद खण्डन किया है तथा जाति-वर्णकी व्यवस्था गुणकर्मसे की है उनका प्रारम्भ जैनपरम्पराके तर्कग्रन्थोंमें आ० विद्यानन्दसे ही हुआ जान पड़ता है। आ० विद्यानन्दने श्लोकवार्तिक (पृ० ३५८) में सयुक्तिक बतलाया है कि गुणों और दोषोंके आधारसे ही आर्यत्व, म्लेच्छत्व आदि जातियाँ व्यवस्थित हैं, नित्य जाति कोई नहीं है। ब्राह्मणत्व, चण्डालत्व आदिको जो नित्य सर्वगत और अमूर्तस्वभाव मानते हैं वह प्रमाणबाधित है। इस तरह उन्होंने अपने उदार विचारोंको भी प्रस्तुत किया है। इससे हम सहजमें जान सकते हैं कि विद्यानन्द एक उच्च तार्किक होनेके साथ स्वतन्त्र और उदार विचारक भी थे।

इसके अलावा वे श्रेष्ठ और प्रामाणिक व्याख्याकार भी थे। आ० गृद्धपिच्छ, स्वामी समन्तभद्र और अकलङ्कदेवके वचनों—पदवाक्यादिकोंका अपने ग्रन्थोंमें जहाँ कहीं व्याख्यान करनेका उन्हें प्रसङ्ग आया है उनका उन्होंने बड़ी प्रामाणिकतासे व्या-

१ 'गुणवद् द्रव्यमित्युक्तं सहानेकान्तसिद्धये।
तथा पर्यायवद् द्रव्यं क्रमानेकान्तवित्तये ॥ २ ॥—तत्त्वार्थश्लोक० पृ० ४३८।

२ देखो, लघीय. का. २१। ३ परीक्षामुख. ३-५ से ३-१०। ४ देखो, प्रमेयर० ३-१०। ५ तत्त्वार्थश्लो० पृ० १९०, अष्टस. पृ० २७६, प्रमाणप० पृ० ६९।

ख्यान किया है[1]। इसके सिवाय आ० विद्यानन्द उत्कृष्ट वैयाकरण, श्रेष्ठ कवि, अद्वितीय वादी, महान् सैद्धान्ती और सच्चे जिनशासनभक्त भी थे। उनके बाद उन जैसा महान् तार्किक और सूक्ष्मप्रज्ञ भारतीय क्षितिजपर—कम-से-कम जैनपरम्परामें तो—कोई दृष्टिगोचर नहीं होता। वे अद्वितीय थे और उनकी कृतियाँ भी आज अद्वितीय बनी हुई हैं।

(घ) विद्यानन्दपर पूर्ववर्ती जैन ग्रन्थकारोंका प्रभाव

आ० विद्यानन्दपर जिन पूर्ववर्ती ग्रन्थकार जैनाचार्योंका विशेष प्रभाव पड़ा है उनमें उल्लेखनीय निम्न आचार्य हैं:—

१ गृद्धपिच्छाचार्य (उमास्वाति), २ समन्तभद्रस्वामी, ३ श्रीदत्त, ४ सिद्धसेन, ५ पात्रस्वामी, ६ भट्टाकलङ्कदेव और ७ कुमारनन्दि भट्टारक।

१. गृद्धपिच्छाचार्य—यह विक्रमकी पहली शतीके प्रभावशाली विद्वान् हैं[2]। तत्त्वार्थसूत्र इनकी अमर रचना है। इसमें जैन तत्त्वों (जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात) का और उनके अधिगमोपाय प्रमाण, नय तथा प्रमाणके प्रत्यक्ष-परोक्षरूप दो भेदों और नयोंके नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत इन सात भेदोंका सैद्धान्तिक और दार्शनिक प्रतिपादन किया गया है। विभिन्न स्थलोंमें 'धर्मास्तिकायाभावात्', 'तन्निसर्गादधिगमाद्वा' जैसे सूत्रोंद्वारा तर्कका भी समावेश हुआ है। यह दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओंमें कुछ पाठभेदके साथ समानरूपसे मान्य है और दोनों ही सम्प्रदायके विद्वानोंने इसपर अनेक टीकाएँ लिखी हैं। उनमें आ० पूज्यपादकी तत्त्वार्थवृत्ति (सर्वार्थसिद्धि), अकलङ्कदेवका तत्त्वार्थवार्तिक, प्रस्तुत आप्तपरीक्षाकार आ० विद्यानन्दका तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (सभाष्य), श्रुतसागरसूरिकी तत्त्वार्थवृत्ति और श्वेताम्बर परम्परामें प्रसिद्ध तत्त्वार्थभाष्य ये पांच टीकाएँ तत्त्वार्थसूत्रकी विशाल, विशिष्ट और महत्वपूर्ण व्याख्याएँ हैं। विद्यानन्दने अपने प्रायः सभी ग्रन्थोंमें इसके सूत्रोंको बड़े आदरके साथ उद्धृत किया है। और प्रस्तुत 'आप्तपरीक्षा'का भव्य प्रासाद तो इसीके 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि मङ्गलाचरण पद्यपर खड़ा किया गया है। ग्रन्थकारने अपने ग्रन्थोंमें सिर्फ एक ही जगह (तत्त्वार्थश्लोकवा० पृ० ६ पर) इन आचार्यका 'गृद्धपिच्छाचार्य' नामसे उल्लेख किया है और सर्वत्र 'सूत्रकार' जैसे आदरवाची नामसे ही उनका उल्लेख हुआ है।

२. समन्तभद्रस्वामी—ये विक्रमकी दूसरी-तीसरी शतीके महान् आचार्य हैं[3]। ये वीरशासनके प्रभावक, सम्प्रसारक और खास युगके प्रवर्त्तक हुए हैं। अकलङ्कदेवने इन्हें कलिकालमें स्याद्वादरूपी पुण्योदधिके तीर्थका प्रभावक बतलाया है[4]। आचार्य

१ देखो, तत्त्वार्थश्लो० पृ० २४०, २४२, २५४ आदि।

२ देखो, मुख्तारसा०का 'स्वामी समन्तभद्र'। पं० सुखलालजी इन्हें भाष्यको स्वोपज्ञ माननेके कारण विक्रमकी तीसरीसे पांचवीं शतीका अनुमानित करते हैं (ज्ञानबिन्दुकी प्रस्तावना)।

३ स्वामीसमन्तभद्र और न्यायदी० प्रस्तावना पृ० ८५। ४ अष्टश० पृ० २।

जिनसेनने इनके वचनोंको भ० वीरके वचनतुल्य प्रकट किया है[1] और एक शिलालेखमें[2] तो भ० वीरके तीर्थकी हजारगुनी वृद्धि करनेवाला भी उन्हें कहा है। वास्तवमें स्वामी-समन्तभद्रने वीरशासनकी जो महान् सेवा की है वह जैनवाङ्मयके इतिहासमें सदा स्मरणीय एवं अमर रहेगी। आप्तमीमांसा (देवागम), युक्त्यनुशासन, स्वयंभूस्तोत्र, रत्नकरण्डश्रावकाचार और जिनशतक (जिनस्तुतिशतक ये पांच उपलब्ध कृतियाँ इनकी प्रसिद्ध हैं। आ० विद्यानन्दने इनकी आप्तमीमांसा (देवागम) पर अकलङ्कदेवकी अष्टशतीको समाविष्ट करते हुए आठ हजार प्रमाण 'अष्टसहस्री' टीका लिखी है जिसे आप्तमीमांसालंकार और देवागमालंकार भी कहा जाता है। इनके दूसरे ग्रन्थ युक्त्यनुशासनपर भी आ० विद्यानन्दने 'युक्त्यनुशासनालङ्कार' नामक मध्यमपरिमाणकी अत्यन्त विशद टीका रची है। ग्रन्थकारने अपने सभी ग्रन्थोंमें इनकी देवागम, युक्त्यनुशासन और स्वयम्भूस्तोत्र इन दार्शनिक कृतियोंके उद्धरण दिये हैं। श्लोकवार्त्तिक पृ० ४६७ में इनके उपासक ग्रंथ रत्नकरण्डश्रावकाचारका भी प्रायः अनुसरण किया है[3]।

३. श्रीदत्त—इनका आ० विद्यानन्दने तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक (पृ० २८०) में निम्न प्रकारसे उल्लेख किया है:—

"पूर्वाचार्योऽपि भगवानमुमेव द्विविधं जल्पमावेदितवानित्याह—

द्विप्रकारं जगौ जल्पं तत्त्व-प्रातिभगोचरम्। त्रिषष्टेर्वादिनां जेता श्रीदत्तो जल्पनिर्णये ॥ ४५ ॥"

इसके पहले विद्यानन्दने यह प्रतिपादन किया है[4] कि वादके दो भेद हैं—१ वीतरागवाद और २ आभिमानिकवाद। वीतरागवाद तत्त्वजिज्ञासुओंमें होता है और उसके

१ हरि. पु० १-३०। २ वेलूरताल्लुकेका शि० नं० १७।

३ तुलना कीजिए—

त्रसहतिपरिहरणार्थं क्षौद्रं पिशितं प्रमादपरिहृतये।
मद्यं च वर्जनीयं जिनचरणौ शरणमुपयातैः ॥
अल्पफलबहुविघातान्मूलकमार्द्राणि शृङ्गवेराणि।
नवनीतनिम्बकुसुमं कैतकमित्येवमवहेयम् ॥
यदनिष्टं तद्व्रतयेद्यच्चानुपसेव्यमेतदपि जह्यात्।
अभिसन्धिकृता विरतिर्विषयाद्योग्याद्व्रतं भवति ॥"

—रत्नक० श्राव० श्लो० ८४,८५,८६।

"भोगपरिभोगसंख्यानं पंचविधम्, त्रसघातप्रमादबहुवधानिष्टानुपसेव्यविषयभेदात्। तत्र मधु-मांसं त्रसघातजं तद्विषयं सर्वदा विरमणं विशुद्धिदम्। मद्यं प्रमादनिमित्तं तद्विषयं च विरमणं संविधेयम्, अन्यथा तदुपसेवनकृतः प्रमादात्सकलव्रतविलोपप्रसङ्गः। केतक्यर्जुनपुष्पादिमाल्यं जन्तुप्रायं शृङ्गवेरमूलकार्द्रहरिद्रानिम्बकुसुमादिकमुपदंशकमनन्तकायव्यपदेशं च बहुवधं तद्विषयं विरमणं नित्यं श्रेयः, श्रावकत्वविशुद्धिहेतुत्वात्। यानवाहनादि यद्यस्यानिष्टं तद्विषयं परिभोगविरमणं यावज्जीवं विधेयम्। चित्रवस्त्राद्यनुपसेव्यमसत्यशिष्टसेव्यत्वात्, तदिष्टमपि परित्याज्यं शश्वदेव।" —तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४६७।

४ देखो, तत्त्वार्थश्लो० पृ० २८०।

वादी तथा प्रतिवादी दो अङ्ग हैं। तथा आभिमानिक वाद जिगीषुओंमें होता है और उसके वादी, प्रतिवादी, सभापति और प्राश्निक ये चार अङ्ग हैं। इस आभिमानिक-वादके भी दो भेद हैं– १ तात्त्विकवाद और २ प्रातिभवाद। अपने इस प्रतिपादनको प्रमाणित करनेके लिये उन्होंने उक्त उल्लेख किया है। उसमें कहा गया है कि पूर्वाचार्य भगवान् श्रीदत्तने भी अपने जल्पनिर्णयमें वही दो प्रकारका जल्प—वाद बतलाया है— १ तात्त्विक और २ प्रातिभ। उक्त उल्लेखमें विद्यानन्दने इन्हें '६३ वादियोंका जेता' भी कहा है। इससे प्रतीत होता है कि 'जल्पनिर्णय' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थके कर्ता और ६३ वादियोंके जेता श्रीदत्ताचार्य बहुत प्रभावशाली वादी और तार्किक हुए हैं तथा वे विद्यानन्दके बहुत पहले हो चुके हैं। आदिपुराणकार आचार्य जिनसेन (वि० की ९ वीं शताब्दि) ने[1] भी आदिपुराणके आरम्भमें इनका सश्रद्ध स्मरण किया है और उन्हें वादिगजोंका प्रभेदन करनेवाला सिंह लिखा है। आचार्य पूज्यपादने अपने जैनेन्द्रव्याकरणके 'गुणे श्रीदत्तस्य स्त्रियाम् । १-४-३४' सूत्रद्वारा एक श्रीदत्तका समुल्लेख किया है[2]। यदि ये श्रीदत्त प्रस्तुत श्रीदत्त हों तो ये पूज्यपाद (वि० की छठी शताब्दी)से भी पूर्ववर्त्ती ज्ञात होते हैं। चार आरातीय अचार्योंमें भी एक श्रीदत्तका नाम है जिनका समय वीरनिर्वाणसं० ७०० (वि० सं० २३०) के लगभग बतलाया जाता है[3]। श्रद्धेय पं० नाथूरामजी प्रेमीकी[4] सम्भावना है कि ये आरातीय श्रीदत्त जल्पनिर्णयके कर्त्ता श्रीदत्तसे भिन्न होंगे। आ० अकलङ्कदेवने अपने 'सिद्धिविनिश्चय'में एक 'जल्पसिद्धि' नामका प्रस्ताव रखा है और उसमें छलादिदूषण रहित जल्पको वाद बतलाकर दोनोंको एक प्रकट किया है तथा विद्यानन्दके[5] उल्लेखानुसार उसमें उन्होंने तात्त्विक वादमें जय कही है। अतः सम्भव है कि श्रीदत्तके जल्पनिर्णयका अकलङ्कके 'जल्पसिद्धि' प्रस्तावपर प्रभाव हो। इस तरह आ० श्रीदत्तका समय वि० की तीसरीसे पांचवीं शताब्दीका मध्यकाल जान पड़ता है।

४. सिद्धसेन—स्वामी समन्तभद्रके बाद और अकलङ्कदेवके पूर्व इनका उदय हुआ है। ये जैन परम्पराके प्रभावशाली जैन तार्किक हैं। ये जैनवाङ्मयमें सिद्धसेन दिवाकरके नामसे विशेष विश्रुत हैं[6]। इनका 'सन्मतिसूत्र' नामका महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ स्वामी समन्तभद्रकी आप्तमीमांसाकी तरह बहुत प्रसिद्ध है। इसमें उन्होंने स्वामी समन्तभद्रद्वारा प्रतिष्ठित स्याद्वाद और अनेकान्तवादका नयोंके विशद और विस्तृत विवेचन पूर्वक विभिन्न नयोंमें विभिन्न दर्शनोंका समावेश करके समर्थन किया है अर्थात् स्वामी समन्तभद्रने जो आप्तमीमांसामें निरपेक्ष नयोंको मिथ्या और सापेक्ष नयोंको सम्यक् बतलाकर अनेकान्तवादकी प्रतिष्ठा की है उसीका समर्थन आ० सिद्धसेन दिवाकरने अपने हेतुवादद्वारा इसमें किया है और एक-एक नयको लेकर खड़े हुए विभिन्न दर्शनोंके

१ 'श्रीदत्ताय नमस्तस्मै तपःश्रीदीप्तमूर्तये । कण्ठीरवायितं येन प्रवादीभप्रभेदिने॥' १-४५ ।

२,३,४, 'जैनसाहित्य और इतिहास' पृ० ११७,१२० ।

५ "तत्रेह तात्त्विके वादेऽकलङ्कैः कथितो जयः ।
स्वपक्षसिद्धिरेकस्य निग्रहोऽन्यस्य वादिनः ॥ ४६ ॥ " —तत्त्वार्थश्लो० पृ० २८१ ।

६ देखो, हरिभद्र (८ वीं, ९ वीं शती) कृत तत्त्वार्थवृत्ति पृ० २६ ।

समन्वयकी अद्भुत प्रक्रिया प्रस्तुत की है। वास्तवमें जैनवाङ्मयमें जो उल्लेखनीय कृतियाँ हैं उनमें एक यह भी है। स्वामी वीरसेनने अपनी विशाल टीका धवलामें इसके वाक्योंको प्रमाणरूपमें प्रस्तुत किया है[1] और उसे 'सूत्र' रूपसे उल्लेखित किया है। अकलङ्कदेवने इनके इसी ग्रन्थगत केवलीके ज्ञान-दर्शन-अभेदवादकी, जो इन्हीं आ० सिद्धसेनद्वारा प्रतिष्ठित हुआ है, अपने तत्त्वार्थवार्तिक (पृ० २५७) में आलोचना की है। आ० विद्यानन्दने तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक (पृ० ३) में इनके इसी सन्मतिसूत्रके तीसरे काण्डगत "जो हेउवायपक्खम्मि" आदि ४५ वीं गाथा उद्धृत की है। एक दूसरी जगह (तत्त्वार्थश्लो० पृ० ११४) 'जावदिया वयणवहा तावदिया होंति णयवाया' (सन्म० ३-४७) गाथाका संस्कृत रूपान्तर भी दिया है। न्यायावतार और द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशतिका ये दो ग्रन्थ भी इन्हीं सिद्धसेनके समझे जाते हैं। परन्तु ये तीनों ग्रन्थ एक-कर्तृक प्रतीत नहीं होते। न्यायावतारमें धर्मकीर्ति (ई० ६३५) के प्रमाणवार्तिक और न्यायबिन्दुगत शब्द और अर्थका अनुसरण पाया जाता है[2]। इसके अलावा, कुमारिल[3] और पात्रस्वामी[4] का भी अनुसरण किया गया है। और ये तीनों विद्वान् ईसाकी सातवीं शताब्दीके माने जाते हैं। अतः न्यायावतार और उसके कर्ताको उनके बादका अर्थात् ८ वीं शतीका होना चाहिए। अकलङ्कदेवने सन्मतिसूत्रगत केवलीके ज्ञान-दर्शनोपयोगके अभेदवादका खण्डन किया है और पूज्यपादने केवल पूर्वागत केवलीके ज्ञानदर्शनोपयोगके युगपत्वादका समर्थन किया है—उन्होंने अभेदवादका खण्डन नहीं किया। यदि अभेदवाद पूज्यपादके पहले प्रचलित हो गया होता तो उनके द्वारा उसका आलोचन सम्भव था। अतः सन्मतिसूत्र और उसके कर्ताका समय अकलङ्क (७ वीं शती) और पूज्यपाद (६ वीं शती) का मध्यवर्ती होना चाहिए अर्थात् ६ ठी का उत्तरार्ध और ७ वींका पूर्वार्ध (ई० ५७५ से ६५०) उनका समय मानना चाहिए। तीसरी द्वात्रिंशतिकाके १६ वें पद्यका पहला चरण पूज्यपाद (६ वीं शती) की सर्वार्थसिद्धिमें उद्धृत है। दूसरे, सन्मतिसूत्रमें केवलदर्शन तथा केवलज्ञानके अभेदवादका प्रतिपादन है और द्वात्रिंशतिकाओंमें उनके युगपत्वादका समर्थन है[5] जो पूर्वागत है। अतः इन दोनों कृतियोंमें विरोध तथा विभिन्न काल है—सन्मतिसूत्र पूज्यपादके उत्तरवर्ती रचना है और द्वात्रिंशत्काएँ (सब नहीं—प्रायः कुछ) उनके पूर्ववर्ती कृतियाँ हैं। इसके सिवाय

१ देखो, धवला, पहली जिल्द पृ० १५, ८०, १४६ ।

२ (क) 'न प्रत्यक्षपरोक्षाभ्यां मेयस्यान्यस्य सम्भवः ।
तस्मात् प्रमेयद्वित्वेन प्रमाणद्वित्वमिष्यते ॥' —प्रमाणवा० ३-६३ ।
'प्रत्यक्षं च परोक्षं च द्विधा मेयविनिश्चयात् ।'—न्यायाव० श्लो० १ ।
(ख) 'कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम्'—न्यायबिन्दु पृ० ११ ।
'अनुमानं तदभ्रान्तं प्रमाणत्वात् समक्षवत् ।'—न्यायाव० श्लो० ५ ।

३ देखो, कुमारिलका और न्यायावतारका प्रमाणलक्षणगत 'बाधवर्जित' विशेषण ।

४ देखो, पात्रस्वामीकी 'अन्यथानुपपन्नत्वं' इत्यादि कारिका और न्यायावतारकी 'अन्यथानुपपन्नत्वं हेतोर्लक्षणमीरितम्' कारिकाकी तुलना । ५ देखो, बत्तीसी २-२७, २-३०, १-३२ ।

न्यायावतार और सन्मतिसूत्र इन दोनोंका भी द्वात्रिंशत्काओंके साथ विरोध है। प्रकट है कि न्यायावतार और सन्मतिसूत्रमें मति और श्रुत दोनोंको अभिन्न नहीं बतलाया—दोनों वहाँ भिन्नरूपमें ही निर्दिष्ट हैं। परन्तु निश्चयद्वा. (१६) में मति और श्रुत दोनोंको अभिन्न प्रतिपादन किया गया है[1]। यदि ये तीनों कृतियां एक व्यक्तिकी होतीं तो उनमें परस्पर विरुद्ध प्रतिपादन न होता। मालूम होता है कि यह बात प्रज्ञानयन पं० सुखलालजीकी दृष्टिमें भी आयी है और इसलिये उन्होंने उसके समन्वयका प्रयास करते हुए लिखा है कि 'यद्यपि दिवाकरश्रीने अपनी बत्तीसी (निश्चय. १६) में मति और श्रुतके अभेदको स्थापित किया है फिर भी उन्होंने चिरप्रचलित मति-श्रुतके भेदकी सर्वथा अवगणना नहीं की है। उन्होंने न्यायावतारमें आगम प्रमाणको स्वतंत्ररूपसे निर्दिष्ट किया है। जान पड़ता है इस जगह दिवाकरश्रीने प्राचीन परम्पराका अनुसरण किया है और उक्त बत्तीसीमें अपना स्वतंत्र मत व्यक्त किया है[2]।' परन्तु उनका यह समन्वय बुद्धिको नहीं लगता। कोई भी स्वतन्त्र विचारक अपने स्वतन्त्र विचारको प्राचीन परम्पराकी अवगणनाके भयसे एक जगह उसका त्याग और दूसरी जगह अत्याग नहीं कर सकता। आ० विद्यानन्दने श्लोकवार्त्तिकमें प्रत्यभिज्ञानके दो भेद प्रतिपादन किये हैं और यह उनका स्वतन्त्र विचार है—अकलङ्कदेव आदिसे उनका यह भिन्न मत है। परन्तु उन्होंने प्राचीन परम्पराकी अवगणनाके भयसे किसी कृतिमें अपने इस स्वतन्त्र विचारको नहीं छोड़ा है—उनके अपने दूसरे ग्रन्थों (अष्टसहस्री आदि) में भी प्रत्यभिज्ञानके दो ही भेद प्रतिपादित हैं। अतः दिवाकरश्री अपने स्वतन्त्र विचारको सब जगह एकरूपमें ही रखनेके लिये स्वतन्त्र थे। अतः उक्त तीनों ग्रन्थ एक सिद्धसेनकृत मालूम नहीं होते—उन्हें विभिन्नकालवर्ती तीन सिद्धसेनोंकृत अथवा तीन विद्वानोंकृत होने चाहिये। इससे 'न्यायावतार'को सन्मति-सूत्रकार सिद्धसेनकी रचना माननेमें जो असङ्गति और बेमेलपना आता है वह नहीं आवेगा। विद्वानोंको इसपर सूक्ष्म और निष्पक्ष विचार करना चाहिये।

५. पात्रस्वामी—इनका दूसरा नाम पात्रकेसरी भी है। ये बौद्ध विद्वान् दिङ्नाग (३४५-४२५ ई०) के उत्तरवर्ती और अकलङ्कदेव (७वीं शतीके) पूर्ववर्ती अर्थात् छठी, सातवीं शताब्दीके प्रौढ विद्वानाचार्य हैं। इन्होंने दिङ्नागके त्रिलक्षण हेतुका खण्डन करनेके लिये 'त्रिलक्षणकदर्थन' नामका महत्वपूर्ण तर्कग्रन्थ रचा है, जो आज अनुपलब्ध है और जिसके उद्धरण तत्त्वसंग्रहादि विविध ग्रन्थोंमें पाये जाते हैं। त्रिलक्षण हेतुका खण्डन करनेवाली 'अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।' आदि सुप्रसिद्ध कारिका इन्हींकी है। अकलङ्कदेवने इस कारिकाको न्यायविनिश्चय (का० ३२३ के रूप)में दिया है और सिद्धिविनिश्चयके 'हेतुलक्षणसिद्धि' नाम के छठवें प्रस्तावके आरम्भमें उसे स्वामी (पात्रस्वामी)का 'अमलालीढ पद' कहा है। बौद्धविद्वान् शान्तरक्षितने भी अपने तत्त्वसंग्रहमें उसे तथा उनकी कितनी ही दूसरी कारिकाओंको

१ 'वैयर्थ्यातिप्रसङ्गाभ्यां न मत्यभ्यधिकं श्रुतम्'-१६-१२। २ ज्ञानबि० प्रस्ता० पृ० २४का फुटनोट।

'पात्रस्वामी'के मतरूपसे दी हैं[1]। आ० विद्यानन्दने तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक पृ० २०३ पर 'तथाह' और पृ० २०५ में 'हेतुलक्षणं वार्तिककारेणैवमुक्तं' तथा प्रमाण-परीक्षा पृ० ७२ में 'तथोक्तं' शब्दोंके साथ उक्त कारिकाको दिया है। अन्य कितने ही ग्रन्थकारोंने भी इस कारिकाको अपने ग्रन्थोंमें उद्धृत किया है[2]। न्यायावतारकार आ० सिद्धसेनने तो उक्त कारिकाको सामने रखकर अपने न्यायवतारकी 'अन्यथानुपपन्नत्वं हेतोर्लक्षणमीरितम्' आदि २२ वीं कारिकाके पूर्वार्द्धका निर्माण ही नहीं किया, बल्कि 'ईरितम्' शब्दके प्रयोगद्वारा उसकी प्रसिद्धि एवं अनुसरण भी ख्यापित किया है। इस तरह पात्रस्वामीकी उक्त कारिका समग्र जैनवाङ्मयमें सुप्रतिष्ठित हुई है। पात्रस्वामीकी दूसरी रचना पात्रकेसरीस्तोत्र (जिनेन्द्रगुणस्तुति) है जो एक स्तोत्रग्रन्थ है और जिसमें आप्तस्तुतिके बहाने सिद्धान्तमतका प्रतिपादन किया गया है। इसमें कुल ५० पद्य हैं जो अत्यन्त गम्भीर और मनोहर हैं। इसपर एक संस्कृत टीका भी है। इस टीकाके साथ यह स्तोत्र माणिकचन्द्रग्रन्थमालासे तत्त्वानुशासनादिसंग्रहमें प्रकाशित हो चुका है और केवल मूल प्रथमगुच्छकमें तथा मराठी अनुवाद सहित 'श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र' के साथ प्रकट हो गया है। संस्कृतटीकाकारने इस स्तोत्रका दूसरा नाम 'बृहत्पंचनमस्कारस्तोत्र' भी दिया है।

६. भट्टाकलङ्कदेव—ये विक्रमकी सातवीं शतीके महान् प्रभावशाली और जैनवाङ्मयके अतिप्रकाशमान उज्ज्वल नक्षत्र हैं। जैनसाहित्यमें इनका वही स्थान है जो बौद्ध-साहित्यमें धर्मकीर्त्तिका है। जैनपरम्परामें ये 'जैनन्यायके प्रस्थापक'के रूपमें स्मृत किये जाते हैं। इनके द्वारा प्रतिष्ठित 'न्यायमार्ग' पर ही उत्तरवर्त्ती समग्र जैन तार्किक चले हैं। आगे जाकर तो इनका वह न्यायमार्ग 'अकलङ्कन्याय'के नामसे ही प्रसिद्ध होगया। तत्त्वार्थवार्त्तिक, अष्टशती, न्यायविनिश्चिय, लघीयस्त्रय और प्रमाणसंग्रह आदि इनकी अपूर्व और महत्वपूर्ण रचनाएँ हैं। ये प्रायः सभी दार्शनिक कृतियाँ हैं और तत्त्वार्थवार्त्तिक-भाष्यको छोड़कर सभी गूढ एवं दुरवगाह हैं। अनन्तवीर्यादि टीकाकारोंने इनके पदोंकी व्याख्या करनेमें अपनेको असमर्थ बतलाया है। वस्तुतः अकलङ्कदेवका वाङ्मय अपनी स्वाभाविक जटिलताके कारण विद्वानोंके लिये आज भी दुर्गम और दुर्बोध बना हुआ है, जबकि उनपर टीकाएँ भी उपलब्ध हैं। विद्यानन्दने पद-पदपर इनका अनुसरण किया

१ देखो, का० १३६४ से १३७६ तककी १६ कारिकाएँ। तत्त्वसंग्रहकारने जिस शैलीसे इन १६ कारिकाओंको, जिनके मध्यमें 'नान्यथानुपपन्नत्वं' (१३६६) प्रसिद्ध कारिका भी है, वहां दिया है उससे ये सोलह कारिकाएं 'त्रिलक्षणकदर्थन' से उद्धृत हुईं प्रतीत होती हैं और इस लिये ये सब पात्रस्वामीकी ही कृति जान पड़ती हैं।—सम्पा०।

२ देखिये, अनन्तवीर्यकृत सिद्धिवि० टी० लि० प० ८६३ऽ। धवला दे० प० १८५३, जैन-तर्कवा० पृ० १३५, सूत्रकृ० टी० २२५, प्रमाणमी० पृ० ४०, सन्मतिसूत्रटी० पृ० ६६ और ५६६, स्या० रत्नाव० पृ० ५२१।

है। अकलङ्कदेवकी अष्टशतीके गहरे प्रकाशमें ही उन्होंने अष्टसहस्री निर्मित की है और उसके द्वारा अष्टशतीके पद-वाक्यों और सिद्धान्तोंका सबल समर्थन किया है। विद्यानन्दको यदि अकलङ्कदेवका तत्त्वार्थवार्तिक न मिलता तो उनके श्लोकवार्त्तिकमें वह विशिष्टता न आती जो उसमें है। अकलङ्कदेवको उन्होंने एक जगह 'महान् न्यायवेत्ता' तक कहा है[1]। वस्तुतः अकलङ्कदेवके प्रति उनकी श्रद्धा और पूज्यबुद्धिके उनके ग्रन्थोंमें जगह जगह दर्शन होते हैं और सर्वत्र अकलङ्कदेवके सूत्रात्मक कथनपर किया गया उनका विशद भाष्य मिलता है। इसतरह आ. भट्टाकलङ्कदेवका उनपर असाधारण प्रभाव है और इस प्रभावमें ही उन्होंने अपनी अलौकिक प्रतिभाको जागृत किया है।

७. कुमारनन्दि भट्टारक[2]—ये अकलङ्कदेवके उत्तरवर्ती और आ० विद्यानन्द-के पूर्ववर्ती अर्थात् ८वीं, ९वीं शताब्दीके विद्वान् हैं। विद्यानन्दने इनका और इनके 'वादन्याय' का अपने तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक, प्रमाणपरीक्षा और पत्रपरीक्षामें नामोल्लेख किया है तथा वादन्यायसे कुछ कारिकाएं भी उद्धृत की हैं। एक जगह तो विद्यानन्दने इन्हें 'वादन्यायविचक्षण' भी कहा है[3]। इससे उनका वादन्यायवैशारद्य जाना जाता है। इनका 'वादन्याय' नामका महत्वपूर्ण तर्कग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है, जिसके केवल उल्लेख ही मिलते हैं। बौद्ध विद्वान् धर्मकीर्त्तिने भी 'वादन्याय' नामका एक तर्क-ग्रन्थ बनाया है और जो उपलब्ध भी है। आश्चर्य नहीं, कुमारनन्दिके वादन्यायपर धर्मकीर्त्तिके वादन्यायके नामकरणका असर हो और उसीसे उन्हें अपना वादन्याय बनानेकी प्रेरणा मिली हो।

(ङ) विद्यानन्दका उत्तरवर्ती ग्रन्थकारोंपर प्रभाव

अब हम आ० विद्यानन्दके उत्तरवर्ती उन ग्रन्थकार जैनाचार्योंका भी थोड़ा-सा परिचय देदेना आवश्यक समझते हैं जिनपर विद्यानन्द और उनके ग्रन्थोंका स्पष्ट प्रभाव पड़ा है। वे ये हैं:—

१ माणिक्यनन्दि, २ वादिराज, ३ प्रभाचन्द्र, ४ अभयदेव, ५ देवसूरि, ६ हेमचन्द्र, ७ अभिनव धर्मभूषण और ८ उपाध्याय यशोविजय आदि।

१. माणिक्यनन्दि—ये नन्दिसंघके प्रमुख आचार्योंमें हैं। विन्ध्यगिरिके शिलालेखोंमेंसे सिद्धरवस्तीमें उत्तरकी ओर एक स्तम्भपर जो विस्तृत शिलालेख[4] उत्कीर्ण है और जो शक सं० १३२०, ई० सन् १३९८ का है उसमें नन्दिसंघके जिन आठ आचार्योंका उल्लेख है उनमें आ० माणिक्यनन्दिका भी नाम है[5]। ये अकलङ्कदेवकी कृतियोंके मर्मज्ञ और अध्येता थे। इनकी एकमात्र कृति 'परीक्षामुख' है। यह परीक्षामुख अकलङ्कदेवके जैनन्यायग्रन्थोंका दोहन है और जैनन्यायका अपूर्व तथा प्रथम गद्यसूत्र-

१ देखो, तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७७। २ 'न्यायदीपिका' प्रस्तावना पृ० ८७।

३ 'कुमारनन्दिनश्चाहुर्वादन्यायविचक्षणाः।'—तत्त्वार्थश्लो० पृ० २८०।

४ देखो शि० नं० १०५ (२५४), शिलालेखसं० पृ० २००।

५ यथा—'विद्या-दामेन्द्र-पद्मामर-वसु-गुण-माणिक्यनन्द्याह्वयाश्च।'

ग्रन्थ है। यद्यपि अकलङ्कदेव जैनन्यायकी प्रस्थापना कर चुके थे और कारिकात्मक अनेक महत्वपूर्ण न्यायविषयक स्फुट प्रकरण भी लिख चुके थे। परन्तु गौतमके न्यायसूत्र, दिङ्नागके न्यायमुख, न्यायप्रवेश आदिकी तरह जैनन्यायको सूत्रबद्ध करनेवाला 'जैनन्यायसूत्र' ग्रन्थ जैनपरम्परामें अबतक नहीं बन पाया था। इस कमीकी पूर्ति सर्व-प्रथम आ० माणिक्यनन्दिने अपना 'परीक्षामुखसूत्र' लिखकर की जान पड़ती है। उनकी यह अपूर्व अमर रचना भारतीय न्यायग्रन्थोंमें अपना विशिष्ट स्थान रखती है। प्रमेयरत्नमालाकार लघु अनन्तवीर्य (वि० ११वीं, १२वीं शती) ने तो इसे अकलङ्कके वचन-रूप समुद्रको मथकर निकाला गया 'न्यायविद्यामृत'—न्यायविद्यारूप अमृत बतलाया है[1]। वस्तुतः इसमें अकलङ्कदेवके द्वारा प्रस्थापित जैनन्याय, जो उनके विभिन्न न्यायग्रन्थोंमें विप्रकीर्ण था, बहुत ही सुन्दर ढंगसे ग्रथित किया गया है। उत्तरवर्ती आ० वादि देवसूरिके प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार और आ० हेमचन्द्रकी प्रमाणमीमांसा पर इसका अमिट प्रभाव है[2]। वादि देवसूरिने तो इसका शब्दशः और अर्थशः पर्याप्त अनुसरण किया है। इस ग्रन्थपर आ० प्रभाचन्द्रने १२ हजार प्रमाण 'प्रमेयकमल-मार्त्तण्ड' नामकी विशालकाय टीका लिखी है। इनके कुछ ही पीछे आ० लघु अनन्तवीर्यने प्रसन्न रचनाशैलीवाली 'प्रमेयरत्नमाला' नामकी मध्यम परिमाणयुक्त सुविशद टीका लिखी है। इस प्रमेयरत्नमालापर भी अजितसेनाचार्यकी न्याय-मणिदीपिका[3], पण्डिताचार्य चारुकीर्ति नामके एक अथवा दो विद्वानोंकी अर्थप्रकाशिका[4] और प्रमेयरत्नमालालङ्कार[5] ये तीन टीकाएँ उपलब्ध होती हैं और जो अभी अमुद्रित हैं। परीक्षामुखसूत्रके प्रथम सूत्रपर शान्तिवर्णीकी भी एक प्रमेय-कण्ठिका[6] नामक अति लघु टीका पाई जाती है, यह भी अभी अप्रकाशित है।

आ० माणिक्यनन्दिका समय

यहाँ हमें आ० माणिक्यनन्दिके समय-सम्बन्धमें कुछ विशेष विचार करना इष्ट है। आ० माणिक्यनन्दि लघु अनन्तवीर्यके उल्लेखानुसार अकलङ्कदेव (८वीं शती) के वाङ्मयके मन्थनकर्ता हैं। अतः ये उनके उत्तरवर्ती और परीक्षामुखटीका (प्रमेय-कमलमार्त्तण्ड) कार प्रभाचन्द्र (११वीं शती) के पूर्ववर्त्ती विद्वान् सुनिश्चित हैं। अब प्रश्न यह है कि इन तीन-सौ वर्षकी लम्बी अवधिका क्या कुछ संकोच हो सकता है? इस प्रश्नपर विचार करते हुए न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमारजीने लिखा है[7] कि 'इस लम्बी

१ "अकलङ्कवचोम्भोधेरुद्दध्रे येन धीमता।
न्यायविद्यामृतं तस्मै नमो माणिक्यनन्दिने॥"--प्रमेयर. पृ. २।

अकलंकके वचनोंसे 'परीक्षामुख' कैसे उद्धृत हुआ है, इसके लिये मेरा 'परीक्षा-मुखसूत्र और उसका उद्गम' शीर्षक लेख देखें, अनेकान्त वर्ष ५, किरण ३-४ पृ० ११९--१२८। २ इन ग्रन्थोंकी तुलना कीजिये। ३, ४, ५, ६ देखो, प्रश० सं० पृ० १,६६,६८,७२।

७ देखो, प्रमेयक० मा० प्रस्ता० पृ० ५।

अवधिको संकुचित करनेका कोई निश्चित प्रमाण अभी दृष्टिमें नहीं आया। अधिक सम्भव यही है कि ये विद्यानन्दके समकालीन हों और इसलिये इनका समय ई० ९वीं शताब्दी होना चाहिए।' लगभग यही विचार अन्य विद्वानोंका भी है[1]।'

मेरी विचारणा

१. अकलङ्क, विद्यानन्द और माणिक्यनन्दिके ग्रन्थोंका सूक्ष्म अध्ययन करनेसे प्रतीत होता है कि माणिक्यनन्दिने केवल अकलंकदेवके न्यायग्रन्थोंका ही दोहन कर अपना परीक्षामुख नहीं बनाया, किन्तु विद्यानन्दके प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक आदि तर्कग्रन्थोंका भी दोहन करके उसकी रचना की है। नीचे हम दोनों आचार्योंके ग्रन्थोंके कुछ तुलनात्मक वाक्य उपस्थित करते हैं—

(क) आ. विद्यानन्द प्रमाणपरीक्षामें प्रमाणसे इष्टसंसिद्धि और प्रमाणाभाससे इष्टसंसिद्धिका अभाव बतलाते हुए लिखते हैं:—

'प्रमाणादिष्टसंसिद्धिरन्यथाऽतिप्रसङ्गतः।'—पृ० ६३।

आ. माणिक्यनन्दि भी अपने परीक्षामुखमें यही कहते हैं:—

'प्रमाणादर्थसंसिद्धिस्तदाभासाद्विपर्ययः।'—पृ० १।

(ख) विद्यानन्द प्रमाणपरीक्षामें ही प्रामाण्यकी ज्ञप्तिको लेकर निम्न प्रतिपादन करते हैं:—

'प्रामाण्यं तु स्वतः सिद्धमभ्यासात्परतोऽन्यथा।'—पृ० ६३।

माणिक्यनन्दि भी परीक्षामुखमें यही कथन करते हैं:—

'तत्प्रामाण्यं स्वतः परतश्च।'—१-१३।

(ग) विद्यानन्द 'योग्यता' की परिभाषा निम्न प्रकार करते हैं:—

'योग्यताविशेषः पुनः प्रत्यक्षस्येव स्वविषयज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमविशेष एव।'—प्रमाणप० पृ० ६७।

'स चात्मविशुद्धिविशेषो ज्ञानावरणवीर्यन्तरायक्षयोपशमभेदः स्वार्थप्रमितौ शक्तिर्योग्यतेति च स्याद्वादिभिरभिधीयते।'—प्रमाणप० पृ० ५२।

'योग्यता पुनर्वेदनस्य स्वावरणविच्छेदविशेष एव'—तत्त्वार्थश्लोक. पृ० २४६।

माणिक्यनन्दि भी योग्यताकी उक्त परिभाषाको अपनाते हुए लिखते हैं:—

'स्वावरणक्षयोपशमलक्षणयोग्यतया हि प्रतिनियतमर्थं व्यवस्थापयति।'—परीक्षामु० २-३।

(घ) ऊहाज्ञानके सम्बन्धमें विद्यानन्द कहते हैं:—

"तथोहस्यापि समुद्भूतौ भूयःप्रत्यक्षानुपलम्भसामग्री बहिरङ्गनिमित्तभूताऽनुमन्यते तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वादूहस्य।"—प्रमाणप० पृ० ६७।

माणिक्यनन्दि भी यही कहते हैं:—

[1] न्यायकुमु० प्र० भा० प्रस्ता० (पृ० ११३) आदि।

"उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूहः।
इदमस्मिन्सत्येव भवत्यसति न भवत्येवेति च।
यथाऽग्नावेव धूमस्तदभावे न भवत्येवेति च।"

—परीक्षा० ३-११, १२, १३।

(ङ) विद्यानन्दने अकलङ्क आदिके द्वारा प्रमाणसंग्रहादिमें प्रतिपादित हेतु-भेदोंके संक्षिप्त और गम्भीर कथनका प्रमाणपरीक्षामें जो विशद भाष्य किया है उसका परीक्षामुखमें प्रायः अधिकांश शब्दशः और अर्थशः अनुसरण है।

इससे ज्ञात होता है कि माणिक्यनन्दि विद्यानन्दके उत्तरकालीन हैं और उन्होंने विद्यानन्दके ग्रन्थोंका भी खूब उपयोग किया है।

२. वादिराजसूरि (ई० स० १०२५) ने न्यायविनिश्चयविवरण और प्रमाण-निर्णय ये दो न्यायके ग्रन्थ बनाये हैं और यह भी सुनिश्चित है कि न्यायविनिश्चय-विवरणके समाप्त होनेके तुरन्त बाद ही उन्होंने प्रमाणनिर्णय बनाया है[1]। परन्तु जहाँ आ. विद्यानन्दके ग्रन्थवाक्योंके उद्धरण इनमें पाये जाते हैं[2] वहाँ माणिक्यनन्दि-के परीक्षामुखके किसी भी सूत्रका उद्धरण नहीं है। यदि माणिक्यनन्दि विद्यानन्दके समकालीन अथवा वादिराजके बहुत पूर्ववर्ती होते तो वादिराज विद्यानन्दकी तरह माणिक्यनन्दिके वाक्योंका भी अवश्य उद्धरण देते। इससे यह कहा जा सकता है कि आ. माणिक्यनन्दि आ. वादिराजके बहुत पूर्ववर्ती नहीं हैं—सम्भवतः वे उनके आस-पास समसमयवर्ती हैं और इसलिये उनके ग्रन्थोंमें परीक्षामुखका कोई प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता।

३. मुनि नयनन्दिने अपभ्रंशमें एक 'सुदंसणचरिउ' लिखा है, जिसे उन्होंने धारामें रहते हुए भोजदेवके राज्यमें वि. सं. ११००, ई. सन् १०४३ में बनाकर समाप्त किया है। इसकी प्रशस्तिमें[3] उन्होंने अपनी गुर्वावली भी दी है और उसमें

[1] 'तन्निर्णयानुपयोगिनः स्मरणादेः पश्चादपि किमर्थं निरूपणमिति चेदनुमानमेवेति ब्रूमः।'....निवेदयिष्यते चैतत् पश्चादेव शास्त्रान्तरे (प्रमाणनिर्णये)।'—न्यायवि० वि. लि. प. ३०६। [2] देखो, न्यायवि. वि. लि. प. ३१।

[3] इस प्रशस्तिकी ओर मेरा ध्यान मित्रवर पं० परमानन्दजी शास्त्रीने खींचा है और वह मुझे अपने पाससे दी है। मैं उसे साभार यहाँ दे रहा हूँ:—

प्रशस्ति—जिणिंदस्स वीरस्स तित्थे महंते। महाकुंदकुंदंनए एंत संते।
सुणरकाहिहाणो तहा पोमणंदि। खमाजुत्त सिद्धंतउ विसहणंदी॥
जिणिंदागमाहासणो एयचित्तो। तवायारणिट्ठीए लद्धीयजुत्तो।
णरिंदामरिंदेहि सोणंदवंती। हुऊ तस्स सीसो गणी रामणंदो॥
महापंडऊ तस्स माणिक्कणंदी। भुजंगप्पहाऊ इमो णाम छंदो।
छत्ता—पढमसीसु तहो जायउ जगविक्खायउ मुणि णयणंदि अणिंदउ।
चरिउ सुदंसणणाहहो तेण अवाहहो विरइउ बुहअहिणंदिउ।

अपना विद्यागुरु माणिक्यनन्दिको बतलाया है तथा उन्हें महापण्डित और अपनेको उनका विद्याशिष्य प्रकट किया है। प्रशस्तिमें उन्होंने यह भी बतलाया है कि धारानगरी उस समय विद्वानोंके लिये प्रिय थी अर्थात् विद्याभ्यासके लिये विद्वान् दूर-दूरसे आकर वहाँ रहते थे और इस लिये वह विद्वानोंकी केन्द्र बनी हुई थी। प्रशस्तिगत वह गुर्वावली इस प्रकार है—

आ० कुन्दकुन्दकी आम्नायमें
|
पद्मनन्दि
|
वृषभनन्दि (सम्भवतः चतुर्मुखदेव)
|
रामनन्दि
|
माणिक्यनन्दि (महापण्डित)
|
नयनन्दि (सुदंसणचरिउके कर्ता)

आ० प्रभाचन्द्र इन नयनन्दि (ई० १०४३) के समकालीन हैं, क्योंकि उन्होंने भी धारा (मालवा) में रहते हुए राजा भोजदेवके राज्यमें आ० माणिक्यनन्दिके परीक्षामुख-पर प्रमेयकमलमार्त्तण्ड नामक विस्तृत टीका लिखी है[1] और प्रायः शेष कृतियाँ भोजदेव[2] (वि० सं० १०७५ से ११९०, ई० सन् १०१८ से १०५३) के उत्तराधिकारी धारानरेश

आरामगामपुरवरणिवेसे । सुपसिद्ध अवंती णामदेसे ।
सुरवइपुरि व्व विबुहयणइट्ठ । तहिं अत्थि धारणयरी गरिट्ठ ।
रणउद्धवर अरिवरसेलवज्ज । रिद्धि देवासुर जणि चोल रज्ज।
तिहुवणणारायण सिरिणिकेउ । तहिं णरवइपुंगम, भोयदेउ ।
मणिगणयहइसियरविगभच्छि । तहिं जिणहरु पडपि विहारु अत्थि ।
णिवविक्कमकालहो ववगएसु । एयारह (११००) संवच्छरसएसु ।'

'एत्थ सुदंसणचरिए पंचणमोक्कारफलपयासयरे माणिक्कणंदितइविज्जसीसुणयणंदिणा रइए···· । संधि १२।'

१ देखो, प्रमेयक. मा. का समाप्ति-पुष्पिकावाक्य। २ श्रीचन्द्रने महाकवि पुष्पदन्तके महापुराणका टिप्पण भोजदेवके राज्यमें वि० सं० १०८० में रचा है । तथा भोजदेवके वि० सं० १०७६ और वि० सं० १०७९ के दो दानपत्र भी मिले हैं। अतः भोजदेवकी पूर्वावधि वि० सं० १०७५ होना चाहिए और उनकी मृत्यु वि० सं० ११९० के लगभग सम्भावना की जाती है, क्योंकि भोजदेवके उत्तराधिकारी जयसिंहदेवका वि० सं० १११२ का एक दानपत्र मिला है। देखो विश्वेश्वरनाथ रेउकृत 'राजाभोज' पृ० १०२-१०३। इसलिये उनकी उत्तरावधि वि० सं० १११० है और इस तरह राजा भोजदेवका समय वि० सं० १०७५ से १११० (ई० सन् १०१८ से ई० १०५३) माना जाता है।

जयसिंहदेवके[1] राज्यमें बनाई हैं। इसका मतलब यह हुआ कि प्रमेयकमलमार्त्तण्ड भोजदेवके राज्यकालके अन्तिम वर्षों—अनुमानतः वि० सं० ११०० से ११०७, ई० १०४३ से १०५०—की रचना होनी चाहिए। और यह प्रकट है कि प्रभाचन्द्र इस समय तक राजा भोजदेवद्वारा अच्छा सम्मान और यश प्राप्त कर चुके थे[2] और इसलिये उस समय ये लगभग ४० वर्षके अवश्य होंगे। यदि शेष रचनाओंके लिए उन्हें ३० वर्ष भी लगे हों तो उनका अस्तित्व वि० सं० ११३७ (ई० सन् १०८०) तक पाया जा सकता है। अतः प्रभाचन्द्रका समय वि० सं० १०६७ से ११३७ (ई० सन् १०१० से १०८०) अनुमानित होता है[3]।

विभिन्न शिलालेखोंमें प्रभाचन्द्रके पद्मनन्दि सैद्धांत[4] और चतुर्मुखदेव[5] ये दो गुरु बतलाये गये हैं और प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदकी अन्तिम प्रशस्तियोंमें पद्मनन्दि सैद्धान्तका ही गुरुरूपसे उल्लेख है। हाँ, प्रमेयकमलमार्त्तण्डकी प्रशस्तिमें परीक्षामुखसूत्रकार माणिक्यनन्दिका भी उन्होंने गुरुरूपसे उल्लेख किया है[6]। कोई आश्चर्य नहीं, नयनन्दिके द्वारा उल्लिखित और अपने विद्यागुरुरूपसे स्मृत माणिक्य-नन्दि ही परीक्षामुखके कर्ता और प्रभाचन्द्रके न्यायविद्यागुरु हों। नयनन्दिने अपनेको उनका विद्या-शिष्य और उन्हें महापण्डित घोषित किया है, जिससे प्रतीत होता है कि वे न्याय-शास्त्र आदिके महा विद्वान् होंगे और उनके कई शिष्य रहे होंगे। अतः सम्भव है प्रभाचन्द्र, माणिक्यनन्दिकी प्रख्याति सुनकर दक्षिणसे धारानगरीमें, जो उस समय आजकी काशीकी तरह समस्त विद्याओं और विद्वानोंकी केन्द्र बनी हुई थी और राजा भोजदेवका विद्या-प्रेम सर्वत्र प्रसिद्धि पा रहा था, उनसे न्याय-शास्त्र पढ़नेके लिये आये हों और पीछे वहाँके विद्याभ्यासङ्गमय वातावरणसे प्रभावित होकर वहीं रहने लगे हों अथवा वहींके बाशिंदा हों तथा बादमें गुरु माणिक्यनन्दिके परीक्षामुखकी टीका लिखनेके लिये प्रोत्साहित तथा प्रवृत्त हुए हों। जब हम अपनी इस सम्भावनाको लेकर आगे बढ़ते हैं तो उसके प्रायः सब आधार भी मिल जाते हैं।

पहला आधार तो यह है कि प्रभाचन्द्रने परीक्षामुख-टीका (प्रमेयकमलमार्त्तण्ड) को आरम्भ करते हुए लिखा है[7] कि 'मैं अल्पज्ञ माणिक्यनन्दिके चरणकमलोंके प्रसाद-से इस शास्त्रको बनाता हूं। क्या छोटा-सा झरोखा सूर्यकी किरणोंद्वारा प्रकाशित

---

१ ये वि० सं० १११२ (ई० १०५५) के आसपास राजगद्दीपर बैठे थे। देखो, रेउ कृत 'राजा भोज' पृ० १०३। २ देखो, शि० नं० ५५ (६९)। ३ इस समयको माननेसे वि० सं० १०७३ में रचे गये अमितगतिके संस्कृत पंचसंग्रहके पद्यका तत्त्वार्थवृत्तिपदविवरणमें उल्लेख होना भी असङ्गत नहीं है। ४ शि० नं० ४० (६४)। ५ देखो, शि० नं० ५५ (६९)। ६ देखो, प्रशस्तिपद्य नं० ३।

७ 'शास्त्रं करोमि वरमल्पतरावबोधो माणिक्यनन्दिपदपङ्कजसत्प्रसादात् ।
अर्थं न किं स्फुटयति प्रकृतं लघीयाँल्लोकस्य भानुकरविस्फुरिताद्गवाक्षः ॥'
—श्लोक २।

हो जानेसे लोगोंके इष्ट अर्थका प्रकाशन नहीं करता ? अर्थात् अवश्य करता है।' इससे प्रतीत होता है कि उन्होंने गुरु माणिक्यनन्दिके चरणोंमें बैठकर परीक्षामुख और समस्त इतर दर्शनोंको, जिनके माणिक्यनन्दि प्रभाचन्द्रके शब्दोंमें 'अर्णव' थे पढ़ा होगा और उससे उनके हृदयमें तद्गत अर्थका प्रकाशन हो गया होगा और इसलिये उनके चरणप्रसादसे उसकी टीका करनेका उन्होंने साहस किया होगा। गुरुकी कृतिपर शिष्य द्वारा टीका लिखना वस्तुतः साहसका कार्य है और उनके इस साहसको देखकर सम्भवतः उनके कितने ही साथी स्पर्धा और उपहास भी करते होंगे और जिसकी प्रतिध्वनि प्रारम्भके तीसरे[1], चौथे[2] और पांचवें[3] पद्योंसे भी स्पष्टतः प्रकट होती है।

दूसरा आधार यह है कि प्रभाचन्द्रने टीकाके अन्तमें जो प्रशस्ति दी है उसमें माणिक्यनन्दिका गुरुरूपसे ही स्पष्टतया उल्लेख किया है और उनके आनन्द एवं प्रसन्नताकी वृद्धि-कामना की है[4]।

तीसरा आधार यह है कि टीकाके मध्यमें एक स्थलपर प्रभाचन्द्रने 'इत्यभिप्रायो गुरूणाम्' शब्दोंद्वारा माणिक्यनन्दिको अपना गुरु स्पष्टतः प्रकट किया है और उनके अभिप्रायको प्रदर्शित किया है[5]।

चौथा आधार यह है कि नयनन्दि, उनके गुरु महापण्डित माणिक्यनन्दि और प्रभाचन्द्र इन तीनों विद्वानोंका एक काल और एक स्थान है।

पांचवाँ आधार यह है कि प्रभाचन्द्रके पद्मनन्दि सैद्धान्त और चतुर्मुखदेव, जिन्हें वृषभनन्दि भी कहा जाता है, ये दो गुरु बतलाये जाते हैं और ये दोनों ही नयनन्दि (ई० १०४३) के सुदर्शनचरित्रमें भी माणिक्यनन्दिके पूर्व उल्लिखित हैं। अतः नयनन्दिके विद्यागुरु माणिक्यनन्दि, प्रभाचन्द्रके भी न्यायविद्यागुरु रहे होंगे और वे ही परीक्षामुख-के कर्त्ता होंगे। एक व्यक्तिके अनेक गुरु होना कोई असंगत भी नहीं है। वादिराज सूरिके भी मतिसागर, हेमसेन और दयापाल ये तीन गुरु थे[6]।

---

१ 'ये नूनं प्रथयन्ति नोऽसमगुणः' इत्यादि। २ 'त्यजति न विदधानः कार्य-मुद्दिश्य धीमान्' इत्यादि। ३ 'अजडमदोषं दृष्ट्वा' आदि। ४ यथा—

गुरुः श्रीनन्दि-माणिक्यो नन्दिताशेषसज्जनः। नन्दतादुदुरितैकान्तरजाजैनमतार्णवः॥

—प्रमेयक० प्रश० श्लो० ३।

५ देखो, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (नई आवृत्ति पृ० ३४८) ३-११ सूत्रकी व्याख्या। इसकी ओर मेरा ध्यान प्रो० दलसुख मालवणियाने आकर्षित किया है जिसके लिये उनका आभारी हूँ।

६ 'यैरेकान्तकृपालुभिर्मम मनोनेत्रं समुन्मीलितं,
शिक्षारत्नशलाकया हितपदं पश्यत्यदृश्यं परैः।
ते श्रीमन्मतिसागरो मुनिपतिः श्रीहेमसेनो दया-
पालश्चेति दिवि स्पृशोऽपि गुरवः स्मृत्याऽभिरक्षन्तु माम्॥२॥'

—न्यायवि. वि. लि. द्वि. प्रस्ताव।

छठा आधार यह है कि परीक्षामुखकार माणिक्यनन्दि वादिराज (ई० १०२५) से पूर्ववर्ती प्रतीत नहीं होते, जैसा कि पहले कहा जा चुका है।

इस विवेचनसे यह निष्कर्ष सामने आता है कि माणिक्यनन्दि और प्रभाचन्द्र साक्षात् गुरु-शिष्य थे और प्रभाचन्द्रने अपने साक्षात् गुरु माणिक्यनन्दिके परीक्षा-मुखपर उसीप्रकार टीका लिखी है जिसप्रकार बौद्ध विद्वान् कमलशील (ई. ८५०)[1] ने अपने साक्षात् गुरु शान्तरक्षित (ई० ८२५) के[2] 'तत्त्वसंग्रह' पर 'पञ्जिका' व्याख्या रची है। अतः इन सब आधारों—प्रमाणों और सङ्गतियोंसे परीक्षा-मुखकार आचार्य माणिक्यनन्दि प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदि प्रसिद्ध तर्क-ग्रन्थोंके कर्ता आ० प्रभाचन्द्रके समकालीन अर्थात् वि० सं० १०५० से वि० सं० ११10 (ई० स० ९९३ से ई० १०५३)के विद्वान् अनुमानित होते हैं और उनके परीक्षामुख-का रचनाकाल वि० सं० १०८५, ई० स० १०२८ (ई० सन् १०२५ में रचे गये वादिराज-के पार्श्वनाथचरितके बाद) के करीब जान पड़ता है। इस समयके स्वीकारसे आ० विद्यानन्द (९वीं शती) के ग्रन्थवाक्योंका परीक्षामुखमें अनुसरण, आ० वादिराज (ई० १०२५) द्वारा अपने ग्रन्थोंमें परीक्षामुख और आ० माणिक्यनन्दिका अनुल्लेख, मुनि नयनन्दि (ई० १०४३) और आ० प्रभाचन्द्र (ई० १010 से ई० १०८०) के गुरु-शिष्यादि उल्लेखों आदिकी सङ्गति बन जाती है[3]। अस्तु।

१, २ वादन्यायका परिशिष्ट।

३ ऊपर नयनन्दिको 'सुदंसणचरिउ' गत प्रशस्तिपरसे यह सम्भावना की गई है कि 'नयन-न्दिने माणिक्यनन्दिको महापण्डित घोषित किया है जिससे प्रतीत होता है कि वे न्यायशास्त्र आदिके महाविद्वान् होंगे।' इस सम्भावनाका पुष्ट प्रमाण भी मिल गया है। नयनन्दिने अपभ्रंशमें 'सकलविधिविधान' नामक एक ग्रन्थ और बनाया है। उसकी विस्तृत प्रशस्तिमें, जो हालमें पं० परमानन्दजीसे देखनेको मिली है, नयनन्दिने माणिक्यनन्दिको 'महापण्डित' बतलानेके साथ ही साथ उन्हें प्रत्यक्ष-परोक्षप्रमाणरूप जलसे भरे, नयरूपी तरंगोंसे गम्भीर और उत्तम सातभङ्गरूप कल्लोलोंसे उच्छलित जिनशासनरूपी निर्मल महासरोवरमें अवगाहन करनेवाला भी लिखा है। यथा—

'पच्चक्ख-परोक्खपमाणणीरे, णयततरलतरंगावलिगहीरे।
वरसत्तभंगकल्लोलमाल, जिणसासणसरिणिम्मलसुसाल॥
पंडियचूडामणि विबुहचंदु, माणिक्कणंदिउ उप्पण्णु कंदु।'

—सकलविधिविधान प० ६, छन्द १०के बाद।

इससे स्पष्ट है कि नयनन्दिको यहाँ महापण्डित माणिक्यनन्दिके लिये न्यायशास्त्रका धुरन्धर विद्वान् बतलाना अभीष्ट है और ये माणिक्यनन्दि वे ही माणिक्यनन्दि होना चाहिये जो प्रत्यक्ष-परोक्षप्रमाणप्रतिपादक परीक्षामुखके कर्ता हैं।

पण्डित परमानन्दजीसे 'सुदंसणचरिउ' की एक दूसरी प्रशस्ति भी प्राप्त हुई है। इस प्रशस्तिमें माणिक्यनन्दिकी जो गुरु-परम्परा दी है वह इस प्रकार है—कुन्दकुन्दकी आम्नायमें पद्मनन्दि, पद्मनन्दिके बाद विष्णुनन्दि, विष्णुनन्दिके बाद नन्दनन्दि, नन्दनन्दिके बाद विश्वनन्दि और

२. आ० वादिराज—इन्होंने अपना 'पार्श्वनाथचरित' नामका काव्यग्रन्थ शक सं० ९४७, ई० १०२५ में समाप्त किया है। अतः इनका समय ई० १०२५ सुनिश्चित है। ये कवि और तार्किक दोनों थे। न्यायविनिश्चयविवरण, प्रमाणनिर्णय ये दो तर्कग्रन्थ और पार्श्वनाथचरित, यशोधरचरित ये दो काव्यग्रन्थ तथा एकीभावस्तोत्र आदि इनकी रचनाएँ हैं। इन्होंने आ० विद्यानन्दका पार्श्वनाथचरित[1] और न्यायविनिश्चयविवरण[2] (अन्तिम प्रशस्ति) में स्मरण किया है और उनके तत्त्वार्थालङ्कार (तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक) तथा देवागमालङ्कार (अष्टसहस्री)की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि 'आश्चर्य है विद्यानन्दके इन दीप्तिमान् अलङ्कारोंको सुनने वालोंके भी अङ्गोंमें दीप्ति (आभा) आजाती है—उन्हें धारण करनेवालोंकी तो बात ही क्या है।' न्यायविनिश्चयविवरणमें ये एक जगह लिखते हैं[3] कि यदि गुणचन्द्रमुनि[4] (?), अनवद्यचरण विद्यानन्द और सज्जन अनन्तवीर्य (रविभद्रशिष्य

विश्वनन्दिके बाद वृषभनन्दि हुए। इन वृषभनन्दिका शिष्य रामनन्दि हुआ, जो अशेष ग्रन्थोंका पारगामी था। इनका शिष्य त्रैलोक्यनन्दि हुआ, जो गुणोंके आवास थे। इन त्रैलोक्यनन्दि के शिष्य ही प्रस्तुतमें 'महापण्डित' माणिक्यनन्दि थे, जो सुदर्शनचरितकार नयनन्दि (वि० सं० ११००) के गुरु थे और न्याशास्त्रके बड़े विद्वान् थे।

१ "ऋजुसूत्रं स्फुरद्रत्नं विद्यानन्दस्य विस्मयः।
शृण्वतामप्यलङ्कारं दीप्तिरङ्गेषु रङ्गति॥ श्लोक २८॥"

२ "विद्यानन्दमनन्तवीर्यसुखदं श्रीपूज्यपादं दया-
पालं सन्मतिसागरं कनकसेनाराध्यमभ्युद्यमी।
शुद्ध्यन्नीतिनरेन्द्रसेनमकलङ्कं वादिराजं सदा
श्रीमत्स्वामिसमन्तभद्रमतुलं वन्दे जिनेन्द्रं मुदा॥२॥"

३ "देवस्य शासनमतीवगभीरमेतत्तात्पर्यतः क इव बोद्धुमतीवदक्षः।
विद्वान्न चेद् सद्गुणचन्द्रमुनिर्न विद्यानन्दोऽनवद्यचरणः सदनन्तवीर्यः॥
—न्यायवि. वि० लिखित पत्र ३८२।

४ मालूम नहीं, ये गुणचन्द्रमुनि कौन हैं और उन्होंने अकलङ्कदेवके कौन-से ग्रन्थकी व्याख्यादि की है? शायद यह पद अशुद्ध हो। फिर भी उक्त उल्लेखसे अकलङ्कके शासन-के व्याख्यातारूपमें उन्हें जुदा व्यक्ति जरूर होना चाहिए। विद्यानन्दने अष्टशतीका अष्टसहस्री द्वारा, अनन्तवीर्यने सिद्धिविनिश्चयका सिद्धिविनिश्चयटीका द्वारा, वादिराजने न्यायविनिश्चयका न्यायविनिश्चयविवरणद्वारा और प्रभाचन्द्रने लघीयस्त्रयका लघीयस्त्रयालंकार (न्यायकुमुदचन्द्र) द्वारा अकलङ्कदेवके शासन (वाङ्मय)का तात्पर्य स्फोट किया है। प्रभाचन्द्र वादिराजके उत्तरवर्ती हैं और इसलिए 'सद्गुणचन्द्रमुनि' पदसे प्रभाचन्द्रका तो ग्रहण नहीं किया जा सकता है। अतः इस पदका वाच्य कोई उनसे पूर्ववर्ती अन्य आचार्य होना चाहिए। परन्तु अब तक जैन साहित्यमें विद्यानन्द, अनन्तवीर्य, वादिराज और प्रभाचन्द्र इन चार विद्वानाचार्योंके सिवाय अकलंकके व्याख्यातारूपमें उनसे पूर्व कोई दृष्टिगोचर नहीं होता। विद्वानोंको इस पदपर विचार करना चाहिए।—सम्पा०।

अनन्तवीर्य) ये तीनों विद्वान् देव (अकलङ्कदेव) के गम्भीर शासनके तात्पर्यका स्फोट न करते तो उसे कौन समझनेमें समर्थ था?' प्रकट है कि आ० विद्यानन्दने अकलङ्कदेवकी अष्टशतीके तात्पर्यको अपनी अष्टसहस्रीद्वारा प्रकट किया है। इससे ज्ञात होता है कि वादिराजसूरि आचार्य विद्यानन्द और उनके ग्रन्थोंसे काफी प्रभावित थे।

३. आ० प्रभाचन्द्र—ये जैनसाहित्यमें तर्कग्रन्थकार प्रभाचन्द्रके नामसे प्रसिद्ध हैं। पहले कहा जा चुका है कि ये धारा (मालवा) में रहते थे और राजा भोजदेव तथा जयसिंहदेवके समकालीन हैं। अतः इनका समय ई० १०१० से ई० १०८० अनुमानित है। शिलालेखादिमें इनके पद्मनन्दि सैद्धान्त, चतुर्मुखदेव और माणिक्यनन्दि ये तीन गुरु कहे गये हैं। इन्होंने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, न्यायकुमुदचन्द्र, तत्त्वार्थवृत्तिपदविवरण, शाकटायनन्यास, शब्दाम्भोजभास्कर, प्रवचनसारसरोजभास्कर, गद्यआराधनाकथाकोष, रत्नकरण्डश्रावकाचारटीका, महाकवि पुष्पदन्तकृत महापुराणका टिप्पण, और समाधि-तन्त्रटीका आदि ग्रन्थोंकी रचना की है। इनमें गद्यआराधनाकथाकोष स्वतन्त्र कृति है और शेष टीकाकृतियाँ हैं। विद्यानन्दके तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक, आप्तपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा आदि ग्रन्थोंका इनके प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुद-चन्द्रमें सर्वत्र प्रभाव व्याप्त है और उनके स्थल-के-स्थल इनमें पाये जाते हैं। यहाँ हम दोनों आचार्योंके एक-दो ग्रन्थोंके दो स्थलोंको नमूनेके तौरपर नीचे देते हैं:—

[1] 'ननु वादे सतामपि निग्रहस्थानानां निग्रहबुद्ध्योद्भावनाभावान्न जिगीषास्ति। तदुक्तं—तर्कशब्देन भूतपूर्वगतिन्यायेन वीतरागकथात्वज्ञापनादुद्भावनियमो लभ्यते तेन सिद्धान्ताविरुद्धः पंचावयवोपपन्न इति चोत्तरपदयोः समस्तनिग्रहस्थानाद्युपलक्षणार्थ-त्वादेव प्रमाणबुद्ध्या परेण छलजातिनिग्रहस्थानानि प्रयुक्तानि न निग्रहबुद्ध्योद्भाव्यन्ते किन्तु निवारणबुद्ध्या तत्त्वज्ञानायावयवः प्रवृत्तिर्न च साधनाभासो दूषणाभावे वा तत्त्वज्ञानहेतुरतो न तत्प्रयोगो युक्तः इति तदेतदसंगतं। जल्पवितंडयोरपि तथोद्भवन-नियमप्रसङ्गात्तयोस्तत्त्वाव्यसायसंरक्षणाय स्वयमभ्युपगमात्। तस्य छलजाति-निग्रहस्थानैः कर्तुमशक्त्वात्। परस्य तूष्णीभावार्थं जल्पवितंडयोश्छलाद्युद्भावनमिति चेन्न, तथा परस्य तूष्णीभावासम्भवादसदुत्तराणामानन्त्यात्।'—तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७९।

'ननु वादे सतामप्येषां निग्रहबुद्ध्योद्भावानाभावान्न विजिगिषास्ति। तदुक्तम्—"तर्कशब्देन भूतपूर्वगतिन्यायेन वीतरागकथात्वज्ञापनादुद्भावननियमोपलभ्यते।" [ ] तेन सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः इति चोत्तरपदयोः समस्त-निग्रहस्थानाद्युपलक्षणार्थत्वाद्वादेऽप्रमाणबुद्ध्या परेण छलजातिनिग्रहस्थानानि प्रयुक्तानि न निग्रहबुद्ध्योद्भाव्यन्ते किन्तु निवारणबुद्ध्या। तत्त्वज्ञानायावयोः प्रवृत्तिर्न च साधनाभासो दूषणाभासो वा तद्धेतुः। अतो न तत्प्रयोगो युक्त इति। तदप्यसाम्प्रतम्; जल्पवितण्डयोरपि तथोद्भावननियमप्रसङ्गात्। तयोस्तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणाय स्वयमभ्युपगमात्। तस्य च छलजातिनिग्रहस्थानैः कर्तुमशक्यत्वात्। परस्य

१ यह गद्य बिना संशोधनके दी गई है।—सम्पा०।

तूष्णीभावार्थं जल्पवितण्डयोश्छलाद्युद्भावनमिति चेत्, न; तथा परस्य तूष्णीभावाभावादसदुत्तराणामानन्त्यात् ।'-प्रमेयक० पृ० ६४७।

'परतन्त्रोऽसौ हीनस्थानपरिग्रहवत्त्वात्, कामोद्रेकपरतन्त्रवेश्याग्रहपरिग्रहवच्छ्रोत्रियब्राह्मणवत्। हीनस्थानं हि शरीरं तत्परिग्रहवांश्च संसारी प्रसिद्ध एव। कथं पुनः शरीरं हीनस्थानमात्मनः[1] इति, उच्यते; हीनस्थानं शरीरम्, आत्मनो दुःखहेतुत्वात्, कस्यचित्कारागृहवत्। ननु देवशरीरस्य दुःखहेतुत्वाभावात्पक्षाव्यापको हेतुरिति चेत्, न; तस्यापि मरणे दुःखहेतुत्वसिद्धेः पक्षाव्यापकत्वव्यवस्थानात् ।'
—आप्तपरीक्षा. पृष्ठ ३ ।

'तथा हि—परतन्त्रोऽसौ हीनस्थानपरिग्रहवत्त्वात्, मद्योद्रेकपरतन्त्राशुचिस्थानपरिग्रहवद्विशिष्टपुरुषवत् । हीनस्थानं हि शरीरं आत्मनो दुःखहेतुत्वात्कारागारवत् । तत्परिग्रहवांश्च संसारी प्रसिद्ध एव । न च देवशरीरे तदभावात्पक्षाव्याप्तिः, तस्यापि मरणे दुःखहेतुत्वप्रसिद्धेः ।'--प्रमेयकमलमार्त्तण्ड पृष्ठ २४३ ।

निःसन्देह प्रभाचन्द्रको विद्यानन्दके ग्रन्थोंका खूब अभ्यास था और वे उनसे पर्याप्त प्रभावित थे। प्रमेयकमलमार्त्तण्डके प्रथम परिच्छेदके अन्तमें उन्होंने विद्यानन्दका श्लेषरूपमें निम्न प्रकार नामोल्लेख भी किया है:—

'विद्यानन्द-समन्तभद्रगुणतो नित्यं मनोनन्दनम् ।'

४. आ० अभयदेव—इन्होंने सिद्धसेनके सन्मतिसूत्रपर तत्त्वबोधिनी नामकी सुविस्तृत टीका लिखी है। इसमें विद्यानन्दके तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक, प्रमाणपरीक्षा आदि ग्रन्थोंका प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। सन्मतिसूत्रटीका (पृष्ठ ७४७, ७४६)में विद्यानन्दके तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक (पृष्ठ ४६४) गत वस्त्रादिग्रहणको ग्रन्थ और मूर्छाका कार्य बतलाने रूप मतका समालोचन भी किया गया प्रतीत होता है। इनका समय विक्रमकी १०वीं शताब्दीका उत्तरार्ध और ११ वींका पूर्वार्द्ध बतलाया जाता है[1]। परन्तु न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमारजी इन्हें विक्रमकी ग्यारहवींके उत्तरार्धका विद्वान् माननेमें भी बाधा नहीं समझते[2]। हमारा विचार है कि यदि इनकी सन्मतिसूत्रटीकापर आ० प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्डका 'अकल्पित सादृश्य' है जैसा कि समझा जाता है[3] तो अभयदेवको प्रभाचन्द्र (ई० १०१० से १०८०) का समकालीन अथवा कुछ उत्तरवर्ती होना ही चाहिये। और उस हालतमें आ० अभयदेवका समय विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दीका अन्तिम पाद और बारहवीं शतीका पूर्वार्ध (वि० सं० १०७५ से ११५०) अनुमानित होता है; क्योंकि पहले हम प्रमाणित कर आये हैं कि आ० प्रभाचन्द्रका प्रमेयकमलमार्त्तण्ड धारानरेश भोजदेवके राज्यकालके अन्तिम वर्षों—वि० सं० ११०० से ११०७ (ई० १०४३ से १०५०) के लगभगकी रचना है। पर ये दोनों आचार्य एक-दूसरेके ग्रन्थोंसे अपरिचित प्रतीत होते हैं; क्योंकि इन ग्रन्थोंमें वर्णित केवलिकवलाहार, सवस्त्रमुक्ति और स्त्रीमुक्ति जैसे साम्प्रदायिक विषयोंके खण्डन-मण्डनमें जो उनकी ओरसे युक्तियाँ प्रतियुक्तियाँ दी गई हैं उनका एक-दूसरेके ग्रन्थोंमें

---

१ सन्मतितर्ककी गुजराती प्रस्तावना पृ० ८३। २, ३ प्रमेयक० मा० की प्रस्ता० पृष्ठ ४६।

कोई प्रभाव नहीं देख पड़ता। आ० अभयदेवने तो प्रतिमाभूषण जैसे एक और नये साम्प्रदायिक विषयकी चर्चा की है और उसका कट्टर साम्प्रदायिकताको लिये हुए समर्थन भी किया है[1]। यदि सन्मतिसूत्रटीकाकार आ० अभयदेव आ० प्रभाचन्द्रके पूर्ववर्ती होते और प्रभाचन्द्रको उनकी सन्मतिसूत्रटीका मिली होती तो वे अभयदेवका प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें खण्डन अवश्य करते। कम-से-कम इस नये (प्रतिमाभूषण) साम्प्रदायिक विषयकी तो आलोचना अथवा चर्चा जरूर ही करते। पर प्रभाचन्द्रने न उसकी आलोचना की और न चर्चा ही की है। आ० अभयदेवने भी आ० प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्डगत उक्त विषयोंकी खण्डन-युक्तियों एवं मुद्दोंका कोई जवाब नहीं दिया और न उनका खण्डन ही किया है। यह असम्भव था कि अभयदेवको प्रभाचन्द्रका प्रमेयकमलमार्त्तण्ड मिलता और वे उनके अपने विरुद्ध साम्प्रदायिक मन्तव्योंका खण्डन न करते। अतः प्रतीत होता है कि इन ग्रन्थकारोंको एक-दूसरेके ग्रन्थ प्राप्त नहीं हुए। और इसका कारण यह जान पड़ता है कि ये दोनों ग्रन्थकार सम्भवतः समकालीन हैं और उनके ग्रन्थ एक कालमें रचे गये हैं। इन ग्रन्थोंमें उपलब्ध 'अकल्पित सादृश्य' तो अन्य ग्रन्थों—'भट्टजयसिंहराशिका तत्त्वोपप्लवसिंह, व्योमशिवकी व्योमवती, जयन्तकी न्यायमंजरी, शान्तरक्षित और कमलशीलकृत तत्त्वसंग्रह और उसकी पंजिका तथा विद्यानन्दके अष्टसहस्री, तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक, प्रमाणपरीक्षा आदि'—का भी हो सकता है, जैसा कि उक्त पंडितजी स्वयं स्वीकार भी करते हैं। हमारा कहना सिर्फ इतना और है कि प्रमेयकमलमार्त्तण्डका सन्मतिसूत्र टीकामें और सन्मतिसूत्रटीकाका प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें कोई ऐसा सादृश्य एवं प्रभाव नहीं देख पड़ता जो उन्हींका अपना हो। अतः सम्भव है ये दोनों आचार्य समकालीन हों।

५. आ० वादि देवसूरि—ये जैन तार्किकोंमें प्रमुख तार्किक गिने जाते हैं। विक्रम सं० ११४३ (ई० स० १०८६) में इनका जन्म और वि० सं० १२२६ (ई० स० ११६९)में स्वर्गवास कहा जाता है। इन्होंने 'प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार' नामका न्यायसूत्रग्रन्थ और उसपर स्वयं स्याद्वादरत्नाकर नामकी विशाल टीका लिखी है। हम पहले कह आये हैं कि इनका प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार आ० माणिक्यनन्दिके परीक्षामुखका शब्दशः और अर्थशः अनुसरण है। इसके ६ परिच्छेद तो परीक्षामुखके ६ परिच्छेदोंकी तरह ही हैं और दो परिच्छेद (नयपरिच्छेद तथा वादपरिच्छेद)

---

१ 'यद्यपि "भगवत्प्रतिमाया न भूषा आभरणादिभिर्विधेया" इति स्वाग्रहावष्टब्धचेतोभिर्दिगम्बरैरुच्यते तदपि अर्हत्प्रणीतागमापरिज्ञानस्य विजृम्भितमुपलक्ष्यते, तत्करणस्य शुभभावनिमित्ततया कर्मक्षयाऽवन्ध्यकारणत्वात् । तथा हि—भगवत्प्रतिमाया भूषणाद्यारोपणं कर्मक्षयकारणम्, कर्तुर्मनःप्रसादजनकत्वात् ।.......एवमन्यदपि आगमबाह्यं स्वमनीषिकया परपरिकल्पितमागम-युक्तिप्रदर्शनेन प्रतिषेद्धव्यम्, न्यायदिशः प्रदर्शितत्वात् । तदेवम् अनधीताऽश्रुतयथावदपरिभावितागमतात्पर्या दिग्वासस इव (एव) आशाशां विगोपयन्तीति व्यवस्थितम् ।'—सन्मति०टी० पृ० ७५४-७५५ ।

परीक्षामुखसे ज्यादा हैं। इस तरह यह ८ परिच्छेदोंका सूत्रग्रन्थ है। सूत्ररचनामें इन्होंने आ० विद्यानन्दके भी तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक, प्रमाणपरीक्षा आदि ग्रन्थोंकी सहायता ली है। टीकामें एक जगह विद्यानन्दके तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक और विद्यानन्द महोदयगत धारणालक्षणकी आलोचनाका भी प्रयास किया है[1]। आ० विद्यानन्द और अनन्तवीर्यने अपने पूर्वज अकलङ्कदेव (लघीय० का० ५ तथा वृत्ति[2]) का अनुसरण करते हुए धारणाका लक्षण यह बतलाया है कि जो ज्ञान स्मृतिमें कारण होता है वह धारणा है, इसी धारणाको संस्कार कहते हैं और इस तरह उन्होंने अकलङ्ककी तरह धारणा और संस्कारको पर्यायवाची शब्द बतलाया है। इसपर वादि देवसूरिने यह आपत्ति की है कि धारणाको स्मृतिका कारण साक्षात् बतलाते हैं अथवा परम्परा? परम्परा कारण बतलानेमें कोई दोष नहीं है। किंतु साक्षात् कारण बतलानेमें दोष है वह यह कि धारणा प्रत्यक्षरूप ज्ञान है और इसलिये वह स्मृति-काल तक नहीं ठहर सकता है—वह वस्तुनिर्णयके बाद तुरन्त नष्ट होजाता है। अतः धारणारूप पर्यायसे परिणत आत्माकी शक्तिविशेष ही, जिसका दूसरा नाम संस्कार है, स्मृतिका साक्षात् कारण है, धारणा नहीं। परन्तु उनकी यह आपत्ति कुछ समझमें नहीं आती; क्योंकि जब वे यह स्वीकार करते हैं कि धारणपर्यायसे परिणत आत्माकी शक्तिविशेष संस्कारसंज्ञक स्मृतिका साक्षात् कारण है तब वे स्वयं भी उस आपत्तिसे मुक्त नहीं रहते। आत्माकी जिस शक्तिविशेषको स्मृतिका कारण मानकर उक्त आपत्तिका वे परिहार करते हैं उस (शक्तिविशेष) का वे संस्कार और धारणा इन शब्दोंद्वारा ही कथन करते हैं, इसके अलावा वे उसका कोई निर्वचन नहीं कर सके। इस द्राविडी प्राणा-

१ "यत्तु विद्यानन्दः प्रत्यपादयत्।.........स्मृतिहेतुः स धारणा" इति तत्र स्मृतिहेतुत्वं धारणायाः साक्षात्पारम्पर्येण वा विवक्षितम्। .... ततो धारणारूपपर्यायोपढौकितः पुरुषशक्तिविशेष एव संस्कारपर्यायः स्मृतेरानन्तर्येण हेतुर्न धारणेति। अथ किमिदमसञ्जसमुच्यते। न खलु संस्कारादन्या धारणाऽस्य मता। तथा चायमेव श्लोकवार्त्तिके, 'अज्ञानात्मकतायां तु संस्कारस्येहितस्य वा। ज्ञानोपादानता न स्याद्रूपादेरिव साऽस्ति च ॥ १ ॥' इत्यत्र संस्कारशब्देन धारणामेवाभ्यधात्। महोदये च 'कालान्तराविस्मरणकारणं हि धारणाभिधानं ज्ञानं संस्कार प्रतीयते' इति वदन् संस्कारधारणयोरैकार्थ्यमचकथत्। अनन्तवीर्योऽपि 'तथानिर्णीतस्य कालान्तरे तथैव स्मरणहेतुस्संस्कारो धारणा इति तदेवावदत्।.......किमेवं वदतोरनयोर्यः स्मृतिकालानुयायी धर्मविशेषः संस्कार इति सर्ववादिनामविवादेन सिद्धः स धारणात्वेन सम्मतः। तथा चेत्, तर्हि यस्य पदार्थस्य कालान्तरे स्मृतिस्सा प्रत्यक्षात्मिका धारणा तावत्कालं यावदनुवर्त्तते इति स्यात्। एतच्चानुपपन्नम्। एवं तर्हि यावत्पटपदार्थसंस्काररूपं प्रत्यक्षं पुरुषे भवेत्तावत्पदार्थान्तरस्य संवेदनमेव न स्यात्। क्षायोपशमिकोपयोगानां युगपद्भावविरोधस्याभ्यामपि प्रतिपन्नत्वात्।..........तस्मादात्मशक्तिविशेष एव संस्कारापरपर्यायः स्मृतेरानन्तर्येण हेतुः न धारणा। पारम्पर्येण तु तस्यास्तद्धेतुताभिधाने न किंचिद्दूषणम्।' —स्या०रत्ना० पृ० ३४६-३५०।

२ "धारणा स्मृतिहेतुस्तन्मतिज्ञानं चतर्विधम्।
स्मृतिहेतुर्धारणा संस्कार इति यावत्"—अकलङ्कग्र० पृ० २, ३।

यामसे तो यही ठीक और संगत है कि धारणा अपरनाम संस्कार स्मृतिका कारण है और यह स्पष्ट है कि आत्मा प्रत्येक पर्यायमें अनुस्यूत रहता है। यह नियम नहीं है कि जो प्रत्यक्षात्मक ज्ञान होता है वह सब तुरन्त नष्ट होजाता है, क्योंकि अवधि और मनःपर्यय ज्ञान प्रत्यक्षात्मक होते हुए भी आत्माका अन्वय रहनेसे नियत स्थिति तक स्थिर रहते हैं। यही बात धारणाकी है। वह अपने कारणभूत ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशमविशेषकी अपेक्षासे न्यूनाधिक काल तक आत्मामें बनी रहती है[1]। जैनवाङ्मयमें जिसे स्मृतिजनकरूपसे धारणा कहा गया है उसे ही वैशेषिक दर्शनमें[2] स्मृतिजनकरूपसे भावनाख्य संस्कार कहा गया है। 'संस्कार' शब्द दूसरे दर्शनका परिभाषिक शब्द है और धारणा जैनदर्शनका परिभाषिक शब्द है उसका सर्वसाधारणपर अर्थ प्रकट करनेके लिये 'संस्कार इति यावत' जैसे शब्दोंद्वारा उसे उसका पर्यायवाची सूचित किया जाता है। इतनी विशेषता है कि जैनदर्शनमें उसे ज्ञानात्मक बतलाया गया है क्योंकि उसका स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होता है। यदि वह ज्ञानात्मक न हो तो ज्ञानात्मक स्मृति आदिको वह उत्पन्न नहीं कर सकता। अतः वादि देवसूरिकी आलोचना सङ्गत प्रतीत नहीं होती।

६. हेमचन्द्र—ये व्याकरण, साहित्य, सिद्धान्त, योग और न्यायके प्रखर विद्वान थे। इन्होंने इन सभी विषयोंपर विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं। प्रमाणमीमांसा इनकी न्यायविषयक विशद रचना है। इसके सूत्र और उनकी स्वोपज्ञटीका दोनों ही सुन्दर और बोधप्रद हैं। न्यायके प्राथमिक अभ्यासीके लिये परीक्षामुख और न्यायदीपिकाकी तरह इसका भी अभ्यास उपयोगी है। यह प्रमेयरत्नमालाकी कोटिका न्यायग्रन्थ है। इसमें प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और प्रमेयरत्नमालाका शब्दशः और अर्थशः अनुसरण है ही किन्तु साथमें विद्यानन्दके प्रमाणपरीक्षा, तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक आदि ग्रन्थोंका भी प्रभाव है। ये वि० की १२ वीं, १३ वीं (वि० सं० ११४५से वि० सं० १२२९, ई० सन् १०८९ से ई० सन् ११७३) शतीके विद्वान माने जाते हैं[3]।

७. लघुसमन्तभद्र—ये विक्रमकी १३ वीं शतीके विद्वान हैं। इन्होंने विद्यानन्दकी अष्टसहस्रीपर 'अष्टसहस्रीविषमपदतात्पर्य टीका लिखी है। टीका बिल्कुल साधारण और संक्षिप्त है। यह अभी प्रकाशित नहीं हुई है। इसमें विद्यानन्दके पत्रपरीक्षा आदि ग्रन्थोंके भी उद्धरण हैं। इससे मालूम होता है कि लघुसमन्तभद्र विद्यानन्द और उनके ग्रन्थोंसे काफी प्रभावित थे।

८. अभिनवधर्मभूषण[4]—ये विक्रमकी १५ वीं शताब्दी (वि० सं० १४१५ से वि० सं० १४७५, ई० सन् १३५८ से १४१८) के प्रौढ विद्वान हैं। इनकी न्यायविषयक

१ ज्ञानको अमुक काल तक स्थिर रखना वीर्यान्तरायकर्मके क्षयोपशमविशेषका कार्य है, यह स्पष्ट है।

१ "भावनासंज्ञक(संस्कार)स्त्वात्मगुणो दृष्टश्रुतानुभूतेष्वर्थेषु स्मृतिप्रत्यभिज्ञानहेतुर्भवति..........।' —प्रशस्त० भा० पृ० १३६। ३ देखो, प्रमाणमीमांसाकी प्रस्तावना।

४ विशेष परिचयके लिये देखो, लेखककी न्यायदीपिकाकी प्रस्तावना।

उच्चकोटिकी संक्षिप्त एवं विशद रचना न्यायदीपिका सुप्रसिद्ध है। इसमें धर्मभूषणने अनेक जगह तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक, प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा आदि ग्रन्थोंके नामोल्लेख पूर्वक उद्धरण दिये हैं, इससे प्रकट है कि अभिनव धर्मभूषण विद्यानन्दके ग्रन्थोंके अच्छे अध्येता थे और वे उनसे प्रभावित थे।

६. उपाध्याय यशोविजय—ये विक्रमकी १८ वीं शताब्दीके प्रतिभाशाली विद्वान हैं। इन्होंने सिद्धान्त, न्याय, योग आदि विषयोंपर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। इनके ज्ञानबिन्दु, जैनतर्कभाषा ये दो तर्कग्रन्थ विशेष प्रसिद्ध हैं। जैनतर्कभाषामें अभिनव धर्मभूषण यतिकी न्यायदीपिकाका विशेष प्रभाव है। इसके अनेक स्थलोंको उन्होंने उसमें अपनाकर अपनी संग्राहक और उदार बुद्धिको प्रकट किया है। आ० विद्यानन्दके अष्टसहस्री, तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक, प्रमाणपरीक्षा आदि ग्रन्थोंका इन्हें अच्छा अभ्यास ही नहीं था, बल्कि अष्टसहस्रीपर उन्होंने अष्टसहस्रीतात्पर्यविवरण नामकी नव्यन्यायशैलीप्रपूर्ण विस्तृत व्याख्या भी लिखी है जो वस्तुतः अपने ढंगकी अनोखी है। इससे प्रतीत होता है कि उपाध्याय यशोविजयजी भी विद्यानन्दके ग्रन्थोंसे प्रभावित थे और उनके प्रति उनका विशेष समादर था।

(च) आ० विद्यानन्दकी रचनाएँ

आ० विद्यानन्दकी दो तरहकी रचनाएँ हैं—१ टीकात्मक और २ स्वतन्त्र। टीकात्मक रचनाएँ निम्न हैं:—

१ तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक (सभाष्य), २ अष्टसहस्री-देवागमालङ्कार और ३ युक्त्यनुशासनालङ्कार।

स्वतन्त्र कृतियाँ ये हैं:—

१ विद्यानन्दमहोदय, २ आप्तपरीक्षा. ३ प्रमाणपरीक्षा, ४ पत्रपरीक्षा, ५ सत्यशासनपरीक्षा और ६ श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र। इस तरह विद्यानन्दकी ये ९ रचनाएँ प्रसिद्ध हैं। इन सबका परिचय नीचे दिया जाता है।

१. तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक और भाष्य—आ० गृद्धपिच्छके सुप्रसिद्ध 'तत्त्वार्थसूत्र' पर कुमारिलके मीमांसाश्लोकवार्तिक और धर्मकीर्तिके प्रमाणवार्त्तिककी तरह विद्यानन्दने पद्यात्मक तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक रचा है और उसके पद्यवार्त्तिकोंपर उन्होंने स्वयं गद्यमें भाष्य अथवा व्याख्यान लिखा है। यह भाष्य तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकभाष्य, तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकव्याख्यान, तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकालङ्कार और श्लोकवार्त्तिकभाष्य इन नामोंसे कथित होता है। जैनदर्शनके प्राणभूत ग्रन्थोंमें यह प्रथम कोटिका ग्रन्थरत्न है। विद्यानन्दने इसकी रचना करके कुमारिल, धर्मकीर्ति जैसे प्रसिद्ध इतर तार्किकोंके जैनदर्शनपर किये गये आक्षेपोंका सबल जवाब ही नहीं दिया, किन्तु जैनदर्शनका मस्तक भी उन्नत किया है। हमें तो भारतीय दर्शन साहित्यमें ऐसा एक भी ग्रन्थ दृष्टिगोचर नहीं होता जो श्लोकवार्त्तिककी समता कर सके। श्लोकवार्त्तिककी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें कितनी ही चर्चाएँ अपूर्व हैं। यह ग्रन्थ सेठ रामचन्द्र नाथारङ्गजी द्वारा कोई २९ वर्ष पूर्व १९१८ में एकबार प्रकाशित हो चुका है। परन्तु

अब वह अलभ्य है। दूसरे, वह बहुत ही अशुद्ध एवं त्रुटिपूर्ण छपा है। अतः इस ग्रन्थका शुद्ध एवं सुन्दर दूसरा संस्करण निकलना आवश्यक है।

२. अष्टसहस्री-देवागमालङ्कार—यह स्वामी समन्तभद्रविरचित 'आप्तमीमांसा' अपरनाम 'देवागम' पर लिखी गई विस्तृत और महत्वपूर्ण टीका है। इसमें अकलङ्कदेवके 'देवागम' पर ही रचे गये दुरूह और दुरवगाह 'अष्टशती विवरण' (देवागमभाष्य) को अन्तःप्रविष्ट करते हुए देवागमकी प्रत्येक कारिकाका व्याख्यान किया गया है। विद्यानन्दने अष्टसहस्रीमें अष्टशतीको इस प्रकार आत्मसात् कर लिया है कि यदि उसे भेदनिदर्शक अलग टाइपमें न रखा जाय तो पाठक यह नहीं जान सकता कि यह अष्टशतीका अंश है और यह अष्टसहस्रीका। उन्होंने अपनी आगे-पीछे और मध्यकी सान्दर्भिक वाक्यरचनाद्वारा अष्टशतीको अनुस्यूत करके न केवल अपनी प्रतिभाका आश्चर्यजनक चमत्कार दिखाया है अपितु उसके गूढ रहस्यको भी अभिव्यक्त किया है। वास्तवमें यदि विद्यानन्द अष्टसहस्री न बनाते तो अष्टशतीका गूढ रहस्य उसमें ही छिपा रहता, क्योंकि अष्टशतीका प्रत्येक पद, प्रत्येक वाक्य और प्रत्येक स्थल इतना दुरूह और जटिल है कि साधारण विद्वानोंकी तो उसमें गति ही नहीं हो सकती। अष्टसहस्रीको विद्यानन्दने जो 'कष्टसहस्री' कहा है[1] वह इस अष्टशतीकी मुख्यतासे ही कहा है। यदि किसी तरह उसके पदवाक्यादिका ऊपरी अर्थ लगा भी लिया जाय तो भी उसके हार्दको समझना अत्यन्त कठिन है। विद्यानन्दने अष्टसहस्रीमें अपनी तलस्पर्शिनी सूक्ष्म बुद्धिसे उसके प्रत्येक पदवाक्यादिका विशद अर्थ खोला है और अकलङ्कदेवके हार्दको प्रकट किया है। देवागम और अष्टशतीके व्याख्यानके अलावा अष्टसहस्रीमें कितना ही नया विचार और विस्तृत चर्चाएँ भी उपस्थित की गई हैं। विद्यानन्दने अष्टसहस्रीके बारेमें लिखा है[2] कि 'हजार शास्त्रोंको सुननेसे क्या, अकेली इस अष्टसहस्रीको सुन लीजिये, उसीसे ही समस्त सिद्धान्तोंका ज्ञान हो जायगा।' वस्तुतः विद्यानन्दका यह लिखना न अतिशयोक्तिपूर्ण है और न गर्वोक्तियुक्त है। अष्टसहस्री स्वयं ही इस बातकी साक्षी है। यह श्लोकवार्त्तिककी तुलनाका ही महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। चूंकि देवागममें दश परिच्छेद हैं, इसलिये उसकी टीका अष्टसहस्रीमें भी दश परिच्छेद हैं। प्रत्येक परिच्छेदका प्रारम्भ और समाप्ति एक-एक सुन्दर पद्यद्वारा किये गये हैं। इसपर लघुसमन्तभद्र (वि० की १३वीं शती) ने 'अष्टसहस्रीविषमपदतात्पर्यटीका' और श्री यशोविजय (वि० की १८वीं शती) ने 'अष्टसहस्रीतात्पर्यविवरण' नामकी व्याख्याएँ लिखी हैं। यह अष्टसहस्री सेठ नाथारङ्गजी गांधीद्वारा कोई ३२ वर्ष पूर्व सन् १९१५ में एकबार मुद्रित हो चुकी है किन्तु अब वह अप्राप्य है। इसका भी दूसरा संस्करण निकलना चाहिए। श्लोकवार्त्तिक और अष्टसहस्री दोनों पाठ्यक्रममें भी निहित हैं।

---

१ देखो, अष्टसहस्री प्रशस्ति पद्य नं० २।

२ 'श्रोतव्याऽष्टसहस्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्रसंख्यानैः।
विज्ञायेत ययैव स्वसमयपरसमयसद्भावः॥'—अष्टस० पृ० १५७।

२. युक्त्यनुशासनालङ्कार—आप्तमीमांसाकार स्वामी समन्तभद्रकी बेजोड़ दूसरी रचना 'युक्त्यनुशासन' है। यह एक महत्वपूर्ण और गम्भीर स्तोत्रग्रन्थ है। इसकी रचना उन्होंने आप्तमीमांसाके बाद की है[१]। आप्तमीमांसामें अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान् महावीरकी परीक्षा की गई है और परीक्षाके बाद उनके आप्त सिद्ध होजानेपर इस (युक्त्यनुशासन) में उनकी गुणस्तुति की गई है। इसमें कुल पद्य केवल ६४ ही हैं, परन्तु एक-एक पद्य इतना दुरूह और गम्भीर है कि प्रत्येकके व्याख्यानमें एक-एक स्वतन्त्र ग्रंथ भी लिखा जाना योग्य है। आ० विद्यानन्दने इस स्तोत्रग्रन्थको अपने 'युक्त्यनुशासनालङ्कार' नामक सुविशद व्याख्यानसे अलंकृत किया है। यह 'युक्त्यनुशासनालंकार' उनका मध्यम परिमाणका टीकाग्रन्थ है—न ज्यादा बड़ा है और न ज्यादा लघु है। इसे उन्होंने आप्तपरीक्षा और प्रमाणपरीक्षाके बाद रचा है क्योंकि इसमें उन दोनोंके उल्लेख हैं[२]। यह टीका मूल ग्रन्थके साथ कोई २७ वर्ष पूर्व वि० सं० १९७७ में 'माणिकचन्द्र-दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला' से एक बार प्रकाशित हो चुकी है, परन्तु अब यह भी अप्राप्य है। यह अशुद्ध भी काफी छपी हुई है। अतः इसका पुनः प्रकाशन आवश्यक है।

अब विद्यानन्दके मौलिक स्वतन्त्र ग्रन्थोंका परिचय दिया जाता है और जो इस प्रकार है—

१. विद्यानन्दमहोदय—यह आ० विद्यानन्दकी सब प्रथम रचना है[३]। इसके बाद ही उन्होंने श्लोकवार्तिक, अष्टसहस्री आदि ग्रन्थ बनाये हैं। श्लोकवार्तिक आदिमें उन्होंने अनेक जगह इस ग्रन्थके उल्लेख किये हैं और विस्तारसे उसमें जानने एवं प्ररूपण करनेकी सूचनाएँ की हैं[४]। इससे ज्ञात होता है कि यह ग्रन्थ श्लोकवार्तिकसे भी विशाल और महत्वपूर्ण होगा। आज यह अनुपलब्ध है। मालूम नहीं, यह ग्रन्थ नष्ट हो चुका है अथवा किसी शास्त्रभण्डारमें दीमकोंका भक्ष्य बना हुआ अपने जीवनकी अन्तिम घड़ियाँ बिता रहा है? यदि नष्ट नहीं हुआ और किसी शास्त्रभण्डारमें अभी विद्यमान है तो अन्वेषकोंको इस महत्वके ग्रन्थरत्नका शीघ्र पता लगाना चाहिए। सम्भव है अकलङ्कदेवके 'प्रमाणसंग्रह' की तरह यह ग्रन्थ भी किसी जैन अथवा जैनेतर लायब्रेरीमें मिल जाय। विक्रमकी १३ वीं शताब्दी तक इसका पता चलता है। आ० विद्यानन्दने तो इसके अपने उत्तरवर्ती प्रायः सभी ग्रन्थोंमें उल्लेख किये ही हैं, किन्तु उनके तीन-चारसौ वर्ष बाद होनेवाले वादि देवसूरिने भी अपनी विशाल टीका 'स्याद्वादरत्नाकर' में इसका नामोल्लेख किया है और साथमें उसकी एक पंक्ति

१ देखो, प्रथम पद्यकी टीका, युक्त्यनुशा० पृ. १।

२ देखो, युक्त्यनुशास० टी० पृ० १०, ११।

३ देखो, 'न्याय-दीपिका' की प्रस्तावना पृ० ८२। ४ 'इति परीक्षितमसकृद्विद्यानन्दमहोदये।'-तत्त्वार्थश्लो० २७२, 'अवगम्यताम्॥ यथागमं प्रपञ्चेन विद्यानन्दमहोदयात्।'-तत्त्वार्थश्लो० पृ० ३८५, 'इति तत्त्वार्थालङ्कारे विद्यानन्दमहोदये च प्रपञ्चतः प्ररूपितम्।' अष्टस० -पृ० २९०।

भी दी है। आज हम, जब तक यह ग्रन्थरत्न उपलब्ध नहीं हुआ है, उसकी निम्न पंक्ति द्वारा ही उसके दर्शन कर सकते हैं। वादि देवसूरिद्वारा दी गई वह पंक्ति इस प्रकार है:—

"महोदये च 'कालान्तराविस्मरणकारणं हि धारणाभिधानं ज्ञानं संस्कारः प्रतीयते' इति वदन् (विद्यानन्दः) संस्कारधारणयोरैकार्थ्यमचकथत्।"-स्या० रत्ना० पृ० ३४९।

हमें आशा है यह ग्रन्थरत्न 'प्रमाणसंग्रह' और 'सिद्धिविनिश्चयटीका' की तरह श्वेताम्बर जैन शास्त्रभण्डारमें मिल जाय; क्योंकि उनके यहाँ शास्त्रोंकी सुरक्षा और सुव्यवस्था यति-मुनियोंके हाथमें रहनेसे अच्छी और सुपुष्कल रही है। उक्त दो ग्रन्थ भी उन्हींके भण्डारोंसे सम्प्राप्त हुए हैं। अन्वेषकोंको यह ध्यान रखना चाहिए कि इस ग्रन्थरत्नका उल्लेख 'विद्यानन्दमहोदय' और 'महोदय' दोनों नामोंसे हुआ है, जैसा कि आ० विद्यानन्द और वादि देवसूरिके उपर्युक्त उल्लेखोंसे प्रकट है। यह विद्यानन्दकी मौलिक और स्वतन्त्र रचना है, यह उसके नामसे ही स्पष्ट है।

२. आप्तपरीक्षा प्रस्तुत ग्रन्थ है।

३. प्रमाणपरीक्षा—यह विद्यानन्दकी तीसरी स्वतन्त्र रचना है। इसे उन्होंने आप्तपरीक्षाके बाद रचा है; क्योंकि प्रमाणपरीक्षामें आप्तपरीक्षाका उल्लेख हुआ है और वहाँ अनादि एक ईश्वरके प्रतिक्षेप करनेका निर्देश किया गया है[१]। विद्यानन्दने इसकी रचना अकलङ्कदेवके प्रमाणसंग्रहादि प्रमाणविषयक प्रकरणोंका आश्रय लेकर की जान पड़ती है। यद्यपि इसमें परिच्छेद-भेद नहीं है तथापि प्रमाणको अपना प्रतिपाद्य विषय बनाकर उसका अच्छा निरूपण किया गया है। प्रमाणका 'सम्यग्ज्ञानत्व' लक्षण करके उसके भेद, प्रभेदों, विषय तथा फल और हेतुओंकी इसमें सुसम्बद्ध एवं विस्तृत चर्चा की गई है। हेतु-भेदोंके निदर्शक कुछ महत्वपूर्ण संग्रहश्लोकोंको तो उद्धृत भी किया गया है, जो पूर्ववर्ती किन्हीं जैनाचार्योंके ही प्रतीत होते हैं। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक[२] और अष्टसहस्रीकी[३] तरह इसमें[४] भी प्रत्यभिज्ञानके दो ही भेद बतलाये गये हैं। यह बहुत ही सरल और सुविशद रचना है।

४. पत्रपरीक्षा—यह ग्रन्थकारकी चतुर्थ रचना है। इसमें दर्शनान्तरीय पत्रलक्षणों की समालोचनापूर्वक जैनदृष्टिसे पत्रका बहुत सुन्दर लक्षण किया है तथा प्रतिज्ञा और हेतु इन दो अवयवोंको ही अनुमानाङ्ग बतलाया है। हाँ, प्रतिपाद्याशयानुरोधसे दशावयवोंका भी समर्थन किया है, परन्तु ये दशावयव न्यायदर्शन प्रसिद्ध दशावयवोंसे भिन्न हैं[५]। यह रचना विद्यानन्दकी सर्व तर्करचनाओंमें अतिलघु रचना है।

५. सत्यशासनपरीक्षा—आचार्य विद्यानन्दकी पाँचवीं मौलिक स्वतन्त्र रचना सत्यशासनपरीक्षा है। यह आजसे कोई २७ वर्ष पूर्व बिल्कुल अप्रसिद्ध और अप्राप्य

१ 'तस्यानादेरेकेश्वरस्याप्तपरीक्षायां प्रतिक्षिप्तत्वात्।' -पृ० ७७।

२ 'तद्द्विधैकत्व-सादृश्यगोचरत्वेन निश्चितम्।' -पृ० १९०।

३ 'तदेवेदं तत्सदृशमेवेदमित्येकत्वसादृश्यविषयस्य द्विविधप्रत्यभिज्ञानस्य....।' -पृ० २७९।

४ प्रमाणप० पृष्ठ ६९। ५ देखो, पत्रपरी० पृष्ठ १०।

थी। जैनसाहित्य-अनुसन्धाता पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारने जैनसिद्धान्तभवन आराकी सूचीपरसे इसका पता लगाया और अक्टूबर सन् १६२० में जैनहितैषी भाग १४, अङ्क १०-११ में 'दुष्प्राप्य और अलभ्य जैनग्रन्थ' के नीचे परिचय दिया था। इसके कोई बीस वर्ष बाद न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमारजीने इसका कुछ विशेष परिचय अनेकान्त वर्ष ३, किरण ११ में कराया था। इस परिचयसे स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ आ० विद्यानन्दकी ही कृति है। इसमें पुरुषाद्वैत आदि १२ शासनोंकी परीक्षा करनेकी प्रतिज्ञा की गई है[1]। परन्तु १२ शासनोंमें ६ शासनोंकी पूरी और प्रभाकरशासनकी अधूरी परीक्षाएँ ही इसमें उपलब्ध होती हैं। प्रभाकर-शासनका शेषांश, तत्त्वोपप्लवशासनपरीक्षा और अनेकान्त-शासनपरीक्षा इसमें अनुपलब्ध हैं। इससे मालूम होता है कि यह ग्रन्थ विद्यानन्दकी अन्तिम रचना है और वे इसे पूरा नहीं कर सके। बम्बईके ऐ० पन्नालाल सरस्वतीभवनमें इसकी जो प्रति पाई जाती है वह भी आराप्रति जितनी है। यह अभी अमुद्रित है। इस ग्रन्थकी प्रशंसा करते हुए न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमारजीने[2] लिखा है :—

'तर्कग्रन्थोंके अभ्यासी, विद्यानन्दके अतुल पाण्डित्य, तलस्पर्शी विवेचन, सूक्ष्मता तथा गहराईके साथ किये जानेवाले पदार्थोंके स्पष्टीकरण एवं प्रसन्नभूषामें गूंथे गये युक्तिजालसे परिचित होंगे। उनके प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा और आप्तपरीक्षा प्रकरण अपने अपने विषयके वेजोड़ निबन्ध हैं। ये ही निबन्ध तथा विद्यानन्दके अन्य ग्रन्थ आगे बने हुए समस्त दि० श्वे० न्यायग्रन्थोंके आधारभूत हैं। इनके ही विचार तथा शब्द उत्तरकालीन दि० श्वे० न्यायग्रन्थोंपर अपनी अमिट छाप लगाये हुए हैं। यदि जैनन्यायके कोशागारसे विद्यानन्दके ग्रन्थोंको अलग कर दिया जाय तो वह एकदम निष्प्रभ-सा हो जायगा। उनकी यह 'सत्यशासन-परीक्षा' ऐसा एक तेजोमय रत्न है जिससे जैन-न्यायका आकाश दमदमा उठेगा। यद्यपि इसमें आये हुए पदार्थ फुटकररूपसे उनके अष्टसहस्री आदि ग्रन्थोंमें खोजे जा सकते हैं। पर इतना सुन्दर और व्यवस्थित तथा अनेक नये प्रमेयोंका सुरुचिपूर्ण संकलन, जिसे स्वयं विद्यानन्दने ही किया है, अन्यत्र मिलना असम्भव है।'

वस्तुतः विद्यानन्द और उनके ग्रन्थोंको जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है। हमें दुःख है कि ऐसे महत्वपूर्ण ग्रन्थरत्नोंका प्रकाशन हमारा समाज अभी तक नहीं कर सका है। काश ! 'सत्यशासनपरीक्षा' जैसे ग्रन्थरत्न अन्यत्र (भारतीयपरम्परा या श्वेताम्बरपरम्परामें) होते तो वे कभीके प्रकाशित हो जाते और वे उनका कितना ही आदर करते।

---

१ 'इह पुरुषाद्वैत-शब्दाद्वैत-विज्ञानाद्वैत-चित्राद्वैतशासनानि चार्वाक-बौद्ध-सेश्वर-निरीश्वर-सांख्य-नैयायिक-वैशेषिक-भाट्ट-प्रभाकर-शासनानि तत्त्वोपप्लवशासनमनेकान्तशासनञ्चेत्यनेकशासनानि प्रवर्त्तन्ते।' —सत्यशासनपरीक्षाका प्रारम्भिक प्रतिज्ञावाक्य।

२ देखो 'अनेकान्त' वर्ष ३, किरण ११।

६. श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र[1]—यह स्तोत्रग्रन्थ भी ग्रन्थकारकी रचना है और स्वामीसमन्तभद्रके देवागमस्तोत्र, युक्त्यनुशासनस्तोत्र आदिकी तरह तार्किक कृति है तथा उस जैसी ही जटिल एवं दुरूह हैं। इसकी रचना विद्यानन्दने 'देवागम' की शैलीसे की है, इसलिये इसके पद्योंमें देवागम तथा अष्टसहस्रीका कितना ही साम्य पाया जाता है। इसमें कुल पद्य ३० हैं। अन्तिम पद्य तो अन्तिम वक्तव्य एवं उपसंहारके रूपमें है और शेष २६ पद्य ग्रन्थ-विषयके प्रतिपादक हैं। ग्रन्थका विषय श्रीपुरुस्थ[2] भगवान्

---

१ यह लेखकद्वारा अनुवादित और सम्पादित होकर वीरसेवामन्दिरसे प्रकाशित होचुका है। इसका विशेष परिचय वहाँ देखिए।

२ दक्षिणमें श्रीपुर नामका एक प्रसिद्ध अतिशय क्षेत्र है। इसे 'अन्तरीक्ष पार्श्वनाथ' भी कहते हैं। वहाँके भ० पार्श्वनाथके सातिशय प्रतिबिम्बको लक्ष्य करके आ०विद्यानन्दने इस स्तोत्रकी रचना की है। श्रीमान् पं० नाथूरामजी प्रेमीने अपने 'जैनसाहित्य और इतिहास' (पृ० २३७) में लिखा है कि 'पासं सिरपुरि वंदमि····।···इस पंक्तिके पूर्वार्द्धका सिरपुर (श्रीपुर) भी इसी धारवाड़ जिलेका शिरूर गाँव है जहाँका शकसं० ७८७ का एक शिलालेख (इण्डियन ए० भाग १२, पृष्ठ २१६ में) प्रकाशित हुआ है। स्वामी विद्यानन्दका श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र सम्भवतः इसी श्रीपुरके पार्श्वनाथको लक्ष्य करके रचा गया होगा।' और यही आप मेरे पत्रके उत्तरमें अपने ११ अप्रैल १६४७ के पत्रमें भी लिखते हैं। अपने उक्त ग्रंथ (पृष्ठ २२७) में, श्वेताम्बर मुनि शीलविजयजीकी, (जिन्होंने वि० सं० १७३१-३२में दक्षिणके तीर्थक्षेत्रोंकी वन्दना की थी और जिसका वर्णन उन्होंने अपनी 'तीर्थमाला' नामक पुस्तकमें किया है) 'तीर्थमाला' पुस्तकके आधारसे दक्षिणके तीर्थोंका परिचय देते हुए श्रीपुरनगरके अन्तरीक्ष पार्श्वनाथके सम्बन्धमें मुनिजीद्वारा दी गई एक प्रचलित कथाको भी दिया है। उस कथाका सारांश यह है कि 'प्राचीन कालमें श्रीपुरनगरके एक कुएमें अतिशयवान् प्रतिमा डाल दी गई थी। इस प्रतिमाके प्रभावसे उस कुएके जलसे जब 'एलगराय' का रोग दूर होगया, तब अन्तरीक्ष प्रभु प्रकट हुए और उनकी महिमा बढ़ने लगी। पहले वह प्रतिमा इतनी अधर थी कि उसके नीचेसे एक सवार निकल जाता था, परन्तु अब केवल एक धागा ही निकल सकता है।' प्रेमीजीने वहाँ 'एलगराय' पर एक टिप्पणी भी दी है और लिखा है कि 'जिसे राजा 'एल' कहा जाता है, शायद वही यह 'एलगराय' है। आकोलाके गेजेटियरमें लिखा है कि 'एल' राजाको कोढ़ हो गया था, जो एक सरोवरमें नहानेसे अच्छा हो गया। उस सरोवरमें ही अन्तरीक्षकी प्रतिमा थी और उसीके प्रभावसे ऐसा हुआ था।' आश्चर्य नहीं कि आ० विद्यानन्दस्वामीका अभिमत श्रीपुर प्रेमीजीके उल्लेखानुसार धारवाड़ जिलेका शिरूर ग्राम ही श्रीपुर हो। वर्जेस, कजन, हण्टर आदि अनेक पाश्चात्य लेखकोंने वेसिंग जिलेके 'सिरपुर' स्थानको एक प्रसिद्ध तीर्थ बतलाया है और वहाँ प्राचीन पार्श्वनाथका मन्दिर होनेकी सूचनाएँ की हैं। कोई असम्भव नहीं कि वेसिंग जिलेका 'सिरपुर' ही विद्यानन्दका अभिमत श्रीपुर हो। श्रीपुरका 'शिरूर' हो जानेकी अपेक्षा 'सिरपुर' होजाना ज्यादा संगत प्रतीत होता है। शकसं० ६६८ (ई० ७७६) में पश्चिमी गंगवंशी राजा श्रीपुरुषके द्वारा श्रीपुरके जैनमन्दिरके लिये दान दिये जानेका उल्लेख करनेवाला एक ताम्रपत्र मिला है (जैन सि० भा० भा० ४ किरण ३ पृष्ठ १९८)। हो सकता है यह श्रीपुर विद्यानन्दका इष्ट श्रीपुर हो। जो हो, इतना निश्चित है कि श्रीपुरके पार्श्वनाथका पहले बड़ा

पार्श्वनाथ हैं। कपिलादिकमें अनाप्तता बतलाकर उन्हें इसमें आप्त सिद्ध किया गया है और उनके वीतरागित्व, सर्वज्ञत्व और मोक्षमार्गप्रणेतृत्व इन असाधारण गुणोंकी स्तुति की गई है।

यह श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र मराठी टीका सहित श्रीपात्रकेसरीस्तोत्रके साथ संयुक्त-रूपमें आजसे २६ वर्ष पूर्व वि० सं० १९७८ (ई० १९२१) में एकबार प्रकाशित हो चुका है। इसके अन्तमें एक समाप्ति-पुष्पिकावाक्य पाया जाता है और जो इस प्रकार है:—

'इति श्रीमदमरकीर्त्तियतीश्वरप्रियशिष्यश्रीमद्विद्यानन्दस्वामि-विरचितश्रीपुरपार्श्व-नाथस्तोत्रं समाप्तम्।'

इस पुष्पिकावाक्यमें अमरकीर्त्तियतीश्वरके शिष्य विद्यानन्दस्वामिको इस स्तोत्र-का कर्ता प्रकट किया गया है। परन्तु ग्रन्थकार विद्यानन्दने अपने किसी भी ग्रन्थमें अपने गुरुका नाम अमरकीर्त्तियतीश्वर अथवा अन्य कोई नाम नहीं दिया और न उत्तरवर्ती ग्रन्थकारोंके उल्लेखों एवं शिलालेखों आदिमें उनके गुरुका नाम उपलब्ध होता है। १६वीं शतीमें होनेवाले वादी विद्यानन्दस्वामीके गुरुभाई-विशालकीर्तिके सधर्मा-अमरकीर्त्तिमुनि भट्टारकाग्रणीका उल्लेख जरूर आता है[1]। हो सकता है वादी विद्यानन्दको इन्हीं गुरु-भाई अमरकीर्त्तिका शिष्य बतलाकर उन्हें ही श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्रका प्रतिलेखकोंने भ्रान्तिसे कर्त्ता लिख दिया हो। नामसाम्यकी हालतमें ऐसी भ्रान्ति होना कोई अस-म्भव नहीं है। अतः उक्त पुष्पिकावाक्य अभ्रान्त प्रतीत नहीं होता। इसके अलावा विद्यानन्दके अन्य तर्कग्रन्थोंकी तरह इसमें वही वाक्यविन्यास और प्रतिपादनशैली पाई जाती है। सूक्ष्मता और गहराई भी इसमें वैसी ही निहित है। अतएव यह ग्रन्थ भी ग्रन्थकारकी ही रचना होनी चाहिए।

इस तरह यह ग्रन्थकारके ९ ग्रन्थोंका संक्षिप्त परिचय है। पहले पात्रकेसरी स्तोत्र (जिनेन्द्रगुणस्तुति), प्रमाणमीमांसा, प्रमाणनिर्णय और बुद्धेशभवनव्याख्यान ये चार कृतियाँ भी इन्हींकी समझी जाती थीं[2]। परन्तु अब इन ग्रन्थोंके प्रकाशमें आने-पर यह सुस्पष्ट हो गया है कि उक्त चारों कृतियाँ ग्रन्थकार आचार्य विद्यानन्दकी नहीं हैं—पात्रकेसरीस्तोत्र आ० पात्रकेसरी अथवा पात्रस्वामीकी, जो ग्रन्थकार विद्यानन्दसे

माहात्म्य रहा है और इसीसे विद्यानन्द जैसे तार्किक वहां उनकी वन्दनार्थ गये और उनका यह महत्वपूर्ण स्तवन रचा।

१ 'विशालकीर्त्तेः श्रीविद्यानन्दस्वामीति शब्दतः। अभवत्तनयः साधुर्मल्लिरायनृपार्चितः॥

× × × ×

जीयादमरकीर्त्याख्यभट्टारकशिरोमणिः। विशालकीर्तियोगीन्द्रसधर्मा शास्त्रकोविदः॥

—वर्धमान मुनीन्द्रकृत दशभक्त्यादि महाशा०, प्रश० सं० पृष्ठ १२५-१२६।

२ देखो, जैनहितैषी भाग ९, अंक ९ में प्रकाशित प्रेमीजीका 'स्याद्वादविद्यापति विद्या-नन्द' शीर्षक लेख तथा उन्हींकी 'युक्त्यनुशासन' (सटीक) की भूमिका (पृ० ५) और पं० गजा-धरलालजी द्वारा सम्पादित 'आप्त-परीक्षा' की प्रस्तावना (पृ० ८) आदि ग्रन्थ।

भिन्न और पूर्ववर्ती आचार्य हैं, रचना है, प्रमाणमीमांसा आ० हेमचन्द्रकी, प्रमाणनिर्णय आ० वादिराजकी और बुद्धेशभवनव्याख्यान वादी विद्यानन्द (१६वीं शती) की रचनाएँ हैं और ये तीनों विद्वान् आप्तपरीक्षाकार आ० विद्यानन्दसे उत्तरवर्त्ती हैं। अतः प्रामाणिक उल्लेखों आदिसे उक्त ९ निबन्ध ही ग्रन्थकारकी रचनाएँ ज्ञात होती हैं।

(छ) आ० विद्यानन्दका समय

आचार्य विद्यानन्दने अपने किसी भी ग्रन्थमें अपना समय नहीं दिया। अतः उनके समयपर प्रमाणपूर्वक विचार किया जाता है। न्यायसूत्रपर लिखे गये वात्स्या-यनके[1] न्यायभाष्य और न्यायसूत्र तथा न्यायभाष्यपर रचे गये उद्योतकरके न्यायवा-र्त्तिक, इन तीनोंका तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक (पृष्ठ २०५, २०६, २८३, ३०९) आदिमें नामो-ल्लेखपूर्वक और बिना नामोल्लेखके भी सुविस्तृत समालोचन किया है। उद्योतकरका समय ६०० ई० माना जाता है। अतः विद्यानन्द ई० सन् ६०० के पूर्ववर्ती नहीं हैं।

२. तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक (पृ० १००, ४२७) और अष्टसहस्री (पृ० २८४) आदि ग्रन्थोंमें विद्यानन्दने प्रसिद्ध वैयाकरण एवं शब्दाद्वैतप्रतिष्ठाता भर्तृहरिका नाम लेकर और बिना नाम लिये उनके 'वाक्यपदीय' ग्रन्थकी अनेक कारिकाओंको उद्धृत करके खण्डन किया है। भर्तृहरिका अस्तित्वसमय ई० सन् ६०० से ई० ६५० तक सुनिर्णीत है[2]। अतः विद्यानन्द ई० सन् ६५० के पूर्वकालीन नहीं हैं।

३. जैमिनि, शवर, कुमारिलभट्ट और प्रभाकर इन मीमांसक विद्वानोंके सिद्धान्तोंका विद्यानन्दने नामोल्लेख और बिना नामोल्लेखके अपने प्रायः सभी ग्रन्थोंमें निरसन किया है। कुमारिल भट्ट और प्रभाकरका समय ईसाकी सातवीं शताब्दी (ई० ६२५ से ६८०) है। अतः विद्यानन्द ई० सन् ६८० के पश्चाद्वर्ती हैं।

४. कणादके वैशेषिकसूत्र, और वैशेषिकसूत्रपर लिखे गये प्रशस्तपादके[3] प्रशस्त-पादभाष्य तथा प्रशस्तपादभाष्यपर भी रची गई व्योमशिवाचार्यकी व्योमवती टीकाका ग्रन्थकारने प्रस्तुत आप्तपरीक्षा[2] आदिमें आलोचन किया है। व्योमशिवाचार्यका समय ई० सन्‌की सातवीं शताब्दीका उत्तरार्ध (ई० ६५० से ७०० तक) बतलाया जाता है[3]। अतः विद्यानन्द ई० सन् ७०० के पूर्ववर्ती नहीं हैं।

५. धर्मकीर्त्ति और उनके अनुगामी प्रज्ञाकर तथा धर्मोत्तरका अष्टसहस्री (पृ० ८१

---

१ इनका समय प्रायः ईसाकी तीसरी, चौथी शताब्दी माना जाता है।

२ चीनी यात्री इत्सिंगने अपनी भारतयात्राका विवरण ई० सन् ६९१-९२ में लिखा है और उसमें उसने यह समुल्लेख किया है कि 'भर्तृहरिकी मृत्यु हुए ४० वर्ष हो गये'। अतः भर्तृ-हरिका समय ई० सन् ६५० तक निश्चित है। देखो, अकलङ्कग्र० की प्रस्तावना।

३ ये ईसाकी चौथी शतीके विद्वान् माने जाते हैं। २, पृ० २४, २५ में व्योमवती पृ० १४९ के 'द्रव्यत्वोपलक्षित समवायको द्रव्यलक्षण' माननेके विचारका खंडन किया गया है। तथा इसी ग्रन्थ-के पृ० १०६, १०७ पर व्योमवती पृ० १०७ से समवायलक्षणका समस्त पदकृत्य दिया गया है।
३ प्रमेयक० मा० प्रस्ता० पृ० १३।

१२२, २७८), प्रमाणपरीक्षा (पृ० ५३) आदिमें नामोल्लेखपूर्वक खण्डन किया गया है। धर्मकीर्तिका ई० ६२५, प्रज्ञाकरका ई० ७०० और धर्मोत्तरका ई० ७२५ अस्तित्वकाल माना जाता है[1]। अतः आ० विद्यानन्द ई० सन् ७२५ के पश्चात्कालीन हैं।

६. अष्टसहस्री (पृ० १८) में मण्डनमिश्रका नामोल्लेखपूर्वक आलोचन किया गया है और श्लोकवार्त्तिक (पृ० ६४) में मण्डनमिश्रके 'ब्रह्मसिद्धि' ग्रन्थके 'आहुर्विधातृ प्रत्यक्ष' पद्यवाक्यको उद्धृत करके कदर्थन किया गया है। शङ्कराचार्यके प्रधान शिष्य सुरेश्वरके बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्त्तिक (३-५) से 'यथा विशुद्धमाकाशं' 'तथेदममलं ब्रह्म' ये दो (४३, ४४वें) पद्य अष्टसहस्री (पृ० ६३) में बिना नामोल्लेखके और अष्टसहस्री (पृ० १६१) में 'यदुक्तं बृहदारण्यकवार्त्तिके' शब्दोंके उल्लेखपूर्वक उक्त वार्त्तिकग्रन्थसे ही 'आत्माऽपि सदिदं ब्रह्म', 'आत्मा ब्रह्मेति पारोक्ष्य-' ये दो पद्य उद्धृत किये गये हैं। मण्डनमिश्रका[2] ई० ६७० से ७२० और सुरेश्वरमिश्रका[3] ई० ७८८ से ८२० समय समझा जाता है। अतः आ० विद्यानन्द इनके पूर्ववर्ती नहीं हैं—सुरेश्वरमिश्रके प्रायः समकालीन हैं, जैसा कि आगे सिद्ध किया जावेगा। विद्यानन्दके ग्रन्थोंमें सुरेश्वरमिश्र (ई० ७८८–८२०) के उत्तरवर्ती किसी भी ग्रन्थकारका खण्डन न होनेसे सुरेश्वरमिश्रका समय विद्यानन्द की पूर्वावधि समझना चाहिए।

अब हम आ० विद्यानन्दकी उत्तरावधिपर विचार करते हैं:—

१. वादिराजसूरिने अपने पार्श्वनाथचरित (श्लोक २८) और न्यायविनिश्चय-विवरण[4] (प्रशस्ति श्लोक २) में आ० विद्यानन्दकी स्तुति की है। वादिराजसूरिका समय ई० सन् १०२५ सुनिश्चित है। अतः विद्यानन्द ई० सन् १०२५ के पूर्ववर्ती हैं—पश्चाद्वर्ती नहीं।

२. प्रशस्तपादभाष्यपर क्रमशः चार प्रसिद्ध टीकाएँ लिखी गई हैं—पहली व्योमशिवकी व्योमवती, दूसरी श्रीधरकी न्यायकन्दली, तीसरी उदयनकी किरणावली और चौथी श्रीवत्साचार्यकी न्यायलीलावती। आ० विद्यानन्दने इन चार टीकाओंमें पहली व्योमशिवकी व्योमवती टीकाका तो निरसन किया है, परन्तु अन्तिम तीन टीकाओंका उन्होंने निरसन नहीं किया। श्रीधरने अपनी न्यायकन्दली टीका शकसं० ९१३, ई० सन् ९९१ में बनाई है[5]। अतः श्रीधरका समय ई० सन् ९९१ है और उदयनने अपनी लक्षणावली शकसं० ९०६ ई० सन् ९८४ में समाप्त की है[6]। इसलिये उदयनका समय ई० सन् ९८४ है अतएव विद्यानन्द ई० सन् ९८४ के बादके नहीं हैं।

---

१ देखो, वादन्यायका परिशिष्ट नं० १। २ देखो, बृहती द्वितीयभागकी प्रस्ता०। ३ गोपीनाथ-कविराज-'अच्युत' वर्ष ३, अङ्क ४ पृ० २५–२६। ४ न्यायविनिश्चयविवरणके मध्यमें भी वादिराजसूरिने विद्यानन्दका स्मरण किया है, देखो इसी प्रस्तावनाके पृ० ३४ का फुटनोट।

५ 'अधिकदशोत्तरनवशतशाकाब्दे न्यायकन्दली रचिता श्रीपाण्डुदासयाचित-भट्ट-श्रीश्रीधरेणेयम् ॥'—न्यायकन्द०।

६ देखो, न्यायदीपिका प्रस्ता० पृ० ६६।

३. उद्योतकर (ई० ६००) के न्यायवार्त्तिकपर वाचस्पति मिश्र (ई० ८४१) ने तात्पर्यटीका लिखी है। विद्यानन्दने तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक (पृ० २०६, २८३, २८४ आदि) में न्यायभाष्यकार और न्यायवार्त्तिककारका तो दशों जगह नामोल्लेख करके खण्डन किया है, परन्तु तात्पर्यटीकाकारके किसी भी पदवाक्यादिका कहीं भी खण्डन नहीं किया। हाँ, एक जगह (तत्त्वार्थश्लोक० पृ० २०६ में) 'न्यायवार्त्तिकटीकाकार' के नामसे उनके व्याख्यानका प्रत्याख्यान हो जानेका उल्लेख जरूर मिलता है और जिसपरसे मुझे यह भ्रान्ति[1] हुई थी कि विद्यानन्दने वाचस्पति मिश्रकी तात्पर्यटीकाका भी खण्डन किया है। परन्तु उक्त उल्लेखपर जब मैंने गहराई और सूक्ष्मतासे एक-से-अधिक बार विचार किया और ग्रन्थोंके सन्दर्भोंका बारीकीसे मिलान किया तो मुझे वह उल्लेख अभ्रान्त प्रतीत नहीं हुआ। वह उल्लेख निम्न प्रकार है:—

'तदनेन न्यायवार्त्तिकटीकाकारव्याख्यानमनुमानसूत्रस्य त्रिसूत्रीकरणेन प्रत्याख्यातं प्रतिपत्तव्यमिति, लिङ्गलक्षणानामन्वयित्वादीनां त्रयेण पक्षधर्मत्वादीनामिव न प्रयोजनम्।'

इस उल्लेखमें 'टीका' शब्द अधिक है और वह लेखककी भूलसे ज्यादा लिखा गया जान पड़ता है—ग्रन्थकारका स्वयंका दिया हुआ वह प्रतीत नहीं होता। क्योंकि यदि ग्रन्थकारको 'टीका' शब्दके प्रदानसे वाचस्पतिमिश्रकी तात्पर्यटीका विवक्षित हो तो उनका आगेका हेतुरूप कथन सङ्गत नहीं बैठता। कारण, अन्वयी, व्यतिरेकी और अन्वयव्यतिरेकी इन तीन हेतुओंका कथन पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्व और विपक्षाद्व्यावृत्ति इन तीन हेतुओंके कथनकी तरह न्यायवार्त्तिककार उद्योतकरका अपना मत है—उद्योतकरने ही 'पूर्वच्छेषवत्' आदि अनुमानसूत्रका त्रिसूत्रीकरणरूपसे व्याख्यान किया है अर्थात् उन्होंने उक्त अनुमानसूत्रके तीन व्याख्यान प्रदर्शित किये हैं[2], तात्पर्यटीकाकार वाचस्पति मिश्रने नहीं, बल्कि वाचस्पति मिश्र स्वयं उन व्याख्यानोंको उद्योतकरका मत बतलाते हैं[3]। विद्यानन्दने दो-एक जगह[4] और भी 'पूर्ववत्' आदि अनुमानसूत्रके त्रिसूत्रीकरणरूप व्याख्यानका उल्लेख किया है और उसका समालोचन

---

१ 'विद्यानन्दका समय' अनेकान्त वर्ष ६, किरण ६–७।

२ यथा—(क) 'त्रिविधमिति। अन्वयी व्यतिरेकी अन्वयव्यतिरेकी च। तत्रान्वयव्यतिरेकी विवक्षिततज्जातीयोपपत्तौ विपक्षावृत्तिः, यथा अनित्यः शब्दः सामान्यविशेषवत्वे सत्यस्मदादिबाह्यकरणप्रत्यक्षत्वात्, घटवदिति।'''''''।' –पृष्ठ ४६।

(ख) 'अथवा त्रिविधमिति। लिङ्गस्य प्रसिद्ध-सदसन्दिग्धतामाह। प्रसिद्धमिति पक्षे व्यापकम्, सदिति सजातीयेऽस्ति, असन्दिग्धमिति सजातीयाविनाभावि।'–पृष्ठ ४९।

(ग) 'अथवा त्रिविधमिति नियमार्थम्, अनेकधा भिन्नस्यानुमानस्य त्रित्वेन पूर्ववदादिना संग्रह इति नियमं दर्शयति।'—पृष्ठ ४९।

३ यथा–'तदेवं स्वयमतेन सूत्रं व्याख्याय भाष्यकृन्मतेन व्याचष्टे।' –पृष्ठ १७४, 'स्वमतेन व्याख्यान्तरमाह अथवा''''।' पृष्ठ १७८, 'त्रिविधपदस्य तात्पर्यान्तरमाह अथवेति।' —पृष्ठ १७९।

४ तत्त्वार्थश्लो० पृष्ठ २०५, प्रमाणपरी० पृष्ठ ७५।

किया है। उसपरसे भी विद्यानन्दको न्यायवार्त्तिककारका ही मत-निरसन-अभिप्रेत मालूम होता है। अतः उक्त उल्लेखमें ग्रन्थकारके द्वारा दिया गया 'टीका' शब्द नहीं होना चाहिये—प्रतिलेखकके द्वारा ही वह भ्रान्तिसे अधिक लिखा गया जान पड़ता है। प्रतिलेखक न्यूनाधिक लिख जाना जैसी भूलें बहुधा कर जाते हैं।

अथवा ग्रन्थकारका भी यदि दिया हुआ 'टीका' शब्द हो तो उससे उन्हें तात्पर्य-टीका विवक्षित रही हो, सो बात नहीं मालूम होती; क्योंकि उनके उत्तरग्रन्थका सम्बन्ध न्यायवार्त्तिकसे ही है—तात्पर्यटीकासे नहीं। अतः 'न्यायवार्त्तिकटीका' शब्दका 'न्यायवार्त्तिककी टीका' ऐसा अर्थ न करके 'न्यायवार्त्तिकरूप टीका' ऐसा अर्थ करना चाहिए, क्योंकि न्यायवार्त्तिक भी न्यायसूत्र और न्यायभाष्यकी टीका (व्याख्या) है। इस तरह कोई असङ्गति अथवा असम्बद्धता नहीं रहती। अतएव विद्यानन्दके ग्रन्थोंमें वाचस्पति मिश्रका खण्डन न होनेसे वे उनके पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं। वाचस्पति मिश्रका समय ई० सन् ८४१ निश्चित है। अतः विद्यानन्दकी उत्तरावधि ई० सन् ८४० होना चाहिए। वाचस्पति मिश्रके समकालीन न्यायमंजरीकार जयन्तभट्ट भी हुए हैं। उनका भी विद्यानन्दके ग्रन्थोंमें कोई समालोचन उपलब्ध नहीं होता। यदि विद्यानन्द उनके उत्तरकालीन होते तो वे न्यायदर्शनके इन (वाचस्पतिमिश्र और जयन्तभट्ट जैसे प्रमुख) विद्वानोंका भी प्रभाचन्द्रकी तरह आलोचन करते।

इस तरह पूर्ववर्ती ग्रन्थकारोंके समालोचन और उत्तरवर्ती ग्रन्थकर्ताओंके असमालोचनके आधारसे विद्यानन्दका समय ई० सन् ७७५ से ई० सन् ८४० निर्धारित होता है।

इस समयकी पुष्टि दूसरे अन्य प्रमाणोंसे भी होती है और जो इस प्रकार हैं:—

१. सुप्रसिद्ध तार्किक भट्टाकलङ्कदेवकी अष्टशतीपर विद्यानन्दने अष्टसहस्री टीका लिखी है। यद्यपि यह टीका आप्तमीमांसापर रची गई है तथापि विद्यानन्दने अष्टसहस्री में अकलङ्कदेवकी अष्टशतीको आत्मसात् करके उसके प्रत्येक पदवाक्यादिका व्याख्यान किया है। अकलङ्कदेवके ग्रन्थवाक्योंका व्याख्यान करनेवाले सर्व प्रथम व्यक्ति आ० विद्यानन्द हैं। विद्यानन्दकी अकलङ्कदेवके प्रति अगाध श्रद्धा थी और वे उन्हें अपना आदर्श मानते थे। इसपरसे डा० सतीशचन्द्र विद्याभूषण, म. म. गोपीनाथ कविराज जैसे कुछ विद्वानोंको यह भ्रम हुआ है[1] कि अकलङ्कदेव अष्टसहस्रीकारके गुरु थे। परन्तु ऐतिहासिक अनुसन्धानसे प्रकट है कि अकलङ्कदेव अष्टसहस्रीकारके गुरु नहीं थे और न अष्टसहस्रीकारने उन्हें अपना गुरु बतलाया है। पर हाँ, इतना जरूर है कि वे अकलङ्कदेवके पद-चिह्नोंपर चले हैं और उनके द्वारा प्रदर्शित दिशापर जैनन्यायको उन्होंने सम्पुष्ट और समृद्ध किया है। अकलङ्कदेवका समय श्रीयुत पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने विभिन्न विप्रतिपत्तियोंके निरसनपूर्वक अनेक प्रमाणोंसे ई० सन् ६२० से ६८० निर्णीत किया है[2]। अतः विद्यानन्द ई० सन् ६८० के उत्तरवर्ती हैं, यह निश्चित है।

१ देखो, अच्युत (मासिक पत्र पृष्ठ २८) वर्ष ३, अङ्क ४।

२ देखो, न्यायकुमुद प्र० भा० प्रस्तावना।

२. अष्टसहस्रीकी अन्तिम प्रशस्तिमें विद्यानन्दने दो पद्य दिये हैं[1]। दूसरे पद्यमें उन्होंने अपनी अष्टसहस्रीको कुमारसेनकी उक्तियोंसे वर्धमानार्थ बतलाया है अर्थात् कुमारसेन नामके पूर्ववर्ती विद्वानाचार्यके सम्भवतः आप्तमीमांसापर लिखे गये किसी महत्त्वपूर्ण विवरणसे अष्टसहस्रीके अर्थको प्रवृद्ध किया प्रकट किया है। विद्यानन्दके इस उल्लेखसे स्पष्ट है कि वे कुमारसेनके उत्तरकालीन हैं। कुमारसेनका समय ई० सन् ७८३ के कुछ वर्ष पूर्व माना जाता है[2]। क्योंकि शकसं० ७०५, ई० सन् ७८३ में अपने हरिवंशपुराणको बनानेवाले पुन्नाटसंघी द्वितीय जिनसेनने इनका स्मरण किया है[3]। अतः विद्यानन्द ई० सन् ७५० (कुमारसेनके अनुमानित समय) के बाद हुए हैं।

३. चूंकि विद्यानन्दसे सुपरिचित कुमारसेनका हरिवंशपुराणकार (ई० ७८३) ने स्मरण किया है, किन्तु आ० विद्यानन्दका उन्होंने स्मरण नहीं किया, इससे प्रतीत होता है कि उस समय कुमारसेन तो यशस्वी वृद्ध ग्रन्थकार रहे होंगे और उनका यश सर्वत्र फैल रहा होगा[4]। परन्तु विद्यानन्द उस समय बाल होंगे तथा वे ग्रन्थकार नहीं बन सके होंगे। अतः इससे भी विद्यानन्दका उपर्युक्त निर्धारित समय—ई० सन् ७७५ से ई० सन् ८४०—प्रमाणित होता है।

४. आ० विद्यानन्दने तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकके अन्तमें प्रशस्तिरूपमें एक उल्लेखनीय निम्न पद्य दिया है:—

जीयात्सज्जनताऽऽश्रयः शिव-सुधा धारावधान-प्रभुः,
ध्वस्त-ध्वान्त-ततिः समुन्नतगतिस्तीव्र-प्रतापान्वितः।
प्रोर्जज्योतिरिवावगाहनकृतानन्तस्थितिर्मानतः,
सन्मार्गस्त्रितयात्मकोऽखिल-मल-प्रज्वालन-प्रत्तमः॥'

इस प्रशस्तिपद्यमें विद्यानन्दने 'शिव-मार्ग'—मोक्षमार्गका जयकार तो किया ही है किन्तु जान पड़ता है उन्होंने अपने समयके गङ्गनरेश शिवमार द्वितीयका भी जयकार एवं यशोगान किया है। शिवमार द्वितीय पश्चिमी गङ्गवंशी श्रीपुरुष नरेशका उत्तराधिकारी और उसका पुत्र था, जो ई० सन् ८१० के लगभग राज्याधिकारी हुआ था। इसने श्रवणबेलगोलकी छोटी पहाड़ीपर एक वसदि बनवाई थी, जिसका नाम 'शिवमारनवसदि' था। चन्द्रनाथस्वामीवसदिके निकट एक चट्टानपर कनडीमें मात्र इतना लेख अङ्कित

१ "श्रीमदकलङ्कशशधरकुलविद्यानन्दसम्भवा भूयात्।
गुरुमीमांसालङ्कृतिरष्टसहस्री सतामृद्ध्यै॥ १॥
कष्ट-सहस्री सिद्धा साऽष्टसहस्रीयमत्र मे पुष्यात्।
शश्वदभीष्ट-सहस्रीं कुमारसेनोक्तिवर्धमानार्था॥ २॥"

इन दो पद्योंके मध्यमें जो कनडी पद्य मुद्रित अष्टसहस्रीमें पाया जाता है वह अनावश्यक और असङ्गत प्रतीत होता है और इसलिये वह अष्टसहस्रीकारका पद्य मालूम नहीं होता।—सम्पा०।

२ न्यायकुमुद प्र० प्र० पृष्ठ ११३।

३ 'आकूपारं यशो लोके प्रभाचन्द्रोदयोज्ज्वलम्। गुरोः कुमारसेनस्य विचरत्यजितात्मकम्॥'
—हरिवंश १-३८।

४ 'गुरोः कुमारसेनस्य यशो अजितात्मकं विचरति' शब्दोंसे भी यही प्रतीत होता है।

है—"शिवमारनवसदि"[1]। इस अभिलेखका समय भाषा-लिपिविज्ञानकी दृष्टिसे लगभग ८१० ई० माना जाता है[2]। राइससा. का कथन है[3] कि इस नरेशने कुम्मडवाडमें भी एक वसदि निर्माण कराई थी। इससे ज्ञात होता है कि शिवमार द्वितीय अपने पिता श्रीपुरुषकी तरह ही जैनधर्मका उत्कट समर्थक एवं प्रभावक था। अतः अधिक सम्भव है कि विद्यानन्दने अपने श्लोकवार्त्तिककी रचना इसी शिवमार द्वितीय गंगनरेशके राज्यकालमें की होगी और इसलिये उन्होंने अपने समयके इस राजाका 'शिव-सुधा-धाराव-धान-प्रभुः' शब्दोंद्वारा उल्लेख किया है तथा 'सज्जनताऽऽश्रयः', 'तीव्रप्रतापान्वितः' आदि पदोंद्वारा उसके गुणोंका वर्णन किया है। उक्त पद्य अन्तिम प्रशस्तिरूप है, इस लिये उसमें ग्रन्थकारद्वारा अपना समय सूचित करनेके लिये तत्कालीन राजाका नाम देना उचित ही है। यद्यपि उक्त पद्यमें 'शिवमार' राजाका पूरा नाम नहीं है—केवल 'शिव' पदका ही प्रयोग है तथापि नामैकदेशग्रहणसे भी पूरे नामका ग्रहण कर लिया जाता है, जैसे पार्श्वसे पार्श्वनाथ, रामसे रामचन्द्र आदि। दूसरे, 'शिव' के आगे 'प्रभु' पद भी दिया हुआ है, जो राजाका भी प्रकारान्तरसे बोधक है। तीसरे, 'तीव्रप्रतापान्वितः' आदि पदप्रयोगोंसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि वहाँ ग्रन्थकारको अपने समयके राजाका उल्लेख करना अभीष्ट है और इसलिये 'शिवप्रभु', 'शिवमारप्रभु' एक ही बात है।

डॉ० सा. ने भी विद्यानन्दका समय ई०सन् ८१० बतलाया है[4]। सम्भव है उन्होंने श्लोकवार्त्तिकके इस प्रशस्तिपद्यपरसे, जिसमें शिवमारका उल्लेख सम्भाव्य है, विद्यानन्दका उक्त समय बतलाया हो। क्योंकि गंगवंशी शिवमारनरेशका समय ई० ८१० के लगभग माना जाता है जैसा कि पहले कहा जा चुका है।

इस शिमारका भतीजा और विजयादित्यका लड़का राचमल्ल सत्यवाक्य प्रथम[5] शिवमारके राज्यका उत्तराधिकारी हुआ था तथा ई० सन् ८१६ के आसपास राजगद्दीपर बैठा था। विद्यानन्दने अपने उत्तर ग्रन्थोंमें 'सत्यवाक्य' के नामसे इसका भी उल्लेख किया प्रतीत होता है। यथा—

(क) स्थेयाज्जातजयध्वजाप्रतिनिधिः प्रोद्भूतभूरिप्रभुः,
प्रध्वस्ताखिल-दुर्नय-द्विषदिभिः सन्नीति-सामर्थ्यतः।
सन्मार्गस्त्रिविधः कुमार्गमथनोऽर्हन् वीरनाथः श्रिये,
शश्वत्संस्तुतिगोचरोऽनघधियां श्रीसत्यवाक्याधिपः ॥१॥

× × × ×

(ख) प्रोक्तं युक्त्यनुशासनं विजयिभिः स्याद्वादमार्गानुगै-

१ देखो, शि० नं० २५६ (४१५)। २ मेडिवल जैनिज्म पृष्ठ २४, २५। ३ देखो, मैसूर और कुर्ग पृष्ठ ४१। ४ देखो, जैन सि० भा० वर्ष ३, किरण ३ गत बा० कामताप्रसादजीका लेख।

५ गंगवंशमें होनेवाले कुछ राजाओंकी 'सत्यवाक्य' उपाधि थी। इस उपाधिको धारण करने वाले चार राजा हुए हैं—प्रथम सत्यवाक्य ई० सन् ८१५ के बाद, द्वितीय सत्यवाक्य ई० सन् ८७० से ९०७, तृतीय सत्यवाक्य ई० ९२० और चौथे सत्यवाक्य ई० ९७७। यह मुझे बा० ज्योतिप्रसादजी एम. ए. एल-एल. बी. ने बतलाया है जिसके लिये मैं उनका आभारी हूँ।

विद्यानन्दबुधैरलङ्कृतमिदं श्रीसत्यवाक्याधिपैः ॥ २ ॥
—युक्त्यनुशासनालङ्कार-प्रशस्ति।

(ग) जयन्ति निर्जिताशेषसर्वथैकान्तनीतयः। सत्यवाक्याधिपाः शश्वद्विद्यानन्दा जिनेश्वराः॥
—प्रमाणपरीक्षा मङ्गलपद्य।

(घ) विद्यानन्दैः स्वशक्त्या कथमपि कथितं सत्यवाक्यार्थसिद्ध्यै।—आप्तपरी० श्लो० १२३।

विद्यानन्दके प्रमाणपरीक्षा और युक्त्यनुशासनालङ्कारके प्रशस्ति-उल्लेखोंपरसे बा० कामताप्रसादजी भी यही लिखते हैं[1]। इससे मालूम होता है कि विद्यानन्द गङ्ग-नरेश शिवमार द्वितीय (ई० ८१०) और राचमल्ल सत्यवाक्य प्रथम (ई० ८१६) के समका-लीन हैं। और उन्होंने अपनी कृतियाँ प्रायः इन्हींके राज्य-समयमें बनाई हैं। विद्यानन्द-महोदय और तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक तो शिवमार द्वितीयके और आप्तपरीक्षा, प्रमाण-परीक्षा तथा युक्त्यनुशासनालङ्कृति ये तीन कृतियाँ राचमल्ल सत्यवाक्य प्रथम (ई० ८१६–८३०) के राज्य-कालमें बनी जान पड़ती हैं। अष्टसहस्री, जो श्लोकवार्त्तिकके बादकी और आप्तपरीक्षा आदिके पूर्वकी रचना है, करीब ई० ८१०–८१५ में रची गई प्रतीत होती है। तथा पत्रपरीक्षा, श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र और सत्यशासनपरीक्षा ये तीन रच-नाएँ ई० सन् ८३०–८४० में रची ज्ञात होती हैं। इससे भी आ० विद्यानन्दका समय पूर्वोक्त ई० सन् ७७५ से ई० सन् ८४० प्रमाणित होता है।

यहाँ एक खास बात और ध्यान देने योग्य है। वह यह कि शिवमारके पूर्वाधिकारी पश्चिमी गङ्गवंशी राजा श्रीपुरुषका शकसं० ६६८, ई० सन् ७७६ का लिखा हुआ एक दानपत्र मिला है जिसमें उसके द्वारा श्रीपुरके जैन मन्दिरके लिये दान दिये जानेका उल्लेख है[2]। यह श्रीपुरका जैनमन्दिर सम्भवतः वही प्रसिद्ध जैनमन्दिर है जहाँ भगवान पार्श्वनाथकी अतिशयपूर्ण प्रतिमा अधर रहती थी और जिसे लक्ष्य करके ही विद्यानन्दने श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र रचा था। श्रीपुरुषका राज्य-समय ई० सन् ७२६ से ई० सन् ७७६ तक बतलाया जाता है[3]। विद्यानन्दने अपनी रचनाओंमें श्रीपुरुष राजा (शिवमारके पिता एवं पूर्वाधिकारी) का उत्तरवर्ती राजाओं (शिवमार द्वि०, उसके उत्तराधिकारी राचमल्ल सत्यवाक्य प्रथम और इसके पिता विजयादित्य) की तरह कोई उल्लेख नहीं किया। इससे यह महत्वपूर्ण बात प्रकट होती है कि श्रीपुरुषके राज्य-काल (ई० सन् ७२६-ई० ७७६) में विद्यानन्द ग्रन्थकार नहीं बन सके होंगे और यदि यह भी कहा जाय कि वे उस समय कुमारावस्थाको भी प्राप्त नहीं हो सके होंगे तो कोई आश्चर्य नहीं है। अतः इन सब प्रमाणोंसे आचार्य विद्यानन्दका समय ई० सन् ७७५ से ई० सन् ८४० निर्णीत होता है।

यहाँ यह शंका की जा सकती है कि जिस प्रकार हरिवंशपुराणकार जिनसेन द्वितीय (ई० ७८३) ने अपने समकालीन वीरसेनस्वामी (ई० ८१६) और जिनसेन स्वामी

१ जैन सिद्धान्तभास्कर भाग ३, किरण ३। २ देखो Guerinot no. 121. अथवा, जैन सि० भा० ४ किरण ३, पृष्ठ १५८ का ८ नं० का उद्धरण। ३ देखो, श्री ज्योतिप्रसाद जैन एम० ए० का लेख Gain Anti Quary. VoL.XII. N. 1. जुलाई १९४६।

प्रथम (ई० ८३७) का स्मरण किया है उसी प्रकार इन आचार्योंने अपने समकालीन आचार्य विद्यानन्द (ई० ७७५–८४०) का स्मरण अथवा उनके ग्रन्थवाक्योंका उल्लेख क्यों नहीं किया ? इसका उत्तर यह है इन आचार्योंकी वृद्धावस्थाके समय ही आ० विद्यानन्दका ग्रन्थ-रचनाकार्य प्रारम्भ हुआ जान पड़ता है और इसलिये विद्यानन्द उनके-द्वारा स्मृत नहीं हुए और न उनके ग्रन्थवाक्योंके उन्होंने उल्लेख किये हैं। इसके अतिरिक्त एक-दूसरेकी कार्यप्रवृत्तिसे अपरिचित होना अथवा ग्रन्थकाररूपसे प्रसिद्ध न हो पाना भी अनुल्लेखमें कारण सम्भव है। अस्तु।

(ज) आ० विद्यानन्दका कार्यक्षेत्र

ऊपर यह कहा जा चुका है कि विद्यानन्दने अपनी ग्रन्थ-रचना गङ्गनरेश शिवमार द्वितीय और राचमल्ल सत्यवाक्य प्रथमके राज्य-समयमें की है। अतः आ० विद्यानन्दका कार्यक्षेत्र मुख्यतः गङ्गवंशका गङ्गवाडि प्रदेश रहा मालूम होता है। गङ्गराजाओंका राज्य मैसूर प्रान्तमें था। वर्तमान मैसूरका बहुभाग उनके राज्यके अन्तर्गत था और जिसे ही गङ्गवाडि कहा जाता था। कहते हैं कि 'मैसूरमें जो आजकल गङ्गडिकार (गङ्गवाडिकार) नामक किसानोंकी भारी जनसंख्या है वे गङ्गनरेशोंकी प्रजाके ही वंशज हैं[1]।' और इसलिये यह प्रदेश उस समय 'गङ्गवाडि'के नामसे प्रसिद्ध था। गङ्गराजाओंका राज्य लगभग ईसाकी चौथी शताब्दीसे ग्यारहवीं शताब्दी तक रहा है। आठवीं शताब्दीमें श्रीपुरुषके राज्यकालमें गङ्गराज्य अपनी चरम उन्नतिको प्राप्त था। शिलालेखों और दानपत्रोंसे ज्ञात होता है कि इस राज्यके साथ जैनधर्मका घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। जैनाचार्य सिंहनन्दिने इस राज्यकी स्थापनामें भारी सहायता की थी। पूज्यपाद देवनन्दि आचार्य इसी गङ्गराज्यके राजा दुर्विनीत (लगभग ई० ५००) के राजगुरु थे। आश्चर्य नहीं, ऐसे जैनशासन और जैनाचार्य भक्त राज्यमें विद्यानन्दने अकेकों बार विहार किया हो और निर्विघ्नताके साथ वहाँ रहकर अपने विशाल ग्रन्थोंका प्रणयन किया हो। अतः आ० विद्यानन्दका कार्यक्षेत्र गङ्गवाडि प्रदेश (आधुनिक मैसूरका बहुभाग) समझना चाहिए।

उपसंहार

ऊपरकी पंक्तियोंमें हमने ग्रन्थ और ग्रन्थकारके सम्बन्धमें ऐतिहासिक दृष्टिसे कुछ प्रकाश डालनेका प्रयत्न किया है। इतिहास एक ऐसा विषय है जिसमें नवीन अनुसन्धान और चिन्तनकी आवश्यकता बनी रहती है। आशा है विद्वज्जन इसी दृष्टिसे इस प्रस्तावनाको पढ़ेंगे। इति शम्।

वीरसेवामन्दिर, सरसावा
आषाढ़ी कृष्णद्वितीया, वि० सं० २००४,
५ जून, १९४७

—दरबारीलाल जैन, कोठिया

1 डा० हीरालाल एम. ए. द्वारा सम्पादित--जैनशिलालेखसं० प्र० पृ० ७१।

शुद्धि-पत्र

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
भ्रिमोक्षो	विप्रमोक्षो	२	८
पयर्याय	पर्याय	२१	१०
होनेपर भी	होनेपर भी कभी	४४	२०
व्यकिरेक	व्यतिरेक	४५	१८
नैसी	जैसे	४५	२५
अभिन्नभूत	भिन्नभूत	४६	१५
अपेक्षारूप	अपेक्षमाणतारूप	५६	१२
तश्चित्	कश्चित्	६२	८
यीर्थकृत्त्व	तीर्थकृत्त्व	६३	११
परिग्रहाजा-	परिग्रहाज्ञा-	८९	८
	(१०० प्रतियोंमें)		

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
तविरोधवत्	तदविरोधवत्	९२	२
कार्यकारण	कार्यकरण	९२	५
व्यतिरेकप्रसि-	व्यतिरेकाप्रसि-	९२	६
	(१०० प्रतियोंमें)		
आराध	आधारा	१०८	७
परणत	परिणत	१५३	१५
सदेहो वा	सदेहो निर्देहो वा	१५५	८
भूतार्थत्वाद-	भूतार्थत्वाभावाद-	१८१	२
सर्वज्ञभावं	सर्वज्ञाभावं	२२८	३
सिद्ध	सिद्धि	२३८	१९
काययोग	मनोयोग	२४३	२३
अविभावी	अविनाभावी	२५७	२४

सूचना—१. पृष्ठ २ के 'परमेष्ठी' पदका फुटनोट पृष्ठ १ पंक्ति २१ पर छप गया उसे पृ० २ के फुटनोटमें बना लेना चाहिए।

२. पृष्ठ ११९ पंक्ति २७ के आगे कारिका ४१ का अर्थ छपनेसे छूट गया है जो इस प्रकार है और उसे अपनी प्रतियोंमें बना लेना चाहिए—

'पृथक् प्रत्ययमें जो कारण है वह युतसिद्धि है, यह युतसिद्धिका लक्षण कहनेपर विभुद्रव्यों और गुणादिकोंमें युतसिद्धि प्राप्त होती है।'

निक्षिप्त-पाठ

पाठ	पृष्ठ
[कर्मणोऽपि]	११७
[सर्वविन्नष्टमोहत्वाभावात् । सर्वविन्नष्टमोहश्चासौ नास्ति]	१५५
[ज्ञानं]	१८९
[धात्वार्थलक्षणा क्रिया]	१८९
[र्थे]	२३३
[सामान्यरूपस्य च]	२५७
[अस्माभिः]	२६२

सङ्केत-सूची

अकलंकग्र०	अकलंकग्रन्थत्रय	(सिंघी ग्रन्थमाला, कलकत्ता)
अध्या० टी० लि०	अध्यात्मतरंगिणी टीका लिखित	(कर्त्ता-गणधरकीर्ति)
आप्तप० टी० प्रश०	आप्तपरीक्षालंकृति टीका प्रशस्ति	(प्रस्तुत ग्रन्थ)
अष्टस०	अष्टसहस्री	(निर्णयसागर, बम्बई)
ई० स०	ईस्वी सन्	× × ×
का०	कारिका	× × ×

जैनतर्कवा०	जैनतर्कवार्त्तिक	× × ×
जैन सि० भा०	जैन सिद्धान्तभास्कर	(षाण्मासिक पत्र, जैन सिद्धान्त-भवन आरा)
ज्ञान बि० प्रस्ता०	ज्ञानबिन्दु प्रस्तावना	(सिंघी ग्रन्थमाला, कलकत्ता)
तत्त्वार्थवा०	तत्त्वार्थवार्त्तिक	(जैनसिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता)
तत्त्वार्थश्लो०	तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक	(निर्णयसागर, बम्बई)
तत्त्वार्थसू०	तत्त्वार्थसूत्र	(प्रथमगुच्छक, काशी)
द्वि०	द्वितीय	
न्यायकुमु०	न्यायकुमुदचन्द्र	(माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई)
न्यायदी०	न्यायदीपिका	(वीरसेवामन्दिर, सरसावा)
न्यायवि० वि०	न्यायविनिश्चयविवरण	(लिखित प्रति, वीरसेवामन्दिर)
न्यायाव०	न्यायावतार	(श्वेताम्बर जैन कान्फ्रेन्स, बम्बई)
प०	पत्र	
परीक्षामु०	परीक्षामुख	(पं० घनश्यामदासजी)
पृ०	पृष्ठ	
प्र० भा०	प्रथम भाग	
प्रमाणप०	प्रमाणपरीक्षा	(जैनसिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता)
प्रमेयक०	प्रमेयकमलमार्त्तण्ड	(पं० महेन्द्रकुमारजी, काशी द्वारा सम्पादित)
प्रश० सं०	प्रशस्तिसंग्रह	(जैन सिद्धान्त-भवन, आरा)
प्रस्ता०	प्रस्तावना	
भा०	भाग	
युक्त्यनुशा०	युक्त्यनुशासनालङ्कार	(माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई)
रत्नक० श्राव०	रत्नकरण्डश्रावकाचार	(प्रथमगुच्छक, काशी)
लि०	लिखित	
वि० सं०	विक्रम संवत्	
शकसं०	शकसंवत्	
शि० नं०	शिलालेख नंबर	
शिलालेखसं०	शिलालेखसंग्रह	(माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई)
श्लो०	श्लोक	
सम्मति० टी०	सन्मतिसूत्र टीका	
सम्पा०	सम्पादक	
सिद्धवि०	सिद्धिविनिश्चय	(लिखित वीरसेवामन्दिर, सरसावा)
सूत्रकृ०	सूत्रकृताङ्ग	
स्या० रत्ना०	स्याद्वादरत्नाकर	(आर्हत प्रभाकर, पूना)
स्या० रत्नाव०	स्याद्वादरत्नावतारिका	
हरि० पु०	हरिवंशपुराण	(माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई)

आप्त-परीक्षा

सानुवाद-स्वोपज्ञटीकायुता

आप्तपरीक्षा-स्वोपज्ञटीका (सानुवाद) की

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
१. परमेष्ठिगुणस्तोत्र	१
२. परमेष्टिगुणस्तोत्रका प्रयोजन	२
पर और अपर निःश्रेयसका स्वरूप	२
बन्धकी सिद्धि	३
बन्ध-कारणोंकी सिद्धि	४
बन्ध और बन्ध-कारणोंका अभाव	६
निर्जराकी सिद्धि	७
संसिद्धिके दो भेद	७
परमेष्ठिगत प्रसादका लक्षण	८
मङ्गलकी निरुक्ति और उसका अर्थ	६
शास्त्रारम्भमें परमेष्ठिगुणस्तोत्रकी आवश्यकता	११
सूत्रकारोक्त परमेष्ठिगुणस्तोत्र	१२
स्तोत्रगत विशेषणोंकी सार्थकता	१३
पराभिमत आप्तोंके निराकरणकी सार्थकता	१४
३. ईश्वर-परीक्षा	१५-१५५
ईश्वरके मोक्षमार्गोपदेशकी असम्भवता	१५
वैशेषिकाभिमत षट्पदार्थसमीक्षा	१६
द्रव्यलक्षणके योगसे एक द्रव्यपदार्थकी असिद्धि	१७
द्रव्यलक्षणत्वसे दो द्रव्यलक्षणोंमें एकताकी असिद्धि	१६
द्रव्यत्वके योगसे एक द्रव्यपदार्थकी असिद्धि	२०
गुणत्वादिके योगसे एक-एक गुणादिपदार्थोंकी असिद्धि	२०
इहेदं प्रत्ययसामान्यसे भी द्रव्यादि पदार्थोंकी असिद्धि	२१
संग्रहसे भी द्रव्यादिपदार्थोंकी असिद्धि	२२
द्रव्यत्वाभिसम्बन्धसे एक द्रव्यपदार्थ माननेका निरास	२४
गुणत्वादि-अभिसम्बन्धसे एक-एक गुणादि पदार्थ माननेका निरास	२५
पृथिवीत्वादि-अभिसम्बन्धसे एक-एक पृथिवी आदि द्रव्य माननेका निरास	२५
संग्रहके तीन भेद और उनकी आलोचना	२५
ईश्वरोपदेशकी असंभवताका उपसं०	२८
आप्तके कर्मभूभृद्भेत्तृत्वकी असिद्धिकी आशङ्का	२६
उक्त आशङ्काका निराकरण	२६
आप्तके कर्मभूभृद्भेत्तृत्वकी सिद्धि	३१
ईश्वरके जगत्कर्तृत्वकी सिद्धिमें वैशेषिकोंका पूर्वपक्ष	३२
ईश्वरके जगत्कर्तृत्वके खण्डनमें जैनोंका उत्तरपक्ष	४०
अनादि-सर्वज्ञ ईश्वर और उसके मोक्षमार्गप्रणयनकी असम्भवता	४६
कर्मके अभावमें ईश्वरके इच्छा और प्रयत्न शक्तिका अभाव	५२
केवल ज्ञानशक्तिसे ईश्वरसे कार्योत्पत्ति माननेमें उदाहरणका अभाव	६२
जैनोंके जिनेश्वरका उदाहरण देना असंगत	६३
ईश्वरावतारवादियोंकी आलोचना	६५

विषय	पृष्ठ
शङ्करकी आलोचना	६६
ईश्वरके ज्ञानको नित्य माननेमें दूषण	७१
ईश्वरज्ञान प्रमाणरूप है या फलरूप ?	
दोनों पक्षोंमें दोषप्रदर्शन	७५
ईश्वरज्ञानको अनित्य माननेमें भी दोष	७६
ईश्वरज्ञानको अव्यापक स्वीकार करनेमें दोष	७८
ईश्वरज्ञानको नित्य-व्यापक स्वीकार करनेमें दोष	६२
ईश्वरज्ञान अस्वसंवेदि है या स्वसंवेदि ? इन दोनों विकल्पोंमें दोष	१००
भिन्न ईश्वरज्ञानमें दूषण	१०२
भिन्न ईश्वरज्ञानका ईश्वरसे सम्बन्ध करानेवाले समवायका निराकरण	१०३
समवायके 'अयुतसिद्धि' विशेषणकी समीक्षा	१०६
युतप्रत्ययसे युतसिद्धिकी व्यवस्था करनेमें दोष	११६
युतसिद्धिकी व्यवस्था न होनेपर अयुतसिद्धिका अभाव	१२०
'अबाधितत्व' विशेषणके असिद्ध होने की आशङ्का और उसका परिहार	१२१
समवाय-समवायिओंमें विशेषण-विशेष्य-भावसम्बन्ध माननेमें अनवस्था	१२२
वैशेषिकोंद्वारा उक्त अनवस्थाका परिहार और जैनोंद्वारा उसका प्रतिवाद	१२४
संयोग और समवायकी व्यर्थता	१२४
समवायको सर्वथा स्वतंत्र और एक माननेमें विस्तारसे दूषण	१२६
सत्ताके दृष्टान्तसे समवायको वैशेषिकों द्वारा एक सिद्ध करना	१३२
सत्ता और समवायके एकत्वका खण्डन	१३३
सत्ताको स्वतंत्र पदार्थ न होने और पदार्थधर्म होनेका उपपादन, असत्ताकी तरह उसके चार भेदोंका समर्थन	१३८
समवायको सत्ताकी तरह एक-अनेक और नित्य-अनित्य माननेका प्रतिपादन	१४३
सत्त्व-असत्त्वके एक जगह रहनेमें विरोध की आशंका और उसका परिहार	१४४
स्वरूपतः असत् अथवा सत् महेश्वरमें सत्ता का समवाय स्वीकार करनेमें दोष	१४८
ईश्वरपरीक्षाका उपसंहार	१५५
४. कपिल-परीक्षा	१५६--१६७
कपिलके मोक्षमार्गोपदेशकत्वका निरास	१५६
प्रधानके मुक्तामुक्तत्वकी कल्पना और उसमें दोष	१६०
प्रधानके भी मोक्षमार्गोपदेशकत्वका निरास	१६१
५. सुगत-परीक्षा	१६७--१६५
सुगतके मोक्षमार्गोपदेशकत्वका निराकरण	१६७
सौगतोंका पूर्वपक्ष	१६६
सौगतोंके पूर्वपक्षका निराकरण	१७१
सौत्रान्तिकोंका मत	१७२
सौत्रान्तिकोंके मतका आलोचन	१७५
योगाचारमत और उसका आलोचन	१७८
संवृत्तिसे सुगतको विश्वतत्त्वज्ञ और मोक्षमार्गोपदेशक माननेमें भी दोष	१८०
संवेदनाद्वैतकी समालोचना	१८१
चित्राद्वैतका समालोचन	१६४
६. परमपुरुष-परीक्षा	१६५--२०६
परमपुरुषके सर्वज्ञत्व और मोक्षमार्गोपदेशकत्वकी असम्भवता	१६५

प्रतिभासमात्रकी अनेकविध मीमांसा १९६
७. अर्हत्सर्वज्ञसिद्धि २०६--२३९
प्रमेयत्वहेतुसे सामान्यसर्वज्ञ-की सिद्धि २०६
सर्वज्ञाभाववादी भट्टका मत २१६
भट्टके मतका निराकरण २१९
बाधकाभावसे अर्हत्सर्वज्ञसिद्धि २२३
प्रत्यक्ष सर्वज्ञका बाधक नहीं है २२६
अनुमान सर्वज्ञका बाधक नहीं है २२७
उपमान सर्वज्ञका बाधक नहीं है २२७
अर्थापत्ति सर्वज्ञकी बाधिका नहीं है २३०
आगम सर्वज्ञका बाधक नहीं है २३४
अभाव भी सर्वज्ञका बाधक नहीं है २३४
८. अर्हत्कर्मभूभृद्भेतृत्वसिद्धि २४०--२५१
आगामि और संचितके भेदसे दो तरहके कर्मोंका प्रतिपादन २४१
संवर और निर्जराद्वारा उक्त कर्मोंके अभावका प्रतिपादन २४१
कर्मोंका स्वरूप और उनके द्रव्य-कर्म तथा भावकर्मके भेदसे दो भेदोंका कथन २४५
नैयायिक और वैशेषिकोंके कर्मस्वरूप-की मान्यताका समालोचन २४८
सांख्योंके कर्मस्वरूपकी समीक्षा २४८
९. अर्हन्मोक्षमार्गनेतृत्वसिद्धि २५१--२६०
मोक्षका स्वरूप २५१
आत्माका स्वरूप २५२
संवर, निर्जरा और मोक्षमें भेदप्रदर्शन २५३
नास्तिक मतका प्रतिवाद २५४
मोक्षमार्गका स्वरूप २५५
मोक्षमार्गप्रणेताके सर्वज्ञताका निर्णय २६०
१०. अर्हत्वन्द्यत्वसिद्धि २६१--२६४
'वन्दे तद्गुणलब्धये' का व्याख्यान २६१
अर्हन्तके वन्दनीय होनेमें प्रयोजन २६२
११. उपसंहार २६४
आप्तपरीक्षा और उसकी स्वोपज्ञ टीकाके सम्बन्धका अन्तिम वक्तव्य ,,

---

जीयान्निरस्त-निश्शेष-सर्वथैकान्त-शासनम् ।
सदा श्रीवर्द्धमानस्य विद्यानन्दस्य शासनम् ॥ १ ॥
—आप्तपरीक्षा ।

स जयतु विद्यानन्दो रत्नत्रय-भूरि-भूषणः सततम् ।
तत्त्वार्थार्णव-तरणे सदुपायः प्रकटितो येन ॥ २ ॥
विद्यानन्द-हिमाचल-मुखपद्म-विनिर्गता सुगम्भीरा ।
आप्तपरीक्षा-टीका गङ्गावच्चिरतरं जयतु ॥ ३ ॥
—आप्तपरीक्षाटीका-प्रशस्ति ।

श्रीसमन्तभद्राय नमः

श्रीमदाचार्यविद्यानन्दस्वामि-विरचिता

आप्त-परीक्षा

स्वोपज्ञाप्तपरीक्षालङ्कृति-टीकायुता
(हिन्दी-अनुवाद-सहिता)

—:०:—

[परमेष्ठिगुणस्तोत्रम्[3]]

प्रबुद्धाशेषतत्त्वार्थ-बोध-दीधिति-मालिने ।
नमः श्रीजिनचन्द्राय[1] मोह-ध्वान्त-प्रभेदिने[2] ॥१॥

जो समस्त पदार्थ-प्रकाशक ज्ञान-किरणोंसे विशिष्ट हैं और मोहरूपी अन्धकारके प्रभेदक हैं उन श्रीजिनरूप चन्द्रमाके लिए नमस्कार हो ॥ १ ॥

विशेषार्थ—इस मङ्गलाचरण-कारिकाद्वारा श्रीजिनेन्द्रके लिये चन्द्रमाकी उपमा देकर उन्हें नमस्कार किया गया है। जिस प्रकार चन्द्रमा समस्त लोकगत पदार्थोंको प्रकाशित करनेवाला है, उसी प्रकार श्रीसम्पन्न जिनेन्द्र भगवान् भूत, भावी और वर्तमान सम्पूर्ण जीवादि पदार्थोंके ज्ञाता और मोहनीयकर्मका नाश करनेवाले हैं। मोहनीयकर्म वह अन्धकार है जिसकी वजहसे आत्मा अपने निजस्वरूपको देख और जान नहीं पाता है। इस मोहनीयकर्मका जिन महान आत्माओंने नाश कर दिया है और इस तरह जिन्होंने सर्वज्ञता भी प्राप्त कर ली है, वे 'जिन' अथवा 'जिनेन्द्र' या 'अरिहन्त' इस संज्ञाद्वारा अभिहित होते हैं और उन्हींको परमात्मा भी कहते हैं। तात्पर्य यह कि 'कर्मारातीन् जयतीति जिनः' अर्थात् राग-द्वेष-मोहादि कर्म-शत्रुओंपर जो पूर्णतः विजय पालेते हैं उन्हें जैनदर्शनमें 'जिन' कहा गया है।

१ चन्द्रप्रभजिनेन्द्राय सकलजिनसमूहाय वा । २ मोहोऽज्ञानं रागद्वेषादिर्वा स एव ध्वान्तः अन्धकारस्तं प्रभेदी विश्लेषणकर्ता तस्मै इत्यर्थः । ३ परमे पदे मोक्षे मोक्षमार्गे वा रत्नत्रयस्वरूपे तिष्ठतीति परमेष्ठी, मोक्षे मोक्षमार्गे वा स्थिता अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसाधवो विशिष्टात्मानः परमेष्ठिनोऽभिधीयन्ते ।

[परमेष्ठिगुणस्तोत्रप्रयोजनाभिधानम्]

§ १. कस्मात्पुनः परमेष्ठिनः स्तोत्रं शास्त्रादौ शास्त्रकाराः प्राहुरित्यभिधीयते—

श्रेयोमार्गस्य संसिद्धिः प्रसादात्परमेष्ठिनः ।
इत्याहुस्तद्गुणस्तोत्रं शास्त्रादौ मुनिपुङ्गवाः ॥२॥

§ २. श्रेयो निःश्रेयसं परमपरं च । तत्र परं सकलकर्मविप्रमोक्षलक्षणम् "बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः[1] " [तत्त्वा. सू. १०-२] इति वचनात् । ततोऽपरमार्हन्त्यलक्षणम्, [१]घातिकर्मक्षयादनन्तचतुष्टयस्वरूपलाभस्यापरनिःश्रेयसत्वात् । न चात्र कस्यचिदात्मविशेषस्य कृत्स्नकर्मप्रिमोक्षोऽसिद्धः, साधकप्रमाणसद्भावात् । तथा हि—

§ ३. कश्चिदात्मविशेषः कृत्स्नकर्मभिर्विप्रमुच्यते, कृत्स्नबन्धहेत्वभाव[२]-निर्जरावत्त्वात् ।

'जिन' किसी व्यक्तिविशेषका नाम नहीं है, बल्कि जो आत्मा इस पूर्ण विकसित एवं सर्वोच्च आत्मीय अवस्थाको प्राप्तकर लेता है वह 'जिन' कहलाता है। यहाँ ऐसे ही 'जिन-परमात्मा' अथवा 'जिन-समुदय' को ग्रन्थकार श्रीविद्यानन्दस्वामीने अपनी इस स्वोपज्ञ-टीका-सहित 'आप्त-परीक्षा' नामक कृतिके आरम्भमें स्मरण किया है और उनका मंगलाभिवादन किया है।

'जिनचन्द्राय' पदके प्रयोगद्वारा भगवान् चन्द्रप्रभको भी नमस्कार किया गया प्रतीत होता है और यह कोई अस्वाभाविक भी नहीं है, क्योंकि भगवान् चन्द्रप्रभ भी ग्रन्थकारके विशेषतया इष्टदेव हो सकते हैं और उन्हें भी 'नमः' शब्दद्वारा अपना मस्तक झुकाया है।

§१. शङ्का—ग्रन्थके आरम्भमें ग्रन्थकार परमेष्ठीका स्तवन किस प्रयोजनसे करते हैं ?

समाधान—इसका उत्तर इस प्रकार है—

चूँकि परमेष्ठीके प्रसादसे मोक्ष-मार्ग (सम्यग्दर्शनादि) की सम्यक् प्राप्ति और सम्यक ज्ञान दोनों प्राप्त होते हैं। अतएव शास्त्रके प्रारम्भमें मुनिपुङ्गवों—सूत्रकारादिकोंने परमेष्ठीका गुण-स्तवन कहा है ॥२॥

§ २. कारिकामें जो 'श्रेयः' शब्दका प्रयोग है उसका निःश्रेयस अर्थात् मोक्ष अर्थ है। वह दो प्रकारका है—१ परनिःश्रेयस और २ अपरनिःश्रेयस। समस्त कर्मोंका सर्वथा क्षय होना परनिःश्रेयस है; क्योंकि 'संवर और निर्जराके द्वारा सम्पूर्ण कर्मोंके सर्वथा छूट जानेको मोक्ष' कहा गया है। और परमोच्च अरहन्त अवस्थाका प्राप्त होना अपरनिःश्रेयस है। कारण, घातियाकर्मोंके क्षयसे जो अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्यरूप अनन्तचतुष्टयस्वरूपकी प्राप्ति होती है उसे अपरनिःश्रेयस माना गया है। यहाँ यह नहीं कहा जासकता है कि किसी आत्माविशेषके सम्पूर्ण कर्मोंका सर्वथा क्षय होना असिद्ध है क्योंकि उसको सिद्ध करनेवाला प्रमाण मौजूद है। वह इस प्रकार है :—

§ ३.'कोई विशेष आत्मा समस्त कर्मोंसे सर्वथा मुक्त होजाता है, कारण संवर और निर्जरावान् है। जो सम्पूर्ण कर्मोंसे मुक्त नहीं है वह पूर्ण संवर और निर्जरावान् नहीं है,

१ ज्ञानदर्शनावरणमोहान्तरायाख्यानि चत्वारि कर्माणि घातिकर्माण्युच्यन्ते। २ संवरः।

1 द 'मोक्षः' पाठो नास्ति।

यस्तु न कृत्स्नकर्मभिर्विप्रमुच्यते स[1] न कृत्स्नबन्धहेत्वभावनिर्जरावान्, यथा संसारी। कृत्स्नबन्धहेत्वभावनिर्जरावांश्च कश्चिदात्मविशेषः। तस्मात्कृत्स्नकर्मभिर्विप्रमुच्यते।

§ ४. ननु बन्ध एवात्मनोऽसिद्धस्तद्धेतुश्च, इति कुतो बन्धहेत्वभाववत्त्वम्? प्रतिषेधस्य विधिपूर्वकत्वात्। बन्धाभावे च कस्य निर्जरा? बन्धफलानुभवनं हि निर्जरा। बन्धाभावे तु कुतस्तत्फलानुभवनम्? अतः कृत्स्न[2] निर्जरावत्त्वमप्यसिद्धम्। न चासिद्धं साधनं साध्यसाधनायालम्, इति कश्चित्[१]।

§ ५, सोऽप्यनालोचिततत्त्वः,[२] प्रमाणतो बन्धस्य प्रसिद्धेः। तथा हि—विवादाध्यासितः संसारी बन्धवान् परतन्त्रत्वात्, आलानस्तम्भागतहस्तिवत्। परतन्त्रोऽसौ हीनस्थानपरिग्रहवत्त्वात्, कामोद्रेकपरतन्त्रवेश्यागृहपरिग्रहवच्छ्रोत्रियब्राह्मणवत्। हीनस्थानं हि शरीरं तत्परिग्रहवांश्च संसारी प्रसिद्ध एव। कथं पुनः शरीरं हीनस्थानमात्मनः? इति; उच्यते; हीनस्थानं शरीरम्, आत्मनो दुःखहेतुत्वात् कस्यचित्कारागृहवत्[३]। ननु[४] देवशरीरस्य दुःखहेतुत्वाभावात्पक्षाव्यापको[५] हेतुरिति चेत्; न;

जैसे संसारी जीव। और सम्पूर्ण संवर तथा निर्जरावान् कोई विशेष आत्मा अवश्य है इसलिये समस्त कर्मोंसे मुक्त भी होजाता है।'

§ ४. शङ्का—जब आत्माके कर्मबन्ध ही असिद्ध है और कर्मबन्धके कारण भी असिद्ध हैं—दोनों ही सिद्ध नहीं हैं तब यह कैसे कहा जासकता है कि किसी आत्माविशेषके बन्धहेतुओंका अभाव (संवर) है क्योंकि अभाव सद्भावपूर्वक ही होता है। और इस तरह जब बन्ध ही सम्भव नहीं है तब निर्जरा भी किसकी? कारण, बन्धके फलका अनुभवन करना ही निर्जरा है। अतएव जब बन्ध नहीं तो उसके फलका अनुभवन (निर्जरा) कैसे? अतः सम्पूर्ण निर्जरावान् भी कोई आत्माविशेष सिद्ध नहीं होता है और इस प्रकार हेतुके विशेषण और विशेष्य दोनों ही दल असिद्ध हैं। ऐसी हालतमें असिद्ध हेतु साध्यकी सिद्धि करनेमें समर्थ नहीं है?

§ ५. समाधान—यह शङ्का विचारपूर्ण नहीं है क्योंकि बन्ध प्रमाणसे प्रसिद्ध है। यथा—'विचारस्थ संसारी आत्मा बन्धयुक्त है क्योंकि पराधीन है, आलानस्तम्भ[६] (खूँटा)-को प्राप्त हाथीकी तरह।' 'आत्मा पराधीन है क्योंकि हीनस्थानको ग्रहण किये हुए है, कामपीड़ासे अधीन होकर वेश्याके घरको प्राप्त हुए श्रोत्रिय ब्राह्मण[२] (क्रियाकाण्डी ब्राह्मणविशेष) की तरह।' और यह प्रकट है कि हीनस्थान शरीर है और उसे ग्रहण करनेवाला संसारी आत्मा प्रसिद्ध है।

शङ्का—शरीर आत्माका हीनस्थान कैसे है?

१ सांख्यादिः। २ अयथार्थविचारकः। ३ वन्दीगृह इवेत्यर्थः। ४ परः शङ्कते नन्विति।
५ हेतोःसामस्त्येन पक्षावृत्तित्वं पक्षैकदेशवृत्तित्वं वा पक्षाव्यापकत्वमिति भावः। भागासिद्धत्वमिति यावत्।
६ हाथीको बांधनेका खूँटा, रस्सा या जंजीर, देखो, 'संक्षिप्त हिन्दी-शब्दसागर' पृ० ११५।
२ ब्राह्मणोंका एक भेद, देखो, 'सं० हिन्दी-शब्दसागर' पृ० १०५६।

1 द 'स तु'। 2 मु स प 'कृत्स्नकर्म'।

तस्यापि मरणे दुःखहेतुत्वसिद्धेः पक्षव्यापकत्वव्यवस्थानात् ।

§ ६. तदेवं संक्षेपतो बन्धस्य प्रसिद्धौ [१]तद्धेतुरपि सिद्धः, तस्याहेतुकत्वे नित्यत्वप्रसङ्गात्, सतो हेतुरहितस्य नित्यत्वव्यवस्थितेः । "सदकारणवन्नित्यम्" [वैशेषि.४--१--१] इति परैरभिधानात् । तद्धेतुश्च मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगविकल्पात्पञ्चविधः स्यात् । बन्धो हि संक्षेपतो द्वेधा, भावबन्धो द्रव्यबन्धश्चेति । तत्र भावबन्धः क्रोधाद्यात्मकः, तस्य हेतुर्मिथ्यादर्शनम्, [1]तद्भावे भावादभावे चाभावात् । क्वचिदक्रोधादिविषये हि क्रोधादिविषयत्वश्रद्धानं मिथ्यादर्शनम्, तस्य विपरीताभिनिवेशलक्षणस्य सकलास्तिकप्रसिद्धत्वात् । तस्य च सद्भावे बहिरङ्गस्य सत्यन्तरङ्गे द्रव्यक्रोधादिबन्धे भावबन्धस्य सद्भावः तदभावे [2]चासद्भावः सिद्ध एवेति मिथ्यादर्शनहेतुको भावबन्धः । तद्वदविरतिहेतुकश्च समुत्पन्नसम्यग्दर्शनस्यापि कस्यचिदप्रकृष्टो[२] भावबन्धः सत्यामविरतौ प्रतीयत एव । ततोऽप्यप्रकृष्टो भावबन्धः प्रमादहेतुकः स्यादविरत्यभावेऽपि, कस्यचिद्विरतस्य सति प्रमादे तदुपलब्धेः । ततोऽप्यप्रकृष्टः कषायहेतुकः सम्यग्दृष्टेर्विरतस्याप्रमत्तस्यापि कषायसद्भावे[1] भावात् । ततोऽप्यप्रकृष्टवपुरज्ञानलक्षणो भावबन्धो योगहेतुकः क्षीणकषायस्यापि योगसद्भावे तत्सद्भावात् । केवलिनस्तु योगसद्भावेऽपि न भावबन्धः, तस्य जीवन्मुक्तत्वान्मोक्षप्रसिद्धेः । न चैवमेकैकहेतुक एव बन्धः, पूर्वस्मिन्पूर्वस्मिन्नुत्तरस्योत्तरस्य बन्धहेतोः सद्भावात् । कषायहेतुको हि बन्धो योगहेतुकोऽपि । प्रमादहेतुकश्च योगकषायहेतुकोऽपि । अविरतिहेतुकश्च योगकषायप्रमादहेतुकः प्रतीयते । मिथ्यादर्शनहेतुकश्च योगकषायप्रमादाविरतिहेतुकः सिद्धः । इति मिथ्यादर्शनादिपञ्चविधप्रत्ययसामर्थ्यान्मिथ्याज्ञानस्य बन्धहेतोः प्रसिद्धेः षट्प्रत्ययोऽपि बन्धोऽभिधीयते[2] । न चायं भावबन्धो द्रव्यबन्धमन्तरेण भवति, मुक्तस्यापि तत्प्रसङ्गादिति द्रव्यबन्धः सिद्धः[3] । सोऽपि मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगहेतुक एव बन्धत्वात्, भावबन्धवदिति मिथ्यादर्शनादिर्बन्धहेतुः सिद्धः ।

समाधान—इसका उत्तर यह है कि 'शरीर हीनस्थान (निम्न कोटिकी अथवा निकृष्ट जगह) है क्योंकि वह आत्माके दुःखका कारण है। जैसे किसीका बन्दीगृह। अर्थात् जिस प्रकार (बन्दी) को क़ैदखाना दुःखदायक होता है उसी प्रकार शरीर आत्माको क्लेशदायक है।

शङ्का—देवोंका शरीर दुःखकारक नहीं होता। अतएव हेतु पूरे पक्षमें न रहनेसे पक्षाव्यापक है अर्थात् पक्षाव्यापक (भागासिद्ध) नामके दोषसे युक्त है ?

समाधान—नहीं; देवोंका शरीर भी मृत्युसमय दुःखजनक होता है—शरीरको जब वे छोड़ते हैं तो उन्हें उससे भारी दुःख होता है। अतः हेतु 'पक्षाव्यापक' नहीं है, पक्षव्यापक ही है।

§ ६. इस प्रकार संक्षेपमें बन्ध सिद्ध हो जानेपर उसके हेतु भी सिद्ध हो जाते हैं क्योंकि बन्धके कारण न माननेपर उसे नित्य मानना पड़ेगा। कारण, जिसका कोई कारण (हेतु) नहीं होता और मौजूद है वह नित्य व्यवस्थित किया गया है। दूसरे दार्शनिक विद्वान् भी 'सत् और कारणरहितको नित्य' बतलाते हैं। जैनदर्शनमें बन्धके कारण पाँच हैं—१ मिथ्यादर्शन, २ अविरति, ३ प्रमाद, ४ कषाय और ५ योग। बन्धके संक्षेपमें दो भेद हैं:—एक भावबन्ध और दूसरा द्रव्यबन्ध। उनमें भावबन्धका, जो क्रोधादिरूप है, कारण मिथ्यादर्शन है क्योंकि उसके होनेपर वह होता है और उसके नहीं होनेपर नहीं होता है। जो क्रोधादिका विषय नहीं है उसमें क्रोधादिविषयत्वका श्रद्धान करना मिथ्यादर्शन है। कारण, सभी आस्तिकोंने विपरीत अभिप्रायको मिथ्यादर्शन स्वीकार किया है। सो इस बाह्य कारण (मिथ्यादर्शन) के होनेपर और आभ्यन्तर कारण द्रव्यक्रोधादिबन्धके होनेपर भावबन्ध होता है और उनके न होने पर नहीं होता है, इस तरह मिथ्यादर्शन भावबन्धका कारण सिद्ध है। उसी प्रकार जिसके सम्यग्दर्शन पैदा हो गया है उसके भी अविरति (विरतिरूप परिणामोंके अभाव) के होनेपर मिथ्यादर्शनसे होनेवाले भावबन्धकी अपेक्षा कुछ न्यून अविरतिहेतुक भावबन्ध होता हुआ सुप्रतीत होता है। इससे भी कुछ कम भाव-बन्ध प्रमादके निमित्तसे अविरति न रहनेपर भी होता है। कारण, किसी विरत (छठे गुणस्थानवर्ती मुनि) के प्रमादके सद्भावमें भावबन्ध देखा जाता है। प्रमादहेतुक भावबन्धसे भी कुछ अल्प भावबन्ध कषायके सद्भावसे होता है क्योंकि जो सम्यग्दृष्टि है, विरत है और प्रमादरहित भी है उसके क्रोधादि कषायके होनेपर वह उपलब्ध होता है। और उससे भी कुछ हीन भावबन्ध, जो कि अज्ञानस्वरूप है, योगके निमित्तसे होता है। कारण, कषायरहित आत्मा के भी योग (मन, वचन और काय सम्बन्धी हलन-चलन) के सद्भावमें योगहेतुक भावबन्ध पाया जाता है। किन्तु, केवलीके योगके रहनेपर भी भावबन्ध नहीं होता, कारण वे जीवन्मुक्त हैं और इसलिये उनके मोक्ष—बन्धसे सर्वथा मुक्ति हो चुकी है। अतः उनके भावबन्ध नहीं होता। यहाँ यह नहीं समझना चाहिए कि एक-एक कारणजनित ही बन्ध है क्योंकि पूर्व पूर्व कारणके होनेपर आगे आगेके बन्ध-कारण अवश्य होते हैं। अतएव जो कषायहेतुक बन्ध है वह योगहेतुक भी है और जो प्रमादहेतुक है वह योग तथा कषायजन्य भी है। जो अविरतिहेतुक है वह योग, कषाय और प्रमादजनित है। तथा जो मिथ्यादर्शनहेतुक है वह योग, कषाय, प्रमाद और अविरतिहेतुक भी स्पष्टतः सिद्ध है।

मिथ्यादर्शन आदि पांच बन्धकारणोंके सामर्थ्यसे मिथ्यादर्शनका सहभावी मिथ्याज्ञान भी बन्धका कारण सिद्ध हो जाता है और इसीलिये भावबन्धके छह भी कारण कहे जाते हैं। यह भावबन्ध द्रव्यबन्धके बिना होता नहीं, अन्यथा मुक्त जीवोंके भी भावबन्धका प्रसङ्ग आयेगा, इसलिये द्रव्यबन्ध भी सिद्ध हो जाता है और वह भी मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग इनसे ही उत्पन्न होता है; क्योंकि बन्ध है, जैसे भावबन्ध। इस तरह द्रव्यबन्धके भी मिथ्यादर्शनादि कारण हैं। इस प्रकार आत्माके बन्ध और बन्धके कारण प्रसिद्ध हैं।

---

१ बन्धहेतुः आस्रव इत्यर्थः । २ न्यूनः ।

1 द 'तद्भावे भावादभावे चाभावात् । क्वचिदक्रोधादिविषये हि क्रोधादिविषयत्वश्रद्धानं मिथ्यादर्शनं' इति पाठो नास्ति । 2 द 'वा' इति पाठः ।

1 द 'तत्सद्भावात्' । 2 द 'विधीयते' । 3 द 'सिद्धः' इति पाठो नास्ति ।

§ ७. तदभावः[1] कुतः सिद्ध्येत् ? इति चेत्, तत्प्रतिपक्षभूतसम्यग्दर्शनादिसात्मीभावात् । सति हि सम्यग्दर्शने मिथ्यादर्शनं निवर्तते तद्विरुद्धत्वात् । यथोष्णस्पर्शे सति शीतस्पर्श इति प्रतीतम् । तथैवाविरतिर्विरत्यां सत्यामपैति । प्रमादश्चाप्रमादपरिणतौ, कषायोऽकषायतायां, योगश्चायोगतायामिति बन्धहेत्वभावः सिद्धः, "अपूर्वकर्मणामास्रवनिरोधः संवरः" [त.सू.९--१] इति वचनात् ।

§ ८. ननु च[1] "स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रेभ्यो भवति"[2] [तत्त्वार्थ.सू.९-२] इति सूत्रकारमतं न पुनः सम्यग्दर्शनादिभ्यः; इति न मन्तव्यम्; गुप्त्यादीनां सम्यग्दर्शनाद्यात्मकत्वात् । न हि सम्यग्दर्शनरहिता गुप्त्यादयः सन्ति सम्यग्ज्ञानरहिता वा, तेषामपि[3] विरत्यादिरूपत्वात् । चारित्रभेदा ह्येते प्रमादरहिताः कषायरहिताश्चायोगतामपि लभन्ते । ततो न कश्चिद्दोषः ।

---

§ ७. शङ्का—बन्ध और बन्धके कारण सिद्ध हो भी जायें, परन्तु उनका अभाव कैसे सिद्ध हो सकता है ?

समाधान—इसका उत्तर यह है कि जब बन्ध और बन्धकारणोंके प्रतिपक्षी सम्यग्दर्शनादिरूपसे आत्माका परिणमन होता है तो बन्ध और बन्धके कारणोंका अभाव हो जाता है । सम्यग्दर्शन होनेपर मिथ्यादर्शन नहीं रहता, क्योंकि वह उसका विरोधी—प्रतिपक्षी (उसके सद्भावमें न रहनेवाला) है जिस प्रकार उष्णस्पर्शके होनेपर ठण्डा स्पर्श नहीं होता । इसी तरह अविरति विरति (संयम) के होनेपर नहीं रहती है । प्रमाद अप्रमादरूप परिणति, कषाय अकषायरूप परिणाम और योग अयोगरूप अवस्थाके होने पर नष्ट होजाते हैं । इस प्रकार बन्धहेतुओंका अभाव अर्थात् संवर सिद्ध होजाता है । यही तत्त्वार्थसूत्रकार आचार्य उमास्वातिने कहा है—'अनागत कर्मोंका रुक जाना संवर है।'

§ ८.शङ्का—'संवर गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्रसे होता है' यह तत्त्वार्थसूत्रकारका मत अर्थात् कथन है वह सम्यग्दर्शनादिसे होता है ऐसा उनका मत नहीं मालूम होता । तात्पर्य यह कि तत्त्वार्थसूत्रकारके कथनसे जो उक्त प्रतिपादन प्रमाणित किया गया है वह ठीक नहीं जान पड़ता है क्योंकि उन्होंने गुप्त्यादिसे संवर माना है, सम्यग्दर्शनादिसे नहीं ?

समाधान—ऐसा मानना ठीक नहीं है; क्योंकि जो गुप्त्यादि हैं वे सम्यग्दर्शन आदि स्वरूप हैं—उनसे भिन्न नहीं हैं । वस्तुतः गुप्ति आदि न तो सम्यग्दर्शनरहित हैं और न सम्यग्ज्ञानरहित हैं । कारण, वे विरति आदिरूप हैं और विरति सम्यक्चारित्र है जो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानका सर्वथा अविनाभावी है तथा इस सम्यक्चारित्रके ही भेद ये गुप्ति वगैरह हैं जो प्रमाद तथा कषायरहित होते हुए अयोग अवस्थासे भी विशिष्ट हैं अर्थात् योगरहित हैं । तात्पर्य यह कि गुप्त्यादिक सम्यग्दर्शनादिकसे भिन्न नहीं हैं और इसलिये सम्यग्दर्शनादिकसे संवर प्रतिपादन करना अथवा गुप्ति, समिति आदिसे संवर बतलाना एक ही बात है—दोनोंका अभिप्राय एक है, उसमें विरोधादि कुछ भी दोष नहीं है । इस तरह हेतुका विशेषण अंश सिद्ध है ।

---

१ बन्धहेत्वभावः संवर इत्यर्थः ।

1 द 'च' नास्ति । 2 'संवर इति शेषः' द टिप्पणिपाठः । 1 'सम्यग्दर्शनादीनां' इति द टिप्पणिपाठः ।

§ ९. कथमात्मनः पूर्वोपात्तकर्मणां निर्जरा सिद्ध्येत् ? इति; अभिधीयते; क्वचिदात्मनि कात्स्न्येतः पूर्वोपात्तानि, कर्माणि निर्जीर्यन्ते तेषां विपाकान्तत्वात् । यानि तु न निर्जीर्यन्ते तानि न विपाकान्तानि, यथा कालादीनि । विपाकान्तानि च कर्माणि । तस्मान्निर्जीर्यन्ते । विपाकान्तत्वं नासिद्धं कर्मणाम् । तथा हि–विपाकान्तानि कर्माणि, फलावसानत्वात्, व्रीह्यादिवत् । तेषामन्यथा नित्यत्वानुषङ्गात् । न च नित्यानि कर्माणि, नित्यं तत्फलानुभवनप्रसङ्गात् । यत्र चात्मविशेषे अनागतकर्मबन्धहेत्वभावादपूर्वकर्मानुत्पत्तिस्तत्र पूर्वोपात्तकर्मणां यथाकालमुपक्रमाच्च फलदानात्कात्स्न्येन निर्जरा प्रसिद्धैव । ततः कृत्स्नबन्धहेत्वभावनिर्जरावत्त्वं साधनं प्रसिद्धं कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षं [साध्यं] साधयत्येव । ततस्तल्लक्षणं परं निःश्रेयसं व्यवतिष्ठते । तथा 'आर्हन्त्यलक्षणमपरं सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वात्, सुखादिवत्' इति सर्वज्ञत्वसिद्धौ[1] निर्णेष्यते ।

§ १०. श्रेयसो मार्गः श्रेयोमार्गो निःश्रेयसोपायो वक्ष्यमाणलक्षणस्तस्य संसिद्धिः[2] सम्प्राप्तिः

---

§ ९. शङ्का—आत्मामें संचित कर्मोंकी निर्जरा कैसे सिद्ध होती है ?

समाधान—इस तरहः—किसी आत्मामें संचित कर्म सम्पूर्णरूपसे निर्जीर्ण (नष्ट) हो जाते हैं, क्योंकि वे विपाकान्त (विपाक तक ठहरनेवाले) हैं । जिनकी निर्जरा नहीं होती वे विपाकान्त नहीं होते, जैसे कालादिक । और विपाकान्त कर्म हैं, इसलिये उनकी निर्जरा जरूर हो जाती है । यहाँ यह नहीं कहा जासकता कि कर्मोंमें विपाकान्तपना असिद्ध है, क्योंकि उनमें विपाकान्तपना निम्न अनुमानसे सिद्ध होता है—कर्म विपाकान्त हैं । कारण, वे फल देने तक ही ठहरते हैं । जैसे धान्य वगैरह । अन्यथा उन्हें नित्य मानना पड़ेगा, पर कर्म नित्य नहीं हैं, क्योंकि नित्य माननेपर सदैव उनका फलानुभवन होगा । अतएव जिस आत्माविशेषमें बन्धहेतुओं—आस्रवोंके अभावसे नवीन कर्मोंकी उत्पत्ति रुक गई है अर्थात् संवर होगया है उसी आत्माविशेषमें संचित कर्मोंका नियत समयपर अथवा तपश्चर्या आदिसे फल देकर सम्पूर्णतया झड़ जानारूप निर्जरा भी प्रसिद्ध है और इस तरह 'संवर और निर्जरावान्' रूप हेतु सिद्ध होकर 'समस्त कर्मोंके सर्वथा क्षय' रूप साध्यको अच्छी तरह सिद्ध करता है । अतः 'समस्त कर्मोंका सर्वथा क्षय होना परनिःश्रेयस है' यह व्यवस्थित होगया । तथा अरहन्त अवस्थाका प्राप्त होना अपरनिःश्रेयस है, क्योंकि उसके होनेमें कोई बाधक प्रमाण नहीं है । जैसे सुखादिकके माननेमें कोई बाधक नहीं है, अतएव उनका अस्तित्व सभी स्वीकार करते हैं । इस अपरनिःश्रेयसकी सप्रमाण सिद्धि आगे सर्वज्ञसिद्धि प्रकरणमें की जावेगी । इस तरह परनिःश्रेयस और अपरनिःश्रेयस ये दो श्रेयके भेद सिद्ध हुए ।

§ १०. श्रेयका जो मार्ग है उसे श्रेयोमार्ग कहते हैं और वह आगे कहा जानेवाला निःश्रेयसोपाय—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीन रूप है । इस श्रेयोमार्गकी जो सम्यक् प्राप्ति अथवा सम्यक् ज्ञान है वही श्रेयोमार्गसंसिद्धि है । वह चूँकि

---

१ अत्रैव ग्रन्थे सर्वज्ञसिद्धिप्रकरणे । २ सिद्धिस्त्रिविधा असतः प्रादुर्भावः, अभिलषितप्राप्तिः, सम्यग्ज्ञप्तिश्च । तत्रासतः प्रादुर्भावलक्षणा सिद्धिर्नात्र गृह्यते, कारकप्रकरणाभावात् । शेषसिद्धिद्वयं तु गृह्यते, ज्ञापकप्रकरणात् ।

सम्यग्ज्ञप्तिर्वा । सा हि परमेष्ठिनः प्रसादाद्भवति मुनिपुङ्गवानां यस्मात्तस्मात्ते मुनिपुङ्गवाः सूत्रकारादयः[१] शास्त्रस्यादौ[२] तस्य परमेष्ठिनो गुणस्तोत्रमाहुरिति सम्बन्धः । परमेष्ठी हि भगवान् परमोऽर्हन्[३] तत्प्रसादात् परमागमार्थ[1] निर्णयोऽपरस्य[४] परमेष्ठिनो गणधरदेवादेः सम्पद्यते, [3] तस्माच्चापरपरमेष्ठिनः परमागमशब्द-सन्दर्भो[४] द्वादशाङ्ग इति परापरपरमेष्ठिभ्यां परमागमार्थशब्दशरीरसंसिद्धिस्तद्विनेयमुख्यानाम्, तेभ्यश्च स्वशिष्याणामिति [५] गुरुपर्व[2] क्रमात्सूत्रकाराणां परमेष्ठिनः प्रसादात्प्रधानभूत[3] परमार्थस्य श्रेयोमार्गस्य संसिद्धिरभिधीयते । प्रसादः पुनः परमेष्ठिनस्तद्विनेयानां प्रसन्नमनोविषयत्वमेव, वीतरागाणां [६] तुष्टिलक्षणप्रसादासम्भवात्, कोपासम्भववत् । तदाराधकजनैस्तु प्रसन्नेन मनसोपास्यमानो भगवान् 'प्रसन्नः' इत्यभिधीयते, रसायनवत् । यथैव हि प्रसन्नेन मनसा रसायनमासेव्य तत्फलमवाप्नुवन्तः सन्तो 'रसायनप्रसादादिदमस्माकमारोग्यादिफलं समुत्पन्नम्' इति प्रतिपद्यन्ते तथा प्रसन्नेन मनसा भगवन्तं परमेष्ठिनमुपास्य तदुपासनफलं श्रेयोमार्गाधिगमलक्षणं प्रतिपद्यमानास्तद्विनेयजनाः 'भगवत्परमेष्ठिनः प्रसादादस्माकं

मुनीश्वरोंको परमेष्ठीके प्रसादसे प्राप्त होती है, इसलिये वे सूत्रकारादि मुनीश्वर शास्त्रके प्रारम्भमें परमेष्ठीका गुणस्तवन प्रतिपादन करते हैं । यह कारिका(२)का पदार्थसम्बन्ध है । वास्तवमें जो भगवान् अरहन्तदेव हैं वह परमेष्ठी हैं और उनके प्रसादसे परमागम (दिव्यध्वनि) द्वारा प्रतिपादित अर्थका अवधारण (भावश्रुतरूप सम्यक्ज्ञान) अपरपरमेष्ठी गणधरदेवादिको प्राप्त होता है और उन अपरपरमेष्ठी (गणधरदेवादिक) से द्रव्यश्रुतरचना अर्थात् बारह अङ्गोंका निर्माण होता है । इस तरह पर और अपर-परमेष्ठियोंद्वारा रचित भाव और द्रव्य दोनों ही तरहके श्रुतकी प्राप्ति उनके अपने प्रमुख शिष्यों--आचार्यादिकोंको होती है तथा उनसे उनके अपने शिष्यों अर्थात् प्रशिष्योंको होती है। इस प्रकार गुरुपरम्पराक्रम (आनुपूर्वी) से सूत्रकार (तत्त्वार्थसूत्रकार आचार्य उमास्वाति) अथवा सूत्रकारों (निःश्रेयसप्रतिपादक सूत्ररचयिताओं) को परमेष्ठीके प्रसादसे प्रधानभूत यथार्थ मोक्ष-मार्गकी सम्यक्प्राप्ति और सम्यक्ज्ञान होता है, यह प्रतिपादित हो जाता है ।

यहाँ यह और जान लेना चाहिये कि परमेष्ठीमें जो प्रसाद—प्रसन्नतागुण कहा गया है वह उनके शिष्योंका प्रसन्नमन होना ही उनकी प्रसन्नता है, क्योंकि वीतरागोंके तुष्ट्यात्मक प्रसन्नता सम्भव नहीं है । जैसे क्रोधका होना उनमें सम्भव नहीं है । किन्तु आराधक जन जब प्रसन्न मनसे उनकी उपासना करते हैं तो भगवान्को 'प्रसन्न' ऐसा कह दिया जाता है । जैसे प्रसन्न मनसे रसायन (औषधि) का सेवन करके उसके फलको प्राप्त करनेवाले समझते हैं और शब्दव्यवहार करते हैं कि 'रसायन (दवाई) के प्रसाद (अनुग्रह) से यह हमें आरोग्यादि फल मिला अर्थात् हम अच्छे हुए' । उसी प्रकार प्रसन्न मनसे भगवान् परमेष्ठीकी उपासना करके उसके फल—श्रेयोमार्गके ज्ञानको प्राप्त हुए

१ तत्त्वार्थसूत्रकारप्रभृतयः । २ तत्त्वार्थशास्त्रारम्भे । ३ अर्हतः । ४ गणधरदेवादेः । ५ ग्रन्थरचनात्मकः, गणधरदेवो हि द्रव्यागमश्रुतं द्वादशाङ्गरूपं निबध्नाति विशिष्टक्षयोपशमजनितज्ञानसंयमधारकत्वात् । ६ गुरुपरम्परानुपूर्व्याः । ७ इच्छापर्यायरूपः ।

1 द 'परमार्थ' इति पाठः । 2 मु 'पूर्व' । 3 द 'प्रधानागममार्गस्य' ।

श्रेयोमार्गाधिगमः सम्पन्नः' इति समनुमन्यन्ते । ततः परमेष्ठिनः प्रसादात्सूत्रकाराणां श्रेयोमार्गस्य संसिद्धेर्युक्तं शास्त्रादौ परमेष्ठिगुणस्तोत्रम् ।

§ ११. 'मङ्गलार्थं तत्'[१] इत्येके[२]; तेऽप्येवं प्रष्टव्याः । किं साक्षान्मङ्गलार्थं परमेष्ठिगुणस्तोत्रं परम्परया वा ? न तावत्साक्षात्, तदनन्तरमेव मङ्गलप्रसङ्गात्, कस्यचिदपि मङ्गला[1] नवाप्त्ययोगात् । परम्परया चेत्, न किञ्चिदनिष्टम् । परमेष्ठिगुणस्तोत्रादात्मविशुद्धि[2] विशेषः प्रादुर्भवत् धर्मविशेषं स्तोतुः साधयत्य[3] धर्मप्रध्वंसं च । ततो मङ्गं सुखं समुत्पद्यत इति तद्गुणस्तोत्रं मङ्गलम्, 'मङ्गं लातीति मङ्गलम्' इति व्युत्पत्तेः । 'मलं गालयतीति मङ्गलम्[4]' इति वा, मलस्याधर्मलक्षणस्य परम्परया तेन प्रध्वंसनात् । केवलं सत्पात्रदान-जिनेन्द्रार्चनादिकमप्येवं मङ्गलमिति न तद्गुणस्तोत्रमेव मङ्गलमिति नियमः सिद्ध्यति

§ १२. स्यान्मतम्—मङ्गं श्रेयोमार्गसम्प्राप्तिजनितं प्रशमसुखं तल्लात्यस्मात्परमेष्ठिगुणस्तोत्रात्त-

उनके शिष्यजन मानते हैं कि 'भगवान् परमेष्ठीके प्रसादसे हमें श्रेयोमार्गका ज्ञान हुआ ।' अतः परमेष्ठीके प्रसादसे सूत्रकार अथवा सूत्रकारोंको मोक्षमार्गकी सम्यक् प्राप्ति अथवा सम्यक् ज्ञान होनेसे उनके द्वारा शास्त्रके प्रारम्भमें परमेष्ठीका गुणस्तवन किया जाना सर्वथा योग्य है ।

§ ११. शङ्का—'परमेष्ठीका गुणस्तोत्र मङ्गलके लिये किया जाता है—श्रेयोमार्गकी प्राप्ति अथवा उसके ज्ञानके लिये नहीं किया जाता' यह कुछ लोगोंका मत है ?

समाधान—हम उनसे भी पूछते हैं कि आप परमेष्ठीका गुणस्तवन साक्षात् मङ्गलके लिये मानते हैं या परम्परा मङ्गलके लिये ? साक्षात् मङ्गलके लिये तो माना नहीं जा सकता है अन्यथा परमेष्ठीगुणस्तवन करनेके तुरन्त ही मङ्गल-प्राप्तिका प्रसङ्ग आयेगा और इस तरह किसी भी स्तोताको मङ्गल-प्राप्तिका अभाव न रहेगा । और यदि परम्परा-मङ्गलके लिये उसे मानो तो इसमें हमें कोई आपत्ति नहीं है; क्योंकि परमेष्ठीके गुणस्तवनसे आत्मामें विशुद्धिविशेष (अतिशय निर्मलता) उत्पन्न होकर वह स्तुतिकर्ताके धर्मकी उत्पत्ति और अधर्म (पाप) के नाशको करती है और फिर उससे मङ्ग अर्थात् सुख उत्पन्न होता है, इसलिये परमेष्ठीका गुणस्तवन मङ्गल है, क्योंकि 'मङ्गल' शब्दकी व्युत्पत्ति (यौगिक अर्थ) ही यह है कि जो मङ्ग (सुख) को लाता है अथवा मल (पाप) को गलाता है वह मङ्गल है । और ये दोनों ही कार्य परमेष्ठीके गुणस्तोत्रसे होते हैं । इसलिये परमेष्ठीका गुणस्तवन स्वयं मङ्गल है । लेकिन इस प्रकार सत्पात्रदान, जिनेन्द्रपूजन आदि भी मङ्गल सिद्ध होते हैं, क्योंकि धर्मकी उत्पत्ति और अधर्मका क्षय उनसे भी होता है और इसलिये यह नियम सिद्ध नहीं होता कि 'परमेष्ठीका गुणस्तवन ही मङ्गल है और अन्य मङ्गल नहीं हैं' । अतः 'मङ्गल' शब्दकी व्युत्पत्तिपरसे इतना ही अर्थ इष्ट होना चाहिये कि 'परमेष्ठीका गुणस्तवन मङ्गल है ।' 'परमेष्ठीका गुणस्तवन ही मङ्गल है' ऐसा 'ही' शब्दके प्रयोगके साथ नियम करना इष्ट नहीं होना चाहिये ।

§ १२. शङ्का—'मङ्ग' शब्दसे श्रेयोमार्गकी सम्यक् प्राप्तिसे उत्पन्न प्रशम (कषायमन्दता) रूप सुखका ग्रहण किया जाय और उसे आराधक जिससे प्राप्त करे उसको मङ्गल कहा

१ परमेष्ठिगुणस्तोत्रम् । २ वैशेषिकादयः ।

1 द 'न' नास्ति । 2 द 'द्विशुद्धि' पाठः । 3 मु स प 'त्येवा' । 4 द 'मङ्गलं' नास्ति ।

दाराधक इति मङ्गलं परमेष्ठिगुणस्तोत्रम् । मलं वा श्रेयोमार्गसंसिद्धौ विघ्ननिमित्तं पापं गालयतीति मङ्गलं तदिति; तदेतदनुकूलं नः; परमेष्ठिगुणस्तोत्रस्य परममङ्गलत्वप्रतिज्ञानात् । तदुक्तम्—

"आदौ मध्येऽवसाने च मङ्गलं भाषितं बुधैः ।
तज्जिनेन्द्रगुणस्तोत्रं [1]तदविघ्नप्रसिद्धये ॥" [धवला १-१-१ उद्धृत]

§ १३. ननु चैवं भगवद्गुणस्तोत्रं स्वयं मङ्गलं न तु मङ्गलार्थम्; इति न मन्तव्यम्; स्वयं मङ्गलस्यापि मङ्गलार्थत्वोपपत्तेः । यदा हि मलगालनलक्षणं मङ्गलं तदा सुखादानलक्षणमङ्गलाय तद्भवतीति सिद्धं मङ्गलार्थम् । यदापि सुखादानलक्षणं तन्मङ्गलं तदा पापगालनलक्षणमङ्गलाय प्रभवतीति कथं न मङ्गलार्थम् ? यदाऽप्येतदुभयलक्षणं मङ्गलं तदा तु मङ्गलान्तरापेक्षया मङ्गलार्थं तदुपपद्यत एव, [2]आनिःश्रेयसप्राप्तेः परापरमङ्गलसन्ततिप्रसिद्धेरित्यलं विस्तरेण ।

§ १४. शिष्टाचारपरिपालनार्थम्, नास्तिकतापरिहारार्थम्, निर्विघ्नतः शास्त्रपरिसमाप्त्यर्थं च परमेष्ठिगुणस्तोत्रमित्यन्ये[1]; तेऽपि तदेव तथेति नियमयितुमसमर्था एव; तपश्चरणादेरपि तथात्वप्रसिद्धेः[2] । न हि तपश्चरणादिः शिष्टाचारपरिपालनाद्यर्थं न भवतीति शक्यं वक्तुम् । यदि पुनरनियमेन[3] भगवद्गुणसंस्तवनं शिष्टाचारपरिपालनाद्यर्थमभिधीयते तदा तदेव[4] शास्त्रादौ शास्त्रकारैः कर्त्तव्यमिति नियमो न सिद्ध्यति । न च [5]क्वचित्तन्न[6] क्रियते इति वाच्यम्, तस्य शास्त्रे [7]निबद्धस्यानिबद्धस्य[8] वा वाचिकस्य मानसस्य वा विस्तरतः संक्षेपतो वा शास्त्रकारैरवश्यंकरणात् । तदकरणे[9] तेषां[10] तत्कृतोपकारविस्मरणादसाधुत्वप्रसङ्गात् । साधूनां कृतस्योपकारस्याविस्मरणप्रसिद्धेः । 'न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति'[11] [त.श्लो.पृ.२,उ.] इति वचनात् । यदि पुनः स्वगुरोः संस्मरणपूर्वकं

जाय । इसी तरह 'मल' शब्दसे श्रेयोमार्गकी सम्यक् सिद्धि (प्राप्ति अथवा ज्ञान) में विघ्नोत्पादक पापको लिया जाय और वह जिससे गलता है उसे मङ्गल कहना चाहिये । और इस प्रकारसे केवल परमेष्ठीके गुणस्तवनको मङ्गल मानना एवं प्रतिपादन करना उचित है ?

समाधान—यह हमारे सर्वथा अनुकूल है । अर्थात् हमें पूर्णतः इष्ट है क्योंकि परमेष्ठीके गुणस्तवनको सबसे बड़ा और उत्तम मङ्गल माना गया है[3] । कहा भी है :—

"आदि, मध्य और अन्तमें आनेवाले विघ्नोंको नाश करनेके लिये विद्वानोंने उक्त तीनों ही स्थानोंपर मङ्गल कहा है और वह मङ्गल जिनेद्रका गुणस्तवन है ।" [ध.१-१-१ उ.]

§ १३. शङ्का—इस तरह तो परमेष्ठीका गुणस्तवन स्वयं मङ्गल सिद्ध हुआ, वह मङ्गलके लिये किया जाता है, यह सिद्ध नहीं होता ?

समाधान—यह मानना ठीक नहीं; क्योंकि जो स्वयं मङ्गल है वह मङ्गलार्थ भी हो सकता है । इसका खुलासा इस प्रकार है :—जब मङ्गलका अर्थ मलगालन विवक्षित होता है तो सुखादानरूप मङ्गलके लिये वह होता है और जब उसका अर्थ सुखादान इष्ट होता है तब वह पापगालनरूप मंगलके लिये होता है । इस तरह परमेष्ठीका गुणस्तवन मंगलके लिये क्यों नहीं सिद्ध होसकता ? यदि मलगालन और सुखादान दोनों एक साथ मंगलका अर्थ विवक्षित हों तो अन्य मङ्गलोंकी अपेक्षा वह मंगलके लिये सिद्ध हो जाता है; क्योंकि जब तक निःश्रेयस (मोक्ष) की प्राप्ति नहीं होती तब तक छोटे-बड़े अनेक मंगल परमेष्ठि-गुणस्तोत्रके लिये प्राप्त होते रहते हैं । अतः इस सम्बन्धमें और अधिक विस्तार आवश्यक नहीं है ।

§ १४. शङ्का—शिष्टाचारपरिपालन, नास्तिकतापरिहार और निर्विघ्न शास्त्रकी पूर्णताके लिये परमेष्ठीका गुणस्तवन किया जाता है, यह अनेक विद्वान् मानते हैं । फिर उसे श्रेयोमार्गकी सिद्धि और मङ्गलके लिये कैसे बतलाया जाता है ? सारांश यह कि मङ्गलके शिष्टाचारपरिपालन, नास्तिकतापरिहार और निर्विघ्न शास्त्रपरिसमाप्ति ये तीन प्रयोजन हैं और इन तीन प्रयोजनोंको लेकर ही शास्त्रकार अपने शास्त्रके प्रारम्भमें परमेष्ठीका गुणस्तवनरूप मंगल करते हैं । अतएव श्रेयोमार्गसंसिद्धिको मङ्गलका प्रयोजन न बतलाकर इन्हीं तीन प्रयोजनोंको बतलाना चाहिए ?

समाधान—उक्त शङ्का ठीक नहीं है क्योंकि यह नियम नहीं बनाया जासकता कि 'परमेष्ठीका गुणस्तवन ही शिष्टाचारपरिपालनादिकके लिये है, अन्य नहीं,' कारण, तपश्चरणादिकसे भी शिष्टाचारपरिपालन आदि देखा जाता है । यह कहना सर्वथा कठिन है कि तपश्चरणादिकसे शिष्टाचारपरिपालनादिक नहीं हो सकता, क्योंकि वह सर्वप्रसिद्ध है । और यदि नियम न बनाकर—सामान्यरूपसे ही परमेष्ठीके गुणस्तवनको शिष्टाचारपरिपालनादिकके लिये कहा जावे तो 'उसे ही शास्त्रारम्भमें शास्त्रकारोंको करना चाहिये' यह नियम सिद्ध नहीं होता । तात्पर्य यह कि 'परमेष्ठीका गुणस्तवन शिष्टाचारपरिपालनादिकके लिये ही किया जाता है' ऐसा न मानकर 'उसके लिये भी किया जाता है' ऐसा माननेमें हमें कोई आपत्ति नहीं है—इन प्रयोजनोंको भी हम स्वीकार करते हैं । परन्तु मुख्य और सबसे बड़ा प्रयोजन तो 'श्रेयोमार्ग-संसिद्धि' है और इसीसे यहाँ (आप्तपरीक्षा कारिका २ में) उसका कण्ठतः उल्लेख किया गया है ।

शङ्का—कहीं (किसी शास्त्रमें) परमेष्ठिगुणस्तवन नहीं किया जाता है ?

समाधान—नहीं, वह परमेष्ठिगुणस्तवन शास्त्रमें निबद्ध अथवा अनिबद्ध वाचिक या मानसिकरूपसे विस्तार या संक्षेपमें शास्त्रकारोंद्वारा अवश्य ही किया जाता है । यदि वे न करें तो उनके उपकारोंको भूल जाने अथवा भुला देनेसे वे (शास्त्रकार) असाधु—कृतघ्न कहलाये जायँगे । पर 'साधुजन कृत उपकारको कदापि नहीं भूलते—वे कृतज्ञ होते हैं' यह सर्वप्रसिद्ध अनुश्रुति है क्योंकि कहा है:—'साधुजन अपने प्रति किये दूसरोंके उपकार-

१ शास्त्रे विघ्नाभावप्रसिद्ध्यर्थम् । २ आङ् अभिव्यर्थः ।
३ "एसो पंचणमोयारो सव्व-पाव-प्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं होइ मंगलं ॥"

१ एके आचार्याः । २ शिष्टाचारपरिपालनादिप्रसिद्धेः । ३ नियममकृत्वा, एवकारमन्तरेणेत्यर्थः । ४ भगवद्गुणस्तवनमेव । ५ शास्त्रे । ६ भगवद्गुणस्तवनम् । ७ श्लोकादिरूपेण रचितस्य ८ श्लोकादिरूपेणारचितस्य । ९ भगवद्गुणस्तवनाकरणे । १० शास्त्रकाराणाम् । ११ पूर्णोऽयं श्लोक इत्थं वर्तते—अभिमतफलसिद्धेरभ्युपायः सुबोधः प्रभवति स च शास्त्रात्तस्य चोत्पत्तिराप्तात् ।
इति भवति स पूज्यस्तत्प्रसादप्रबुद्धैर्न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति ॥
—तत्त्वार्थश्लोक० पृ० २ उद्धृत ।

शास्त्रकरणमेवोपकारस्तद्विनेयानामिति मतम्, तदा सिद्धं परमेष्ठिगुणस्तोत्रम्, स्वगुरोरेव परमेष्ठित्वात्। तस्य गुरुत्वेन संस्मरणस्यैव तद्गुणस्तोत्रत्वसिद्धेरित्यलं विवादेन।

[सूत्रकारोदितपरमेष्ठिगुणस्तोत्रस्य निगदनम्]

§ १५. किं पुनस्तत्परमेष्ठिनो गुणस्तोत्रं शास्त्रादौ सूत्रकाराः प्राहुरिति निगद्यते—

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये ॥३॥

§ १६. अत्र मोक्षमार्गादिपदानामर्थः [१]पुरस्ताद्वक्ष्यते। वाक्यार्थस्तूच्यते। मोक्षमार्गस्य नेतारं कर्मभूभृतां भेत्तारं विश्वतत्त्वानां ज्ञातारमहं वन्दे, तद्गुणलब्ध्यर्थित्वात्। यो यद्गुणलब्ध्यर्थी स तं वन्दमानो दृष्टः, यथा [1]शस्त्रविद्यादिगुणलब्ध्यर्थी [2]शस्त्रविद्यादिविदं तत्प्रणेतारं च। तथा चाहं

को नहीं भूलते हैं।' और यदि यह कहा जाय कि अपने गुरुका स्मरण करके शास्त्रकी रचना ही उनके शिष्योंका उपकार (उपकारोल्लेख) है तो शास्त्रमें परमेष्ठीका गुणस्तवन सिद्ध हो जाता है क्योंकि अपना गुरु ही तो परमेष्ठी (आराध्य—वन्दनीय) है और इसलिये उनका गुरुरूपसे स्मरण करना ही परमेष्ठीका गुणस्तोत्र है। अतः और अधिक चर्चा अनावश्यक है ॥ २ ॥

§ १५. शङ्का—परमेष्ठीका वह गुणस्तवन कौन-सा है जिसे शास्त्रारम्भमें सूत्रकारने कहा है?

समाधान—वह गुणस्तवन यह है—

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये ॥३॥

अर्थात्—जो मोक्षमार्ग (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र) का उपदेष्टा है, कर्मपर्वतोंका प्रभेदक है और समस्त पदार्थोंका ज्ञाता है उसको मैं इन गुणोंकी प्राप्तिके लिये वन्दना करता हूँ।

§ १६. इस गुण-स्तोत्रमें आये हुए मोक्षमार्गादि पदोंका अर्थ आगे कहा जावेगा। यहाँ सिर्फ उसका वाक्यार्थ प्रकट किया जाता है—'मोक्षमार्गके नेता, कर्मभूभृतोंके भेत्ता और विश्वतत्त्वोंके ज्ञाताको मैं वन्दना करता हूँ क्योंकि उनके इन गुणोंको प्राप्त करनेका अभिलाषी हूँ, जो जिसके गुणोंको प्राप्त करनेका अभिलाषी होता है वह उसको वन्दना करता हुआ देखा गया है। जैसे शस्त्रविद्या आदि गुणोंका अभिलाषी शस्त्रविद्या आदिके ज्ञाता और उस विद्यादिके आविष्कर्ताको वन्दना करता हुआ पाया जाता है। और मोक्षमार्गप्रणेतृत्व, कर्मभूभृद्भेतृत्व और विश्वतत्त्वज्ञातृत्व इन तीन गुणोंको प्राप्त करनेका

---

१ अग्रे।

1, 2, मु 'शास्त्र'।

मोक्षमार्गप्रणेतृत्व-कर्मभूभृद्भेतृत्व-विश्वतत्त्वज्ञातृत्वगुणलब्ध्यर्थी। तस्मान्मोक्षमार्गस्य नेतारं कर्मभूभृतां भेत्तारं विश्वतत्त्वानां ज्ञातारं वन्दे इति शास्त्रकारः शास्त्रप्रारम्भे श्रोता तस्य व्याख्याता वा भगवन्तं परमेष्ठिनं परमपरं वा मोक्षमार्गप्रणेतृत्वादिभिर्गुणैः संस्तौति, तत्प्रसादाच्छ्रेयोमार्गस्य संसिद्धेः समर्थनात्।

[स्तोत्रोक्तविशेषणानां प्रयोजनप्रकाशनम्]

§ १७. किमर्थं पुनरिदं भगवतोऽसाधारणं विशेषणं मोक्षमार्गप्रणेतृत्वं कर्मभूभृद्भेतृत्वं विश्वतत्त्वज्ञातृत्वं चात्र[१] प्रोक्तं [२]भगवद्भिः[1]? इत्याह—

इत्यसाधारणं[३] प्रोक्तं विशेषणमशेषतः[४]।
पर-सङ्कल्पिताप्तानां व्यवच्छेद-प्रसिद्धये[५] ॥४॥

§ १८. परैर्वैशेषिकादिभिः सङ्कल्पिताः परसङ्कल्पितास्ते च ते आप्ताश्च परसङ्कल्पिताप्ता महेश्वरादयः, तेषामशेषतो व्यवच्छेदप्रसिद्ध्यर्थं यथोक्तमसाधारणं[2] विशेषणमाचार्यैः प्रोक्तमिति

अभिलाषी मैं हूँ, इस लिये मोक्षमार्गके नेता, कर्मपर्वतोंके भेत्ता और विश्वतत्त्वोंके ज्ञाताको वन्दना करता हूँ' इस तरह ग्रन्थके आरम्भमें ग्रन्थकार, श्रोता और उस ग्रन्थके व्याख्यानकर्त्तागण भगवान् पर और अपर परमेष्ठियोंकी उक्त गुणोंद्वारा स्तुति-वन्दना करते हैं क्योंकि उससे उन्हें श्रेयोमार्गकी सम्यक्प्राप्ति और सम्यग्ज्ञान होता है, यह ऊपर अच्छी तरह समर्थित किया जा चुका है ॥ ३ ॥

§ १७. शङ्का (अगली कारिकाका उत्थानिकावाक्य)—उक्त स्तोत्रमें जो भगवान्के मोक्षमार्गप्रणेतृत्व, कर्मभूभृद्भेतृत्व और विश्वतत्त्वज्ञातृत्व ये असाधारण विशेषण (लक्षण) कहे गये हैं उन्हें सूत्रकारने किस लिये कहा है? अर्थात् उनके कहनेका प्रयोजन क्या है?

समाधान—इसका उत्तर यह है:—

जो दूसरों—एकान्तवादियोंद्वारा अभिमत—माने गये आप्त (देव—परमात्मा) हैं उनका व्यवच्छेद—व्यावृत्ति बतलानेके लिये उक्त स्तोत्रमें मोक्षमार्गप्रणेतृत्वादि विशेषण कहे हैं ॥ ४ ॥

इसका खुलासा विद्यानन्दस्वामी स्वयं टीकाद्वारा निम्न प्रकार करते हैं:—

§ १८. पर—जो वैशेषिक आदि हैं उनके द्वारा कल्पित हुए जो महेश्वरादिक आप्त हैं उनका सर्वथा व्यवच्छेद करनेके लिए आचार्यमहोदयने उपर्युक्त असाधारण विशेषण कहे हैं। निःसन्देह ये तीनों विशेषण महेश्वर,

---

१ इह स्तोत्रे मोक्षमार्गस्येत्यादौ। २ शास्त्रकारैः। ३ 'तदितरावृत्तित्वे सति तन्मात्रवृत्तित्वमसाधारणत्वम्'—तर्कदीपिका। ४ सामस्त्येन। ५ व्यवच्छेदो निराकरणम्, तस्य प्रसिद्धिः प्रकाशनम्, तदर्थम्।

1 द 'भवद्भिः'। 2 द 'णमिति यथोक्तेनेति वाक्यार्थः' इति पाठः।

वाक्यार्थः । न हीदमीश्वर-कपिल-सुगतादिषु सम्भवति, बाधकप्रमाणसद्भावात् । भगवत्यर्हत्येव तत्सद्भावसाधनाच्चासाधारणविशेषणमिति वक्ष्यामः ।

[पराभिमताप्तव्यवच्छेदस्य सार्थक्यप्रतिपादनम्]

§ १९. ननु चेश्वरादीनामप्याप्तत्वे किं दूषणम्, येन तद्व्यवच्छेदार्थमसाधारणं विशेषणं[1] प्रोच्यते ? किं वाऽन्ययोग[1]व्यवच्छेदान्महात्मनि परमेष्ठिनि निश्चिते प्रतिष्ठितं स्यात् ? इत्यारेकायामिदमाह—

अन्ययोगव्यवच्छेदान्निश्चिते हि महात्मनि ।
तस्योपदेशसामर्थ्यादनुष्ठानं प्रतिष्ठितम् ॥ ५ ॥

§ २०. भवेदिति क्रियाध्याहारः ।

§ २१. ननु चात्रान्येषामन्य[2]योगव्यवच्छेदाभावेऽपि भगवतः परमेष्ठिनस्तत्त्वोपदेशादनुष्ठानं प्रतिष्ठामियर्त्येव[3], तेषामविरुद्धभाषित्वादिति चेत्; न; परस्परविरुद्धसमयप्रणयनात्तत्त्वनिश्चयायोगात्,

---

कपिल और सुगत आदि किसीमें भी सम्भव नहीं हैं क्योंकि उनमें उनको माननेमें बाधक-प्रमाण मौजूद हैं और भगवान् अर्हन्तमें ही वे प्रसिद्ध होते हैं और इसीलिए उन्हें असाधारण—अन्योंमें न पाये जानेवाले—विशेषण कहते हैं। इस सबका विवेचन हम आगे करेंगे।।४।।

§१९., २०. शङ्का (५वीं कारिकाकी उत्थानिका)—यदि महेश्वरादिकको भी आप्त माना जाय तो क्या दूषण है जिससे उनका व्यवच्छेद करनेके लिये उक्त विशेषण कहे जाते हैं ? अथवा, अन्योंके व्यवच्छेदसे अरहन्त परमेष्ठीको सिद्ध करके क्या प्रतिष्ठित—प्रतिष्ठाको प्राप्त हो जायगा ?

समाधान—इसका उत्तर यह है।

अन्य—महेश्वरादिकका व्यवच्छेद करके महात्मा-अरहन्त परमेष्ठीका निश्चय-प्रसाधन करनेसे उनके तत्त्वोपदेशकी समीचीनतात्मक सामर्थ्यसे उनका मोक्षमार्गानुष्ठान अच्छी तरह प्रतिष्ठित हो जाता है। अतएव उपर्युक्त गुणस्तोत्रमें उक्त विशेषण दिये गये हैं।

§२१. शङ्का—अन्यों—महेश्वरादिकोंका व्यवच्छेद न करके भी भगवान्-अरहन्त परमेष्ठीका तत्त्वोपदेश—प्रामाणिक उपदेश होनेसे उनका मोक्षमार्गानुष्ठान प्रतिष्ठित हो जायगा; क्योंकि वे विरुद्धभाषी—प्रमाणविरोधी कथन करनेवाले नहीं हैं, अतः महेश्वरादिकका व्यवच्छेद करना अनावश्यक और व्यर्थ है ?

---

१ व्यवच्छेदो त्रिधा भिद्यते—अयोगव्यवच्छेदः, अन्ययोगव्यवच्छेदः, अत्यन्तायोगव्यवच्छेदश्च । तत्रोद्देश्यतावच्छेदकसमानाधिकरणाभावाप्रतियोगित्वमयोगव्यवच्छेदः, यथा 'शङ्खः पाण्डुर एव' इति । विशेष्यभिन्नतादात्म्यादिव्यवच्छेदोऽन्ययोगव्यवच्छेदः, यथा 'पार्थ एव धनुर्धरः' इति । उद्देश्यतावच्छेदकव्यापकाभावाप्रतियोगित्वञ्चात्यन्तायोगव्यवच्छेदः, यथा 'नीलं सरोजं भवत्येव' इति । सप्तभङ्गित० अत्रान्ययोगव्यवच्छेदः प्रस्तुतः, तेनैव हि 'अर्हन्नेवाप्तः' इति निश्चयात् । २ 'अन्यः' शब्दोऽतिरिक्तः प्रतिभाति । ३ प्राप्नोत्येवेत्यर्थः ।

1 द 'विशेषणं' नास्ति ।

तदन्यतमस्याप्युपदेशप्रामाण्यानिश्चयादनुष्ठानप्रतिष्ठानुपपत्तेः ।

§ २२. ननु मोक्षोपायानुष्ठानोपदेशमात्रे नेश्वरादयो विप्रतिपद्यन्ते[1]। ततोऽर्हदुपदेशादिवेश्वराद्युपदेशादपि नानुष्ठानप्रतिष्ठानुपपन्ना, यतस्तद्व्यवच्छेदेन परमेष्ठी निश्चीयत इति कश्चित्;[2] [3]सोऽपि न विशेषज्ञः; सम्यग्मिथ्योपदेशविशेषाभावप्रसङ्गात् ।

[वैशेषिकाभिमततत्त्वपरीक्षाद्वारेण तदीयाप्तस्य परीक्षा]

§ २३. स्यान्मतम्—वैशेषिकैरभिमतस्याप्तस्य निश्श्रेयसोपायानुष्ठानोपदेशस्तावत्समीचीन एव बाधकप्रमाणाभावात् । 'श्रद्धाविशेषोपगृहीतं हि सम्यग्ज्ञानं वैराग्यनिमित्तं परां काष्ठामापन्नमन्त्यनिःश्रेयसहेतुः' इत्युपदेशः । तत्र श्रद्धाविशेषस्तावदुपादेयेषूपादेयतया हेयेषु हेयतयैव श्रद्धानम् । सम्यग्ज्ञानं पुनर्यथावस्थितार्थाधिगमलक्षणम् । तद्धेतुकं च वैराग्यं राग-द्वेषप्रक्षयः । एतदनुष्ठानं च

समाधान—नहीं, परस्पर अथवा पूर्वापरविरोधी शास्त्रों एवं सिद्धान्तोंका प्रणयन—प्ररूपण करनेसे तत्त्वका—यथार्थताका निश्चय (निर्णय) नहीं हो सकता है। अतएव महेश्वरादिकोंमें किसी एकके भी उपदेशकी प्रामाणिकताका निश्चय न हो सकनेसे अरहन्त परमेष्ठीका भी मोक्षमार्गानुष्ठान प्रतिष्ठित नहीं हो सकता है। इसलिये अन्योंका व्यवच्छेद करना आवश्यक और सार्थक है।

§ २२. शङ्का—मोक्षमार्गानुष्ठानके सामान्य उपदेशमें महेश्वरादिकको कोई विवाद नहीं है। अतः अर्हन्तके उपदेशकी तरह महेश्वरादिकके उपदेशसे भी मोक्षमार्गानुष्ठानकी प्रतिष्ठा अनुपपन्न—असम्भव नहीं है—वह महेश्वरादिकके उपदेशसे भी बन सकती है तब उनका व्यवच्छेद करके परमेष्ठीका निश्चय करना उचित नहीं है ?

§ २२. समाधान—नहीं, अरहन्त और महेश्वरादिकमें जो भेद है, मालूम होता है उसे शङ्काकार महाशयने नही समझ पाया है। यदि महेश्वरादिकका व्यवच्छेद करके परमेष्ठीका निश्चय न किया जाय तो दोनोंके उपदेशोंमें सम्यक् और मिथ्याका निर्णय नहीं होसकता है। अर्थात् फिर किसी एकके उपदेशको सम्यक् और दूसरेके उपदेशको मिथ्या नहीं बताया जा सकता है, या तो सभीके उपदेश सम्यक् कहे जायेंगे या मिथ्या कहे जायेंगे। पर ऐसा नहीं है। अतः अन्योंका व्यवच्छेद करके परमेष्ठीका निश्चय करना सर्वथा उचित है।

§ २३. शङ्का—वैशेषिकोंने जिन्हें आप्त स्वीकार किया है उनका मोक्षमार्गानुष्ठानका उपदेश तो सम्यक् ही है क्योंकि उसमें कोई भी बाधकप्रमाण (विरोध) नहीं है। श्रद्धा विशेषसे युक्त जो सम्यग्ज्ञान है और जो वैराग्यमें कारण है वही सम्यग्ज्ञान बढ़ते-बढ़ते जब सर्वोच्च सीमाको प्राप्त होजाता है तो उसे ही वैशेषिकोंके यहाँ परनिःश्रेयसका कारण कहा गया है। उपादेय-ग्रहणयोग्य पदार्थोंमें उपादेयरूपसे और हेयों—छोड़नेयोग्य पदार्थोंमें हेयरूपसे जो श्रद्धान-रुचि होती है वह श्रद्धाविशेष है और जो पदार्थोंका यथार्थ ज्ञान है वह सम्यग्ज्ञान है तथा उस सम्यग्ज्ञानसे होनेवाला जो राग और द्वेषका सर्वथा क्षय है वह वैराग्य है और इन तीनोंकी ही भावनाका अभ्यास करना इनका

---

१ विवादं कुर्वन्ति । २ वैशेषिकादिः । ३ जैन उत्तरयति सोऽपीति ।

तद्भावनाभ्यासः । [1]तस्यैतस्य निःश्रेयसोपायानुष्ठानस्योपदेशो न प्रत्यक्षेण बाध्यते, जीवन्मुक्तेस्तत एव प्रत्यक्षतः कैश्चित्[१] स्वयं संवेदनात् । परैः[२] संहर्षायास[३] विमुक्तेरनुमीयमानत्वात्, 'जीवन्नेव हि विद्वान् संहर्षायासाभ्यां विमुच्यते' इत्युपदेशाच्च नानुमानागमाभ्यां बाध्यते । जीवन्मुक्तिवत् परममुक्तेरप्यत एवानुष्ठानात्सम्भावनोपपत्तेः । न चान्यत्प्रमाणं बाधकं तदुपदेशस्य, तद्विपरीतार्थव्यवस्थापकत्वाभावादिति ।

§ २४. तदपि न विचारक्षमम्; श्रद्धादिविशेषविषयाणां पदार्थानां यथावस्थितार्थत्वासम्भवात् । द्रव्यादयो हि षट्पदार्थास्तावदुपादेयाः सदात्मानः प्रागभावादयश्चासदात्मानस्ते च यथा वैशेषिकैर्व्यावर्ण्यन्ते तथा न यथार्थतया व्यवतिष्ठन्ते, तद्ग्राहकप्रमाणाभावात् । द्रव्यं हि गुणादिभ्यो भिन्नमेकम्, गुणश्चेतरेभ्यो भिन्न एकः, कर्म चैकमितरेभ्यो भिन्नम्, सामान्यं चैकम्, विशेषश्चैकः पदार्थः, समवायवत् यद्यभ्युपगम्यते तदा द्रव्यादयः षट् पदार्थाः सिद्ध्येयुः[2] । न च द्रव्यपदस्यै-

अनुष्ठान है । सो इस मोक्षमार्गानुष्ठानका उपदेश न प्रत्यक्षसे बाधित है क्योंकि जो जीवन्मुक्त हैं वे तो उसी प्रत्यक्ष (स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष) से जीवन्मुक्ति (अपरनिःश्रेयस)का अनुभव कर लेते हैं और दूसरे (छद्मस्थ) राग-द्वेषके अभावसे उसका अनुमान करते हैं और यह उपदेश भी है कि 'जीवित अवस्थामें ही विद्वान् राग और द्वेषसे मुक्त होजाता है ।' और इसलिये अनुमान तथा आगमसे भी मोक्षमार्गानुष्ठान बाधित नहीं है, प्रत्युत सिद्ध ही है । इसी अनुष्ठानसे जीवन्मुक्तिकी तरह परममुक्ति भी सम्भव सिद्ध है । इसके अतिरिक्त और कोई भी प्रमाण उक्त उपदेशमें बाधक नहीं है । कारण, उससे विपरीत—विरुद्ध अर्थकी कोई प्रमाण व्यवस्था—प्रसाधन नहीं करता । तात्पर्य यह कि सभी प्रमाण—प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम वैशेषिकोंद्वारा मान्य आप्तके उपदेशका समर्थन ही करते हैं, विरोध नहीं । अतः कमसे कम वैशेषिकोंके आप्त—महेश्वरका तो उक्त विशेषणों द्वारा व्यवच्छेद नहीं होसकता है ?

§ २४. समाधान—उपर्युक्त कथन विचारपूर्ण नहीं है; क्योंकि श्रद्धाविशेष आदिके विषयभूत जो पदार्थ वैशेषिकोंद्वारा स्वीकार किये गये हैं वे यथावस्थितरूपसे सिद्ध नहीं होते । उन्होंने द्रव्यादि छह पदार्थोंको तो उपादेय और सद्रूप (भावात्मक) तथा प्रागभावादिको असद्रूप (अभावात्मक) वर्णित किया है । परन्तु वे वैसे (उसरूपसे) सिद्ध नहीं होते । कारण, उनका साधक प्रमाण नहीं है । हाँ, यदि द्रव्य गुणादिसे भिन्न और एक, गुण इतरपदार्थोंसे भिन्न और एक, कर्म एक और इतर पदार्थोंसे भिन्न, सामान्य एक और विशेष एक तथा भिन्न इस तरह समवायकी तरह उन्हें एक-एक और परस्पर भिन्न पदार्थ माने जावें तो द्रव्यादि छह पदार्थ सिद्ध होसकते हैं, परन्तु वैशेषिकोंने न

१ जीवन्मुक्तैः । २ जीवन्मुक्तभिन्नैः छद्मस्थैरस्मदादिभिरित्यर्थः । ३ रागद्वेषौ ।

1 द टिप्पणिपाठः 'वैशेषिकस्य' ।

2 द 'सिद्ध्येयुः' ।

कोऽर्थः परैरिष्यते गुणपदस्य कर्मपदस्य सामान्यपदस्य विशेषपदस्य च, यथा समवायपदस्यैकः समवायोऽर्थः, इति कथं षट्पदार्थव्यवस्थितिः ?

§ २५. स्यान्मतम्—पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्ममनांसि नव द्रव्याणि द्रव्यपदस्यार्थ इति कथमेको द्रव्यपदार्थः ? सामान्यसंज्ञाभिधानादिति चेत्; न; सामान्यसंज्ञायाः सामान्यवद्विषयत्वात्तदर्थस्य[1] सामान्यपदार्थत्वे ततो विशेषेष्वप्रवृत्तिप्रसङ्गात् । द्रव्यपदार्थस्यैकस्यासिद्धेश्च । पृथिव्यादिषु हि द्रव्यमिति संज्ञा द्रव्यत्वसामान्यसम्बन्धनिमित्ता । तत्र द्रव्यत्वमेकं न द्रव्यं किञ्चिदेकमस्ति । द्रव्यलक्षणमेकमिति चेत्, तत्किमिदानीं द्रव्यपदार्थोऽस्तु ? न चैतद् युक्तम्, लक्ष्यस्य द्रव्यस्याभावे तल्लक्षणानुपपत्तेः । पृथिव्यादीनि लक्ष्याणि, "क्रियावद्गुणवत्समवायिकारणम्" [वैशेषि० सू० १-१-१५] इति द्रव्यलक्षणं यदि प्रतिज्ञायते, तदाऽनेकत्र लक्ष्ये लक्षणं कथमेकमेव प्रयुज्यते ? तस्य[१] प्रतिव्यक्तिभेदात् । न हि यदेव पृथिव्यां द्रव्यलक्षणं तदेवोदकादिष्वस्ति, [२]तस्यासाधारणरूपत्वात् । यदि पुनर्द्रव्यलक्षणं पृथिव्यादीनां गुणादिभ्यो व्यवच्छेदकतया तावदसाधारणो धर्मः, पृथिव्यादिषु नवस्वपि सद्भावात्साधारणः । कथमन्यथाऽतिव्याप्त्यव्याप्ती लक्षणस्य निराक्रियेते ? सकललक्ष्यव्यक्तिषु[2]

तो 'द्रव्य' पदका एक अर्थ माना है और न 'गुण' 'पद', 'कर्म' पद, 'सामान्य' पद तथा 'विशेष' पदका एक अर्थ माना है । जैसा कि उन्होंने 'समवाय' पदका एक 'समवाय' अर्थ स्वीकार किया है । ऐसी हालतमें उनके छह पदार्थोंकी व्यवस्था कैसे होसकती है ? अर्थात् नहीं होसकती है ।

§ २५. शङ्का—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन ये नव द्रव्यें द्रव्यपदका अर्थ हैं—द्रव्यपदार्थ हैं ?

समाधान—यदि ऐसा है तो एक द्रव्यपदार्थ कैसे सिद्ध हुआ ? अर्थात् उक्त द्रव्योंको द्रव्यपदका अर्थ माननेपर एक द्रव्यपदार्थ सिद्ध नहीं होता—नौ सिद्ध होते हैं । यदि यह कहा जाय कि द्रव्यसामान्यकी संज्ञासे एक द्रव्यपदार्थ कहा जाता है अर्थात् सब द्रव्योंकी 'द्रव्य' यह सामान्यसंज्ञा है, अतः उसकी अपेक्षासे एक द्रव्यपदार्थ माना गया है तो यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि सामान्यसंज्ञा सामान्यवानों—विशेषोंको ही विषय करती है और यदि उसका अर्थ सामान्यपदार्थ स्वीकार किया जाय तो फिर 'द्रव्य' पदसे विशेषों—पृथिवी, जल आदि द्रव्यविशेषोंमें प्रवृत्ति नहीं होसकती है क्योंकि जिस पदका जो अर्थ होता है उससे उसीमें प्रवृत्ति होती है अन्यमें नहीं । अतएव द्रव्यसामान्यसंज्ञाका द्रव्यत्वसामान्य अर्थ माननेपर द्रव्यत्वसामान्यमें ही उससे प्रवृत्ति होसकेगी, पृथिव्यादि विशेषद्रव्योंमें कदापि नहीं होसकती है । दूसरे, द्रव्यपदार्थ एक सिद्ध नहीं होता, क्योंकि पृथिव्यादिकोंकी जो 'द्रव्य' यह सामान्यसंज्ञा है वह द्रव्यत्वसामान्यके सम्बन्धसे है और इसलिये द्रव्यत्व एक सिद्ध होगा, न कि एक द्रव्य ।

शङ्का—द्रव्यलक्षण एक है, अतः द्रव्यपदार्थ भी एक ही है ?

१ लक्षणस्य । २ द्रव्यलक्षणस्य ।

1 'द्रव्यपदस्यार्थस्य' इति द टिप्पणिपाठः । 2 मु 'वस्तुषु' पाठः

हि व्यापकस्य लक्षणस्याव्याप्तिपरिहारस्तदलक्ष्येभ्यश्च व्यावृत्तस्यातिव्याप्तिपरिहारः सकलैर्लक्ष्य-लक्षणज्ञैरभिधीयते नान्यथेति मतिः, तदापि नैको द्रव्यपदार्थः सिद्ध्यति, द्रव्यलक्षणादन्यस्य लक्ष्यस्य द्रव्यस्यैकस्यासम्भवात् । नवापि पृथिव्यादीनि[2] द्रव्याण्येकलक्षणयोगादेको द्रव्यपदार्थ इति चेत्; न; तथोपचारमात्रप्रसङ्गात् । पुरुषो यष्टिरिति यथा । यष्टिसाहचर्याद्धि पुरुषो यष्टिरिति कथ्यते न पुनः स्वयं यष्टिरित्युपचारः प्रसिद्ध एव तथा पृथिव्यादिरनेकोऽपि स्वयमेकलक्षणयोगादेक उपचर्यते न तु स्वयमेक इत्यायातम् । न च लक्षणमप्येकम्, पृथिव्यादिषु पञ्चसु क्रियावत्स्वेव 'क्रियावद्गुणवत्समवायिकारणम्' [वैशेषि० सू० १-१-१५] इति द्रव्यलक्षणस्य भावात्, निःक्रियेष्वाकाशकालदिगात्मसु क्रियावत्त्वस्याभावात् । 'गुणवत्समवायिकारणम्' इत्येतावन्मात्रस्य

समाधान—यदि द्रव्यलक्षणको एक होनेसे द्रव्यपदार्थ एक है तो क्या द्रव्यलक्षण द्रव्यपदार्थ है ? पर यह बात नहीं है क्योंकि लक्ष्यभूत द्रव्यके अभावमें द्रव्यलक्षण ही नहीं बनता है। यदि यह कहा जाय कि पृथिव्यादिक लक्ष्य हैं और 'क्रियावत्ता, गुणवत्ता तथा समवायिकारणता' द्रव्यलक्षण है, अतः लक्ष्यभूत द्रव्य और द्रव्यलक्षण दोनों उपपन्न हैं तो अनेक लक्ष्यों—पृथिव्यादिकोंमें एक ही द्रव्यलक्षण कैसे प्रयुक्त होसकता है क्योंकि लक्षण प्रतिव्यक्ति भिन्न होता है। जो पृथिवीमें द्रव्यलक्षण है वही द्रव्यलक्षण जलादिकोंमें नहीं है। कारण, वह असाधारण होता है। यदि यह माना जाय कि पृथिव्यादिका जो द्रव्यलक्षण है वह पृथिव्यादिकको गुणादिकसे जुदा कराता है इसलिये तो वह असाधारण है और पृथिव्यादि नवोंमें सभीमें रहता है इसलिये वह साधारण है । अतः लक्षण असाधारण और साधारण दोनों ही तरहका होता है। अन्यथा लक्षणके अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोषका परिहार कैसे किया जासकता है। सम्पूर्ण लक्ष्यभूत वस्तुओंमें लक्षणके रहनेसे अव्याप्तिका परिहार और अलक्ष्योंमें न रहने—उनसे लक्ष्यको व्यावृत्त करनेसे अतिव्याप्तिका निराकरण सभी लक्ष्यलक्षणज्ञ विद्वान् बतलाते हैं। लक्षणको असाधारण और साधारण माने बिना अव्याप्ति तथा अतिव्याप्तिका परिहार नहीं किया जासकता है। अतः पृथिव्यादि नवोंमें एक द्रव्यलक्षण माननेमें कोई आपत्ति नहीं है ? लेकिन ऐसा माननेपर भी एक द्रव्यपदार्थ सिद्ध नहीं होता; क्योंकि इस तरह द्रव्यलक्षण ही एक सिद्ध होता है लक्ष्यभूत द्रव्य एक सिद्ध नहीं होता।

शङ्का—पृथिव्यादि नवों द्रव्योंमें एक द्रव्यलक्षण रहता है इसलिये वे एक द्रव्यपदार्थ हैं ?

समाधान—नहीं, इस तरह तो केवल उपचारका ही प्रसंग आयेगा । अर्थात् मात्र औपचारिक एक द्रव्यपदार्थ सिद्ध होगा—वास्तविक नहीं । जैसे लकड़ीवाले पुरुषको 'लकड़ी', तांगेवालेको 'तांगा' लकड़ी और तांगेके साहचर्य—संयोगसे उपचारतः कह दिया जाता है। वास्तवमें तो न लकड़ीवाला पुरुष लकड़ी है और न तांगावाला तांगा है—वे दोनों ही अलग-अलग दो चीजें हैं। उसी प्रकार पृथिव्यादि अनेक द्रव्य भी एक लक्षणके साहचर्य—योगसे उपचारतः एक हैं, वस्तुतः स्वयं एक नहीं हैं, यह अगत्या मानना पड़ेगा। दूसरे, लक्षण भी एक नहीं है। पृथिवी आदि जो

1 द 'पृथिव्यादिद्रव्या'।

ततो[1]ऽन्यस्य द्रव्यलक्षणस्य सद्भावात् लक्षणद्वयस्य प्रसिद्धेः । तथा च द्रव्यलक्षणद्वययोगात् द्वावेव द्रव्यपदार्थौ स्याताम्[2] ।

§ २६. यदि पुनर्द्वयोरपि द्रव्यलक्षणयोर्द्रव्यलक्षणत्वाविशेषादेकं द्रव्यलक्षणमित्युच्यते, तदाऽपि किं तद् द्रव्यलक्षणयोर्द्रव्यलक्षणत्वमेकम् ? न तावत्[1] सामान्यम्, तस्य[2] द्रव्य-गुण-कर्माश्रयत्वात् । न चैते द्रव्यलक्षणे द्रव्ये, स्वेष्टविघातात् । नापि गुणौ[3], "[4]द्रव्याश्रयी अगुणवान् संयोगविभागेष्व-कारणमनपेक्षः" [वैशेषि० सू० १-१-१६] इति गुणलक्षणाभावात् । प्रत्ययात्मकत्वात्तयोर्गुणत्वमिति चेत्; न; प्रत्ययात्मनोर्लक्षणयोः पृथिव्यादिष्वसम्भवात्, तयोस्तदसाधारणधर्मत्वासम्भवात् । एतेनाभिधानात्मनोर्द्रव्यलक्षणयोर्गुणत्वं प्रत्याख्यातम् । नापि ते कर्मणी, परिस्पन्दात्मकत्वात्, "एक-

पांच क्रियावान् द्रव्य हैं उनमें ही उपर्युक्त 'क्रियावत्ता, गुणवत्ता और समवायिकारणता' रूप द्रव्यलक्षण पाया जाता है और निष्क्रिय जो आकाश, काल, दिशा और आत्मा ये चार द्रव्य हैं उनमें क्रियावत्ता नहीं पायी जाती है और इसलिये इन चार द्रव्योंमें केवल 'गुणवत्ता और समवायिकारणता' रूप एक अन्य द्रव्यलक्षण पाया जानेसे दो द्रव्यलक्षण प्रसिद्ध होते हैं। और इस तरह दो द्रव्यलक्षणोंसे दो ही द्रव्यपदार्थ सिद्ध हो सकेंगे।

§ २६. शङ्का—दोनों ही द्रव्यलक्षणोंमें एक द्रव्यलक्षणत्व—द्रव्यलक्षणपना है अतएव उससे वे दोनों एक हैं—एक द्रव्यलक्षण हैं। अतः उक्त मान्यतामें कोई दोष नहीं है ?

समाधान—ऐसा माननेमें भी दोष है, क्योंकि उन दो द्रव्यलक्षणोंमें रहनेवाला वह एक द्रव्यलक्षणत्व क्या है ? वह सामान्य है नहीं, कारण, सामान्य द्रव्य, गुण, और कर्मके आश्रय होता है और ये द्रव्यलक्षण न द्रव्य हैं, क्योंकि द्रव्यलक्षणोंको द्रव्य माननेपर कोई द्रव्यसे भिन्न द्रव्यलक्षण नहीं बन सकेगा और द्रव्यलक्षणके बिना द्रव्यपदार्थ कोई सिद्ध भी नहीं हो सकेगा और इस तरह द्रव्यलक्षणोंको द्रव्य माननेमें 'स्वेष्ट-विघात'—(अपने मतका नाश) नामका दोष आता है। गुण भी वे नहीं होसकते; क्योंकि 'जो द्रव्यके आश्रय हों, स्वयं गुणरहित हों और संयोग तथा विभागोंमें निरपेक्ष कारण न हों' [वैशेषि० सू० १-१-१६] यह गुणलक्षण उनमें नहीं पाया जाता है।

शङ्का—द्रव्यलक्षण प्रत्यय (ज्ञान) रूप हैं अतः उन्हें गुण मान लिया जाय ?

समाधान—नहीं, क्योंकि यदि द्रव्यलक्षणोंको प्रत्ययरूप माना जाय तो पृथिवी आदिमें उनका रहना असम्भव हो जायगा। कारण, प्रत्ययरूप दोनों लक्षण उनका असाधारण धर्म नहीं हैं—ज्ञानाधिकरण आत्माके ही वे असाधारण धर्म बन सकते हैं। इस उपर्युक्त विवेचनसे द्रव्यलक्षणोंको अभिधान—शब्दरूप मानना भी खण्डित होजाता है, क्योंकि अभिधानरूप दोनों लक्षण पृथिवी आदिमें अव्याप्त हैं—केवल शब्दाधिकरण आकाशमें ही वे रह सकते हैं और उसीके वे असाधारण धर्म कहलाये जायेंगे। अतः द्रव्यलक्षण गुण भी नहीं कहे जासकते। तथा वे कर्म भी नहीं हैं, क्योंकि वे क्रियारूप

१ क्रियावदित्यादिद्रव्यलक्षणात् । २ न तु नव इति शेषः ।

1 द 'तत्'। 2 'सामान्यस्य' इति द टिप्पणिपाठः। 3 द 'गुणः'। 4 द 'द्रव्येत्यादि इत्यन्तं' पाठो नास्ति

द्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्षकारणम्'' [वैशेषि० सू० १-१-१७] इति कर्मलक्षणस्याभावाच्च । तयोरेकद्रव्यत्वे नवविधत्वप्रसङ्गाद् द्रव्यलक्षणस्य कुतो द्वित्वमेकत्वं वा व्यवतिष्ठते ? यतो द्रव्यलक्षणत्वमेकं तत्र प्रवर्त्तमानमेकत्वं व्यवस्थापयेत् । तथोपचरितोपचारप्रसङ्गश्च, द्रव्यलक्षणत्वेनैकेन योगाद् द्रव्यलक्षणयोरेकत्वादेकं द्रव्यलक्षणम्, तेन चोपचरितेन द्रव्यलक्षणेनैकेन योगात्पृथिव्यादीन्येको द्रव्यपदार्थ इति कुतः पारमार्थिको द्रव्यपदार्थः कश्चिदेकः सिद्ध्येत् ?

§ २७. यदप्यभ्यधायि वैशेषिकैः पृथिव्यादीनां नवानां द्रव्यत्वेनैकेनाभिसम्बन्धादेकत्वमिति द्रव्यं नामैकः पदार्थ इति, तदपि न युक्तम्, परमार्थतो द्रव्यपदार्थस्यैकस्यासिद्धेः, तस्योपचारादेव प्रसिद्धेः ।

§ २८. एतेन चतुर्विंशतिगुणानां गुणत्वेनैकेनाभिसम्बन्धादेको गुणपदार्थः, पञ्चानां च कर्मणां कर्मत्वेनैकेनाभिसम्बन्धादेकः कर्मपदार्थ इत्येतत्प्रत्याख्यातम्, तथावास्तवगुणकर्मपदार्थान्यवस्थितेः । कथं चैवं सामान्यपदार्थ एकः सिद्ध्येत् ? विशेषपदार्थो वा ? समवायपदार्थो वा ? परापरसामान्ययोः सामान्यान्तरेणैकेनाभिसम्बन्धायोगात् विशेषाणां चेति समवाय एवैकः पदार्थः स्यात् ।

§ २९. यदि पुनर्यथेहेदमिति प्रत्ययाविशेषाद्विशेषप्रत्ययाभावादेकः समवायः तथा द्रव्यमिति प्रत्ययाविशेषादेको द्रव्यपदार्थः स्यात्, गुण इति प्रत्ययाविशेषाद् गुणपदार्थः कर्मेति प्रत्ययाविशेषात्कर्मपदार्थः, सामान्यमिति प्रत्ययाविशेषात्सामान्यपदार्थो विशेष इति प्रत्ययाविशेषाद्विशेषपदार्थ इत्यभिधीयते [1]तदाऽपि वैशेषिकतन्त्रव्याघातो दुःशक्यः परिहर्त्तुम्, स्याद्वादिमतस्यैवं प्रसिद्धेः । स्याद्वादिनां हि शुद्धसंग्रहनयात् [2]सत्प्रत्ययाविशेषाद्विशेषलिङ्गाभावादेकं सन्मात्रं तत्त्वं शुद्धं द्रव्यमिति मतम् । तथैवाशुद्धसंग्रहनयादेकं द्रव्यमेको गुणादिरिति । व्यवहारनयात्तु [3] यत्सत्तद् द्रव्यं पर्यायो वेति भेदः । यद्द्रव्यं तज्जीवद्रव्यमजीवद्रव्यं च, यश्च[4] पर्यायः सोऽपि[5] परिस्पन्दात्मकोऽपरिस्पन्दात्मकश्चेति । सोऽपि सामान्यात्मको विशेषात्मकश्चेति । [6]स च द्रव्यादविष्वग्भूतो[१] विष्वग्भूतो[२] वेति यथाप्रतीति-

नहीं हैं। दूसरे, 'जो एक ही द्रव्यके आश्रय है, स्वयं निर्गुण है और संयोग तथा विभागोंमें अन्य किसी कारणकी अपेक्षा नहीं रखता है वह कर्म है' यह कर्मलक्षण उनमें नहीं है। यदि द्रव्यलक्षणोंको 'एक-द्रव्य' कहा जाय तो द्रव्यलक्षण नौ तरहका होजायगा फिर दो अथवा एक द्रव्यलक्षण कैसे बन सकेगा ? जिससे एक द्रव्यलक्षणत्व उन दो द्रव्यलक्षणोंमें रहकर उनके एकत्वकी व्यवस्था करे। तात्पर्य यह कि कर्म एक-एक द्रव्यके आश्रय जुदा-जुदा ही रहता है और इसलिये उसे 'एकद्रव्य' कहा जाता है। अतएव यदि द्रव्यलक्षणोंको 'एकद्रव्य' रूप कर्म माना जाय तो पृथिवी आदि द्रव्य नौ हैं और इसलिये उन नौमें प्रत्येकमें जुदा-जुदा द्रव्यलक्षण रहनेसे द्रव्यलक्षण नौ होजायेंगे— दो द्रव्यलक्षणों अथवा एक द्रव्यलक्षणकी उपरोक्त मान्यता फिर नहीं बन सकती है। तब एक द्रव्यलक्षणत्वसे उन दो द्रव्यलक्षणोंमें एकत्व कैसे स्थापित किया जा सकता है ? तथा ऐसा माननेमें उपचरितोपचारका प्रसङ्ग भी आता है। एक द्रव्यलक्षणत्वके योगसे तो दो द्रव्यलक्षणोंमें एकता—एकपना लाया गया और इस तरह एक द्रव्यलक्षण हुआ और इस उपचरित एक द्रव्यलक्षणसे पृथिवी आदिको एक द्रव्यपदार्थ माना गया। अतः उपर्युक्त मान्यतामें उपचरितोपचारका दूषण भी स्पष्ट है। ऐसी स्थितिमें एक वास्तविक द्रव्यपदार्थ कैसे सिद्ध हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता।

§ २७. शङ्का—पृथिवी आदि नौमें एक द्रव्यत्वसामान्यका सम्बन्ध है अतः उस द्रव्यत्वसामान्यसे उनमें एकत्व—एकपना है और इसलिये द्रव्य नामका एक पदार्थ सिद्ध हो जाता है ?

समाधान—यह कथन भी ठीक नहीं है; क्योंकि वास्तवमें एक द्रव्यपदार्थ सिद्ध नहीं होता, द्रव्यत्वसामान्यके सम्बन्धसे तो एक द्रव्यपदार्थ उपचारसे ही प्रसिद्ध होता है।

§ २८. इस विवेचनसे चौबीस गुणोंको एक गुणत्वके सम्बन्धसे एक गुणपदार्थ और पाँच कर्मोंका एक कर्मत्वके सम्बन्धसे एक कर्मपदार्थ मानना या कहना भी खण्डित हो जाता है; क्योंकि उस तरह गुणपदार्थ और कर्मपदार्थ वास्तविक एक सिद्ध नहीं होते। दूसरे, यदि द्रव्यादिकी इस तरह व्यवस्था की जाय तो सामान्यपदार्थ, विशेषपदार्थ और समवायपदार्थ ये तीनों एक-एक कैसे सिद्ध हो सकेंगे ? कारण, परसामान्य और अपरसामान्यमें, विशेषोंमें और समवायमें एक सामान्यका सम्बन्ध नहीं है। अतएव द्रव्यादिपदार्थोंको एक द्रव्यत्वादिसामान्यके सम्बन्धसे एक-एक मानना उचित नहीं है। और इसलिये समवाय ही एक पदार्थ माना जा सकता है क्योंकि वह स्वतः एक है, द्रव्यादि नहीं।

§ २९. यदि यह कहा जाय कि जिस प्रकार 'इहेदं—इसमें यह है'—इस प्रकारके सामान्य (एकसे) प्रत्ययके होनेसे और विशेषप्रत्ययके न होनेसे एक समवायपदार्थ माना जाता है उसी प्रकार 'द्रव्यम्'—द्रव्य—इस सामान्य प्रत्ययसे एक द्रव्यपदार्थ, 'गुण' इस सामान्यप्रत्ययसे एक गुणपदार्थ, 'कर्म' इस सामान्यप्रत्ययसे एक कर्मपदार्थ, 'सामान्य' इस सामान्यप्रत्ययसे सामान्यपदार्थ और 'विशेष' इस सामान्यप्रत्ययसे विशेषपदार्थ माना जाता है, तो इस कथनमें वैशेषिकोंके सिद्धान्तका विरोध आता है जिसका परिहार (दूर) करना अत्यन्त कठिन है क्योंकि इस प्रकारके कथनसे स्याद्वादियों (जैनों) के मतकी सिद्धि होती है। स्याद्वादियोंके यहाँ ही शुद्धसंग्रहनयसे 'सत्' प्रत्यय सामान्यके होने और विशेषप्रत्ययके न होनेसे 'सन्मात्रतत्त्व शुद्ध द्रव्य है' ऐसा माना गया है और अशुद्धसंग्रहनयसे एक द्रव्य है, एक गुण है, आदि माना गया है। किन्तु व्यवहारनयसे 'जो सत् है वह द्रव्य है अथवा पर्याय है' इस प्रकार भेद स्वीकार किया गया है। जो द्रव्य है वह जीवद्रव्य और अजीवद्रव्यके भेदसे दो प्रकारका है और जो पर्याय है वह भी परिस्पन्दरूप और अपरिस्पन्दरूप दो तरहकी है। ये दोनों भी सामान्य तथा विशेषरूप हैं। सो ये पर्यायें द्रव्यसे कथञ्चिद् भिन्न और कथं-

१ अपृथक्भूतः । २ पृथक्भूतः ।

1 मु स प 'तथापि' । 2 द 'नयसत्प्र' । 3 द 'नयाच्च' । 4 द 'यः' । 5 द 'सोऽपरिस्पन्दात्मकः परिस्पन्दात्मकश्चेति' । 6 द 'द्रव्यादिविष्वग्भूतो' ।

निश्चीयते सर्वथा बाधकाभावात्। वैशेषिकाणां तु तथाभ्युगमो व्याहत एव तन्त्रविरोधात्। न हि तत्तन्त्रे सन्मात्रमेव तत्त्वं सकलपदर्थानां तत्रैवान्तर्भावादिति नयोऽस्ति।

§ ३०. स्यान्मतम्—द्रव्यपदेन सकलद्रव्यव्यक्तिभेदप्रभेदानां संग्रहादेको द्रव्यपदार्थः, गुण इत्यादिपदेन चैकेन गुणादिभेदप्रभेदानां संग्रहाद् गुणादिरप्येकैकपदार्थो व्यवतिष्ठते।

"विस्तरेणोपदिष्टानामर्थानां तत्त्वसिद्धये।
समासेनाभिधानं यत्संग्रहं तं विदुर्बुधाः॥" [ ] इति।

"पदार्थधर्मसंग्रहः प्रवक्ष्यते" [प्रशस्तपा०भा.पृ.१] इत्यत्र पदार्थसंग्रहस्य धर्मसंग्रहस्य चैवं व्याख्यानादस्त्येव तथाऽभिप्रायो वैशेषिकाणामिति।

§ ३१. तदप्यविचारितरम्यम्; परमार्थतस्तथैकैकस्य[1] द्रव्यादिपदार्थस्य प्रतिष्ठानुपपत्तेः। तस्यैकपदविषयत्वेनैकत्वोपचारात्। न चोपचरितपदार्थसंख्याव्यवस्थायां पारमार्थिकी पदार्थसंख्या समवतिष्ठते, अतिप्रसङ्गात्। न चैकपदवाच्यत्वेन तात्त्विकमेकत्वं सिद्ध्यति, व्यभिचारात्। सेनावनादिपदेन हस्त्यादिधवादिपदार्थस्यानेकस्य वाच्यस्य प्रतीतेः।

§ ३२. ननु सेनापदवाच्य एक एवार्थः प्रत्यासत्तिविशेषः संयुक्तसंयोगाल्पीयस्त्वलक्षणो हस्त्यादीनां प्रतीयते, वनशब्देन च धवादीनां तादृश[1]प्रत्यासत्तिविशेष इत्येकपदवाच्यत्वं न तात्त्विकीमेकतां व्यभिचरति। तथा चैवमुच्यते—द्रव्यमित्येकः पदार्थः, एकपदवाच्यत्वात्, यद्यदेकपदवाच्यं तत्तदेकः[2] पदार्थो यथा सेनावनादिः, तथा च द्रव्यमित्येकपदवाच्यम्, तस्मादेकः पदार्थः। एतेन गुणादिरप्येकः पदार्थः[3] प्रसिद्धोदाहरणसाधर्म्यात्साधितो वेदितव्य इति कश्चित्।

§ ३३. सोऽपि न विपश्चित्; सेनाशब्दादनेकत्र हस्त्याद्यर्थे प्रतीतिप्रवृत्तिप्राप्तिसिद्धेः। वनशब्दाच्च धवखदिरपलाशादावनेकत्रार्थे। यत्र हि शब्दात्प्रतीतिप्रवृत्तिप्राप्तयः समधिगम्यन्ते[4] स शब्दस्यार्थः प्रसिद्धस्तथा वृद्धव्यवहारात्। न च सेनावनादिशब्दात्प्रत्यासत्तिविशेषे प्रतीतिप्रवृत्तिप्राप्तयोऽनुभूय-

---

चिद् अभिन्न प्रतीत होती हैं और इसलिये कोई बाधक न होनेसे उसी तरह वे निर्णीत की जाती हैं। लेकिन वैशेषिकोंका वैसा मानना विरुद्ध है क्योंकि उसमें उनके सिद्धान्त (शास्त्र) का विरोध आता है। कारण, उनके मतमें 'सन्मात्र ही तत्त्व है, उसीमें समस्त पदार्थोंका समावेश है' ऐसा नय—उनका अभिप्राय नहीं है।

§ ३०. शङ्का—'द्रव्य'पदके द्वारा द्रव्यके समस्त भेदों और प्रभेदोंका संग्रह होनेसे एक द्रव्यपदार्थ और 'गुण' इत्यादि एक एक पदके द्वारा गुणादिके समस्त भेद और प्रभेदोंका संग्रह होनेसे गुणादि भी एक-एक पदार्थ सिद्ध होते हैं।

"विस्तारसे कहे पदार्थोंका एकत्व सिद्ध करनेके लिये जो संक्षेपसे कथन करना उसे विद्वानोंने संग्रह कहा है।" और 'पदार्थधर्मसंग्रहः प्रवक्ष्यते' [प्रशस्त. भा. पृ० १] अर्थात् पदार्थसंग्रह और धर्मसंग्रहको कहेंगे—यहाँ पदार्थसंग्रह और धर्मसंग्रह इस तरह दो प्रकारके संग्रहका कथन किया भी गया है। अतः वैशेषिकोंका वैसा (समस्त पदार्थोंकी संग्रहादिकी अपेक्षा एकरूप आदि माननेका) अभिप्राय है?

§ ३१. समाधान—उक्त कथन भी विचार न करनेपर ही सुन्दर प्रतीत होता है। कारण, वास्तवमें उक्त प्रकारसे एक-एक द्रव्यादिपदार्थ प्रतिष्ठित नहीं होता—एक पदका विषय होनेसे ही उपचारतः वह एक कहलाया। और उपचारसे मानी गई पदार्थसंख्या वास्तविक पदार्थसंख्या नहीं मानी जा सकती। तात्पर्य यह कि उपचारसे सिद्ध और परमार्थतः सिद्ध पदार्थोंमें भारी भेद है और इसलिये एकपदकी विषयतासे सिद्ध हुए द्रव्यादि एक-एक पदार्थ परमार्थतः एक-एक सिद्ध नहीं हो सकते। अन्यथा, अतिप्रसंग दोष प्राप्त होगा अर्थात् दूसरे मतोंकी पदार्थसंख्याको भी यथार्थ मानना होगा। दूसरे, एकपदके अर्थपनेसे यथार्थ एकता सिद्ध नहीं होती, क्योंकि वह व्यभिचारी है। 'सेना', 'वन' आदि पदसे हाथी आदिक और धव आदिक अनेक पदार्थोंकी प्रतीति होती है। मतलब यह कि 'सेना' शब्दसे हाथी, घोड़े, सैनिक आदि अनेक पदार्थोंका बोध होता है और 'वन' शब्दसे धव, पलाश आदि अनेक वृक्षपदार्थोंका ज्ञान होता है—उनसे एक-एक अर्थ नहीं बोधित होता। अतएव एकपदका अर्थपना इनके साथ व्यभिचारी है क्योंकि वे अनेकार्थबोधक हैं, एकार्थबोधक नहीं हैं।

§ ३२. शङ्का—'सेना' शब्दका अर्थ एक ही पदार्थ है, हाथी आदिकोंमें जो संयुक्तसंयोगाल्पीयस्त्व (घोड़ेसे संयुक्त ऊँट है और ऊँटका संयोग हाथीसे है और इस तरह इनमें विद्यमान अल्पपना—संकोच) रूप सम्बन्धविशेष है वह ही 'सेना' पदका अर्थ है। इसी तरह 'वन' शब्दसे धवादिकोंका उक्त प्रकारका सम्बन्धविशेष ही प्रतीत होता है और वह भी एक ही पदार्थ है। अतः एकपदका अर्थपना यथार्थ एकताका व्यभिचारी नहीं है और इसलिये हम कहते हैं कि 'द्रव्य एक पदार्थ है क्योंकि एकपदका वाच्य है, जो जो एकपदका वाच्य होता है वह वह एक पदार्थ है। जैसे सेना, वन आदिक। और 'द्रव्य' यह एकपदका वाच्य है, इसलिये एक पदार्थ है।' इसी कथनसे गुणादि पदार्थ भी उक्त सेनावनादिके प्रसिद्ध उदाहरणसे एक-एक पदार्थ समझ लेना चाहिये?

§ ३३. समाधान—यह प्रतिपादन भी सम्यक् नहीं है; क्योंकि 'सेना' शब्दसे हाथी आदि अनेक अर्थोंमें प्रतीति, प्रवृत्ति और प्राप्ति जानी जाती है। इसी प्रकार 'वन' शब्दसे धव, खदिर (खैर), पलाश (छेवला) आदि अनेक वृक्षादिक पदार्थोंमें प्रतीति, प्रवृत्ति और प्राप्ति देखी जाती है। और यह स्पष्ट है कि जिस अर्थमें शब्दसे प्रतीति, प्रवृत्ति और प्राप्ति ये तीनों जानी जाती हैं वह शब्दका अर्थ है, क्योंकि ऐसा वृद्धजनों (बड़ों) का व्यवहार है। लेकिन 'सेना', 'वन' आदि शब्दसे उल्लिखित सम्बन्धविशेषमें प्रतीति, प्रवृत्ति और प्राप्ति ये तीनों ही प्रतीत नहीं होते, जिससे कि सेना, वन आदिक शब्दोंका उक्त सम्बन्धविशेष अर्थ होता। अतएव इन शब्दोंका सम्बन्धविशेष अर्थ न होकर हाथी आदिक और धव आदिक अनेक पदार्थ अर्थ समझना चाहिये।

---

1 द 'नैकस्य'।

1 द 'तादृशः'। 2 मु प स 'देकपदार्थो'। 3 द 'पदार्थः' इति नास्ति'। 4 मु द 'गम्यते'।

न्ते, येन स तस्यार्थः स्यात् । प्रत्यासत्तिविशिष्टा हस्त्यादयो धवादयो वा सेनावनादिशब्दानामर्थ इति चेत्, सिद्धस्तर्ह्येकपदवाच्योऽनेकोऽर्थः । तेन च कथमेकपदवाच्यत्वं न व्यभिचरेत् ? तथा गौरिति पदेनैकेन पश्वादेर्दशप्रकारस्यैकादशप्रकारस्य वा वाच्यस्य दर्शनाच्च व्यभिचारी हेतुः ।

§ ३४. कश्चिदाह—न गौरित्येकमेव पदं पश्वादेरनेकस्यार्थस्य वाचकम्, तस्य प्रतिवाच्यभेदात् । अन्य एव हि गौरिति शब्दः पशोर्वाचकोऽन्यश्च दिगादेः, अर्थभेदाच्छब्दभेदव्यवस्थितेः । अन्यथा सकलपदार्थस्यैकपदवाच्यत्वप्रसङ्गादिति; तस्याप्यनिष्टानुषङ्गः स्यात्; द्रव्यमिति पदस्याप्यनेकत्वप्रसङ्गात् । पृथिव्याद्यनेकार्थवाचकत्वात् । अन्यदेव हि पृथिव्यां द्रव्यमिति पदं प्रवर्त्तते । अन्यदेवाप्सु तेजसि [1]वायावाकाशे काले दिश्यात्मनि मनसि चेत्येकपदवाच्यत्वं द्रव्यपदार्थस्यासिद्धं स्यात् ।

§ ३५. ननु द्रव्यत्वाभिसम्बन्ध एको द्रव्यपदस्यार्थो नानेकः पृथिव्यादिः, तस्य पृथिव्यादिशब्दवाच्यत्वात् । तत एकमेव द्रव्यपदं नानेकमिति चेत्, किमिदानीं द्रव्यत्वाभिसम्बन्धो द्रव्यपदार्थः स्यात् ?

यदि यह कहा जाय कि उक्त सम्बन्धविशेषसे विशिष्ट हाथी आदिक और धव आदिक पदार्थ सेना-वनादि शब्दोंका अर्थ है और इसलिये उपर्युक्त कोई दोष नहीं है तो एकपदका अर्थ अनेक पदार्थ सिद्ध हैं। तात्पर्य यह कि जब सम्बन्धविशेषसे विशिष्ट अनेक पदार्थोंको सेना-वनादि शब्दोंका अर्थ मान लिया गया तब अनेक पदार्थ उन शब्दोंका अर्थ सुतरां सिद्ध होजाता है। और ऐसी हालतमें एकपदका अर्थपना उसके साथ कैसे व्यभिचारी न होगा ? तथा 'गौ' इस एकपदके द्वारा पशु आदिक दश अथवा ग्यारह प्रकारके अर्थ स्पष्टतः देखे जाते हैं। अतः उसके साथ भी 'एकपदका अर्थपना' हेतु व्यभिचारी है।

§ ३४. शङ्का—'गौ' यह एक ही पद पशु आदिक अनेक अर्थोंका वाचक नहीं है, क्योंकि वह प्रत्येक वाच्य (अर्थ) की अपेक्षा भिन्न है। दूसरा ही 'गौ' शब्द पशुका वाचक है और दूसरा ही दिशा आदिकका वाचक है। कारण, अर्थकी भिन्नतासे शब्दकी भिन्नता मानी गई है। यदि ऐसा न हो तो समस्त पदार्थ भी एकपदके वाच्य होजायेंगे ?

समाधान—इस प्रकारसे कहनेवालेको, जो इष्ट नहीं है उसका, प्रसङ्ग आयेगा। कारण, 'द्रव्य' यह पद भी अनेक हो जायगा, क्योंकि वह पृथिवी आदि अनेक अर्थोंका वाचक है। यह प्रकट है कि दूसरा ही 'द्रव्य' पद पृथिवीमें प्रवृत्त होता है और दूसरा ही जल, अग्नि, हवा, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मनमें प्रवृत्त होता है। इस तरह 'एकपदका अर्थपना' द्रव्यपदार्थमें असिद्ध होजायगा।

§ ३५. शङ्का—द्रव्यके साथ जो द्रव्यत्वका सम्बन्ध है वह द्रव्यपदका अर्थ है पृथिव्यादि अनेक उसका अर्थ नहीं हैं, क्योंकि पृथिवी आदिक पृथिवी आदि शब्दोंद्वारा अभिहित होते हैं। अतः द्रव्यपद एक ही है, अनेक नहीं ?

समाधान—यदि ऐसा कहा जाय तो यह बतलायें कि वह द्रव्यत्वाभिसम्बन्धरूप द्रव्यपदार्थ क्या है ? वह द्रव्यपदार्थ तो हो नहीं सकता, क्योंकि वह द्रव्यत्वविशिष्ट

---

1 मु 'वाय्वा' ।

न चासौ द्रव्यपदार्थस्तस्य द्रव्यत्वोपलक्षितसमवायपदार्थत्वात् । एतेन गुणत्वाभिसम्बन्धो गुणपदस्यार्थः, कर्मत्वाभिसम्बन्धः कर्मपदस्येत्येतत्प्रतिव्यूढम्, गुणत्वाभिसम्बन्धस्य गुणत्वोपलक्षितसमवायपदार्थत्वात् कर्मत्वाभिसम्बन्धस्य च कर्मत्वोपलक्षितसमवायपदार्थस्य कथनात् । न चैवं सामान्यादिपदार्थः सिद्ध्यति, सामान्यादिषु सामान्यान्तराभिसम्बन्धस्यासम्भवादित्युक्तं प्राक् ।

§ ३६. एतेन पृथिवीत्वाद्यभिसम्बन्धात्पृथिवीत्यादिशब्दार्थस्य व्याख्यानं प्रत्याख्यातम् । न हि पृथिवीत्वाभिसम्बन्धः पृथिवीशब्दवाच्यः, पृथिवीत्वोपलक्षितस्य समवायस्य पृथिवीत्वाभिसम्बन्धस्य पृथिवीशब्देनावचनात् । द्रव्यविशेषस्य पृथिवीशब्देनाभिधानाददोष इति चेत्; कः पुनरसौ वृक्षक्षुपादिपृथिवीभेदव्यतिरिक्तः पृथिवीद्रव्यविशेषः ? पृथिवीति पदेन संगृह्यमाण इति चेत्, कथं पुनः पृथिवीपदेनैकेनानेकार्थः संगृह्यते ? द्रव्यादिपदेनेवेति दुरवबोधम् ।

[वैशेषिकाभ्युपगतसंग्रहस्य परीक्षणम्]

§ ३७. कश्चायं संग्रहो नाम ? शब्दात्मकः प्रत्ययात्मकोऽर्थात्मको वा ? न तावच्छब्दात्मकः, शब्देनानन्तानां द्रव्यादिभेदप्रभेदानां पृथिव्यादिभेदप्रभेदानां[1] वा संगृहीतुमशक्यत्वात् । तत्र

समवायपदार्थ कहा गया है। इसी कथनसे गुणत्वके सम्बन्धको गुणपदका अर्थ, और कर्मत्वके सम्बन्धको कर्मपदका अर्थ मानना खण्डित होजाता है, क्योंकि गुणत्वका सम्बन्ध गुणत्वसे विशिष्ट समवायपदार्थ और कर्मत्वका सम्बन्ध कर्मत्वसे विशिष्ट समवायपदार्थ प्रतिपादन किया गया है। और इस तरह माननेपर सामान्यादि पदार्थतो सिद्ध ही नहीं होसकते, क्योंकि सामान्यादिकोंमें दूसरे किसी सामान्यका सम्बन्ध सम्भव नहीं है, ऐसा हम पहले कह आये हैं।

§ ३६. इसीसे पृथिवीत्वके सम्बन्धसे पृथिवी आदि शब्दोंके अर्थका व्याख्यान खण्डित होजाता है, क्योंकि पृथिवीत्वका सम्बन्ध पृथिवीत्वसे विशिष्ट समवायपदार्थ है जो कि पृथिवीशब्दसे कथित नहीं होता। यदि यह कहा जाय कि द्रव्यविशेष पृथिवी शब्दसे कथित होता है और इसलिये उक्त दोष नहीं है तो बतलायें वह पृथिवीद्रव्यविशेष वृक्ष, क्षुपा आदिक पृथिवीविशेषोंके अतिरिक्त और क्या है ? यदि यह कहें कि जो पृथिवीशब्दके द्वारा ग्रहण किये जाने योग्य हैं वह पृथिवीद्रव्यविशेष है तो एक पृथिवीशब्दके द्वारा अनेक अर्थ कैसे ग्रहण किये जाते हैं ? अगर कहें कि द्रव्यादिपदसे जैसे द्रव्यादिकका ग्रहण होता है तो यही समझना अत्यन्त मुश्किल है। तात्पर्य यह कि द्रव्यादिपदका जब अर्थ सिद्ध नहीं हुआ तब पृथिवी आदि पदोंका अर्थ सिद्ध करनेके लिये उसका दृष्टान्त देना असंगत है।

§ ३७. और बतलायें यह संग्रह क्या है ? शब्दरूप है या ज्ञानरूप है अथवा अर्थरूप है ? शब्दरूप तो कहा नहीं जासकता, क्योंकि शब्दके द्वारा द्रव्यादि और पृथिवी आदिके अनन्त भेद-प्रभेदोंका संग्रह करना अशक्य है। कारण, उनमें संकेत—

---

1 मु 'पृथिव्यादिभेदप्रभेदानां' इति पाठो त्रुटितः ।

संकेतस्य कर्तुमशक्यत्वादस्मदादेस्तदप्रत्यक्षत्वात्। क्रमेण युगपद्वा अननुमेयत्वाच्च। न चाप्रत्यक्षेऽननुमेये वा सर्वथाऽप्यप्रतिपन्नेऽर्थे संकेतः शक्यक्रियोऽस्ति। सर्वज्ञस्तत्र संकेतयितुं समर्थोऽपि नासर्वज्ञान्[1] संकेतं[2] ग्राहयितुमलमिति कुतः संकेतः? न चासंकेतितेऽर्थे शब्दः प्रवर्तते यतः संगृह्यन्तेऽनन्ताः पदार्थाः येन शब्देन स शब्दात्मा संग्रहः सिद्ध्येत्[3]।

§ ३८. माभूच्छब्दात्मकः संग्रहः प्रत्ययात्मकस्त्वस्तु, संगृह्यन्तेऽर्था येन प्रत्ययेन स संग्रह इति व्याख्यानाश्रयेन तेषां संग्रहीतुं शक्यत्वादिति चेत्, कुतः पुनरसौ प्रत्ययः? प्रत्यक्षादनुमानादागमाद्वा? न तावदस्मदादिप्रत्यक्षात्, तस्यानन्तद्रव्यादिभेदप्रभेदागोचरत्वात्। नापि योगिप्रत्यक्षात्, योगिन एव तत्संग्रहप्रसङ्गात्, अस्मदादीनां तदयोगात्। न हि योगिप्रत्यक्षादस्मदादयः सम्प्रतियन्ति, योगित्वप्रसङ्गात्। नाप्यनुमानात्, अनन्तद्रव्यादिभेदप्रभेदप्रतिबद्धानामेकशोऽनन्तलिङ्गानामप्रतिपत्तेरस्मदादि[1]प्रत्यक्षात्। अनुमानान्तरात्तल्लिङ्गप्रतिपत्तावनवस्थानुषङ्गात् प्रकृतानुमानोदयायोगात्। यदि पुनरागमात्संग्रहात्मकः प्रत्ययः स्यात्, तदा युक्त्यानुग्रहीतात्तया ऽननुगृहीताद्वा? न तावदाद्यः पक्षः, तत्र युक्तेरेवासम्भवात्। नापि द्वितीयः, युक्त्याऽननुगृहीतस्यागमस्य प्रामाण्यानिष्टेः। तदिष्टौ वाऽतिप्रसङ्गात्। न चाप्रमाणकः[2] प्रत्ययः संग्रहः, तेन संगृहीतानामसंगृहीतकल्पत्वात्।

§ ३९. यदि पुनरर्थात्मकः संग्रहोऽभिधीयते तदा संगृह्यत इति संग्रहः[1]; संगृह्यमाणः सकलोऽर्थः स्यात्।। स चासिद्ध एव तद्व्यवस्थापकप्रमाणाभावादिति कथं तस्य व्याख्यानं युज्यते? यतः "पदार्थधर्मसंग्रहः प्रवक्ष्यते" [प्रशस्तपा० पृ० १] इति प्रतिज्ञा साधीयसीष्यते। संग्रहाभावे च कस्य महोदयत्वं साध्यते?, असिद्धस्य स्वयमन्यसाधनत्वानुपपत्तेः।

§ ४०. एतेन 'पदार्थधर्मसंग्रहः सम्यग्ज्ञानम्' इति व्याख्यानं प्रतिव्यूढम्, तदभावस्य समर्थ-

'इस शब्दका यह अर्थ है' इस प्रकारका इशारा (आभिप्रायिक क्रिया) सम्भव नहीं है। क्योंकि वे हमारे न तो प्रत्यक्षगम्य हैं और न क्रम अथवा अक्रमसे वे अनुमानगम्य हैं। और जो न प्रत्यक्ष हैं तथा न अनुमेय हैं, सर्वथा अज्ञेय हैं उनमें संकेत करना शक्य नहीं है। यद्यपि सर्वज्ञ उन अनन्त पदार्थोंमें संकेत करनेमें समर्थ है तथापि हम असर्वज्ञोंको वह उनमें संकेत ग्रहण नहीं करा सकता है। ऐसी हालतमें उनमें संकेत कैसे बन सकता है? और संकेतरहित पदार्थोंमें शब्द प्रवृत्त नहीं होता, जिससे कि जिस शब्दके द्वारा अनन्त पदार्थ ग्रहण किये जाते हैं वह शब्दरूप संग्रह प्रतिपन्न हो।

§ ३८. शङ्का—यदि शब्दरूप संग्रह प्रतिपन्न नहीं होता तो न हो, किन्तु प्रत्ययरूप संग्रह हो, क्योंकि जिस प्रत्यय (ज्ञान) के द्वारा पदार्थ ग्रहण किये जाते हैं उसे प्रत्ययरूप संग्रह कहा गया है और इसलिये उसके द्वारा अनन्त पदार्थोंका ग्रहण किया जासकता है?

समाधान—हम पूछते हैं कि वह प्रत्यय किस प्रमाणसे जाना जाता है? प्रत्यक्षसे, अनुमानसे, अथवा आगमसे? हम लोगोंके प्रत्यक्षसे तो वह जाना नहीं जाता, क्योंकि हम लोगोंका प्रत्यक्ष द्रव्यादिके अनन्त भेदों और भेदोंके भेदों—प्रभेदोंको विषय नहीं करता है। तात्पर्य यह कि प्रत्ययरूप संग्रह द्रव्यादिके अनन्त भेदों और प्रभेदोंमें रहेगा, सो उसका ज्ञान तभी होसकता है जब द्रव्यादिके भेद-प्रभेदोंका ज्ञान पहले होजाय, परन्तु हम लोगोंके प्रत्यक्षसे उनका ज्ञान नहीं होता तब उनमें रहनेवाला प्रत्ययरूप संग्रह हमारे प्रत्यक्षसे कैसे जाना जासकता है? योगिप्रत्यक्षसे भी वह प्रतीत नहीं होता। अन्यथा योगीके ही उक्त पदार्थोंका संग्रह सिद्ध होगा, हम लोगोंके नहीं। यह प्रकट है कि हम योगीके प्रत्यक्षसे नहीं जानते हैं। नहीं तो हम लोग भी योगी हो जायेंगे। अनुमानसे भी वह नहीं प्रतीत होता है क्योंकि द्रव्यादि अनन्त भेदों और प्रभेदोंसे सम्बद्ध अनन्त लिङ्गोंका एक-एक करके हम लोगोंके प्रत्यक्षसे ज्ञान सम्भव नहीं है। तथा अन्य अनुमानसे उक्त लिङ्गोंका ज्ञान करनेपर अनवस्था दोष आता है और उस हालतमें प्रकृत अनुमानका उदय नहीं होसकता। यदि आगमसे संग्रहरूप प्रत्यय जाना जाता है, यह कहा जाय तो यह बतलायें कि वह आगम युक्तिसे सहित है या युक्तिसे रहित? पहला कल्प तो ठीक नहीं है क्योंकि आगममें युक्ति असम्भव है। दूसरा कल्प भी ठीक नहीं है क्योंकि युक्तिरहित आगमको प्रमाण नहीं माना गया है। यदि उसे प्रमाण माना जाय तो दूसरे मतोंके युक्तिरहित आगम भी प्रमाणकोटिमें आजायेंगे। इस तरह प्रत्ययरूप संग्रह भी किसी भी प्रमाणसे प्रतिपन्न नहीं होता और अप्रामाणिक प्रत्ययसे जो पदार्थ ग्रहण किये जायेंगे वे अग्रहणके ही तुल्य हैं। मतलब यह कि प्रत्ययरूप संग्रह भी प्रमाणसे उपपन्न नहीं होता और इसलिये उसके द्वारा उक्त पदार्थोंका संग्रह नहीं होसकता है।

§ ३९. यदि अर्थरूप संग्रह कहा जाय तो 'जो संग्रह किये जायें वह संग्रह है' इस अर्थके अनुसार संग्रह होने योग्य समस्त पदार्थ संग्रह कहे जायेंगे, लेकिन वे असिद्ध हैं—वे सिद्ध नहीं हैं, क्योंकि उनका साधक प्रमाण नहीं है। ऐसी स्थितिमें संग्रहका उक्त व्याख्यान युक्त कैसे हो सकता है, जिससे 'पदार्थसंग्रह और धर्मसंग्रहको कहेंगे' यह प्रतिज्ञा सम्यक् कही जाय। इस तरह जब संग्रहका अभाव है तो किसके महोदयपना सिद्ध करते हैं? अर्थात् जब संग्रह असिद्ध है तब उसे महोदय बतलाना असंगत है; क्योंकि जो स्वयं असिद्ध है वह अन्यका साधक नहीं होसकता है।

§ ४०. इस उपरोक्त विवेचनसे यह व्याख्यान कि 'पदार्थधर्मसंग्रह सम्यग्ज्ञान है' निरस्त हो जाता है, क्योंकि संग्रहके अभावका समर्थन किया जा चुका है। इसी तरह

1 द 'ज्ञः'। 2 द 'संकेतग्राह'। 3 मु 'सिद्ध्यत्येव'।

1 मु 'रस्मदाद्यप्रत्यक्षात्' पाठः। 2 द 'प्रामाणिकः'। 3 मु स प 'स्वयमन्यसाधनत्वोपपत्तेः'।

१ "पदार्थधर्मैः संगृह्यते इति पदार्थधर्मसंग्रह इत्युक्तम्"—व्योमवती पृ० २० (च)।

नात्। महतो निःश्रेयसस्याभ्युदयस्य चोदयोऽस्मादिति महोदय इत्येतद् व्याख्यानं[1] बन्ध्यासुत-सौभाग्यादिवर्णनमिव प्रेक्षावतामुपहासास्पदमाभासते।

§ ४१. तदेवं द्रव्यादिपदार्थानां यथावस्थितार्थत्वाभावान्न तद्विषयं सम्यग्ज्ञानम्। नापि हेयोपादेयव्यवस्था, येनोपादेयेषूपादेयत्वेन हेयेषु च हेयत्वेन श्रद्धानं श्रद्धाविशेषः, तत्पूर्वकं च वैराग्यं तदभ्यासभावनानुष्ठानं निःश्रेयसकारणं सिद्ध्येत्। तदसिद्धौ च कथमर्हदुपदेशादिवेश्वरोपदेशादप्यनुष्ठानं प्रतिष्ठितं स्यात्? ततस्तद्व्यवच्छेदादेव महात्मा निश्चेतव्यः कपिल-सुगतव्यवच्छेदादिवेति सूक्तमिदमन्ययोगव्यवच्छेदान्महात्मनि निश्चिते तदुपदेशसामर्थ्यादनुष्ठानं प्रतिष्ठितं स्यादिति।

§ ४२. एतेन "प्रणम्य हेतुमीश्वरं मुनिं कणादमन्वतः" [प्रशस्तपा० पृ० १] इति परापर-

---

'महोदय' का यह व्याख्यान कि 'महान्—निश्रेयस (मोक्ष और अभ्युदय—स्वर्ग) का उदय जिससे होता है वह महोदय है।' बन्ध्याके पुत्रके सौभाग्यादि वर्णनकी तरह विचारवानोंके समक्ष हँसीके योग्य जान पड़ता है।

§ ४१. इस प्रकार वैशेषिकोंके यहाँ द्रव्यादि पदार्थोंको जैसा माना गया है वैसे वे व्यवस्थित नहीं होते और इसलिये उनके ज्ञानको सम्यग्ज्ञान नहीं माना जासकता है। और न उनमें हेय तथा उपादेयकी व्यवस्था बनती है, जिससे कि उपादेयोंमें उपादेयरूपसे और हेयोंमें हेयरूपसे होनेवाला श्रद्धानरूप श्रद्धाविशेष और श्रद्धाविशेषपूर्वक होनेवाला वैराग्य, जो कि बार-बार चिन्तन और अनुष्ठानसे सम्पादित होता है, मोक्षके कारण सिद्ध होते। और जब ये तीनों असिद्ध हैं तो अरहन्तके उपदेशकी तरह महेश्वरके उपदेशसे भी अनुष्ठान प्रतिष्ठाको कैसे प्राप्त हो सकता है? अतः महेश्वरका निराकरण करके ही आप्तका निश्चय करना ठीक है। जैसा कि कपिल, सुगत आदिका निराकरण करके आप्तका निश्चय किया जाता है। अतएव यह ठीक ही कहा गया है कि 'दूसरोंका निराकरण करके ही आप्तका निश्चय होता है और आप्तके निश्चित हो जानेपर ही उसके उपदेशकी प्रमाणतासे मोक्ष-मार्ग प्रतिष्ठित होता है।'

भावार्थ—वैशेषिकोंने द्रव्यादि पदार्थोंके ज्ञानको सम्यग्ज्ञान, श्रद्धानको श्रद्धाविशेष और अभ्यासभावनानुष्ठानको वैराग्य वर्णित किया है और इन तीनोंको मोक्षका कारण बतलाया है। परन्तु इनके आधारभूत उक्त द्रव्यादि पदार्थोंकी तथोक्त व्यवस्था प्रमाणसे प्रतिपन्न नहीं होती है। दूसरे, उसमें अनेक दोष भी आपन्न होते हैं। जैसाकि पहले परीक्षापूर्वक दिखाया जा चुका है। ऐसी हालतमें उक्त पदार्थोंके ज्ञानको सम्यग्ज्ञान, श्रद्धानको श्रद्धाविशेष और अभ्यासभावनानुष्ठानको वैराग्य और तीनोंको मोक्षका कारण प्रतिपादन करना अयुक्त है। अतएव उक्त पदार्थोंका उपदेशक महेश्वर आप्त नहीं है और इसलिये उसका व्यवच्छेद करके आप्तका निश्चय करना सर्वथा उचित है, क्योंकि आप्तके उपदेशकी प्रमाणतासे ही मोक्ष-मार्ग प्रतिष्ठित होता है।

§ ४२. इस उपर्युक्त कथनसे 'जगतके कारणभूत ईश्वरको और उनके बादमें कणाद मुनिको प्रणाम करता हूँ।' [प्रश० पृ० १] यह प्रशस्तपादका पर और अपर

---

१ "महानुदयः स्वर्गापवर्गलक्षणोऽस्माद्भवतीति महोदय इत्युक्तः"—व्योमवती पृ० २० (च)।

गुरुनमस्कारकरणमपास्तम्, ईश्वर-कणादयोराप्तत्वव्यवच्छेदात्। तयोर्यथावस्थितार्थज्ञानाभावात्तदुपदेशाप्रामाण्यादित्यलं विस्तरेण। विश्वतत्त्वानां ज्ञातुः कर्मभूभृतां भेत्तुरेव मोक्षमार्गप्रणयनोपपत्तेराप्तत्वनिश्चयात्।

[आप्तस्य कर्मभूभृद्भेतृत्वमसिद्धमित्याशङ्कते]

तत्रासिद्धं मुनीन्द्रस्य भेतृत्वं कर्मभूभृताम्।
ये वदन्ति विपर्यासात्,

§ ४३. तत्र तेषु मोक्षमार्गप्रणेतृत्व-कर्मभूभृद्भेतृत्व-विश्वतत्त्वज्ञातृत्वेषु कर्मभूभृतां भेतृत्वमसिद्धं मुनीन्द्रस्य, विपर्यासात् तदभेतृत्वात् कर्मभूभृदसम्भवात्सदाशिवस्य ये वदन्ति यौगाः,

तान् प्रत्येवं प्रचक्ष्महे ॥६॥

§ ४४. तान् प्रत्येवं वक्ष्यमाणप्रकारेण प्रचक्ष्महे प्रवदाम इत्यर्थः।

[उक्तशङ्कायाः सयुक्त्या निराकरणम्]

प्रसिद्धः सर्वतत्त्वज्ञस्तेषां तावत्प्रमाणतः
सदाविध्वस्तनिःशेषबाधकात्स्वसुखादिवत् ॥७॥

§ ४५. यदि नाम विश्वतत्त्वज्ञः प्रमाणात्सर्वदाविध्वस्तबाधकादात्मसुखादिवत्प्रसिद्धो यौगानां

गुरुओंको नमस्कार करना निराकृत होजाता है, क्योंकि ईश्वर और कणादको पदार्थोंका यथार्थ ज्ञान नहीं है और इसलिये उनका उपदेश अप्रमाण है। अतः अब और विस्तार नहीं किया जाता है, क्योंकि विश्वतत्त्वोंके ज्ञाता और कर्मपर्वतोंके भेदनकर्तामें ही मोक्षमार्गका उपदेशकपना उपपन्न होनेसे उसीमें आप्तपना प्रमाणित होता है ॥५॥

§ ४३. शङ्का—उक्त मोक्षमार्गका उपदेशकपन, विश्वतत्त्वोंका ज्ञातापन, और कर्मपर्वतोंका भेदनकर्तापन इन तीन विशेषणोंमेंसे आप्तमें कर्मपर्वतोंका भेदनकर्त्तापन असिद्ध है; क्योंकि आप्तके कर्मपर्वतोंका अभाव होनेसे वह उनका भेदनकर्त्ता नहीं है। तात्पर्य यह कि आप्त (ईश्वर) के जब कर्म ही नहीं हैं तब उसे उनका भेत्ता (भेदन करनेवाला) बतलाना संगत नहीं है और इसलिये उक्त विशेषण आप्तमें स्वरूपासिद्ध है?

§ ४४. समाधान—उन (नैयायिक और वैशेषिकों) की यह शङ्का युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि— ॥६॥

उनके यहाँ समस्त बाधकाभावरूप प्रमाणसे अपने सुखादिककी तरह आप्त सर्वपदार्थोंका ज्ञाता अर्थात् सर्वज्ञ प्रसिद्ध है।

§ ४५. शङ्का—यदि समस्तबाधकाभावरूप प्रमाणसे अपने सुखादिककी तरह हमारे यहाँ (योगोंके) आप्त सर्वपदार्थोंका ज्ञाता अर्थात् सर्वज्ञ प्रसिद्ध है, तो इससे आप

तथापि किमिष्टं भवतां सिद्धं भवेदित्याह—

ज्ञाता यो विश्वतत्त्वानां स भेत्ता कर्मभूभृताम् ।
भवत्येवान्यथा तस्य विश्वतत्त्वज्ञता कुतः ? ॥८॥

§ ४६. इति स्याद्वादिनामस्माकं कर्मभूभृद्भेतृत्वं मुनीन्द्रस्येष्टं सिद्धं[1] भवतीति वाक्यार्थः। तथा हि—भगवान् परमात्मा कर्मभूभृतां भेत्ता भवत्येव, विश्वतत्त्वानां ज्ञातृत्वात्। यस्तु न कर्मभूभृतां भेत्ता स न विश्वतत्त्वानां ज्ञाता, यथा रथ्यापुरुषः, विश्वतत्त्वानां ज्ञाता च भगवान् निर्बाधबोधात्सिद्धः,[2] तस्मात्कर्मभूभृतां भेत्ता भवत्येवेति केवलव्यतिरेकी हेतुः, साध्याव्यभिचारात्। न तावदयमसिद्धः प्रतिवादिनो वादिनो वा, ताभ्यामुभाभ्यां परमात्मनः सर्वज्ञत्वसाधनात्। नाप्यनैकान्तिकः, कात्स्न्र्यतो देशतो वा विपक्षे वृत्त्यभावात्। तत एव न विरुद्धः।

§ ४७. नन्वयं कालात्ययापदिष्टस्तदागमबाधितपक्षनिर्देशानन्तरं प्रयुक्तत्वात्। "सदैव मुक्तः सदैवेश्वरः पूर्वस्याः कोटेर्मुक्तात्मनमिवाभावात्" [योगद.भाष्य.१-२४] इत्यागमात्महेश्वरस्य सर्व-

(जैनों) की क्या इष्टसिद्धि होती है ?

समाधान—जो सर्वपदार्थोंका ज्ञाता होता है वह कर्मपर्वतोंका भेदनकर्ता अवश्य होता है। यदि वह कर्मपर्वतोंका भेदनकर्ता न हो तो उसके सर्वपदार्थोंका ज्ञातापन कैसे बन सकता है ? तात्पर्य यह कि यदि आप आप्तको सर्वज्ञ मानते हैं तो कर्मपर्वतोंका भेदनकर्ता भी उसे अवश्य मानना पड़ेगा; क्योंकि कर्मपर्वतोंको नाश किये बिना सर्वज्ञता नहीं बनती है।

§ ४६ अतएव आपके सर्वज्ञाभ्युपगमसे आप्तमें हम जैनोंके इष्ट कर्मपर्वतोंके भेदनकर्त्तापनकी सिद्धि होती है। इसका खुलासा इस प्रकार है:—

'भगवान परमात्मा कर्मपर्वतोंके भेदनकर्ता अवश्य होते हैं क्योंकि वे सर्वज्ञ हैं। जो कर्मपर्वतोंका भेदनकर्ता नहीं होता वह सर्वज्ञ नहीं होता, जैसे गलीमें फिरनेवाला आवारा पुरुष (पागल) और भगवान परमात्मा समस्तबाधकाभावरूप प्रमाणसे सर्वज्ञ सिद्ध हैं। इसलिये वे कर्मपर्वतोंके भेदनकर्त्ता अवश्य हैं।' यह केवलव्यतिरेकी हेतु है और साध्यका अव्यभिचारी—व्यतिरेकव्याप्तिविशिष्ट है। यह हेतु वादी अथवा प्रतिवादी किसीके लिये भी असिद्ध नहीं है क्योंकि दोनोंके द्वारा परमात्माके सर्वज्ञता सिद्ध की गई है। तथा अनैकान्तिक भी नहीं है क्योंकि एक देश अथवा सम्पूर्ण देशसे विपक्षमें नहीं रहता है। अतएव न विरुद्ध है।

§ ४७. शङ्का—प्रस्तुत हेतु कालात्ययापदिष्ट अर्थात् बाधितविषय नामका हेत्वाभास है। कारण, आगमसे बाधितपक्षनिर्देशके बाद उसका प्रयोग किया गया है। "सदा ही मुक्त है, सदा ही ऐश्वर्यसे युक्त है क्योंकि जिस प्रकार मुक्तात्माओंके पूर्व—पहली बन्धकोटि रहती है उस प्रकार ईश्वरके नहीं है [तथा जिस प्रकार प्रकृतिलयोंके उत्तर—आगामी बन्धकोटि सम्भव है उस प्रकार ईश्वरके उत्तर बन्धकोटि भी नहीं है]" इस

1 द 'प्रसिद्ध'। 2 मु 'निर्बाधबोधसिद्धः'।

दा[1] कर्मणामभावप्रसिद्धे[2]स्तद्भेतृत्वस्य बाधप्रसिद्धेः। सतां हि कर्मणां कश्चिद्भेत्ता स्यान्न पुनरसतामित्यपरः[3]।

§ ४८. सोऽपि न परीक्षादक्षमानसः; तथातद्बाधकागमस्याप्रमाणत्व, तदनुग्राहकानुमानाभावात्।

[आप्तस्य पूर्वपक्षपुरस्सरं कर्मभूभृद्भेतृत्वप्रसाधनम्]

§ ४९. ननु च नेश्वराख्यः सर्वज्ञः कर्मभूभृतां भेत्ता, सदा कर्ममलैरस्पृष्टत्वात्। यस्तु कर्मभूभृतां भेत्ता स न कर्ममलैः शश्वदस्पृष्टः, यथेश्वरादन्यो मुक्तात्मा, शश्वदस्पृष्टश्च कर्ममलैर्भगवान्महेश्वरः, तस्मान्न कर्मभूभृतां भेत्तेत्यनुमानं प्रकृतपक्षबाधकागमानुग्राहकम्। न चात्रासिद्ध[4]साधनम्। तथा हि—'शश्वत्कर्ममलैरस्पृष्टः परमात्माऽनुपायसिद्धत्वात्'। यस्तु न तथा स नानुपायसिद्धः, यथा सादिमुक्तात्मा। अनुपायसिद्धश्च सर्वज्ञो भगवान्। तस्मात्कर्ममलैः शश्वदस्पृष्टः' इत्यतोऽनुमानान्तरात्तत्सिद्धेरिति वदन्तं प्रत्याह[5]—

आगमसे महेश्वरके सदा ही कर्मोंका अभाव सिद्ध है और इसलिये उससे ईश्वरमें कर्मपर्वतोंका भेदनकर्तापन बाधित है। निश्चय ही विद्यमान कर्मोंका ही कोई भेदनकर्ता होता है, अविद्यमान कर्मोंका नहीं ?

४८. समाधान—नहीं, हेतुका बाधक उक्त आगम अप्रमाण है, क्योंकि उसका अनुग्राहक—प्रमाणताको ग्रहण करनेवाला—अनुमान नहीं है।

§ ४९. शङ्का—'ईश्वर नामका सर्वज्ञ कर्मपर्वतोंका भेदनकर्ता नहीं है, क्योंकि सदा ही कर्ममलोंसे अस्पृष्ट (रहित) है। जो कर्मपर्वतोंका भेदनकर्ता है वह सदा कर्ममलोंसे अस्पृष्ट नहीं है, जैसे ईश्वरसे भिन्न मुक्त जीव। और सदा कर्ममलोंसे अस्पृष्ट भगवान् परमेश्वर हैं, इसलिये कर्मपर्वतोंके भेदनकर्ता नहीं हैं।' यह अनुमान प्रस्तुत पक्ष-बाधक आगमके प्रामाण्यको ग्रहण करता है। इस अनुमानमें साधन असिद्ध नहीं है। वह इस तरहसे—'भगवान् परमात्मा सदा कर्ममलोंसे अस्पृष्ट हैं, क्योंकि अनुपायसिद्ध हैं—उपायपूर्वक (तपस्यादि करके) मुक्त नहीं हुए हैं। जो कर्ममलोंसे सदा अस्पृष्ट नहीं है वह अनुपायसिद्ध (बिना उपायके मुक्त हुआ) नहीं है, जैसे सादि—तपस्यादिकके द्वारा कर्मोंको नाशकर मोक्ष (मुक्ति) को प्राप्त करनेवाले—मुक्त जीव। और अनुपायसिद्ध सर्वज्ञ भगवान् हैं, इसलिये कर्ममलोंसे सदा अस्पृष्ट हैं।' इस दूसरे अनुमानसे उक्त अनुमानगत साधन सिद्ध है ?

उक्त कथनका निराकरण—

समाधान—आचार्य उक्त शंकारूप कथनका सयुक्तिक निराकरण करते हुए कहते हैं :—

कोई सर्वज्ञ हमेशा कर्मोंसे अस्पृष्ट नहीं है, क्योंकि वह प्रमाणसे अनुपायसिद्ध प्रतिपन्न नहीं होता।

१ प्रयत्नं विनैव मुक्तः।

1 द 'सदा'। 2 द 'सिद्धेः'। 3 द 'इति परः' 4 द 'द्ध'। 5 द 'प्रत्याहुः'।

नास्पृष्टः कर्मभिः शश्वद्विश्वदृश्वा[1]ऽस्ति कश्चन ।
तस्यानुपायसिद्धस्य सर्वथाऽनुपपत्तितः ॥६॥

§ ५०. न ह्यनुपायसिद्धत्वे कुतश्चित्प्रमाणादप्रसिद्धे तद्बलात्कर्मभिः शश्वदस्पृष्टत्वं[1] साधनं सिद्धिमध्यास्ते । तदसिद्धौ च न कर्मभूभृद्भेतृत्वाभावस्ततः सिद्ध्यति । येनेदमनुमानं प्रस्तुतपक्षबाधकागमस्यानुग्राहकं सिद्ध्यत्[2] तत्प्रामाण्यं[2] साधयेत् । न चाप्रमाणभूतेनागमेन प्रकृतः पक्षो बाध्यते, हेतुश्च कालात्ययापदिष्टः स्यात् ।

[ईश्वरस्य जगत्कर्तृत्वसाधने पूर्वपक्षः]

§ ५१. नन्वीश्वरस्यानुपायसिद्धत्वमनादित्वात्साध्यते । तदनादित्वं च तनुकरणभुवनादौ निमित्तकारणत्वादीश्वरस्य । न चैतदसिद्धम्, तथा हि—तनुभुवनकरणादिकं विवादापन्नं बुद्धिमन्निमित्तकम्, कार्यत्वात् । यत्कार्यं तद् बुद्धिमन्निमित्तकं दृष्टम्, यथा वस्त्रादि । कार्यं चेदं प्रकृतम् । तस्माद्बुद्धिमन्निमित्तकम् । योऽसौ बुद्धिमांस्तद्धेतुः स ईश्वर इति प्रसिद्धं साधनं तदनादित्वं साधयत्येव । तस्य सादित्वे ततः पूर्वं[3] तन्वाद्युत्पत्तिविरोधात्; तदुत्पत्तौ वा तद्बुद्धिमन्निमित्तत्वाभावप्रसङ्गात् । यदि पुनस्ततः पूर्वमन्यबुद्धिमन्निमित्तकत्वमिष्यते तदा ततोऽपि पूर्वमन्यबुद्धिमन्निमित्तकत्वमिष्यते तदा ततोऽपि पूर्वमन्यबुद्धिमन्निमित्तकत्वमित्यनादीश्वरसन्ततिः सिद्ध्येत् ।

§ ५०. जब अनुपायसिद्धपना किसी प्रमाणसे सिद्ध नहीं है तो उसके बलसे 'कर्मोंसे सदा अस्पृष्टपना' हेतु सिद्ध नहीं हो सकता है और जब वह असिद्ध है तो उससे कर्मपर्वतोंके भेदनकर्तापनका अभाव सिद्ध नहीं होता, जिससे प्रकृत अनुमान प्रस्तुत पक्ष-बाधक आगमका अनुग्राहक-पोषक होता हुआ उसके प्रामाण्यको सिद्ध करे। और अप्रमाणभूत आगमके द्वारा प्रकृत पक्ष बाधित नहीं होसकता है, जिससे कि हेतु कालात्ययापदिष्ट-बधितविषय नामका हेत्वाभास होता।

§ ५१. शङ्का—ईश्वर अनादि है इसलिये वह अनुपायसिद्ध है और अनादि इसलिये है कि वह शरीर, इन्द्रिय, जगत आदिमें निमित्तकारण होता है। तथा उसका यह शरीरादिकमें निमित्तकारण होना असिद्ध नहीं है—प्रमाण-सिद्ध है। इसका खुलासा इस प्रकार है:—

'शरीर, जगत और इन्द्रिय आदिक विचारस्थ पदार्थ बुद्धिमान् निमित्तकारण-जन्य हैं क्योंकि कार्य हैं, जो कार्य होता है वह बुद्धिमान् निमित्तकारणजन्य देखा गया है, जैसे वस्त्रादिक। और कार्य प्रकृत शरीरादिक हैं, इसलिये बुद्धिमान् निमित्त-कारणजन्य हैं। जो बुद्धिमान् उनका कारण है वह ईश्वर है।' तात्पर्य यह कि जिस प्रकार वस्त्रादिक कार्य जुलाहा आदि बुद्धिमान् निमित्तकारणोंसे पैदा होते हुए देखे जाते हैं और इसलिये उनका जुलाहा आदि बुद्धिमान् निमित्तकारण माना जाता है उसी प्रकार शरीर, इन्द्रिय, जगत आदि पदार्थ भी चूँकि कार्य हैं, अतएव उनका भी कोई बुद्धिमान्

१ सर्वज्ञः । २ आगमस्य प्रामाण्यम् ।

1 'त्वसाधनं' । 2 मु स प 'दृष्येत्' । 3 मु 'पूर्वं' ।

न चैषा युक्तिमती, पूर्वेश्वरस्यानन्तस्य सिद्धावुत्तरसकलेश्वरकल्पनावैयर्थ्यात्, तेनैव तन्वादिकार्यपरम्परायाः सकलाया निर्माणात् । ततोऽपि पूर्वस्यानन्तस्य महेश्वरस्य सिद्धौ तस्य वैयर्थ्यात् । अन्यथा परस्परमिच्छाव्याघातप्रसङ्गात् । अनेकेश्वरकारण[क]त्वापत्तेश्च जगतः । सुदूरमपि गत्वाऽनादिरेक एवेश्वरोऽनुमन्तव्यः । "स पूर्वेषामपि[1] गुरुः कालेनानवच्छेदात्"[2] [योगद० १–२६] इति, तस्य जगन्निमित्तत्वसिद्धेरनादित्वमन्तरेणानुपपत्ते[3]रित्यनादित्वसिद्धिः[4] । ततो न कर्मभूभृतां भेत्ता मुनीन्द्रः शश्वत्कर्मभिरस्पृष्टत्वात् । यस्तु कर्मभूभृतां भेत्ता स न शश्वत्कर्मभिरस्पृष्टः, यथोपायान्मुक्तः । शश्वत्कर्मभिरस्पृष्टश्च भगवान् । तस्मान्न कर्मभूभृतां भेत्ता । शश्वत्कर्मभिरस्पृष्टोऽसावनुपायसिद्धत्वात् । यस्तु न तथा स नानुपायसिद्धः । यथा सोपायमुक्तात्मा । अनुपाय-

निमित्तकारण अवश्य होना चाहिये और जो उनका बुद्धिमान् निमित्तकारण है वह ईश्वर है। इस प्रकार सिद्ध हुआ यह साधन ईश्वरके अनादिपनेको सिद्ध करता है। यदि उसके सादिपना हो तो उससे पूर्व शरीरादिककी उत्पत्ति नहीं बन सकेगी। यदि उनकी उत्पत्ति मानी जायगी तो उनके बुद्धिमान्निमित्तकारणताका अभाव मानना पड़ेगा। अगर यह कहा जाय कि उससे पहले उन कार्योंको हम अन्य बुद्धिमान्निमित्तकारणजन्य मानते हैं तो उससे भी पहले अन्य बुद्धिमान्निमित्त-कारणजन्य मानना पड़ेगा और उससे भी पहले अन्य बुद्धिमान् निमित्तकारणजन्य, और इस तरह अनादि ईश्वरपरम्परा सिद्ध होगी। लेकिन यह युक्त नहीं है, कारण जब पूर्ववर्ती अनन्त (अविनाशी) ईश्वर सिद्ध होजायगा तो उत्तरवर्ती समस्त ईश्वरोंकी कल्पना व्यर्थ है। क्योंकि वह पूर्ववर्ती अनन्त ईश्वर ही शरीरादिक सम्पूर्ण कार्योंको उत्पन्न कर देगा और यदि उससे भी पहले अनन्त ईश्वर सिद्ध हो तो उक्त अनन्त ईश्वरकी भी कल्पना व्यर्थ है। अन्यथा, परस्परमें इच्छाओंका व्याघात (विरोध) होगा। अर्थात् एक दूसरेकी इच्छाएँ आपसमें टकरायेंगी और स्वेच्छानुकूल कार्य नहीं हो सकेगा, क्योंकि उसी एक कार्यको एक ईश्वर अन्य प्रकारसे उत्पन्न करना चाहता है और दूसरा किसी अन्य प्रकारसे बनाना चाहता है और इस तरह दोनोंमें परस्पर इच्छाव्याघात अवश्य होगा। दूसरी बात यह है कि जगत अनेक ईश्वरकारणक प्रसक्त होगा, जो कि सङ्गत नहीं है। अतएव बहुत दूर जाकर भी एक ही अनादि ईश्वर मानना चाहिए। "वह पूर्ववर्तियोंका भी गुरु है, क्योंकि किसी कालमें उसका विच्छेद नहीं है।" [योगद० १–२६] योगदर्शनके इस सूत्रवाक्यसे भी उक्त प्रकारके ईश्वरका समर्थन होता है। दूसरे, ईश्वरके निमित्तकारणपनेकी सिद्धि अनादिपनाके बिना नहीं बन सकती है, अतः अनादिपना सिद्ध होजाता है। अतएव 'मुनीन्द्र—भगवान् परमात्मा कर्मपर्वतोंके भेदनकर्ता नहीं हैं, क्योंकि सदा ही कर्मोंसे अस्पृष्ट हैं। जो कर्म-पर्वतोंका भेदनकर्ता है वह सदा कर्मोंसे अस्पृष्ट नहीं है, जैसे उपायसे सिद्ध हुआ मुक्तजीव। और सदा ही कर्मोंसे अस्पृष्ट भगवान् हैं, इसलिये कर्मपर्वतोंके भेदनकर्ता नहीं हैं। वह सदा कर्मोंसे अस्पृष्ट हैं, क्योंकि अनुपायसिद्ध हैं।

1 स द 'सर्वेषामपि' । 2 मु स 'कालेनाविच्छेदात्' । 3 द 'त्ति' । 4 द 'द्धेः' ।

सिद्धश्चायम् । तस्मात्सदा कर्मभिरस्पृष्टः । अनुपायसिद्धोऽयमनादित्वात् । यस्तु न तथा स नानादिः, अनादिश्चायम् । तस्मादनुपायसिद्धः । अनादिरयं तनुकरणभुवनादिनिमित्तत्वात् । यस्तु नानादिः स न तनुकरणभुवनादिनिमित्तम्[1] यथा परो मुक्तात्मा । तनुकरणभुवनादिनिमित्तं च भगवान् । तस्मादनादि । तनुकरणभुवनादिनिमित्तं[2] तु तस्य तन्वादेर्बुद्धिमन्निमित्तत्वसाधनात् । तन्वादयो बुद्धिमन्निमित्तकाः कार्यत्वात् । यत्कार्यं तद्बुद्धिमन्निमित्तकं दृष्टम्, यथा वस्त्रादि । कार्यं च तन्वादयो विवादापन्नाः । तस्माद् बुद्धिमन्निमित्तका इत्यनुमानमालाऽमला कर्मभूभृतां भेत्तारमपास्यत्येव[१] । न चेदं कार्यत्वमसिद्धम्, तन्वादेर्वादिप्रतिवादिनोः कार्यत्वाभ्यनुज्ञानात् । नाप्यनैकान्तिकम्, कस्यचित्कार्यस्याबुद्धिमन्निमित्तस्यासम्भवाद्विपक्षे वृत्त्यभावात् । न चेश्वरशरीरेण व्यभिचारः, तदसिद्धेरीश्वरस्याशरीरत्वात् । नापीश्वरज्ञानेन, तस्य नित्यत्वात्कार्यत्वासिद्धेः । न चेश्वरेच्छया, तस्येच्छाशक्तेरपि नित्यत्वात् क्रियाशक्तिवत् । तत एव न विरुद्धं साधनम्, सर्वथा विपक्षे सम्भवाभावात् । न चायं कालात्ययापदिष्टो हेतुः, पक्षस्य प्रत्यक्षादिप्रमाणेनाबाधितत्वात् । न हि तन्वादेर्बुद्धिमन्निमित्तत्वं प्रत्यक्षेण बाध्यते, तस्यातीन्द्रियतया तदविषयत्वात् । नाप्यनुमानेन, तस्य तद्विपरीतसाधनस्यासम्भवात् ।

जो सदा कर्मोंसे अस्पृष्ट नहीं है, वह अनुपायसिद्ध नहीं है, जैसे उपायपूर्वक मुक्त होनेवाला मुक्त जीव । और अनुपायसिद्ध भगवान् हैं, इसलिये सदा ही कर्मोंसे अस्पृष्ट हैं । भगवान् अनुपायसिद्ध हैं क्योंकि अनादि हैं । जो अनुपायसिद्ध नहीं है वह अनादि नहीं है, जैसे ईश्वरसे भिन्न मुक्तात्मा । और अनादि भगवान् हैं, इस कारण अनुपायसिद्ध हैं । भगवान् अनादि हैं क्योंकि शरीर, इन्द्रिय, जगत आदिके निमित्तकारण हैं । जो अनादि नहीं है वह शरीर, इन्द्रिय, जगत आदिका निमित्तकारण नहीं है, जैसे दूसरे मुक्त जीव । और शरीर, इन्द्रिय, जगत आदिके निमित्तकारण भगवान् हैं, इस कारण अनादि हैं । भगवान् शरीर, इन्द्रिय, जगत आदिके निमित्तकारण हैं, यह बात भी शरीरादिकको बुद्धिमान् निमित्तकारणजन्य सिद्ध करनेसे सिद्ध है । शरीरादिक बुद्धिमान् निमित्तकारणजन्य हैं, क्योंकि कार्य हैं । जो कार्य होता है वह बुद्धिमान् निमित्तकारणजन्य देखा गया है, जैसे वस्त्रादिक । और कार्य प्रकृत शरीरादिक हैं, इस कारण बुद्धिमान् निमित्तकारणजन्य हैं ।' यह प्रस्तुत निर्दोष अनुमानसमूह कर्मपर्वतोंके भेदनकर्ताका निराकरण करता है । तात्पर्य यह कि उक्त अनुमानोंसे आप्तके कर्मपर्वतोंके भेदनकर्तापनका अभाव प्रसिद्ध है । प्रस्तुतमें 'कार्यत्व' (कार्यपना) हेतु असिद्ध नहीं है, वादी और प्रतिवादी दोनों ही शरीरादिकको कार्य स्वीकार करते हैं । तथा विपक्षमें न रहनेसे अनैकान्तिक भी नहीं हैं, क्योंकि कोई कार्य ऐसा नहीं है जो बुद्धिमान् निमित्तकारणजन्य न हो, अर्थात् बिना बुद्धिमानके उत्पन्न होजाता हो । यदि कहा जाय कि ईश्वरशरीरके साथ हेतु व्यभिचारी है तो वह ठीक नहीं, क्योंकि ईश्वरके शरीर नहीं है, वह अशरीरी है । इसी प्रकार ईश्वरज्ञानके साथ भी हेतु व्यभिचारी नहीं है, क्योंकि ईश्वरके ज्ञानको नित्य माना गया है, अतएव उसके कार्यपना असिद्ध है । ईश्वरकी इच्छाके साथ भी 'कार्यत्व' हेतु व्यभिचारी नहीं है, क्योंकि ईश्वरकी इच्छाशक्तिको भी नित्य स्वीकार गया है । जिस प्रकार कि उसकी क्रिया—प्रयत्न—शक्तिको नित्य स्वीकार किया है । अतएव हेतु विरुद्ध भी नहीं है, क्योंकि विपक्षमें हेतुका सर्वथा अभाव है । तथा वह कालात्ययापदिष्ट भी नहीं है, क्योंकि पक्ष प्रत्यक्षादिक किसी भी प्रमाणसे बाधित नहीं है । प्रकट है कि शरीरादिकके बुद्धिमान् निमित्तकारणजन्यपना प्रत्यक्षसे बाधित नहीं है, क्योंकि वह बुद्धिमान् निमित्तकारण (ईश्वर) अतीन्द्रिय—इन्द्रियगम्य न—होनेसे प्रत्यक्षका विषय नहीं है । अनुमानसे भी वह (पक्ष) बाधित नहीं है । कारण, विपरीत—(शरीरादिकको अबुद्धिमन्निमित्तक) सिद्ध करनेवाला अनुमान नहीं है ।

१ निराकरोत्येव । 1 द 'मित्त' । 2 प्राप्तसर्वप्रतिषु 'त्तकः' पाठः ।

§ ५२. ननु 'तनुभुवनकरणादयो न बुद्धिमन्निमित्तका दृष्टकर्तृकप्रासादादिविलक्षणत्वात्, आकाशादिवत्,' इत्यनुमानं पक्षस्य बाधकमिति चेत्; न; असिद्धत्वात्, सन्निवेशादिविशिष्टत्वेन दृष्टकर्तृकप्रा[1]सादाद्यविलक्षणत्वात्तन्वादीनाम् । यदि पुनरगृहीतसमयस्य कृतबुद्ध्युत्पादकत्वाभावात्तन्वादीनां दृष्टकर्तृकविलक्षणत्वमिष्यते तदा कृत्रिमाणामपि मुक्ताफलादीनामगृहीतसमयस्य कृतबुद्ध्युनुत्पादकत्वादबुद्धिमन्निमित्तकत्वप्रसङ्गः । न च दृष्टकर्तृकत्वादृष्टकर्तृकत्वाभ्यां बुद्धिमन्निमित्तत्वेतरत्वसिद्धिः[2] साधीयसी, तदविनाभावाभावात् । न ह्यदृष्टकर्तृकत्वमबुद्धिमन्निमित्तत्वेन व्याप्तम्, जीर्णप्रासादादेरदृष्टकर्तृकस्यापि बुद्धिमन्निमित्तत्वसिद्धेरिति न दृष्टकर्तृकविलक्षणत्वमबुद्धिम-

§ ५२. शङ्का—'शरीर, जगत और इन्द्रियादिक बुद्धिमान् निमित्तकारणजन्य नहीं हैं, क्योंकि दृष्टकर्तृक मकानादिसे—जिन मकानादिके कर्ता देखे जाते हैं उनसे—भिन्न हैं, जैसे आकाशादिक ।' यह अनुमान पक्षका बाधक है अर्थात् इस अनुमानसे आपका उपर्युक्त पक्ष बाधित है और इसलिये 'कार्यत्व' हेतु कालात्ययापदिष्ट हेत्वाभास है ?

समाधान—नहीं; उक्त हेतु असिद्ध है क्योंकि शरीरादिक रचनाविशेषविशिष्ट होनेसे दृष्टकर्तृक मकानादिसे अभिन्न हैं—भिन्न नहीं हैं । यदि कहा जाय कि जिसने संकेत ग्रहण नहीं किया उसको कृतबुद्धि उत्पन्न न करनेसे शरीरादिक दृष्टकर्तृकोंसे भिन्न हैं तो बने हुए मोती भी उक्त प्रकारके व्यक्तिको कृतबुद्धि उत्पन्न न करनेसे अबुद्धिमन्निमित्तक—बिना बुद्धिमान्‌निमित्तकारणके जन्य—होजायेंगे । दूसरी बात यह है कि जिनके कर्ता देखे जायें उन्हें बुद्धिमान्‌निमित्तकारणजन्य और जिनके कर्ता न देखे जायें उन्हें अबुद्धिमान्‌निमित्तकारणजन्य (बिना बुद्धिमान्‌निमित्तकारणके उत्पन्न) सिद्ध करना उचित नहीं है, क्योंकि उनका उनके साथ अविनाभाव नहीं है । निश्चय ही अदृष्टकर्तृकता (कर्ताका नहीं देखा जाना) अबुद्धिमन्निमित्तता—(बुद्धिमान्‌कारणाजन्यता—बुद्धिमान्‌निमित्तकारणसे जन्य न होना) के साथ अविनाभूत नहीं है अर्थात् अदृष्टकर्तृकताकी अबुद्धिमन्निमित्तताके साथ व्याप्ति नहीं है, क्योंकि पुराने मकान आदिके कर्ता नहीं देखे जाते हैं फिर भी वे बुद्धिमान्‌निमित्तकारण (मनुष्यादि) जन्य माने जाते हैं । इसलिये 'जिन मकानादिके कर्ता देखे जाते हैं उनसे भिन्न हैं' इस हेतुद्वारा

1 मु 'प्रसादा' । 2 द 'त्वेतरसिद्धिः'

न्निमित्तत्वं साधयेत् । यतोऽनुमानबाधितः पक्षः स्यात् कालात्ययापदिष्टं च साधनमभिधीयेत[1]। नाप्यागमेन प्रकृतः पक्षो बाध्यते तत्साधकस्यैवागमस्य प्रसिद्धेः । तथा हि—

"विश्वतश्चक्षु[१]रुत विश्वतो मुखो[२] विश्वतो बाहु[३]रुत विश्वतः पात्[४] ।
सम्बाहुभ्यां[५] धमति[६] सम्पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ॥" [श्वेताश्वत० ३।३]

इति[2]श्रुतेः सद्भावात् । तथा व्यासवचनं च—

"अज्ञो जन्तुरनीशो[७]ऽयमात्मनः सुखदुःखयोः ।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव[८] वा ॥" [महाभा० वनपर्व ३०।२८]

§ ५३. इति पक्षस्यानुग्राहकमेव न तु बाधकम् । ततो न कालात्ययापदिष्टो हेतुः, अबाधितपक्षनिर्देशानन्तरं प्रयुक्तत्वात् । तत एव न सत्प्रतिपक्षः, बाधकानुमानाभावादित्यनवद्यं कार्यत्वं[3] साधनं तन्वादीनां बुद्धिमन्निमित्त[क]त्वं साधयत्येव ।

'बुद्धिमान्निमित्तकारणजन्य नहीं हैं' इसका साधन नहीं हो सकता है। और जिससे पक्ष अनुमानबाधित होता और हेतु कालात्ययापदिष्ट कहा जाता।

आगमसे भी प्रकृत पक्ष बाधित नहीं होता प्रत्युत वह उसका साधक है। वह इस प्रकार है :—

"कोई एक परमात्मा प्राणियोंके पुण्य और पापके अनुसार परमाणुओंद्वारा स्वर्ग और पृथिवी आदिकी रचना करता है, जो विश्व-चक्षु—पूर्णदर्शी है, विश्वमुख—पूर्ण वक्ता है, विश्वबाहु—सर्वसामर्थ्य सम्पन्न है और विश्वतः पात्—सर्वव्यापक है।" [श्वेता० ३।३] यह श्रुति-प्रमाण उक्त पक्षका साधक है। तथा व्यासका भी कथन है कि—

"यह अज्ञ और शक्तिहीन प्राणी अपने सुख-दुःखके अनुसार ईश्वर-प्रेरित होकर स्वर्ग अथवा नरकको जाता है।" [महाभारत, वनपर्व, अध्या० ३० श्लो० २८]

§ ५३. यह कथन भी उक्त पक्षका पोषक है, बाधक नहीं है। अतएव हेतु कालात्ययापदिष्ट—बाधितविषय नामका हेत्वाभास नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे अबाधित पक्ष-निर्देशके बाद उसका प्रयोग हुआ है। और इसीलिये सत्प्रतिपक्ष नामका हेत्वाभास भी नहीं है, क्योंकि प्रतिपक्षी अनुमानका अभाव है—सद्भाव नहीं है। इस तरह 'कार्यत्व' हेतु पूर्ण निर्दोष है और इसलिये वह शारीरादिकको बुद्धिमान्निमित्तकारणजन्य अवश्य सिद्ध करता है।

---

१ सर्वज्ञ इत्यर्थः। २ सकलशास्त्रप्रणेता। ३ सर्वकर्ता। ४ सर्वगतः। ५ पुण्यपापाभ्याम्। ६ परमाणुभिः। ७ असमर्थः। ८ नरकम्।

1 द 'धीयते'। 2 मु प प्रतिषु 'इति' पाठो नास्ति। 3 मु 'त्व'।

§ ५४. यदप्युच्यते कैश्चित्[१]—बुद्धिमन्निमित्त[क]त्वसामान्ये साध्ये तन्वादीनां सिद्धसाधनमनेकतदुपभोक्तृबुद्धिमन्निमित्त[क]त्वसिद्धेः । तेषां तददृष्टनिमित्तत्वात्तददृष्टस्य चेतनारूपत्वात्, चेतनायाश्च बुद्धित्वाद्बुद्धिमन्निमित्त[क]त्वसिद्धेरिति; तदप्यसारम्; तन्वाद्युपभोक्तृप्राणिनामदृष्टस्य धर्माधर्मसंज्ञकस्य चेतनत्वासिद्धेरबुद्धित्वात् । अर्थग्रहणं हि बुद्धिश्चेतना । न च धर्मोऽर्थग्रहणमधर्मो वा तयोर्बुद्धेरन्यत्वात् प्रयत्नादिवदिति नानेकबुद्धिमन्निमित्त[क]त्वं तन्वादीनां सिद्ध्यति । यतः सिद्धसाधनं बुद्धिमन्निमित्त[क]त्वसामान्ये साध्येऽभिधीयते[1] ।

§ ५५. ननु च वस्त्रादि सशरीरेणासर्वज्ञेन च बुद्धिमता कुविन्दादिना क्रियमाणं दृष्टमिति तन्वादिकार्यमपि सशरीरासर्वज्ञबुद्धिमन्निमित्तं सिद्ध्येदितीष्टविरुद्धसाधनाद्विरुद्धं साधनम् । सर्वज्ञेनाशरीरेण क्रियमाणस्य कस्यचिद्वस्त्रादिकार्यस्यासिद्धेश्च साध्यविकलमुदाहरणमिति कश्चित्; सोऽपि न युक्तवादी; तथा सति[2] सर्वानुमानोच्छेदप्रसङ्गात् । तथा हि—साग्निरयं पर्वतो धूमवत्त्वा-

---

५४. शङ्का—'प्रस्तुत अनुमानमें यदि आप शरीरादिकको सामान्य (जिस किसी) बुद्धिमान्निमित्तकारणजन्य सिद्ध करते हैं तो सिद्धसाधन है, क्योंकि हम शरीरादिकको उनके भोक्ता अनेक बुद्धिमान्निमित्तकारणजन्य मानते ही हैं। कारण, शरीरादिक तदुपभोक्ता प्राणियोंके अदृष्टसे उत्पन्न होते हैं और अदृष्ट चेतनारूप है तथा चेतना बुद्धि है और इस तरह शरीरादि बुद्धिमान्निमित्तकारणजन्य स्पष्टतः सिद्ध हैं ?'

समाधान—यह कथन भी निस्सार है, क्योंकि शरीरादिकके उपभोक्ता प्राणियोंका जो धर्म और अधर्म नामका अदृष्ट है वह चेतनारूप नहीं है। कारण, वह बुद्धि नहीं है। अर्थग्रहण—(अर्थको जानना)—का नाम बुद्धि है और उसे ही चेतना कहते हैं। किन्तु धर्म अथवा अधर्म अर्थग्रहण नहीं हैं, क्योंकि वे दोनों बुद्धिसे भिन्न हैं, जिस प्रकार प्रयत्नादि बुद्धिसे भिन्न हैं। अतः शरीरादिक अनेक बुद्धिमान्निमित्तकारणजन्य सिद्ध नहीं होते, जिससे शरीरादिकको सामान्यबुद्धिमान्-निमित्तकारणजन्य सिद्ध करनेमें सिद्धसाधन कहा जाय।

§ ५५. शङ्का—वस्त्रादिक सशरीरी और असर्वज्ञ बुद्धिमान् जुलाहादिद्वारा बनाये गये देखे जाते हैं अतएव शरीरादिक कार्य भी उक्त दृष्टान्तके बलसे सशरीरी और असर्वज्ञ बुद्धिमान्निमित्तकारणजन्य सिद्ध होंगे और इसलिये साधन इष्ट—(अशरीरी सर्वज्ञ) से विरुद्ध—सशरीरी और असर्वज्ञ बुद्धिमान्निमित्तकारणको सिद्ध करनेसे विरुद्ध नामका हेत्वाभास है तथा सर्वज्ञ और अशरीरी बुद्धिमान्निमित्तकारण द्वारा किया गया कोई वस्त्रादि कार्य न होनेसे उदाहरण साध्यविकल है अर्थात् उदाहरण (वस्त्रादिकार्य) में साध्यका अभाव है ?

समाधान—उक्त कथन युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि उक्त प्रकारसे तो सभी अनुमानोंका उच्छेद (नाश) होजायगा—कोई भी अनुमान नहीं बन सकेगा। इसका खुलासा इस प्रकार है:—'यह पर्वत अग्निवाला है, क्योंकि धूमवाला है, जैसे महानस—

---

१ जैनादिभिः।

1 मु 'धार्यते'। 2 मु 'सति' नास्ति।

न्महानसवदित्यत्रापि पर्वतादौ महानसपरिदृष्टस्यैव[1] खादिरपालाशाद्यग्निनाऽग्निमत्त्वस्य सिद्धे विरुद्धसाधनाद्विरुद्धं साधनं स्यात् । तार्णाद्यग्निनाऽग्निमत्त्वस्य पर्वतादौ साध्यस्य महानसादावभावात् साध्यविकलमुदाहरणमप्यनुषज्येत ।

§ ५६. यदि पुनरग्निमत्त्वसामान्यं देशादिविशिष्टं पर्वतादौ साध्यते इति नेष्टविरुद्धं साधनम् । नापि साध्यविकलमुदाहरणम्, महानसादावपि देशादिविशिष्टस्याग्निमत्त्वस्य सद्भावादिति मतम्; तदा तन्वादिषु बुद्धिमन्निमित्तत्वसामान्यं तन्वादिस्वकार्यविनिर्माणशक्तिविशिष्टं साध्यत इति नेष्टविरुद्धसाधनो हेतुः । नापि साध्यविकलो दृष्टान्तः, स्वकार्यविनिर्माणशक्तिविशिष्टस्य बुद्धिमन्निमित्तत्वसामान्यस्य साध्यस्य तत्र सद्भावात् । सिद्धे च बुद्धिमन्निमित्तत्वसामान्ये किमयं बुद्धिमान् हेतुः सशरीरोऽशरीरो वेति विप्रतिपत्तौ तस्याशरीरत्वं साध्यते, सशरीरत्वे बाधकसद्भावात् । तच्छरीरं हि न तावन्नित्यमनादि, सावयवत्वादस्मदादिशरीरवत् । नाप्यनित्यं सादि, तदुत्पत्तेः पूर्वमीश्वरस्याशरीरत्वसिद्धेः । शरीरान्तरेण सशरीरत्वेऽनवस्थाप्रसङ्गात् । तथा किमसौ सर्वज्ञोऽसर्वज्ञो

(रसोईका घर)।' इस अनुमानद्वारा यदि पर्वतादिकमें महानसगत खैर, पलाश आदिकी अग्नि जैसी ही अग्नि सिद्ध की जाती है तो इष्ट—(तृणादिककी अग्नि) से विरुद्ध—(खैर, पलाश आदिकी अग्नि) को सिद्ध करनेसे 'धूम' हेतु विरुद्धनामका हेत्वाभास कहा जायगा तथा पर्वतादिकमें जो तृणादिककी अग्नि साधनीय है वह महानसादिकमें नहीं है, अत एव उदाहरण भी साध्यविकल हो जायगा और इस तरह यह अनुमान भी उपपन्न नहीं हो सकेगा।

§ ५६. यदि यह माना जाय कि 'पर्वतादिकमें पर्वतीय, चत्वरीय, महानसीय आदि देशादिविशेषयुक्त सामान्य-अग्नि सिद्ध की जाती है, इसलिये साधन इष्टविरुद्ध साधक नहीं है अर्थात् विरुद्ध हेत्वाभास नहीं है और न उदाहरण साध्यशून्य है, क्योंकि महानस आदिमें भी महानसीय, चत्वरीय आदि देशादिविशेष युक्त सामान्य-अग्नि मौजूद रहती है।' तो शरीरादिकोंमें भी अपने शरीरादि कार्योंको रचनेकी शक्तिसे युक्त सामान्य बुद्धिमान् निमित्तकारणकी सिद्धि की जाती है, इसलिये प्रकृत 'कार्यत्व' हेतु इष्टसे विरुद्धको सिद्ध करनेवाला अर्थात् विरुद्ध हेत्वाभास नहीं है और न दृष्टान्त साध्यशून्य है क्योंकि अपने कार्योंके रचनेकी शक्तिसे युक्त सामान्य बुद्धिमान् निमित्तकारणरूप साध्य वस्त्रादि दृष्टान्तमें विद्यमान रहता है। इस तरह सामान्यतः बुद्धिमान् निमित्तकारणके सिद्ध होजानेपर और उसमें 'वह बुद्धिमान् कारण क्या शरीरवान् है या शरीररहित है' इस प्रकारकी शंका होनेपर उसे हम अशरीरी—शरीररहित सिद्ध करते हैं क्योंकि सशरीरी—शरीरवान् माननेमें अनेक बाधाएँ उपस्थित होती हैं। कारण, वह शरीर नित्य एवं अनादि तो बन नहीं सकता, क्योंकि वह सावयव (कार्य) है जैसे हम लोगोंका शरीर। अनित्य एवं सादि भी वह नहीं बन सकता है क्योंकि उसकी उत्पत्तिके पहले ईश्वर अशरीरी है। यदि अन्य

---

1 स 'खदिरपलाशा-'

वेति विवादे सर्वज्ञत्वं साध्यते । तस्यासर्वज्ञत्वे समस्तकारकप्रयोक्तृत्वानुपपत्तेस्तन्वादिकारणत्वाभावप्रसङ्गात् । तन्वादिसकलकारकाणां परिज्ञानाभावेऽपि प्रयोक्तृत्वे तन्वादिकार्यव्याघातप्रसङ्गात् । कुविन्दादेर्वस्त्रादिकारकस्यापरिज्ञाने तद्व्याघातवत् । न चेश्वरकार्यस्य तनुकरणभुवनादेः कदाचिद् व्याघातः सम्भवति, महेश्वरसमीहितकार्यस्य यथाकारकसङ्घातं विचित्रस्यादृष्टादेरव्याघातदर्शनात् ।

§ ५७. यदप्यभ्यधायि—'तनुकरणभुवनादिकं नैकस्वभावेश्वरकारणकृतं विचित्रकार्यत्वात् । यद्विचित्रकार्यं तन्नैकस्वभावकारणकृतं दृष्टम्, यथा घटपटमुकुटशकटादि । विचित्रकार्यं च प्रकृतम् । तस्मान्नैकस्वभावेश्वराख्यकारणकृतमिति; तदप्यसम्यक्; सिद्धसाध्यतापत्तेः । न ह्येकस्वभावमीश्व-

---

दूसरे शरीरसे उसे सशरीरी—शरीरवान् कहा जाय तो अनवस्था दोषका प्रसङ्ग आता है क्योंकि पूर्व-पूर्व अनेक शरीर कल्पित करना पड़ेंगे और इस तरह कहीं भी अवस्थान नहीं होसकेगा। तथा 'वह बुद्धिमान कारण क्या सर्वज्ञ है या असर्वज्ञ है' इस तरहके विवाद (प्रश्न) होनेपर उसे सर्वज्ञ सिद्ध करते हैं, क्योंकि यदि वह असर्वज्ञ होगा तो वह समस्त कारकों (कारणों) का प्रयोक्ता—सुन्दर और उचित योजना करने वाला—नहीं होसकता है और जब प्रयोक्ता नहीं होसकेगा तो वह शरीरादिकका कारण नहीं बन सकेगा। यदि उसे शरीरादि कार्योंके समग्र कारकोंका परिज्ञान न होनेपर भी प्रयोक्ता मानें तो शरीरादि कार्य विरुद्ध भी उत्पन्न होजायेंगे अर्थात् शरीरादिके समस्त कारकोंका ज्ञान न होनेसे उसके द्वारा शरीरादिककी रचना बेडौल, अव्यवस्थित, सुन्दरताहीन और प्रकृतिविरुद्ध पूर्णतः सम्भव है। जिसप्रकार जुलाहा आदिको वस्त्रादिके समस्त कारकोंका ज्ञान न होनेपर वस्त्रादि कार्य भद्दे, असुन्दर और अक्रमतन्तुविन्यासवाले उत्पन्न होते हैं। और यह निश्चत है कि ईश्वरके बनाये शरीरादिकार्योंमें कभी भी बेडौलपना अथवा असुन्दरता सम्भव नहीं है क्योंकि महेश्वरके इच्छित कार्यके जितने आवश्यक कारण हैं उन सबमें विभिन्न प्रकारके पुण्य-पापादिका अविरोध-सहकारित्व देखा जाता है। अर्थात् ईश्वरद्वारा रचे जानेवाले कार्योंमें यथावश्यक सभी कारणोंका सद्भाव रहता है और उसमें विभिन्न प्राणियोंके अदृष्ट (भाग्य) आदिका सहकार है, अत एव ईश्वरसृष्टि विरुद्ध उत्पन्न नहीं होती। इसलिये परिशेषानुमानसे यह सिद्ध हुआ कि उक्त शरीरादिका जो बुद्धिमान् निमित्तकारण है वह सर्वज्ञ और अशरीरी है—अल्पज्ञ और शरीरधारी नहीं।

§ ५७. शङ्का—'शरीर, इन्द्रिय, जगत आदिक एकस्वभाववाले ईश्वर-रूप कारणसे जन्य नहीं हैं क्योंकि विभिन्न कार्य हैं। जो विभिन्न कार्य होते हैं वे एकस्वभाववाले कारणसे जन्य नहीं होते, जैसे घड़ा, कपड़ा, मुकुट, गाड़ी आदि। और विभिन्न कार्य शरीरादिक हैं। अतएव एकस्वभाववाले ईश्वररूप कारणसे जन्य नहीं हैं?

समाधान—यह शङ्का भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस प्रकारके माननेमें हमें सिद्ध साधन है। निःसन्देह शरीरादिकका जो हमने ईश्वर नामका निमित्तकारण माना है वह

राख्यं तन्वादेर्निमित्तकारणमिष्यते तस्य ज्ञानशक्तीच्छाशक्तिक्रियाशक्तित्रयस्वभावत्वात् । तनुकरणभुवनाद्युपभोक्तृप्राणिगणादृष्टविशेषवैचित्र्यसहकारित्वाच्च विचित्रस्वभावोपपत्तेः । घटपटमुकुटादिकार्यस्यापि तन्निदर्शनस्य तदुत्पादनविज्ञानेच्छाक्रियाशक्तिविचित्रतदुपकरणसचिवेनैकेन पुरुषेण समुत्पादनसम्भवात्साध्यविकलतानुषङ्गात् । तदेवं कार्यत्वं[1] हेतुस्तनुकरणभुवनादेर्बुद्धिमन्निमित्त[क]त्वं साधयत्येव सकलदोषरहितत्वादिति वैशेषिकाः समभ्यमंसत[2] ।

[ईश्वरस्य जगत्कर्तृत्वनिरासे उत्तरपक्षः]

§ ४८. तेऽपि न समञ्जसवाचः; 'तनुकरणभुवनादयो बुद्धिमन्निमित्तकाः' इति पक्षस्य व्यापकानुपलम्भेन बाधितत्वात् कार्यत्वादिति[3] हेतोः कालात्ययापदिष्टत्वाच्च । तथा हि–तन्वादयो न बुद्धिमन्निमित्तकास्तदन्वयव्यतिरेकानुपलम्भात् । यत्र यदन्वयव्यतिरेकानुपलम्भस्तत्र न तन्निमित्तकत्वं दृष्टम्, यथा घटघटीशरावोदञ्चनादिषु कुबिन्दाद्यन्वयव्यतिरेकाननुविधायिषु न कुबिन्दादिनिमित्तकत्वम् । बुद्धिमदन्वयव्यतिरेकानुपलम्भश्च तन्वादिषु । तस्मान्न बुद्धिमन्निमित्तकत्वमिति व्यापकानुपलम्भः, तत्कारणकत्वस्य तदन्वयव्यतिरेकोपलम्भेन व्याप्तत्वात् कुलालकारणकस्य घटादेः कुलालान्वयव्यतिरेकोपलम्भप्रसिद्धेः । सर्वत्र बाधकाभावात् तस्य तद्व्यापकत्वव्यवस्थानात् । न चायमसिद्धः, तन्वादीनामीश्वरव्यतिरेकानुपलम्भस्य प्रमाणसिद्धत्वात् । स हि न तावत्कालव्यतिरेकः, शाश्वतिकत्वादीश्वरस्य कदाचिदभावासम्भवात् । नापि देशव्यतिरेकः, तस्य विभुत्वेन क्वचिदभावानुपपत्तेरीश्वराभावे कदाचित्क्वचित्तन्वादिकार्याभावानिश्चयात् ।

§ ४९. स्यान्मतम्—महेश्वरसिसृक्षानिमित्तत्वात्तन्वादिकार्यस्यायमदोषः इति; तदप्यसत्यम्; तदिच्छाया नित्यानित्यविकल्पद्वयानतिवृत्तेः तस्या नित्यत्वे व्यतिरेकासिद्धिः, सर्वदा सद्भावात्तन्वादि-

---

एकस्वभाववाला नहीं है। उसको हमने ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति और क्रियाशक्ति इन तीन स्वभावविशिष्ट स्वीकार किया है। दूसरे, शरीर, इन्द्रिय, जगत आदिके भोगनेवाले प्राणियोंके जो नाना प्रकारके अदृष्टविशेष हैं उनके निमित्त एवं सहकारित्वसे भी ईश्वरमें नाना स्वभावोंकी उपपत्ति हो जाती है। घड़ा, कपड़ा, मुकुट आदि कार्योंका जो उदाहरण प्रदर्शित किया गया है वे भी अपने उत्पादक ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति और क्रियाशक्तिरूप नाना सहकारी कारणोंके साहचर्यसे विशिष्ट एक पुरुषके द्वारा उत्पन्न किये जाते हैं और इसलिये उक्त उदाहरण साध्यशून्य होजायगा।

इस प्रकार 'कार्यत्व' हेतु शरीर, इन्द्रिय, जगत आदिको ईश्वररूप बुद्धिमान् निमित्तकारणजन्य अवश्य सिद्ध करता है क्योंकि वह समस्तदोषरहित है अर्थात् पूर्णतः निर्दोष है, ऐसा वैशेषिक मतानुयायी प्रतिपादन करते हैं ?

उपर्युक्त ईश्वरके जगत्कर्तृत्वका सयुक्तिक निराकरण—

§ ४८. परन्तु उनका वह प्रतिपादन समीचीन नहीं है। कारण, 'शरीर, इन्द्रिय, जगत आदिक कार्य बुद्धिमान् निमित्तकारणजन्य हैं' यह पक्ष व्यपकानुपलम्भ–(शारीरादिक कार्यका बुद्धिमान् निमित्तकारणके साथ अन्वय-व्यतिरेकका अभाव) से बाधित है और इसलिये 'कार्यत्व' (कार्यपना) हेतु कालात्ययापदिष्ट हेत्वाभास है। वह इस प्रकारसे है–

'शरीरादिक बुद्धिमान्निमित्तकारणजन्य नहीं हैं क्योंकि उनका उसके साथ अन्वय-व्यतिरेका अभाव है। अर्थात् शरीरादिकका बुद्धिमान्निमित्तकारणके साथ अन्वय और व्यतिरेक नहीं है और अन्वय-व्यतिरेकके द्वारा ही कार्यकारणभाव सुप्रतीत होता है। जिसका जिसके साथ अन्वय-व्यतिरेकका अभाव है वह उस जन्य नहीं होता देखा जाता है, जैसे जुलाहा आदिका अन्वय-व्यतिरेक न रखनेवाले घड़ा, छोटा घड़ा (चपिया या रेंटकी घड़ी), सराव (सकोरा), उलीचना (पानीको निकालनेका मिट्टीका एक बर्तनविशेष) वग़ैरह जुलाहा आदि निमित्तकारणजन्य नहीं हैं। और बुद्धिमान्निमित्तकारणके अन्वय-व्यतिरेकका अभाव शरीरादिकके साथ है, इस कारण शरीरादिक बुद्धिमान्निमित्तकारणजन्य नहीं हैं।' इस प्रकार व्यापकानुपलम्भ सिद्ध होता है। अर्थात् प्रकृत अनुमानमें शरीरादिक कार्योंके साथ बुद्धिमान्निमित्तकारण-ईश्वरका अन्वय-व्यतिरेक नहीं बनता है। और यह निश्चित है कि जो जिसका कारण होता है उसका उसके साथ अन्वय-व्यतिरेक अवश्य पाया जाता है। जैसे कुम्हारसे उत्पन्न होनेवाले घड़ा आदिकमें कुम्हारका अन्वय-व्यतिरेक स्पष्टतः प्रसिद्ध है। सब जगह बाधकोंके अभावसे अन्वय-व्यतिरेक कार्यके व्यापक व्यवस्थित होते हैं ! प्रकृतमें व्यापकानुपलम्भ असिद्ध नहीं है, क्योंकि शरीरादिकोंमें ईश्वरके व्यतिरेकका अभाव प्रमाणसे सिद्ध है। वह व्यतिरेक दो प्रकारका है—(१) कालव्यतिरेक और (२) देशव्यतिरेक। सो प्रकृतमें न तो कालव्यतिरेक बनता है क्योंकि ईश्वर सदा रहनेवाला अर्थात् नित्य होनेसे किसी कालमें उसका अभाव नहीं है और न देशव्यतिरेक बनता है, क्योंकि वह विभु है अतः उसका किसी देशमें भी अभाव नहीं है। ऐसा नहीं है कि, अमुक काल अथवा अमुक देशमें ईश्वरके न होनेसे शरीरादिक कार्य नहीं हुआ—और इसलिये किसी काल अथवा किसी देशमें ईश्वरके अभावसे शरीरादिक कार्योंके अभावका निश्चय करना असम्भव है। अतः व्यतिरेकका अभावरूप व्यापकानुपलम्भ सुनिश्चित है। तात्पर्य यह कि जब ईश्वर नित्य और व्यापक है तो किसी काल अथवा देशमें ईश्वरका अभाव बतलाकर शरीरादि कार्योंका अभाव प्रदर्शित करनारूप व्यतिरेक नहीं बन सकता है। अतएव व्यतिरेकाभावरूप व्यापकानुपलम्भसे पक्ष बाधित है और 'कार्यत्व' हेतु कालात्ययापदिष्ट (बाधितविषय) नामका हेत्वाभास है।

§ ४९. यदि कहा जाय कि शरीरादिक कार्य ईश्वरकी सृष्टि-इच्छासे उत्पन्न होते हैं और इसलिये उसके साथ व्यतिरेक बन जायगा, अतः उक्त दोष नहीं है तो यह कथन भी सङ्गत नहीं है, क्योंकि ईश्वरकी इच्छामें भी नित्य और अनित्यके दो विकल्प उठते हैं। अर्थात् ईश्वरकी वह इच्छा नित्य है अथवा अनित्य ? यदि नित्य है तो ईश्वरकी तरह उसकी इच्छाके साथ भी व्यतिरेक असिद्ध है—नहीं बनता है, क्योंकि उसका सदैव

---

1 द प 'कार्यत्वहेतु'। 2 द 'समभ्यसंत', स 'समभ्यसमंत'। 3 मु 'ति' नास्ति।

कार्योत्पत्तिप्रसङ्गात्। नन्वीश्वरेच्छाया नित्यत्वेऽपि असर्वगतत्वाद्व्यतिरेकः सिद्ध एव, क्वचिन्महेश्वरसिसृक्षाऽपाये तन्वादिकार्यानुत्पत्तिसम्भवादिति चेत्; न; तद्देशे व्यतिरेकाभावसिद्धेः। देशान्तरे सर्वदा तदनुपपत्तेः कार्यानुदयप्रसङ्गात्। अन्यथा तदनित्यत्वापत्तेः। अनित्यैवेच्छाऽस्त्विति[1] चेत्, सा तर्हि सिसृक्षा महेश्वरस्योत्पद्यमाना सिसृक्षान्तरपूर्विका यदीष्यते तदाऽनवस्थाप्रसङ्गात्[2] परापरसिसृक्षोत्पत्तावेव महेश्वरस्योपक्षीणशक्तिकत्वात्प्रकृततन्वादिकार्यानुदय एव[3] स्यात्। यदि पुनः प्रकृततन्वादिकार्योत्पत्तौ महेश्वरस्य सिसृक्षोत्पद्यते साऽपि तत्पूर्वसिसृक्षात इत्यनादिसिसृक्षासन्ततिर्नानवस्थादोषमास्कन्दति सर्वत्र कार्यकारणसन्तानस्यानादित्वसिद्धेर्बीजाङ्कुरादिवदित्यभिधीयते तदा युगपन्नानादेशेषु तन्वादिकार्यस्योत्पादो नोपपद्येत, यत्र यत्कार्योत्पत्तये महेश्वरसिसृक्षा तत्रैव तस्य[4] कार्यस्योत्पत्तिघटनात्। न च यावत्सु देशेषु यावन्ति कार्याणि सम्भूष्णूनि तावन्त्यः सिसृक्षास्तस्येश्वरस्य सकृदुपजायन्त इति

सद्भाव रहनेसे शरीरादिक कार्योंकी उत्पत्ति होती रहेगी। अर्थात् किसी भी कालमें ईश्वरकी नित्य इच्छाका अभाव न हो सकनेसे उसके अभावसे शरीरादि कार्योंके अभावरूप व्यतिरेकका प्रदर्शन नहीं हो सकेगा।

अगर कहो कि ईश्वरकी इच्छा नित्य होनेपर भी अव्यापक है। अतः कालव्यतिरेक न बननेपर भी देशव्यतिरेक बन जायगा, क्योंकि किसी देशमें महेश्वरकी सृष्टि-इच्छा न होनेपर शरीरादिक कार्योंकी उत्पत्ति न होना सम्भव है तो यह कहना भी ठीक नहीं है। कारण, जहाँ ईश्वरकी सृष्टि-इच्छा मौजूद है वहाँ व्यतिरेकका अभाव सिद्ध है तथा दूसरे देशमें—जहाँ ईश्वरकी सृष्टि-इच्छा मौजूद नहीं है वहाँ—ईश्वरकी सृष्टि-इच्छाका हमेशा अभाव बना रहनेसे कभी भी शरीरादि कार्योंकी उत्पत्ति न हो सकेगी और अगर होगी तो ईश्वरकी सृष्टि-इच्छाको सुतरां अनित्य मानना पड़ेगा, जोकि नित्य ईश्वरेच्छा माननेवालोंके लिये अनिष्ट है।

यदि 'महेश्वरेच्छा अनित्य है' यह माना जाय तो वह महेश्वरकी इच्छा अन्य इच्छापूर्वक उत्पन्न होगी और ऐसी हालतमें अनवस्थादोष आवेगा। अर्थात् वह इच्छा भी अन्य पूर्व इच्छासे उत्पन्न होगी और वह इच्छा भी अन्य पूर्व इच्छासे इस तरह कहीं भी अवस्थान न होगा। और दूसरी-तीसरी आदि इच्छाओंके उत्पन्न करनेमें ही महेश्वरके लगे रहनेपर प्रकृत शरीरादि कार्य कभी भी उत्पन्न न हो सकेंगे।

यदि कहा जाय कि प्रकृत शरीरादिक कार्योंको उत्पन्न करनेके लिये महेश्वरके जो सिसृक्षा उत्पन्न होती है वह सिसृक्षा पूर्व सिसृक्षासे उत्पन्न होती है, इस प्रकार अनादिसिसृक्षापरम्परा माननेसे अनवस्था दोष नहीं आता, क्योंकि सभी मतोंमें कार्यकारणपरम्परा अनादि मानी गई है, जैसे बीज और अङ्कुरकी परम्परा अनादि स्वीकार की गई है तो एक-साथ नाना जगह शरीरादिकोंकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है, जहाँ जिस कार्यको उत्पन्न करनेके लिये महेश्वरकी इच्छा उत्पन्न होगी वहीं वह शरीरादिक कार्य उत्पन्न होगा। और यह कहा नहीं जा सकता कि 'समस्त देशोंमें जितने कार्य उत्पन्न होनेवाले हैं उतनी सिसृक्षाएँ महेश्वरके एक साथ उत्पन्न हो जाती हैं'

1 प 'स्ति'। 2 स प मु 'प्रसङ्गः'। 3 द 'नुदयश्च'। 4 मु स प 'तत्र तस्यैव'।

वक्तुं शक्यम्, युगपदनेकेच्छाप्रादुर्भावविरोधात्, अस्मदादिवत्। यदि पुनरेकैव महेश्वरसिसृक्षा युगपन्नानादेशकार्यजननाय[1] प्रजायत इतीष्यते तदा क्रमतोऽनेकतन्वादिकार्योत्पत्तिविरोधः, तदिच्छायाः शश्वदभावात्।

§ ६०. अथ मतमेतत्—यत्र यदा यथा यत्कार्यमुत्पित्सु तत्र तदा तथा तदुत्पादनेच्छा महेश्वरस्यैकैव तादृशी समुत्पद्यते। ततो नानादेशेष्वेकदेशे च क्रमेण युगपच्च तादृशमन्यादृशं च तन्वादिकार्यं प्रादुर्भवन्न विरुद्ध्यत इति; तदप्यसम्भाव्यम्; क्वचिदेकत्र प्रदेशे समुत्पन्नायाः सिसृक्षाया दविष्टदेशेषु विभिन्नेषु नानाविधेषु नानाकार्यजनकत्वविरोधात्। अन्यथा तदसर्वगतत्वेऽपि देशव्यतिरेकानुपपत्तेः। यदि हि यद्देशा सिसृक्षा तद्देशमेव कार्यजन्म नान्यदेशमिति व्यवस्था स्यात्, तदा देशव्यतिरेकः सिद्ध्येन्नान्यथेति सिसृक्षाया न व्यतिरेकोपलम्भो महेश्वरवत्। व्यतिरेका-

क्योंकि एक-साथ महेश्वरके अनेक इच्छाओंकी उत्पत्ति असम्भव है, जैसे हम लोगोंके एक-साथ नाना इच्छाएँ उत्पन्न होना असम्भव है। अगर कहें कि 'एक ही महेश्वरेच्छा एक-साथ नाना-देशवर्ती शरीरादि कार्योंको उत्पन्न करनेके लिये पैदा होती है' तो क्रमसे अनेक शरीरादि कार्य उत्पन्न नहीं हो सकते, क्योंकि वह महेश्वरेच्छा हमेशा नहीं रहती है। अर्थात् ईश्वरेच्छाको अनित्य होनेसे क्रमशः नानाकार्य उत्पन्न नहीं हो सकते हैं।

§ ६०. शङ्का—'जहाँ जब जैसा जो कार्य उत्पन्न होना होता है वहाँ तब वैसा उस कार्यको उत्पन्न करनेकी महेश्वरके एक ही वैसी इच्छा उत्पन्न होती है। इसलिये नाना जगह और एक जगह क्रमसे और एक साथ वैसे और अन्य प्रकारके शरीरादिक कार्योंके उत्पन्न होनेमें कोई विरोध नहीं है। मतलब यह कि महेश्वरके एक विशेष जातिकी इच्छा होती है जो सर्वत्र यथाक्रम और यथायोग्य ढंगसे शरीरादिक कार्योंको उत्पन्न करती रहती है। अतः विभिन्न जगहोंपर क्रमशः या युगपत् शरीरादिक नानाकार्योंके उत्पन्न होनेमें कोई बाधा नहीं है?

समाधान—यह भी असम्भव है, क्योंकि किसी एक जगह उत्पन्न हुई महेश्वरेच्छा दूरवर्ती विभिन्न नाना जगहोंमें नानाशरीरादि कार्योंको उत्पन्न नहीं कर सकती है। यदि करेगी, तो अव्यापक होनेपर भी देशव्यतिरेक नहीं बन सकेगा अर्थात् किसी देशमें इच्छाके अभावसे शरीरादि कार्योंका अभावरूप व्यतिरेक प्रदर्शित नहीं किया जा सकेगा, क्योंकि वहाँ कार्य सदैव होते रहेंगे। हाँ, यदि यह व्यवस्था हो कि 'जिस जगह महेश्वरकी सृष्टि-इच्छा उत्पन्न होती है उसी जगह शरीरादि कार्य उत्पन्न होता है, अन्य जगह नहीं' तो देशव्यतिरेक बन जायगा, अन्यथा नहीं। किन्तु उस हालतमें महेश्वरके अनेक सृष्टि-इच्छाएँ मानना पड़ेंगी, जो आपको इष्ट नहीं हैं। अतः महेश्वरकी तरह महेश्वरकी इच्छाके साथ भी व्यतिरेक नहीं बनता है और जब व्यतिरेक नहीं बनता तो

1 मु 'कार्ये जननाय'।

भावे च नान्वयनिश्चयः शक्यः कर्तुम् । सतीश्वरे तन्वादिकार्याणां जन्मेत्यन्वयो हि पुरुषान्तरेष्वपि समानः, तेष्वपि सत्सु तन्वादिकार्योत्पत्तिसिद्धेः । न च तेषां सर्वकार्योत्पत्तौ निमित्तकारणत्वं दिक्कालाकाशानामिव सम्मतं परेषाम्, सिद्धान्तविरोधान्महेश्वरनिमित्तकारणत्ववैयर्थ्याच्च[1] । यदि पुनस्तेषु पुरुषान्तरेषु सत्स्वपि कदाचित्तन्वादिकार्यानुत्पत्तिदर्शनान्न तन्निमित्तकारणत्वं तदन्वयाभावश्चेति मतम्, तदेश्वरे सत्यपि कदाचित्तन्वादिकार्यानुत्पत्तेरीश्वरस्यापि तन्निमित्तकारणत्वं माभूत् । तदन्वयासिद्धिश्च तद्वदायाता ।

§ ६१. एतेनेश्वरसिसृक्षायां नित्यायां सत्यामपि तन्वादिकार्याजन्मदर्शनादन्वयाभावः साधितः, कालादीनां च, तेषु सत्स्वपि सर्वकार्यानुत्पत्तेः ।

§ ६२. स्यान्मतम्—'सामग्री जनिका कार्यस्य नैकं कारणम्', ततस्तदन्वयव्यतिरेकावेव कार्यस्यान्वेषणीयौ नैकेश्वरान्वयव्यतिरेकौ । सामग्री च तन्वादिकार्योत्पत्तौ तत्समवायिकारणमसमवायिकारणं निमित्तकारणं चेति । तेषु सत्सु कार्योत्पत्तिदर्शनादसत्सु चादर्शनादिति; सत्यमेतत्; केवलं

अन्वय (कारणके होनेपर कार्यका होना) का निश्चय करना भी शक्य नहीं है। 'ईश्वरके होनेपर शरीरादि कार्योंकी उत्पत्ति होती है' ऐसा अन्वय दूसरे पुरुषोंमें भी समान है क्योंकि उनके होनेपर शरीरादि कार्य उत्पन्न होते हैं। लेकिन नैयायिक और वैशेषिकोंने उन्हें समस्त कार्योंकी उत्पत्तिमें दिशा, काल, आकाशकी तरह निमित्तकारण नहीं माना, क्योंकि माननेपर प्रथम तो सिद्धान्त-विरोध आता है। दूसरे, महेश्वरको निमित्तकारण मानना व्यर्थ हो जायगा। यदि कहा जाय कि 'दूसरे पुरुषोंके होनेपर भी कभी शरीरादि कार्योंकी उत्पत्ति नहीं देखी जाती है, इसलिये दूसरे पुरुष उक्त कार्योंके निमित्तिकारण नहीं हैं और न उनका अन्वय ही बनता है। अतः ईश्वरको शरीरादि कार्योंका निमित्तिकारण मानना व्यर्थ नहीं, तो ईश्वरके होनेपर भी शरीरादि कार्योंकी अनुत्पत्ति सम्भव है, अतः ईश्वर भी उक्त कार्योंका निमित्तकारण न हो। तथा पुरुषान्तरोंकी तरह उसका भी अन्वय असिद्ध होजाता है।

§ ६१. इसी विवेचनसे 'ईश्वरकी नित्य सृष्टि-इच्छा होनेपर भी शरीरादिकार्योंकी अनुत्पत्ति देखी जानेसे उसके अन्वयका अभाव सिद्ध होजाता है एवं कालादिकोंमें भी सिद्ध समझना चाहिए, क्योंकि उनके रहनेपर भी समस्त कार्योंकी उत्पत्ति नहीं होती है। अर्थात् वर्तमान कालमें भविष्यके कार्य उत्पन्न न होनेसे कालादिक भी उक्त कार्योंके निमित्तकारण नहीं हैं।

§ ६२. शङ्का—सामग्री—(जितने कारण कार्यके जनक होते हैं उन सबको सामग्री कहा जाता है वह) कार्यकी उत्पादक है, एक कारण नहीं। अतः सामग्रीका अन्वय और व्यतिरेक ही कार्यके साथ लगाना चाहिये, अकेले ईश्वरका अन्वय और व्यतिरेक नहीं। और शरीरादिकार्यकी उत्पत्तिमें शरीरादिके समवायिकारण, असमवायिकारण और निमित्तकारण ये तीनों सामग्री हैं क्योंकि उनके होनेपर शरीरादिकार्योंकी उत्पत्ति देखी

---

1 द 'निमित्तकारणतावैयर्थ्याच्च'।

यथा समवाय्यसमवायिकारणानामनित्यानां धर्मादीनां च निमित्तकारणानामन्वयव्यतिरेकौ प्रसिद्धौ कार्यजन्मनि तथा नेश्वरस्य नित्यसर्वगतस्य तदिच्छाया वा नित्यैकस्वभावाया इति तदन्वयव्यतिरेकानुपलम्भः प्रसिद्ध एव । न हि सामग्र्येकदेशस्यान्वयव्यतिरेकसिद्धौ कार्यजन्मनि सर्वसामग्र्यास्तदन्वयव्यतिरेकसिद्धिरिति शक्यं वक्तुम्, प्रत्येकं सामग्र्येकदेशानां कार्योत्पत्तावन्वयव्यतिरेकनिश्चयस्य प्रेक्षापूर्वकारिभिरन्वेषणात् । पटाद्युत्पत्तौ कुविन्दादिसामग्र्येकदेशवत् । यथैव हि तन्तु-तुरी-वेमशलाकादीनामन्वयव्यतिरेकाभ्यां पटस्योत्पत्तिर्दृष्टा तथा कुविन्दान्वयव्यतिरेकाभ्यामपि तदुपभोक्तृजनादृष्टान्वयव्यतिरेकाभ्यामिवेति सुप्रतीतम् ।

§ ६३. ननु सर्वकार्योत्पत्तौ दिक्कालाकाशादिसामग्र्यन्वयव्यतिरेकानुविधानवदीश्वरादिसामग्र्यन्वयव्यतिरेकानुविधानस्य सिद्धेर्न व्यापकानुपलम्भः सिद्ध इति चेत्; न; दिक्कालाकाशादीनामपि

जाती है। और उनके न होनेपर नहीं देखी जाती है। अतः सामग्री (तीनों कारणों) का अन्वय--व्यतिरेक ही कार्यके साथ ढूंढ़ना उचित है, अकेले ईश्वरका नहीं ?

समाधान—यह सत्य है, किन्तु जिस प्रकार अनित्य समवायिकारण और असमवायिकारण तथा धर्मादिक निमित्तकारणोंका अन्वय और व्यतिरेक कार्यकी उत्पत्तिमें प्रसिद्ध है उस प्रकार नित्य तथा व्यापक ईश्वरका और नित्य एवं एकस्वभाववाली ईश्वरेच्छाका अन्वय और व्यतिरेक प्रसिद्ध नहीं है और इसलिये उनका अन्वय-व्यतिरेकाभाव प्रसिद्ध ही है। यह नहीं कहा जा सकता कि कार्यकी उत्पत्तिमें सामग्रीके एक देशके साथ अन्वय-व्यतिरेक सिद्ध होजानेपर समग्र सामग्रीका अन्वय और व्यतिरेक भी सिद्ध हो जाता है, क्योंकि सामग्रीके प्रत्येक अंश (हिस्से) का अन्वय और व्यतिरेक कार्यकी उत्पत्तिमें विद्वज्जन निश्चित करते हैं। तथा वस्त्रादिककी उत्पत्तिमें जुलाहा आदि सामग्रीके हर हिस्से (कारण) का अन्वय और व्यतिरेक निश्चय किया जाता है। अर्थात् जिस प्रकार सूत, तुरी, वेम, शलाका आदि—(कपड़े बुननेकी चीजों) के अन्वय और व्यतिरेकद्वारा वस्त्रकी उत्पत्ति देखी जाती है उसी प्रकार जुलाहाके अन्वय (जुलाहाके होनेपर वस्त्रकी उत्पत्ति) और व्यतिरेक (जुलाहाके न होनेपर वस्त्रकी अनुत्पत्ति) द्वारा भी वस्त्रकी उत्पत्ति देखी जाती है। तथा उस वस्त्रको ओढ़ने-पहिरनेवाले प्राणियोंके अदृष्ट (भाग्य)-के अन्वय और व्यतिरेकद्वारा भी जैसी उस वस्त्रकी उत्पत्ति सुप्रतीत होती है। अतः सामग्रीके प्रत्येक अंशका अन्वय और व्यतिरेक कार्योत्पत्तिमें प्रयोजक है और इसलिये ईश्वरको शरीरादि कार्योत्पत्तिमें कारण माननेपर उसका अन्वय-व्यतिरेक भी ढूँढ़ना आवश्यक है जो कि प्रकृतमें नहीं है। अतएव व्यापकानुपलम्भ सुप्रसिद्ध है।

§ ६३. शङ्का—जिस प्रकार समस्त कार्योंकी उत्पत्तिमें दिशा, काल, आकाश आदिक सामग्रीका अन्वय और व्यतिरेक विद्यमान है उसी प्रकार ईश्वरादिक सामग्रीका अन्वय और व्यतिरेक भी सिद्ध है ?

समाधान—नहीं; दिशा, काल, आकाशादिकको नित्य, व्यापक और निरवयव (निरंश—प्रदेशभेदरहित) माननेपर उनका भी अन्वय और व्यतिरेक (देशव्यतिरेक

नित्यसर्वगतनिरवयवत्वे क्वचिदन्वयव्यतिरेकानुविधानायोगादुदाहरणवैषम्यात् । तेषामपि हि परिणामित्वे सप्रदेशत्वे[1] च परमार्थतः स्वकार्योत्पत्तौ निमित्तत्वसिद्धेः ।

§ ६४. [2]नन्वेवमपीश्वरस्यापि बुद्ध्यादिपरिणामैः स्वतोऽर्थान्तरभूतैः परिणामित्वात्सकृत्सर्वमूर्त्तिमद्द्रव्यसंयोगनिबन्धनप्रदेशसिद्धेश्च तन्वादिकार्योत्पत्तौ निमित्तकारणत्वं युक्तं तदन्वयव्यतिरेकानुविधानस्य तन्वादेरुपपन्नत्वात् । स्वतोऽनर्थान्तरभूतैरेव[3] हि ज्ञानादिपरिणामैरीश्वरस्य परिणामित्वं नेष्यते स्वारम्भकावयवैश्च सावयवत्वं निराक्रियते, न पुनरन्यथा, विरोधाभावात् । न चैवमनिष्टप्रसङ्गः, द्रव्यान्तरपरिणामैरपि परिणामित्वाप्रसङ्गात्, तेषां तत्रासमवायात् । ये यत्र समवयन्ति[4] परिणामास्तैरेव तस्य परिणामित्वम् । परमाणोश्च स्वारम्भकावयवाभावेऽपि सप्रदेशत्वप्रसङ्गो नानिष्टापत्तये नैयायिकानाम्, परमाण्वन्तरसंयोगनिबन्धनस्यैकस्य प्रदेशस्य परमाणोरपीष्टत्वात् । न चोपचरितप्रदेशप्रतिज्ञा आत्मादिष्वेवं[5] विरुद्ध्यते, स्वारम्भकावयवलक्षणानां प्रदेशानां तत्रोपचरितत्वप्रतिज्ञानात् । मूर्त्तिमद्द्रव्यसंयोगनिबन्धनानां तु तेषां पारमार्थिकत्वादन्यथा सर्वमूर्त्तिमद्द्रव्यसंयोगानां युग-

और कालव्यतिरेक) नहीं बन सकता है । अतः प्रकृतमें उनका उदाहरण प्रस्तुत करना विषम उदाहरण है । वास्तवमें वे भी जब परिणामी और सप्रदेशी माने जाते हैं तभी उन्हें अपने कार्यकी उत्पत्तिमें निमित्त कहा गया है ।

§ ६४. शङ्का—इसी प्रकार ईश्वर भी अपने अभिन्नभूत परिणामोंसे परिणामी तथा एक-साथ समस्त मूर्तिमान् द्रव्योंके संयोगमें कारणीभूत प्रदेशोंसे सप्रदेशी सिद्ध है और इसलिये उसे भी कालादिककी तरह शरीरादिक कार्योंकी उत्पत्तिमें निमित्तकारण मानना युक्त है क्योंकि उसके अन्वय और व्यतिरेकका बनना शरीरादिकोंमें उपपन्न (सिद्ध) हो जाता है । हाँ, अभिन्नभूत ज्ञानादिपरिणामोंसे हम ईश्वरको परिणामी नहीं कहते हैं और न अपने आरम्भक अवयवों (प्रदेशों) से उसकी सावयवता—सप्रदेशीपनेका समर्थन करते हैं, किन्तु उसका निराकरण करते हैं । और प्रकारसे तो, जो कि ऊपर बताया गया है, ईश्वरको परिणामी और सप्रदेशी दोनों मानते हैं, क्योंकि उसमें कोई विरोध नहीं है । और इस प्रकार माननेमें हमें कोई अनिष्ट भी नहीं है । क्योंकि दूसरे द्रव्यगत परिणामोंसे भी ईश्वरको परिणामीपनेका प्रसङ्ग नहीं आता है । कारण, वे उसमें समवायसम्बन्धसे सम्बद्ध नहीं हैं । जो परिणाम जहाँ समवायसम्बन्धसे सम्बद्ध हैं उन्हीं परिणामोंसे वह परिणामी कहा जाता है । यद्यपि परमाणुके अपने आरम्भक अवयव नहीं हैं तथापि उसके सप्रदेशीपनेका प्रसङ्ग नैयायिकोंके लिये अनिष्टकारक नहीं है क्योंकि परमाणुका दूसरे परमाणुके साथ संयोग होनेमें कारणीभूत एक प्रदेश परमाणुके भी स्वीकार किया गया है । और इस प्रकारकी औपचारिक प्रदेशोंकी मान्यता आत्मादिकोंमें कोई विरुद्ध नहीं है—उनमें भी वह इष्ट है क्योंकि अपने आरम्भक अवयवरूप प्रदेशोंको उनमें उपचारसे स्वीकार किया है । लेकिन मूर्तिमान् द्रव्योंके संयोगमें कार-

1 प 'प्रदशत्वे' । 2 प 'नन्वेवमीश्वर' । 3 द स 'स्वतो नार्थान्तरभूतैरेव' । 4 मु द 'समवायन्ति' । 5 द 'प्रतिज्ञत्वादिष्वेवं' ।

पद्भाविनामुपचरितत्वप्रसङ्गात् । विभुद्रव्याणां सर्वगतत्वमप्युपचरितं स्यात् । परमाणोश्च परमाण्वन्तरसंयोगस्य पारमार्थिकत्वासिद्धे[1] र्द्व्यणुकादिकार्यद्रव्यमपारमार्थिकमासज्येत, कारणस्योपचरितत्वे कार्यस्यानुपचरितत्वायोगादिति केचित्प्रचक्षते ।

§ ६५. तेऽपि स्याद्वादिमतमन्धसर्पविलप्रवेशन्यायेनानुसरन्तोऽपि नेश्वरस्य निमित्तकारणत्वं तन्वादिकार्योत्पत्तौ समर्थयितुमीशन्ते,[2] तथाऽपि तदन्वयव्यतिरेकानुविधानस्य साधयितुमशक्यत्वात्, आत्मान्तरान्वयव्यतिरेकानुविधानवत् । यथैव ह्यात्मान्तराणि तन्वादिकार्योत्पत्तौ न निमित्तकारणानि तेषु सत्सु भावादन्वयसिद्धावपि तच्छून्ये च देशे क्वचिदपि तन्वादिकार्यानुत्पत्तेर्व्यतिरेकसिद्धावपि च । तथेश्वरे सत्येव तन्वादिकार्योत्पत्तेस्तच्छून्ये[3] प्रदेशे [4]क्वचित्तदनुत्पत्तेः, तच्छून्यस्य प्रदेशस्यैवाभावात्,

णीभूत प्रदेशोंको उनमें पारमार्थिक—अनौपचारिक माना है । यदि वे पारमार्थिक न हों तो समस्त मूर्तिमान् द्रव्योंके एक-साथ होनेवाले संयोग उपचरित—अपारमार्थिक हो जायेंगे । इसी प्रकार विभु (व्यापक) द्रव्योंका व्यापकपना भी उपचरित हो जायगा और परमाणुका परमाणुके साथ संयोग भी पारमार्थिक नहीं कहा जासकेगा—वास्तविक सिद्ध नहीं हो सकेगा और इस तरह द्व्यणुक आदि कार्यद्रव्य काल्पनिक होजायेंगे, क्योंकि कारणके काल्पनिक होनेपर कार्य अकाल्पनिक नहीं हो सकता है—कारणके अनुसार ही कार्य होता है। तात्पर्य यह कि जिस युक्तिसे कालादिकोंको परिणामी और सप्रदेशी माना जाता है और उनके अन्वय तथा व्यतिरेकको प्रमाणित करके उन्हें समस्त कार्योंकी उत्पत्तिमें निमित्तकारण स्वीकार किया जाता है उसी युक्तिसे ईश्वरको भी परिणामी और सप्रदेशी माना जा सकता है, जैसा कि ऊपर बताया गया है और इसतरह पर उसके अन्वय तथा व्यतिरेकको प्रमाणित करके उसे शरीरादिकार्योंकी उत्पत्तिमें निमित्तकारण मानना अनुचित नहीं है, इस प्रकार कोई नैयायिक और वैशेषिक मतके अनुयायी कथन करते हैं ?

§ ६५. समाधान—वे भी स्याद्वादियों—जैनोंके मतका 'अन्धसर्प-विलप्रवेश' [1]न्यायसे अनुसरण करते हुए भी ईश्वरको शरीरादिकार्योंकी उत्पत्तिमें निमित्तकारण समर्थन करनेमें समर्थ नहीं हैं क्योंकि उक्त प्रकार कथन करनेपर भी ईश्वरका अन्वय और व्यतिरेक सिद्ध नहीं किया जा सकता है, जैसे दूसरे आत्माओंका अन्वय और व्यतिरेक नहीं बनता है । वस्तुतः जिस प्रकार दूसरे आत्मा शरीरादिक कार्योंकी उत्पत्तिमें निमित्तकारण नहीं हैं, यद्यपि उनके होनेपर कार्य होता है, इस प्रकार अन्वय भी मिल जाता है और उनसे शून्य किसी जगहमें शरीरादिकार्य उत्पन्न नहीं होता, इस प्रकार व्यतिरेक भी बन जाता है । उसी प्रकार ईश्वरके होनेपर ही शरीरादिकार्योंकी उत्पत्ति होती है और ईश्वरसे रहित किसी जगह शरीरादिकार्यकी उत्पत्ति नहीं होती, यद्यपि ईश्वरसे रहित कोई प्रदेश (जगह) ही नहीं है, इस प्रकार अन्वय और व्यतिरेक सिद्ध होजानेपर भी ईश्वर

1 द 'परमार्थत्वासिद्धे', मु 'पारिमार्थिकासिद्धे' । 2 मु प स 'मीशते' । 3 द 'च्छून्यप्रदेशे' । 4 मु प स 'क्वचिदपि' ।

१ अन्धा सर्प विलके चारों तरफ चक्कर काटता रहता है परन्तु उसमें घुसता नहीं है, इसे 'अन्धसर्प-विलप्रवेश-न्याय' कहते हैं ।

अन्वयव्यतिरेकसिद्धावपीश्वरो निमित्तकारणं माभूत् । सर्वथा विशेषाभावात् ।

§ ६६. स्यान्मतम्—महेश्वरस्य बुद्धिमत्त्वात् समस्तकारकपरिज्ञानयोगात्तत्प्रयोक्तृत्वलक्षणं[1] निमित्तकारणत्वं तन्वादिकार्योत्पत्तौ व्यवतिष्ठते न पुनरात्मान्तराणामज्ञत्वात्तल्लक्षणनिमित्तकारणत्वाघटनादिति; तदपि न समीचीनम्; सर्वज्ञस्य समस्तकारकप्रयोक्तृत्वासिद्धेर्योग्यन्तरवत् । न हि योग्यन्तराणां सर्वज्ञत्वेऽपि समस्तकारकप्रयोक्तृत्वमिष्यते ।

§ ६७. ननु तेषां समस्तपदार्थज्ञानस्यान्त्यस्य योगाभ्यासविशेषजन्मनः सद्भावे सकलमिथ्याज्ञान-दोष-प्रवृत्ति-जन्म-दुःखपरिक्षयात्परमनिःश्रेयससिद्धेः समस्तकारकप्रयोक्तृत्वासिद्धिर्न पुनरीश्वरस्य, तस्य सदा मुक्तत्वात् सदैवेश्वरत्वाच्च संसारिमुक्तविलक्षणत्वात् । न हि संसारिवदज्ञो महेश्वरः प्रतिज्ञायते । नापि मुक्तवत् समस्तज्ञानैश्वर्यरहित इति तस्यैव समस्तकारकप्रयोक्तृत्वलक्षणं निमित्तकारणत्वं कायादिकार्योत्पत्तौ सम्भाव्यत इति केचित्; तेऽपि न विचारचतुरचेतसः; कायादिकार्यस्य महेश्वराभावे क्वचिदभावासिद्धेर्व्यतिरेकासम्भवस्य प्रतिपादितत्वात्, [2]निश्चितान्वयस्याप्यभावात् ।

निमित्तकारण न हो, क्योंकि दूसरे आत्माओंसे ईश्वरमें कोई विशेषता नहीं है ।

§ ६६. शङ्का—हमारा अभिप्राय यह है कि महेश्वर बुद्धिमान् है और इसलिए वह समस्त कारकोंका परिज्ञाता है । अतः शरीरादिक कार्योंकी उत्पत्तिमें वह उन कारणोंका प्रयोक्ता (संयोजक) रूप निमित्तकारण बन जाता है । परन्तु आत्मान्तर—दूसरे आत्मा—अज्ञ हैं और इसलिये वे उक्त कार्योंकी उत्पत्तिमें प्रयोक्तारूप निमित्तकारण नहीं बन सकते हैं ?

समाधान—यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि सर्वज्ञके समस्त कारकोंका प्रयोक्तापन दूसरे योगियोंकी तरह असिद्ध है अर्थात् ईश्वरकी सर्वज्ञता समस्त कारकोंके प्रयोक्तापनमें प्रयोजक नहीं है क्योंकि ईश्वर-भिन्न योगियोंके सर्वज्ञ होनेपर भी उन्हें समस्त कारकोंका प्रयोक्ता नहीं माना जाता ।

§ ६७. शङ्का—योगियोंको जो योगका विशिष्ट अभ्यास करनेसे समस्त पदार्थोंका पूर्ण ज्ञान होता है उसके होनेपर उनको अशेष मिथ्याज्ञान, दोष, पुण्य-पापात्मिका प्रवृत्ति, जन्म और दुःखके सर्वथा क्षय होनेसे परमोक्ष होता है । अतः वे समस्त कारकोंके प्रयोक्ता नहीं हो सकते हैं, किन्तु ईश्वर प्रयोक्ता हो सकता है क्योंकि वह सदैव मुक्त है और हमेशा ही ईश्वर—ऐश्वर्यसम्पन्न है एवं संसारी तथा मुक्त जीवोंसे विलक्षण है । वस्तुतः महेश्वर न संसारियोंकी तरह अज्ञ है और न मुक्त-जीवों जैसा समस्त ज्ञान और समस्त ऐश्वर्यसे रहित है । अतः महेश्वर ही शरीरादिक कार्योंकी उत्पत्तिमें समस्त कारकोंका प्रयोक्तारूप निमित्तकारण सम्भव है ?

समाधान—यह कथन भी विचारपूर्ण नहीं है, क्योंकि महेश्वरके अभावमें शरीरादिक कार्योंका अभाव सिद्ध न होनेसे व्यतिरेकका अभाव ज्यों-का-त्यों बना हुआ है और निश्चित अन्वयका भी अभाव पूर्ववत् है ।

---

1 स प 'लक्षणनिमित्त' । 2 द 'निश्चितस्यान्वयस्या' ।

§ ६८. ननु च यत्र यदा यथा महेश्वरसिसृक्षा सम्भवति तत्र तदा तथा कायादिकार्यमुत्पद्यते । अन्यत्राऽन्यदाऽन्यथा तदभावान्नोत्पद्यत इत्यन्वयव्यतिरेकौ महेश्वरसिसृक्षायाः कायादिकार्यमनुविधत्ते कुम्भादिकार्यवत् कुलालादिसिसृक्षायाः । ततो नान्वयव्यतिरेकयोर्व्यापकयोरनुपलम्भोऽस्ति, यतो व्यापकानुपलम्भः पक्षस्य बाधकः स्यादिति चेत्; न; तस्या महेश्वरसिसृक्षायाः कायादिकार्योत्पत्तौ नित्यानित्यत्वविकल्पद्वयेऽपि निमित्तकारणत्वनिराकरणात् तदन्वयव्यतिरेकानुविधानस्यासिद्धेर्व्यापकानुपलम्भः प्रसिद्ध एव पक्षस्य बाधक इत्यनुमानबाधितपक्षत्वात्कालात्ययापदिष्टहेतुत्वाच्च न बुद्धिमन्निमित्तत्वसाधनं साधीयः सिद्धम्, यतोऽनुपायसिद्धः सर्वज्ञोऽनादिः कर्मभिरस्पृष्टः सर्वदा सिद्ध्येदिति सूक्तं 'तस्यानुपायसिद्धस्य सर्वथाऽनुपपत्तितः' इति ।

§ ६९. योऽप्याह—'मोक्षमार्गप्रणीतिरनादिसिद्धसर्वज्ञमन्तरेण नोपपद्यते, सोपायसिद्धस्य सर्वज्ञस्यानवस्थानान्मोक्षमार्गप्रणीतेरसम्भवात् । अवस्थाने वा तस्य समुत्पन्नतत्त्वज्ञानस्यापि साक्षान्न तत्त्वज्ञानं मोक्षस्य कारणम्, तद्भावभावित्वाभावात् । तत्त्वज्ञानात्पूर्वं मोक्षमार्गस्य प्रणयने तदुपदेशस्य

---

§ ६८. शङ्का—जहाँ जब और जैसी महेश्वरकी सृष्टि-इच्छा होती है वहाँ तब वैसे शरीरादि कार्य उत्पन्न होते हैं और अन्य जगह, अन्य काल एवं अन्य प्रकारकी ईश्वरकी सृष्टि-इच्छा न होनेसे शरीरादि कार्य उत्पन्न नहीं होते, इस प्रकार महेश्वरकी सृष्टि-इच्छाका अन्वय और व्यतिरेक शरीरादि कार्योंके साथ बन जाता है, जैसे कुम्हार आदिककी सृष्टि-इच्छाका अन्वय और व्यतिरेक घटादिक कार्यके साथ देखा जाता है । अतः प्रकृतमें अन्वय और व्यतिरेकरूप व्यापकका अनुपलम्भ—अभाव नहीं है और इसलिये पक्ष व्यापकानुपलम्भसे बाधित नहीं है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि महेश्वरकी इच्छाकी शरीरादिक कार्योंकी उत्पत्तिमें निमित्तकारणताका निराकरण नित्य और अनित्य इन दोनों विकल्पोंद्वारा पहले ही किया जा चुका है, अतः महेश्वरकी इच्छाका अन्वय और व्यतिरेक बनना सर्वथा असिद्ध है और इसलिये व्यापकानुपलम्भ पक्षका बाधक सिद्ध ही है । इस तरह प्रकृत पक्ष अनुमानसे बाधित होने और हेतु कालात्ययापदिष्ट होनेसे 'शरीरादिक बुद्धिमान् निमित्तकारणजन्य हैं' यह सिद्ध नहीं होता जिससे कि सर्वज्ञ—ईश्वर अनुपायसिद्ध, अनादि और कर्मोंसे सदा अस्पृष्ट सिद्ध होसके । इसलिये ठीक कहा गया है कि 'अनुपाय सिद्ध ईश्वर किसी प्रकारसे भी सिद्ध नहीं होता ।'

§ ६९. शङ्का—(अगली कारिकाकी उत्थानिका) 'मोक्षमार्गका उपदेश अनादि सर्वज्ञके बिना नहीं बन सकता है क्योंकि उपायपूर्वक (तपश्चर्यादिद्वारा) जो सर्वज्ञ सिद्ध होगा वह अवस्थित नहीं रह सकेगा—तुरन्त निर्वाणको प्राप्त हो जायगा और इसलिये उससे मोक्षमार्गका प्रणयन सम्भव नहीं है । और यदि उसका अवस्थान माना जायगा तो उसे तत्त्वज्ञान उत्पन्न होजानेपर भी तुरन्त मोक्ष न होनेसे साक्षात् तत्त्वज्ञान मोक्षका कारण सिद्ध नहीं होसकेगा, क्योंकि उसके होनेपर भी मोक्ष नहीं हुआ । और अगर तत्त्वज्ञानको प्राप्त करनेसे पहले मोक्षमार्गका प्रणयन माना जाय तो उसका वह उपदेश प्रमाण नहीं

प्रामाण्यायोगात्, अतत्त्वज्ञवचनात्[1], रथ्यापुरुषवचनवत् । नापि प्रादुर्भूतसाक्षात्तत्त्वज्ञानस्यापि परमवैराग्योत्पत्तेः पूर्वमवस्थानसम्भवान्मोक्षमार्गप्रणीतिर्युक्ता, साक्षात्सकलतत्त्वज्ञानस्यैव परमवैराग्यस्वभावत्वात् । एतेन सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रप्रकर्षपर्यन्तप्राप्तौ निःश्रेयसमिति वदतोऽपि न मोक्षमार्गप्रणयनसिद्धिरिति प्रतिपादितं बोद्धव्यम्,[2] केवलज्ञानोत्पत्तौ क्षायिकसम्यग्दर्शनस्य क्षायिकचारित्रस्य च परमप्रकर्षपरिप्राप्तस्य सद्भावात् सम्यग्दर्शनादित्रयप्रकर्षपर्यन्तप्राप्तौ परममुक्तिप्रसङ्गादवस्थानायोगान्मोक्षमार्गोपदेशासम्भवात् । तदाऽप्यवस्थाने सर्वज्ञस्य न तावन्मात्रकारणत्वं मोक्षस्य स्यात् तद्भावभावित्वाभावादेव ज्ञानमात्रवदिति' तन्मतमप्यनूद्य विचारयन्नाह—

[अनादिसर्वज्ञस्य मोक्षमार्गप्रणयनमसम्भवीति प्रतिपादनम्]

प्रणीतिर्मोक्षमार्गस्य न विनाऽनादिसिद्धतः ।
सर्वज्ञादिति तत्सिद्धिर्न परीक्षासहा, स हि ॥१०॥

प्रणेता मोक्षमार्गस्य नाशरीरोऽन्यमुक्तवत् ।
सशरीरस्तु नाकर्मा सम्भवत्यज्ञ[3]जन्तुवत् ॥ ११ ॥

हो सकता। कारण, पागलके वचनकी तरह वह अतत्त्वज्ञका वचन है। यदि कहा जाय कि 'साक्षात् तत्त्वज्ञान उत्पन्न होनेके बाद और उत्कृष्ट वैराग्य (चारित्र) की उत्पत्तिके पहले अवस्थान सम्भव है और इसलिये उस समय मोक्षमार्गका प्रणयन युक्तिसंगत है, तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि सम्पूर्ण तत्त्वोंका जो साक्षात् ज्ञान है वह उत्कृष्ट वैराग्य स्वरूप है। इसी कथनसे 'सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंके अत्यन्त प्रकर्षताको प्राप्त होजानेपर मोक्ष होता है' ऐसा प्रतिपादन करनेवालोंके यहां भी मोक्षमार्गका प्रणयन नहीं बन सकता है, यह कथन समझ लेना चाहिये; क्योंकि केवलज्ञानके उत्पन्न होजानेपर क्षायिकसम्यक्दर्शन और क्षायिकसम्यक्चारित्र भी अत्यन्त उन्नतावस्थाको प्राप्त हो जाते हैं और इसलिये इन तीनोंके परम-प्रकर्षको प्राप्त होजानेपर परम-मुक्तिका प्रसंग आने और सर्वज्ञका अवस्थान न हो सकनेसे मोक्षमार्गोपदेश सम्भव नहीं है। फिर भी उसका अवस्थान मानें तो वे ही मोक्षका कारण सिद्ध नहीं होते, क्योंकि उन (सम्यग्दर्शनादि तीनों) के होनेपर भी मोक्ष नहीं होता, जैसे ज्ञानमात्र मोक्षका कारण नहीं है ?

इस शङ्काको दुहराते हुये उसका समाधान आचार्य अगली कारिकाद्वारा करते हैं:—

मोक्षमार्गका उपदेश अनादिसिद्ध सर्वज्ञके बिना नहीं बन सकता है, अतः अनादिसिद्ध सर्वज्ञकी सिद्धि सुतरां हो जाती है, परन्तु यह कथन ठीक नहीं है; क्योंकि परीक्षा करनेपर अनादिसिद्ध सर्वज्ञ सिद्ध नहीं होता। हम पूछते हैं कि वह सशरीरी—शरीरवान् है अथवा अशरीरी—शरीररहित ? यदि शरीररहित है तो वह अन्य मुक्त

1 द 'अतत्त्वज्ञानिवचनत्वात्' । 2 मु 'बोद्धं' । 3 द 'त्यन्य'

§ ७०. यस्मादनादिसिद्धात्सर्वज्ञान्मोक्षमार्गप्रणीतिः सादिसर्वज्ञान्मोक्षमार्गप्रणयनासम्भवभयादभ्यनुज्ञायते । सोऽशरीरो वा स्यात्सशरीरो वा, गत्यन्तराभावात् । न तावदशरीरो मोक्षमार्गस्य प्रणेता सम्भवति, तदन्यमुक्तवद्वाक्प्रवृत्तेरयोगात् । नापि सशरीरः, सकर्मकत्वप्रसङ्गादज्ञ[1]प्राणिवत् । ततो नानादिसिद्धस्य सर्वज्ञस्य मोक्षमार्गप्रणीतिः परीक्षां सहते यतोऽसौ व्यवस्थाप्यते ।

§ ७१. ननु चाशरीरत्वसशरीरत्वयोर्मोक्षप्रणीतिं प्रत्यनङ्गत्वात्तत्त्वज्ञानेच्छाप्रयत्ननिमित्तत्वात्तस्याः कायादिकार्योत्पादनवत्, तन्मात्रनिबन्धनत्वोपलब्धेः कार्योत्पादनस्य[2] । तथा हि—कुम्भकारः कुम्भादिकार्यं कुर्वन्न सशरीरत्वेन कुर्वीत, सर्वस्य सशरीरस्य कुविन्दादेरपि कुम्भादिकरणप्रसङ्गात् । नाप्यशरीरत्वेन कश्चित्कुम्भादिकार्यं कुरुते, मुक्तस्य तत्करणप्रसङ्गात् । किं तर्हि ? कार्योत्पादनज्ञानेच्छाप्रयत्नैः कुम्भकारः कुम्भादिकार्यं कुर्वन्नुपलभ्यते तदन्यतमापायेऽपि तदनुपपत्तेः । ज्ञानापाये

जीवोंकी तरह मोक्षमार्गका प्रणेता नहीं हो सकता। सशरीरी—देहधारी भी अज्ञ प्राणियोंकी तरह कर्मरहित होनेसे मोक्षमार्गका प्रणेता सम्भव नहीं है।

इसी बातको आचार्य महोदय अपनी टीकाद्वारा स्पष्ट करते हैं—

§ ७०. चूँकि अनादिसिद्ध सर्वज्ञसे मोक्षमार्गका प्रणयन स्वीकार किया जाता है, क्योंकि सादिसर्वज्ञसे मोक्षमार्गका प्रणयन सम्भव नहीं है। इसपर हमारा प्रश्न है कि वह मोक्षमार्गका प्रणयन करनेवाला अनादिसिद्ध सर्वज्ञ देहरहित है अथवा देहधारी ? अन्य विकल्प सम्भव नहीं है। देहरहित तो मोक्षमार्गका प्रणेता सम्भव नहीं है, जैसे दूसरे मुक्त जीव, क्योंकि देहके बिना वचनका व्यापार नहीं हो सकता है। और न देहधारी भी मोक्षमार्गका प्रणेता हो सकता है क्योंकि उसे देहधारी माननेपर कर्मवान् होनेका प्रसङ्ग आवेगा, जैसे दूसरे संसारी प्राणी। अतः अनादिसिद्ध सर्वज्ञके मोक्षमार्गका प्रणायन परीक्षाको नहीं सहता है जिससे कि उसे व्यवस्थापित किया जाय। अर्थात् जब वह परीक्षाकी कसौटीपर स्थित नहीं होता तब उसकी व्यवस्था—सिद्धि कैसे हो सकती है ? अर्थात् नहीं हो सकती ।

§ ७१. शङ्का—देहरहितपना और देहसहितपना ये दोनों मोक्षमार्गके प्रणयनमें कारण नहीं हैं, उसमें तो तत्त्वज्ञान, इच्छा और प्रयत्न ये तीन निमित्तकारण हैं, जैसे शरीरादिकार्यकी उत्पत्ति उक्त तीनोंके निमित्तसे होती है, किसी एकमात्रसे शरीरादिक कार्यकी उत्पत्ति उपलब्ध नहीं होती। तात्पर्य यह कि कुम्हार घटादिक कार्यको करता है तो वह सशरीरी होनेसे नहीं करता, अन्यथा सभी देहधारी जुलाहा आदिक भी घटादि कार्यके करनेवाले हो जायेंगे। और न वह अशरीरीपनेसे घटादिक कार्यको करता है नहीं तो मुक्त जीव भी घटादिकके करनेवाले माने जायेंगे। तो फिर वह किस तरह घटादिक कार्योंको बनाता है ? इसका उत्तर यह है कि वह कार्यके उत्पादक ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न इन तीनके द्वारा घटादिक कार्योंको बनाता हुआ उपलब्ध होता है। अगर उनमेंसे एक भी न हो तो घटादिक कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता। किसीको इच्छा

1 द 'त्यन्य' । 2 द 'न तन्मात्रनिबन्धनत्वोपलब्धिः कार्योत्पादस्य' ।

कस्यचिदिच्छतोऽपि कार्योत्पादनादर्शनात् । कार्योत्पादनेच्छाऽपाये च ज्ञानवतोऽपि तदनुपलब्धेः । तत्र प्रयत्नापाये च कार्योत्पादनज्ञानेच्छावतोऽपि तदसम्भवात् । ज्ञानादित्रयसद्भावे च कार्योत्पत्तिदर्शनात् तत्त्वज्ञानेच्छाप्रयत्न[1]निबन्धनमेव कार्यकरणमनुमन्तव्यम् । तदस्ति च महेश्वरे[2] ज्ञानेच्छाप्रयत्नत्रयम्, ततोऽसौ मोक्षमार्गप्रणयनं कायादिकार्यवत् करोत्येव विरोधाभावादिति कश्चित्; सोऽपि न युक्तवादी; विचारासहत्वात्, सदा कर्मभिरस्पृष्टस्य क्वचिदिच्छाप्रयत्नयोरयोगात् । तदाह—

[अकर्मणः महेश्वरस्येच्छाप्रयत्नशक्त्योरभावप्रतिपादनम्]

न चेच्छाशक्तिरीशस्य कर्माभावेऽपि युज्यते ।
तदिच्छा वाऽनभिव्यक्ता क्रियाहेतुः कुतोऽज्ञवत् ॥१२॥

§ ७२. न हि कुम्भकारस्येच्छाप्रयत्नौ कुम्भाद्युत्पत्तौ निःकर्मणः प्रतीतौ, सकर्मण एव तस्य तत्प्रसिद्धेः । यदि पुनः संसारिणः कुम्भकारस्य कर्मनिमित्तेच्छा सिद्धा सदामुक्तस्य तु कर्माऽभावेऽपी-

रहनेपर भी ज्ञानके अभावमें कार्यकी उत्पत्ति दृष्टिगोचर नहीं होती और ज्ञान होते हुए भी कार्यके उत्पन्न करनेकी इच्छा न होनेपर कार्य नहीं होता और ज्ञान तथा इच्छा दोनों भी हों लेकिन प्रयत्न न हो तो भी कार्यकी उत्पत्ति सम्भव नहीं है। किन्तु ज्ञानादि तीनोंके होनेपर कार्यकी उत्पत्ति देखी जाती है। अतः कार्यका होना तत्त्वज्ञान, इच्छा और प्रयत्न इन तीनोंके निमित्तसे ही मानना चाहिये। और ये तीनों ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न महेश्वरमें विद्यमान हैं। अतः वह शरीरादि कार्यकी तरह मोक्षमार्गका प्रणयन भी अवश्य करता है क्योंकि उसमें कोई विरोध नहीं है ?

समाधान—यह कथन भी युक्तिपूर्ण नहीं है, क्योंकि वह विचारसह नहीं है अर्थात् विचार करनेपर खण्डित होजाता है। कारण, जो सदा कर्मोंसे अस्पृष्ट (रहित) है उसके इच्छा और प्रयत्न असम्भव हैं—अर्थात् नहीं हो सकते हैं। इसी बात-को आचार्य महोदय आगे कहते हैं:—

'ईश्वरके कर्मके अभावमें इच्छाशक्तिको मानना युक्त नहीं है। कारण, वह इच्छा अभिव्यक्त तो बनती नहीं, क्योंकि उसकी अभिव्यक्ति करनेवाला कोई कर्मादि नहीं है। और यदि अनभिव्यक्त है तो वह अज्ञ प्राणीकी तरह कार्योत्पत्तिमें कारण कैसे हो सकती है ? अर्थात् नहीं हो सकती।

§ ७२. यथार्थतः घटादिकके बनानेमें कुम्हारके जो इच्छा और प्रयत्न हैं वे उसके कर्मके बिना प्रतीत नहीं होते, कर्मसहित कुम्हारके ही वे प्रतीत होते हैं। यदि कहें कि, कुम्हार संसारी है और इसलिए उसके तो कर्मनिमित्तक इच्छा है, किन्तु ईश्वर सदामुक्त है—वह संसारी नहीं है इसलिये उसके कर्मके बिना भी इच्छाशक्ति सम्भव है। हाँ, जो

1 मु 'प्रयत्ने'। 2 मु 'महेश्वरज्ञाने'।

च्छाशक्तिः सम्भवति, [1]सोपायमुक्तस्येच्छाऽपायात् । न च[2] [१]तद्वदीश्वरस्य [२]तदसम्भव इति मतम्; तदा सा महेश्वरेच्छाशक्तिरभिव्यक्ताऽनभिव्यक्ता वा ? न तावदभिव्यक्ता, [३]तदभिव्यञ्जकाभावात् । तज्ज्ञानमेव[4] तदभिव्यञ्जकमिति चेत्; न; तस्य[3] शश्वत्स[5]द्भावादीश्वरस्य सदेच्छाभिव्यक्तिप्रसङ्गात् । न चैवम्, तस्याः[४] कादाचित्कत्वात्[५] । अन्यथा[६] "वर्षशतान्ते वर्षशतान्ते महेश्वरेच्छोत्पद्यते" [ ] इति सिद्धान्तविरोधात् । यदि पुनस्तन्वाद्युपभोक्तृप्राणिगणाऽदृष्टं तदभिव्यञ्जकमिति मतिः, तदा तददृष्टमीश्वरेच्छानिमित्तकमन्यनिमित्तकं वा ? प्रथमपक्षे परस्पराश्रयदोषः, सत्यामीश्वरेच्छाभिव्यक्तौ प्राणिनामदृष्टं सति च तददृष्टे महेश्वरेच्छाभिव्यक्तिरिति ।

§ ७३. स्यान्मतम्—प्राणिनामदृष्टं पूर्वेश्वरेच्छानिमित्तकं[6] तदभिव्यक्तिश्च तत्पूर्वप्राण्यदृष्टनिमित्ता-त्तदपि तददृष्टं पूर्वेश्वरेच्छानिमित्तकमित्यनादिरियं कार्यकारणभावेन प्राणिगणादृष्टेश्वरेच्छाभिव्यक्त्योः

उपायसे मुक्त होते हैं उनके इच्छाका अभाव है, न कि उनकी तरह ईश्वरके उस इच्छाका अभाव सम्भवित है, तो हम पूछते हैं कि वह महेश्वरकी इच्छाशक्ति अभिव्यक्त (प्रकट) है या अनभिव्यक्त (अप्रकट) ? अभिव्यक्त तो वह बन नहीं सकती; क्योंकि उसे अभिव्यक्त करनेवाला नहीं है। महेश्वरका जो ज्ञान है वही उसका अभिव्यञ्जक है, यह कहें तो वह ठीक नहीं, क्योंकि महेश्वरका ज्ञान सदैव विद्यमान रहनेसे उसकी इच्छा भी सदैव अभिव्यक्त रहेगी, लेकिन ऐसा नहीं है—महेश्वरकी इच्छा सदैव अभिव्यक्त स्वीकार नहीं की गई है क्योंकि वह जब कभी होती है। अन्यथा "सौ-सौ वर्षके अन्तमें महेश्वरकी इच्छा उत्पन्न होती है" इस सिद्धान्तका विरोध आएगा।

यदि शरीरादिकको भोगनेवाले प्राणियोंका अदृष्ट (पुण्य और पाप) उस इच्छाका अभिव्यञ्जक है, यह मानें तो वह अदृष्ट किससे उत्पन्न होता है ? ईश्वरकी इच्छारूप निमित्तकारणसे अथवा किसी अन्य निमित्तकारणसे ? पहले पक्षमें अन्यो-न्याश्रय दोष है। वह इस प्रकारसे है—जब महेश्वरकी इच्छाकी अभिव्यक्ति हो जाय तब प्राणियोंका अदृष्ट उत्पन्न हो और जब प्राणियोंका अदृष्ट उत्पन्न हो जाय तब महेश्वरकी इच्छाकी अभिव्यक्ति हो, इस तरह दोनों एक-दूसरेके आश्रित होनेसे किसी एककी भी सिद्धि नहीं हो सकेगी।

§ ७३. शङ्का—प्राणियोंका अदृष्ट पूर्व ईश्वरेच्छासे उत्पन्न होता है और उस ईश्वरेच्छाकी अभिव्यक्ति उससे पूर्ववर्ती प्राणियोंके अदृष्टसे होती है तथा वह भी अदृष्ट पूर्व ईश्वरेच्छासे उत्पन्न होता है, इस प्रकार प्राणियोंके अदृष्ट और ईश्व-

१ सोपायमुक्तवत् । २ इच्छाया अभावः । ३ महेश्वरज्ञानस्य । ४ ईश्वरेच्छायाः । ५ अनित्यत्वात् । ६ कादाचित्कत्वाभावे ।

1 द 'निर्मुक्तस्य'। 2 द 'च' नास्ति । 3 द 'अभि'। 4 द स 'ज्ञानमेव'। 5 द 'द्भावा' 6 द 'मित्तम्'।

सन्ततिस्ततो न परस्पराश्रयो दोषो[1] बीजाङ्कुरसन्ततिवदिति; तदनुपपन्नम्; एकानेकप्राण्यदृष्टनिमित्तत्वविकल्पद्वयानतिक्रमात्। सा हीश्वरेच्छाभिव्यक्तिर्यद्येकप्राण्यदृष्टनिमित्ता तदा तद्भोग्यकायादिकार्योत्पत्तावेव निमित्तं स्यात् न सकलप्राण्युपभोग्यकायादिकार्योत्पत्तौ, तथा च सकृदनेकप्राण्युपभोग्यकायादिकार्योपलब्धिर्न स्यात्। यदि पुनरनेकप्राण्यदृष्टनिमित्ता तदा तस्या[१] नानास्वभावप्रसङ्गः, नानाकायादिकार्यकरणात्। न ह्येकप्राण्युपभोग्यकायादिनिमित्तेनैकेन स्वभावेनेश्वरेच्छाऽभिव्यक्ता नानाप्राण्युपभोग्यकायादिकार्यकरणसमर्था, अतिप्रसङ्गात्। यदि पुनस्तदृश एवैकस्वभावो नानाप्राण्यदृष्टनिमित्तो येन नानाप्राण्युपभोग्यकायादिकार्याणां नानाप्रकाराणामीश्वरेच्छा निमित्तकारणं भवतीति मतम्, तदा न किञ्चिदनेकस्वभावं वस्तु सिद्ध्येत्। विचित्रकार्यकरणैकस्वभावादेव भावाद्विचित्रकार्योत्पत्तिघटनात्। तथा च घटादेरपि रूपरसगन्धस्पर्शाद्यनेकस्वभावाभावेऽपि रूपादिज्ञानमनेकं कार्यं कुर्वीत। शक्यं हि वक्तुं तादृगेकस्वभावो घटादेर्येन चक्षुराद्यनेकसामग्रीसन्निधानादनेकरूपादिज्ञानजनननिमित्तं भवेदिति कुतः पदार्थनानात्वव्यवस्था? प्रत्ययनानात्वस्यापि पदार्थैकत्वेऽपि भावाविरोधात्।

रेच्छाकी अभिव्यक्तिकी कार्यकारणभावरूप अनादि संतति—परम्परा है, जैसे बीज और अङ्कुरकी परम्परा। अतः उपर्युक्त अन्योन्याश्रय दोष नहीं है?

समाधान—यह भी युक्ति-युक्त नहीं है; क्योंकि उसमें दो विकल्प पैदा होते हैं—वह महेश्वरेच्छा एक प्राणीके अदृष्टसे अभिव्यक्त होती है या अनेक प्राणियोंके अदृष्टसे? यदि वह महेश्वरेच्छा एक प्राणीके अदृष्टसे अभिव्यक्त होती है तो उस प्राणीके भोगनेमें आनेवाले शरीरादिक कार्योंकी उत्पत्तिमें ही वह महेश्वरेच्छा कारण हो सकेगी, समस्त प्राणियोंके उपभोगमें आनेवाले शरीरादिक कार्योंकी उत्पत्तिमें नहीं, और ऐसी हालतमें एक-साथ अनेक प्राणियोंके उपभोग-योग्य शरीरादिक कार्योंकी उपलब्धि नहीं हो सकेगी। अगर वह महेश्वरेच्छा अनेक प्राणियोंके अदृष्टसे अभिव्यक्त होती है तो उसे नानास्वभाव मानना पड़ेगा। क्योंकि उसके द्वारा नानाशरीरादिक कार्य किये जाते हैं। प्रकट है कि एक प्राणीके उपभोगमें आनेवाले शरीरादिकोंमें कारणीभूत एकस्वभावसे अभिव्यक्त हुई ईश्वरेच्छा नानाप्राणियोंके उपभोगमें आनेवाले शरीरादिक कार्योंके करनेमें समर्थ नहीं है, अन्यथा अतिप्रसंग दोष आयेगा अर्थात् कोई नियमित व्यवस्था नहीं बन सकेगी। यदि कहा जाय कि वैसा एक स्वभाव नाना प्राणियोंके अदृष्टसे ईश्वरेच्छाके होता है जिससे ईश्वरेच्छा नाना प्राणियोंके उपभोगमें आनेवाले नाना प्रकारके शरीरादिक कार्योंमें निमित्तकारण हो जाती है तो फिर कोई भी वस्तु अनेकस्वभाववाली सिद्ध नहीं हो सकेगी, अनेक प्रकारके कार्योंको करनेवाले एकस्वभाववान् पदार्थसे ही अनेक तरहके कार्य उत्पन्न हो जायेंगे। और इसलिये घटादिक भी रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि अनेक स्वाभावोंके बिना भी रूपादिक अनेक ज्ञानोंको उत्पन्न कर देंगे। हम कह सकते हैं कि 'घटादिकोंके वैसा एक स्वभाव है जिससे वे चक्षुरिन्द्रिय आदि सामग्री मिलनेसे अनेक रूपादिज्ञानोंको उत्पन्न करनेमें निमित्तकारण हो जाते हैं।' इस तरह नाना पदार्थ कैसे व्यवस्थित हो सकेंगे?

---

१ ईश्वरेच्छायाः।

1 मु 'परस्पराश्रयदोषो'।

न हि द्रव्यमेकः पदार्थो[1] नानागुणादिप्रत्ययविशेषजननैकस्वभावो विरुद्ध्यते। यदि पुनः प्रत्ययविशेषादिकार्यभेदाद्द्रव्यगुणादिपदार्थनानात्वं व्यवस्थाप्यते तदा महेश्वरेच्छायाः सकृदनेकप्राण्युपभोगयोग्यकायादिकार्यनानात्वान्नानास्वभावत्वं कथमिव न सिद्ध्येत्।

§ ७४. यदि पुनरीश्वरच्छाया नानासहकारिण एव नानास्वभावाः, [१]तद्व्यतिरेकेण भावस्य[२] स्वभावा[३]योगादिति मतम्, तदा स्वभावतद्वतोर्भेदैकान्ताभ्युपगमः[2] स्यात्। तस्मिंश्च स्वभावत[द्व]द्भावविरोधः[४] सह्यविन्ध्यवदापनीपद्येत। प्रत्यासत्तिविशेषान्नैवमिति चेत्; कः पुनरसौ प्रत्यासत्तिविशेषः? समवायिनां सहकारिणां समवायोऽसमवायिनां कार्यैकार्थसमवायः[५] कार्यकारणैकार्थसम-

---

अर्थात् नहीं हो सकते हैं। तात्पर्य यह कि यदि उपर्युक्त प्रकारसे स्वभाववाद स्वीकार किया जाय तो पदार्थ नाना नहीं बन सकेंगे, नाना स्वभावोंसे युक्त एक ही पदार्थ मानना पर्याप्त है। जो नाना प्रत्यय होते है वे एक पदार्थके मानने में भी अविरुद्ध हैं—बन जाते हैं। निःसन्देह गुणकर्मादि अनेक प्रत्ययविशेषोंको उत्पन्न करनेवाले एकस्वभावसे युक्त एक द्रव्यपदार्थ माना जा सकता है और उसमें कोई विरोध नहीं आ सकता। यदि प्रत्ययविशेष आदि कार्योंके भेदसे द्रव्य, गुणादिक पदार्थोंको नाना सिद्ध करें तो एक-साथ अनेक जीवोंके उपभोगमें आनेवाले शरीरादिक कार्योंके भी नाना होनेसे महेश्वरकी इच्छा भी नानास्वभाववाली क्यों सिद्ध न हो जायगी? अपितु हो जायगी।

§ ७४. अगर कहें कि 'ईश्वरेच्छाके नाना सहकारी हैं वे ही उसके नाना स्वभाव हैं, उनके अतिरिक्त पदार्थका और कोई स्वभाव नहीं है, तो स्वभाव और स्वभाववान्में सर्वथा भेद स्वीकार कर लिया जान पड़ता है और उसके स्वीकार करनेपर उनमें स्वभाव और स्वभाववान्का व्यवहार नहीं बन सकेगा, जैसे सह्याचल और विन्ध्याचलमें स्वभाव और स्वभाववान्का व्यवहार नहीं है।

वैशेषिक—बात यह है कि महेश्वरेच्छा और सहकारियोंमें सम्बन्ध-विशेष है। अतः उससे उनमें स्वभाव और स्वभाववान्का व्यवहार बन जायगा, किन्तु सह्याचल एवं विन्ध्याचलमें वह सम्बन्धविशेष नहीं है, इसलिये उनमें स्वभाव और स्वभाववान्का व्यवहार नहीं माना जाता?

जैन—अच्छा तो यह बतलायें, वह सम्बन्धविशेष कौन-सा है?

वैशेषिक—सुनिये, हम बतलाते हैं—महेश्वरेच्छाके जो सहकारी कारण हैं वे तीन प्रकारके हैं—१ समवायिकारण, २ असमवायिकारण, और ३ निमित्तकारण। इनमें जो समवायिकारणरूप सहकारी कारण है उसका तो महेश्वरेच्छाके साथ समवायसम्बन्ध

---

१ सहकारिव्यतिरेकेण। २ पदार्थस्य। ३ नानास्वभावायोगात्। ४ स्वभाव-स्वभाववद्भावविरोधः। ५ कार्येण सह एकस्मिन्नर्थे समवायः कार्यैकार्थसमवायः, यथा कार्येण पटेन सह तन्तुसंयोगस्य तन्तुषु समवायः, यथा वा कार्येण घटेन सह कपालद्वयसंयोगस्य कपालद्वये समवायः।

1 द 'मेकपदार्थो'। 2 द 'भ्युपगतः'। 3 मु 'तर्हि' पाठो नास्ति।

वायो[१] वा निमित्तकारणानां तु कार्योत्पत्तावपेक्षा कर्तृसमवायिनी कर्मसमवायिनी वाऽपेक्षमाणता प्रत्यासत्तिरिति चेत्, [1]तर्हीश्वरो दिक्कालाकाशादीनि च सर्वकार्याणामुत्पादककारणस्वभावत्वं प्रतिपद्येरन्, तस्य तेषां च तदुत्पत्तौ निमित्तकारणत्वात्। तथा सकलप्राण्यदृष्टानां कायादिकार्यसमवाय्यसमवायिकारणानां[२] च महेश्वरस्वभावत्वं दुर्निवारम्, कायादिकार्योत्पत्तौ तत्सहकारित्वसिद्धेरिति सर्वमसमञ्जसमासज्येत, नानास्वभावैकेश्वरतत्त्वसिद्धेः। तथा च परमब्रह्मेश्वर इति नाममात्रं भिद्येत्, परमब्रह्मण एवैकस्य नानास्वभावस्य व्यवस्थितेः।

है क्योंकि महेश्वरेच्छा गुण है और महेश्वर गुणी है और गुण-गुणीमें समवाय सम्बन्ध होता है। और जो असमवायिकारणरूप सहकारीकारण हैं उनका महेश्वरेच्छाके साथ १ कार्यैकार्थसमवाय और २ कार्यकारणैकार्थसमवाय सम्बन्ध है। तथा जो निमित्तकारणरूप सहकारीकारण हैं उनका उसके साथ कार्यकी उत्पत्तिमें निमित्तकारणोंकी कर्तृसमवायिनी (कर्तामें समवायसम्बन्धसे रहनेवाली अपेक्षा और कर्मसमवायिनी (कर्ममें समवायसे रहनेवाली) अपेक्षारूप सम्बन्ध है और इसलिये महेश्वरेच्छा तथा सहकारियोंमें भेद होते हुए भी उक्त सम्बन्धोंसे स्वभाव और स्वभावान्का व्यवहार बन जाता है।

जैन—इस तरह तो ईश्वर, दिशा, काल और आकाशादिक भी सभी कार्योंके स्वभाव हो जायँगे, क्योंकि ईश्वर और दिगादिक उन सभी कार्योंकी उत्पत्तिमें निमित्तकारण पड़ते हैं। इसके अलावा, समस्त प्राणियोंके अदृष्ट और शरीरादिकार्योंके समस्त समवायि एवं असमवायिकारण महेश्वरके स्वभाव हो जायँगे; क्योंकि वे सब भी शरीरादिककार्योंकी उत्पत्तिमें महेश्वरेच्छा अथवा महेश्वरके सहकारीकारण हैं और इस तरह सब अव्यवस्थित (गढ़-बढ़) हो जायगा। कारण, नानास्वभावोंवाला एक ईश्वरतत्त्व ही सिद्ध होगा। तात्पर्य यह कि जो विभिन्न स्वभावोंको लिये हुए विभिन्न पदार्थ उपलब्ध होरहे हैं वे कोई भी नहीं बन सकेंगे और ऐसी दशामें वेदान्तियोंके परमब्रह्म और आपके ईश्वरमें नाममात्रका भेद रहेगा, क्योंकि वेदान्ती भी नानास्वभावोंसे युक्त एक परमब्रह्मकी ही सिद्धि करते हैं।

१ कार्यंकारणेन सह एकस्मिन्नर्थे समवायः कार्यकारणैकार्थसमवायः, यथा कार्यस्य पटरूपस्य कारणं पटः तेन सह तन्तुरूपस्य तन्तुषु समवायः। यथा वा, कार्यस्य घटरूपस्य कारणं घटः तेन (घटेन) सह कपालरूपस्य कपालयोः समवायः। २ यस्मिन् समवेतं कार्यमुत्पद्यते तत्समवायिकारणम्, यथा पटं प्रति तन्तवः, घटं प्रति वा कपाले। तथा कार्येण कारणेन वा सह एकस्मिन्नर्थे समवेतं सत् यत्कार्यमुत्पद्यते तदसमवायिकारणम्, यथा तन्तुसंयोगः पटस्य, तन्तुरूपं पटरूपस्य वा। कपालद्वयसंयोगो वा घटस्य, कपालरूपं घटरूपस्य चासमवायिकारणम्। कार्यैकार्थप्रत्यासत्त्या कारणैकार्थप्रत्यासत्त्या चासमवायिकारणं द्विधा भवतीति भावः। एतदुभयकारणभिन्नं यत्कारणं तन्निमित्तकारणम्, यथा पटस्य तुरीवेमादि, घटस्य च दण्डचक्रादिकमिति।

1 मु 'तर्हि' नास्ति।

§ ७५. स्यान्मतम्—कथमेकं ब्रह्म नानास्वभावयोगि भावान्तराभावे भवेत्, भावान्तराणामेव प्रत्यासत्तिविशिष्टानां स्वभावत्वात्? इति; तदप्यपेशलम्; भावान्तराणां स्वभावत्वे कस्यचिदेकेन स्वभावेन प्रत्यासत्तिविशेषेण प्रतिज्ञायमाने नानात्वविरोधात्। प्रत्यासत्तिविशेषैर्नानास्वभावैस्तेषां स्वभावत्वान्नानात्वे तेऽपि प्रत्यासत्तिविशेषाः स्वभावास्तद्वतोऽपरैः प्रत्यासत्तिविशेषाख्यैः स्वभावैर्भवेयुरित्यनवस्थाप्रसङ्गात्। सुदूरमपि गत्वा स्वभाववतः स्वभावानां स्वभावान्तरनिरपेक्षत्वे प्रथमेऽपि स्वभावाः स्वभावान्तरनिरपेक्षाः प्रसज्येरन्। तथा च सर्वे सर्वस्य स्वभावा इति स्वभावसङ्कर[१]प्रसङ्गः। [२]तं परिजिहीर्षता[३] न स्वभावतद्वतोर्भेदैकान्तोऽभ्युपगन्तव्यः। तदभेदैकान्ते च स्वभावानां तद्वति सर्वात्मनाऽनुप्रवेशात्तदेवैकं तत्त्वं परमब्रह्मेति निगद्यमानं न प्रमाणविरुद्धं स्यात्। तदप्यनिच्छता स्वभावतद्वतोः कथञ्चित्तादात्म्यमेषितव्यम्। तथा चेश्वरेच्छाया नानास्वभावाः कथञ्चित्तादात्म्यमनुभवन्तोऽनेकान्तात्मिकामीश्वरेच्छां साधयेयुः। तामप्यनिच्छतैकस्वभावेश्वरेच्छा प्रति-

§ ७५. वैशेषिक—वेदान्तियोंके यहाँ ब्रह्मसे अतिरिक्त कोई पदार्थान्तर—दूसरा पदार्थ ही नहीं है, अतएव एक परमब्रह्म नानास्वभावोंसे युक्त कैसे हो सकता है, क्योंकि सम्बन्धविशेषसे सम्बद्ध पदार्थान्तरोंको ही हमारे यहाँ स्वभाव कहा गया है?

जैन—यह भी युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि पदार्थान्तरोंको आप किसीका स्वभाव सम्बन्धविशेषरूप एक स्वभावसे स्वीकार करेंगे और उस हालतमें पदार्थान्तरोंमें नानापना नहीं रहेगा—वे सब एक होजायेंगे।

वैशेषिक—अनेकसम्बन्धविशेषरूप नानास्वभावोंसे पदार्थान्तर स्वभाव हैं और इसलिये उनमें नानापना बन जाता है उसमें कोई विरोध नहीं है।

जैन—तो फिर वे सम्बन्धविशेषरूप स्वभाव अन्य सम्बन्धविशेषरूप स्वभावोंसे अपने स्वभाववान्के स्वभाव कहे जायेंगे और इस तरह अनवस्थादोष आयेगा। बहुत दूर जाकर भी यदि उस स्वभाववालेके स्वभावोंको अन्यस्वभावोंकी अपेक्षाके बिना मानें तो पहले स्वभावोंको भी अन्यस्वभावोंकी अपेक्षासे रहित मानना चाहिये और ऐसी दशामें सब सभीके स्वभाव बन जायेंगे, इस प्रकार स्वभावोंका सांकर्य हो जायगा। तात्पर्य यह कि जिस किसीके स्वभाव जिस किसीके हो जायेंगे, अतएव इस दोषको यदि दूर करना चाहते हैं तो स्वभाव और स्वभाववान्में सर्वथा भेद स्वीकार नहीं करना चाहिये। और यदि उनमें सर्वथा अभेद मानें तो स्वभाव स्वभाववान्में प्रविष्ट होजानेसे वही एक 'ब्रह्म' नामका तत्व सिद्ध होगा, ऐसा कहनेमें प्रमाणसे कुछ विरोध भी नहीं आता। और अगर सर्वथा अभेद भी नहीं मानना चाहते हैं तो स्वभाव और स्वभाववान्में कथंचित् तादात्म्य (भेदाभेद) मानिये। और उस दशामें ईश्वरेच्छाके स्वीकृत नाना स्वभावोंका उसके साथ जब तादात्म्य होगा तो वे स्वभाव ईश्वरेच्छाको अनेका-

१ परस्परप्राप्तिः सङ्करः। २ सङ्करप्रसङ्गम्। ३ भवता वैशेषिकेण।

पत्तव्या। सा चैकेन प्राण्यदृष्टेनाभिव्यक्ता तदेकप्राण्युपभोगयोग्यमेव कायादिकार्यं कुर्यात्। ततो न सकृदनेककायादिकार्योत्पत्तिरिति न प्राण्यदृष्टनिमित्तेश्वरेच्छाऽभिव्यक्तिः सिद्ध्येत्। एतेन पदार्थान्तरनिमित्ताऽपीश्वरेच्छाऽभिव्यक्तिरपास्ता।

§ ७६. [1]स्यान्मतम्—महेश्वरेच्छाऽनभिव्यक्तैव कार्यजन्मनि निमित्तम्, कर्मनिबन्धनाया एवेच्छायाः क्वचिदभिव्यक्ताया निमित्तत्वदर्शनात्, तदिच्छायाः कर्मनिमित्तत्वाभावादिति मतम्; तदप्यसम्बद्धम्; कस्याश्चिदिच्छायाः सर्वथाऽनभिव्यक्तायाः क्वचित्कार्ये क्रियाहेतुत्वासिद्धेरज्ञजन्तुवत्। कर्माभावे चेच्छायाः सर्वथाऽनुपपत्तेः। तथा हि—विवादाध्यासितः पुरुषविशेषो नेच्छावान् निःकर्मत्वात्, यो यो निःकर्मा स स नेच्छावान्, यथा मुक्तात्मा, निःकर्मा चायम्, तस्मान्नेच्छावानिति नेश्वरस्येच्छासम्भवः। तदभावे च न प्रयत्नः स्यात्, तस्येच्छापूर्वकत्वात् तदभावे भावविरोधादिति।

-न्तात्मक सिद्ध करेंगे; क्योंकि नानास्वभाव ईश्वरेच्छासे कथंचित् अभिन्न हैं। और इसलिये ईश्वरेच्छा भी नानात्मक सिद्ध होगी। यदि अनेकान्तात्मक ईश्वरेच्छाको भी नहीं मानना चाहते हैं तो एकस्वभाववाली ईश्वरेच्छा स्वीकार करिये। सो वह ईश्वरेच्छा यदि एक प्राणीके अदृष्टसे अभिव्यक्त होती है तो वह उसी एक प्राणीके उपभोगमें आने योग्य ही शरीरादिकार्यको उत्पन्न करेगी, उससे अनेक प्राणियोंके उपभोगमें आने-योग्य शरीरादिकार्योंकी उत्पत्ति नहीं हो सकेगी, इस प्रकार ईश्वरेच्छाकी प्राणियोंके अदृष्टसे अभिव्यक्ति नहीं बनती। इस उपरोक्त विवेचनसे पदार्थान्तरके निमित्तसे ईश्वरेच्छाकी अभिव्यक्ति मानना भी निरस्त होजाता है, क्योंकि पदार्थान्तरमें भी उपर्युक्त प्रकारकी आपत्तियाँ आती हैं।

§ ७६. वैशेषिक—बात यह है कि महेश्वरेच्छा अनभिव्यक्त होकर ही कार्योत्पत्तिमें निमित्त होती है। कारण, जो इच्छा कर्मजन्य होती है वही किसी कार्यकी उत्पत्तिमें अभिव्यक्त होकर निमित्तकारण देखी जाती है और महेश्वरकी इच्छा कर्मजन्य नहीं है। अतः उपर्युक्त दोष नहीं है?

जैन—उक्त कथन भी संगत नहीं है; क्योंकि कोई भी इच्छा क्यों न हो, यदि वह सर्वथा अनभिव्यक्त है तो अज्ञप्राणीकी तरह वह किसी भी कार्यमें क्रियोत्पादक नहीं हो सकती है। दूसरी बात यह है, कि महेश्वरके कर्मके अभावमें इच्छा सर्वथा अनुपपन्न है— किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकती है। वह इस प्रकारसे है— विचारकोटिमें स्थित पुरुषविशेष इच्छावान् नहीं है क्योंकि कर्मरहित है, जो जो कर्मरहित होता है वह वह इच्छावान् नहीं होता, जैसे मुक्त जीव और कर्मरहित विचारकोटिमें स्थित पुरुष-विशेष है, इस कारण इच्छारहित है, इस प्रकार महेश्वरके इच्छा सर्वथा असम्भव है। और जब इच्छा असम्भव है तो प्रयत्न भी नहीं बन

१ वैशेषिक ईश्वरेच्छायाः द्वितीयमनभिव्यक्तपक्षमाश्रित्य शङ्कते स्यादिति।

बुद्धीच्छाप्रयत्नमात्रादीश्वरो निमित्तं कायादिकार्योत्पत्तौ कुम्भाद्युत्पत्तौ कुम्भकारवदिति न व्यवतिष्ठते।

§ ७७. स्यादाकूतं ते—'विवादापन्नः पुरुषविशेषः प्रकृष्टज्ञानयोगी सदैवैश्वर्ययोगित्वात्, यस्तु न प्रकृष्टज्ञानयोगी नासौ सदैवैश्वर्ययोगी, यथा संसारी मुक्तश्च, सदैवैश्वर्ययोगी च भगवान्, तस्मात्प्रकृष्टज्ञानयोगी सिद्धः। स च प्राणिनां भोगभूतये कायादिकार्योत्पत्तौ सिसृक्षावान् प्रकृष्टज्ञानयोगित्वात्, यस्तु न तथा स न प्रकृष्टज्ञानयोगी, तथा संसारी मुक्तश्च, प्रकृष्टज्ञानयोगी चायम्, तस्मात्तथेति तस्येच्छावत्त्वसिद्धिः। तथा च प्रयत्नवानसौ सिसृक्षावत्वात्, यो यत्र सिसृक्षावान्, स तत्र प्रयत्नवान् दृष्टः, यथा घटोत्पत्तौ कुलालः, सिसृक्षावांश्च तनुकरणभुवनादौ भगवान्, तस्मात्प्रयत्नवानिति ज्ञानेच्छाप्रयत्नवत्त्वसिद्धिः। निःकर्मणोऽपि सदाशिवस्याशरीरस्यापि तन्वादिकार्योत्पत्तौ निमित्तकारणत्वसिद्धेर्मोक्षमार्गप्रणीतावपि तत्कारणत्वसिद्धिः, बाधकाभावादिति'।

§ ७८. तदेतदप्यसमञ्जसम्; सर्वथा निःकर्मणः कस्यचिदैश्वर्यविरोधात्। तथा हि—विवादाध्यासितः पुरुषो नैश्वर्ययोगी निःकर्मत्वात्, यो यो निकर्मा स स नैश्वर्ययोगी, यथा मुक्तात्मा, निःकर्मा चायम्, तस्मान्नैश्वर्ययोगी। नन्वेनोमलैरेवास्पृष्टत्वादनादियोगजधर्मेण योगादीश्वरस्य

सकता है क्योंकि वह इच्छापूर्वक होता है। और इसलिये जो यह कहा था कि 'बुद्धि, इच्छा और प्रयत्न इन तीनोंसे ईश्वर शरीरादिकार्योंकी उत्पत्तिमें निमित्तकारण होता है, जैसे घटादिककी उत्पत्तिमें कुम्हार' वह सिद्ध नहीं होता।

§ ७७. वैशेषिक—हमारा अभिप्राय यह है कि विचारकोटिमें स्थित पुरुषविशेष उत्कृष्ट ज्ञानसे सम्पन्न है क्योंकि वह सदैव ऐश्वर्यसे युक्त है, जो उत्कृष्टज्ञानसे सम्पन्न नहीं है वह सदैव ऐश्वर्यसे युक्त भी नहीं है, जैसे संसारी और मुक्त। सदैव ऐश्वर्यसे युक्त भगवान् हैं, इस कारण उत्कृष्टज्ञानसे सम्पन्न हैं। तथा, भगवान जीवोंके भोगों और विभूतिके लिये अथवा भोगानुभवके लिए शरीरादिक कार्योंकी उत्पत्तिमें इच्छावान् हैं क्योंकि उत्कृष्टज्ञानसे युक्त हैं जो उक्त प्रकारकी इच्छावाला नहीं है वह उत्कृष्ट ज्ञानसे युक्त नहीं है, जैसे संसारी और मुक्त। और उत्कृष्ट ज्ञानसे युक्त भगवान् हैं, इसलिये उक्त प्रकारकी इच्छावान् हैं। इस तरह ईश्वरके इच्छा सिद्ध होती है। और वह प्रयत्नवान् हैं क्योंकि सृष्टिकी इच्छावान् हैं जो जिस कार्यमें इच्छावान् होता है वह उस कार्यमें प्रयत्नवान् होता है, जैसे घटकी उत्पत्तिमें कुम्हार और शरीरादिककी उत्पत्तिमें इच्छावान् भगवान हैं, इस कारण प्रयत्नवान् हैं। इस प्रकार ईश्वरके ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न तीनों सिद्ध हैं, अतएव अशरीरी और कर्मरहित होनेपर भी महेश्वर शरीरादिकी उत्पत्ति तथा मोक्षमार्गके प्रणयनमें निमित्तकारण अच्छी तरह सिद्ध है, उसमें कोई बाधा नहीं है?

§ ७८. जैन—यह कथन भी अयुक्त है, क्योंकि जो सर्वथा कर्मरहित है उसके ऐश्वर्य नहीं बन सकता है। इसका खुलासा इस प्रकार है—विवादस्थ पुरुष ऐश्वर्ययुक्त नहीं है, क्योंकि कर्मरहित है, जो जो कर्मरहित होता है वह वह ऐश्वर्ययुक्त नहीं होता है, जैसे मुक्त जीव। और कर्मरहित ईश्वर है, इस कारण ऐश्वर्ययुक्त नहीं है।

वैशेषिक—ईश्वर पापमलसे ही अस्पृष्ट—रहित है, अनादियोगजधर्मसे तो वह

निःकर्मत्वमसिद्धमिति चेत्, न तर्हि सदामुक्तोऽसौ, धर्माधर्मक्षयादेव मुक्तिप्रसिद्धेः। शश्वत्क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टत्वादनादियोगजधर्मसम्बन्धेऽपि जीवन्मुक्तेरविरोध एव, वैराग्यैश्वर्यज्ञानसम्बन्धेऽपि तदविरोधवदिति चेत्, तर्हि परमार्थतो मुक्तामुक्तस्वभावता महेश्वरस्याभ्युपगता स्यात्, तथा चानेकान्तसिद्धिं दुर्निवारा। एतेनानादिबुद्धिमन्निमित्तत्व[1]योगादीश्वरस्य धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्ययोगात्[2] शश्वत्क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टत्वाच्च सदैव मुक्तत्वं सदैवेश्वरत्वं ब्रुवाणो नैकान्तमभ्यनुजानातीति निवेदितं प्रतिपत्तव्यम्। कथञ्चिन्मुक्तत्वस्य कथञ्चिदमुक्तत्वस्य च प्रसिद्धेः। ततोऽनेकान्तात्मकत्वप्रसङ्गपरिजिहीर्षुणा सर्वथा मुक्त एवेश्वरः प्रवक्तव्यः। तथा च सर्वथा निःकर्मत्वं तस्योररीकर्त्तव्यमिति नासिद्धं साधनम्। नाप्यनैकान्तिकम्, विपक्षे वृत्त्यभावात्[3]। क्वचिदैश्वर्ययोगिनि [4]त्रिदशेश्वरेत्यादौ सर्वथा निःकर्मत्वस्य वृत्त्यसिद्धेः। तत एव न विरुद्धम्, नापि कालात्ययाप-

युक्त है। अतः निःकर्मत्व (कर्मरहितपना) हेतु असिद्ध है?

जैन—यदि आप ईश्वरको अनादियोगजधर्मसे युक्त मानते हैं तो फिर वह सदा-मुक्त नही ठहरेगा, क्योंकि धर्म और अधर्मके सर्वथा नाशसे ही मुक्ति मानी गई है।

वैशेषिक—ईश्वर क्लेश, कर्म (पुण्य-पापादि), विपाक और आशय इनसे ही सदा रहित है। अतः उसके अनादियोगजधर्मका सम्बन्ध रहनेपर भी जीवन्मुक्तिका कोई विरोध नहीं है, जैसे वैराग्य, ऐश्वर्य और ज्ञानका सम्बन्ध होनेपर भी जीवन्मुक्तिका विरोध नहीं है?

जैन—यदि आप उक्त प्रकारसे ईश्वरके जीवन्मुक्तिका समर्थन करते हैं तो उसको वास्तविक मुक्त और अमुक्त दोनों स्वभाववाला स्वीकार करना पड़ेगा और उस हालतमें हमारे अनेकान्तकी सिद्धि अनिवार्य रूपसे माननी पड़ेगी। तात्पर्य यह कि ईश्वरको क्लेशादिसे रहित माननेसे मुक्त और अनादियोगजधर्मका सम्बन्ध स्वीकार करनेसे अमुक्त दोनोंरूप स्वीकार करना पड़ेगा और तब 'सदा ही वह मुक्त है' इस सिद्धान्तका विरोध अवश्य आवेगा।

इस उपर्युक्त कथनसे जो ईश्वरके अनादिबुद्धिमन्निमित्तकारणतासे तथा धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्यके सम्बन्धसे और सदा क्लेश, कर्म, विपाक, आशयरहिततासे सदा ही मुक्तपना तथा सदा ही ईश्वरपना वर्णित करते हैं उनका एकान्त नहीं रहता—अनेकान्तता प्रसक्त होती है यह प्रतिपादित समझना चाहिये, क्योंकि ईश्वरके कथंचित् मुक्तपना और कथंचित् अमुक्तपना दोनों स्वभाव सिद्ध होते हैं। अतः इस प्रसक्त हुई अनेकान्तताके दूर करनेके लिए आपको सर्वथा मुक्त ही ईश्वर कहना चाहिये और तब उसे सर्वथा कर्म-रहित ही स्वीकार करना चाहिये, अतः हमारा उक्त साधन असिद्ध नहीं है और न अनैकान्तिक भी है, क्योंकि वह विपक्ष—(ऐश्वर्ययोगी व्यक्ति) में—नहीं रहता है। जो ऐश्वर्य-सम्पन्न इन्द्रादिक हैं वे सर्वथा कर्मरहित नहीं हैं—उनके कर्म मौजूद हैं। अतएव विरुद्ध

1 द 'बुद्धिमत्वयोगा-'। 2 द 'योगादीश्वरस्य शश्वत्'। 3 मु वृत्त्यसिद्धेः'। 4 द 'त्रिदश-पत्यादौ'।

दिष्टम्, पक्षस्य प्रमाणेनाबाधनात्। न हि प्रत्यक्षतोऽस्मदादिभिरैश्वर्ययोगी कश्चिन्निःकर्मोपलभ्यते यतः प्रत्यक्षबाधितः पक्षः स्यात्। नाप्यनुमानतस्तत्र सर्वस्यानुमानस्य व्यापकानुपलम्भेन बाधितपक्षस्य कालात्ययापदिष्टत्वसाधनात्। नाप्यागमतस्तस्योपलम्भः, तत्र तस्य युक्त्याऽननुगृहीतस्य प्रामाण्यविरोधात्। तदनुग्राहिकाया युक्तेरसम्भवादेव युक्त्यनुगृहीतस्यापि न तत्रागमस्य सम्भावना यतः [1]प्रमाणेनाबाध्यमानः पक्षो न सिद्ध्येत्, हेतोश्च कालात्ययापदिष्टत्व[2]परिहारो न भवेत्। एतेन सत्प्रतिपक्षत्वं साधनस्य निरस्तम्, प्रतिपक्षानुमानस्य निरवद्यस्य सम्भवाभावसाधनात्। तदेवमस्मादनुमानादैश्वर्यविरहसाधने महेश्वरस्येच्छाप्रयत्नविरहोऽपि साधितः स्याद्धर्मविरहवत्। यथैव हि निःकर्मत्वमैश्वर्यविरहं साधयति तथेच्छाप्रयत्नविरहमपि[3], तस्य तेन व्याप्तिसिद्धेः। कस्यचिदिच्छावतः प्रयत्नवतश्च परमैश्वर्ययोगिनोऽपीन्द्रादेर्निःकर्मत्वविरोधसिद्धेः। ज्ञानशक्तिस्तु निःकर्मणोऽपि कस्यचिन्न विरुद्ध्यते चेतनात्मवादिभिः कैश्चिद्वैशेषिकसिद्धान्तमभ्युपगच्छद्भिर्मुक्ता-

भी नहीं है। न कालात्ययापदिष्ट भी है क्योंकि पक्ष प्रत्यक्षादि किसी भी प्रमाणसे बाधित नहीं है। प्रत्यक्षसे तो वह बाधित है नहीं, क्योंकि हमें ऐसा कोई भी व्यक्ति उपलब्ध नहीं होता जो ऐश्वर्यसे सम्पन्न हो और कर्मरहित हो। अनुमानसे भी वह बाधित नहीं है, क्योंकि उक्त प्रकारके व्यक्तिको सिद्ध करनेवाले सभी अनुमान, उनके पक्ष व्यापकानु-पलम्भसे बाधित होनेके कारण, कालात्ययापदिष्ट हैं। आगमसे भी उक्त प्रकारका व्यक्ति उपलब्ध नहीं होता, क्योंकि जो आगम युक्तिसे अपुष्ट है वह तो अप्रमाण होनेसे उसका साधक हो नहीं सकता और जो आगम युक्तिसे पुष्ट है वह उक्त पुरुषका साधक सम्भव नहीं है, क्योंकि उसकी पोषक कोई युक्त ही नहीं है। अतः पक्ष प्रमाणसे सर्वथा अबाधित है और इसलिये हेतु कालात्ययापदिष्ट नहीं है। इसी कथनसे हेतुके सत्प्रतिपक्षपनाका भी परिहार होजाता है। कारण, उसका प्रतिपक्षी (विरोधी) निर्दोष अनुमान नहीं है।

इसप्रकार इस अनुमानसे ईश्वरके ऐश्वर्यका अभाव सिद्ध होजानेपर उसके इच्छा और प्रयत्नका अभाव भी सिद्ध होजाता है, जैसे उसके अनादियोगज धर्मका अभाव सिद्ध है। तात्पर्य यह कि ईश्वरको सर्वथा निष्कर्म माननेपर उसके ऐश्वर्य, इच्छा, प्रयत्न और योगजधर्म इनमेंसे कोई भी सिद्ध नहीं होता। जिसप्रकार कर्म रहित-पना नियमसे ईश्वरमें ऐश्वर्यके अभावको सिद्ध करता है उसीप्रकार वह इच्छा और प्रयत्नके अभावको भी सिद्ध करता है क्योंकि उसकी उसके साथ व्याप्ति (अविनाभाव सम्बन्ध) है। इन्द्रादिक इच्छावान् और प्रयत्नवान् हैं तथा उत्कृष्ट ऐश्वर्यसे सम्पन्न भी हैं लेकिन उनके कर्मरहितपना नहीं पाया जाता। अतः यह सिद्ध हुआ कि इच्छाशक्ति और प्रयत्नशक्तिका कर्मरहितपनाके साथ विरोध है और इसलिये ईश्वरको सर्वथा कर्मरहित माननेपर उसके न तो इच्छाशक्ति बन सकती है और न प्रयत्नशक्ति। किन्तु ज्ञानशक्ति कर्मरहितके भी बन सकती है, उसका उसके साथ विरोध

1 मु 'प्रामाण्येना'। 2 मु 'पदिष्टत्वं परिहारो'। 3 मु 'तथेच्छाप्रयत्नमपि'।

त्मन्यपि चेतनायाः प्रतिज्ञानात्। चेतना च ज्ञानशक्तिरेव न पुनस्तद्व्यतिरिक्ता। "[1]चितिशक्तिरपरिणामिन्यप्रतिसंक्रमा[2] दर्शितविषया शुद्धा चा[3]ऽनन्ता च" [योगद०भा० १–२] यथा कापिलैरुपवर्ण्यते तस्याः प्रमाणविरोधात्। तथा च महेश्वरस्य कर्मभिरस्पृष्टस्यापि ज्ञानशक्तिरशरीरस्यापि च मुक्तात्मन इव प्रसिद्धा। तत्प्रसिद्धौ च—

[केवलया ज्ञानशक्त्या महेश्वरात्कार्योत्पत्त्यभ्युपगमेऽनुमानस्योदाहरणाभावप्रदर्शनम्]

ज्ञानशक्त्यैव निःशेषकार्योत्पत्तौ प्रभुः किल।
सदेश्वर इति ख्यानेऽनुमानमनिदर्शनम्॥ १३॥

§ ७९. न हि तश्चित्कस्यचित्कार्यस्योत्पत्तौ ज्ञानशक्त्यैव प्रभुरुपलब्धो यतो 'विवादाध्यासितः पुरुषो ज्ञानशक्त्यैव सर्वकार्याण्युत्पादयति प्रभुत्वात्' इत्यनुमानमनुदाहरणं न भवेत्।

नहीं है, क्योंकि आत्माको चेतन प्रतिपादन करनेवाले किन्हीं वैशेषिक सिद्धान्तके स्वीकर्ताओंने मुक्तात्मामें भी चेतना (ज्ञानशक्ति) को स्वीकार किया है। और चेतना ज्ञानशक्ति ही है उससे भिन्न नहीं है अर्थात् ज्ञानशक्तिका नाम ही चेतना है। सांख्यदर्शनके अनुयायी श्रीकृष्णद्वैपायनप्रभृति सांख्यविद्वानोंने जो 'चेतना—चितिशक्तिको अपरिणामी—धर्म और अवस्थालक्षण परिणामरहित, विषयसंचारहीन (शब्दादिक विषयोंमें न प्रवर्तनेवाली), बुद्धिद्वारा ज्ञात विषयका अनुभव करनेवाली, शुद्ध (सुख, दुःख और मोहात्मक अशुद्धियोंसे रहित) और अनन्त (सर्वथा नाशरहित)' वर्णित किया है वह प्रमाणविरुद्ध है—प्रामाणिक नहीं है। अतः महेश्वरके कर्मरहित और शरीररहित होनेपर भी मुक्तात्माकी तरह उनके ज्ञानशक्ति प्रमाणसे सिद्ध है। और उसके सिद्ध होजानेपर यह कहा जा सकता है कि—

'ईश्वर ज्ञानशक्तिके द्वारा ही हमेशा समस्त कार्योंको उत्पन्न करनेमें समर्थ है'।

परन्तु यह कहना युक्त नहीं है, क्योंकि अनुमान उदाहरणरहित है। अर्थात् 'ईश्वर अकेली ज्ञानशक्तिसे ही समस्त कार्योंको उत्पन्न करता है' इस बातको सिद्ध करनेके लिये कहे जानेवाले अनुमानमें उक्त बातका समर्थक कोई उदाहरण उपलब्ध नहीं होता।'

§ ७९. निस्सन्देह कोई भी व्यक्ति किसी कार्यको ज्ञानशक्तिके द्वारा ही उत्पन्न करता हुआ उपलब्ध नहीं है जिससे 'विचारणीय पुरुष ज्ञानशक्तिसे ही समस्त कार्योंको उत्पन्न करता है क्योंकि प्रभु है—समर्थ है' यह अनुमान उदाहरणहीन न होता। अपितु वह उदाहरणहीन है ही।

---

1 द 'शुद्धा वा'। 2 मु द स 'चिच्छक्ति'। 3 मु ' 'माऽदर्शित'।

§ ८०. ननु साधर्म्योदाहरणाभावेऽपि वैधर्म्योदाहरणसम्भवान्नानुदाहरणमिदमनुमानम्। तथा हि 'यस्तु ज्ञानशक्त्यैव न कार्यमुत्पादयति स न प्रभुः यथा संसारी कर्मपरतन्त्रः' इति वैधर्म्येण निदर्शनं सम्भवत्येवेति न मन्तव्यम्; साधर्म्योदाहरणविरहेऽन्वयनिर्णयाभावाद्व्यतिरेकनिर्णयस्य विरोधात्। तथा शक्रादेर्ज्ञानेच्छाप्रयत्नविशेषैः स्वकार्यं कुर्वतः प्रभुत्वेन व्यभिचाराच्च। न हीन्द्रो ज्ञानशक्त्यैव स्वकार्यं कुरुते, तस्येच्छाप्रयत्नयोरपि भावात्। न चास्य प्रभुत्वमसिद्धम्, प्रभुत्वसामान्यस्य सकलामरविषयस्य स्वातन्त्र्यलक्षणस्यापि सद्भावात्।

[जैनाभ्युपगतजिनेश्वरस्योदाहरणप्रदर्शनमप्ययुक्तमिति कथनम्]

८१. प्रतिवादिप्रसिद्धमपि निदर्शनमनूद्य निराकुर्वन्नाह—

समीहामन्तरेणाऽपि यथा वक्ति जिनेश्वरः।
तथेश्वरोऽपि कार्याणि कुर्यादित्यप्यपेशलम्॥ १४॥
सति धर्मविशेषे हि यीर्थकृत्त्वसमाह्वये।
ब्रूयाज्जिनेश्वरो मार्गं न ज्ञानादेव केवलात्॥ १५॥

---

§ ८०. वैशेषिक—यद्यपि उक्त अनुमानमें साधर्म्य उदाहरण नहीं है लेकिन वैधर्म्य उदाहरण मिल सकता है। अतः अनुमान उदाहरणहीन नहीं है। वह इसप्रकारसे है—'जो ज्ञानशक्तिसे ही कार्य उत्पन्न नहीं करता वह प्रभु—सामर्थ्यवान् नहीं है, जैसे कर्माधीन संसारी' यह वैधर्म्य उदाहरण सम्भव है?

जैन—उक्त मान्यता ठीक नहीं है, क्योंकि साधर्म्य उदाहरणके बिना अन्वयव्याप्तिका निश्चय नहीं होसकता और अन्वयव्याप्तिका निश्चय हुए बिना व्यतिरेकव्याप्तिका भी निर्णय नहीं होसकता। अतः व्यतिरेकव्याप्तिके निश्चयके बिना उक्त वैधर्म्य उदाहरण कुछ भी कार्यसाधक नहीं है। दूसरी बात यह है कि इन्द्रादिकप्रभु ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न इन तीनोंके द्वारा ही अपने कार्योंको करते हुए देखे जाते हैं अतः उक्त हेतु अनैकान्तिक हेत्वाभास है। इन्द्र केवल ज्ञानशक्तिसे ही अपने कार्यको करता है, यह तो कहा ही नहीं जा सकता क्योंकि उसके इच्छा और प्रयत्न भी मौजूद हैं। और प्रभुपना भी उसके असिद्ध नहीं है क्योंकि सभी देवोंमें पाया जानेवाला स्वतन्त्रपना (स्वातन्त्र्य) रूप प्रभुपना भी उसके विद्यमान है। अतः सिद्ध है कि उक्त अनुमान उदाहरणरहित है।

§ ८१. आगे वैशेषिक जैनोंके प्रसिद्ध उदाहरणको प्रस्तुत करते हैं, आचार्य उसका भी निराकरण करते हुए कहते हैं :—

वैशेषिक—जिसप्रकार जिनेश्वर इच्छाके बिना भी भाषण करते हैं—उपदेश देते हैं उसीप्रकार ईश्वर भी इच्छाके बिना शरीरादिक कार्योंको करता है?

जैन—यह कहना भी युक्ति-संगत नहीं है, क्योंकि जिनेश्वर तीर्थकृत्वनामक धर्मविशेष (तीर्थंकरपुण्यकर्मोदय) के होनेपर ही निश्चयसे मोक्षमार्गका उपदेश करते

सिद्धस्यापास्तनिःशेषकर्मणो वागसम्भवात् ।
विना तीर्थकरत्वेन नाम्ना नार्थोपदेशना ॥ १६ ॥

८२. महेश्वरः समीहामन्तरेणापि प्रयत्नं च ज्ञानशक्त्यैव मोक्षमार्गप्रणयनं तन्वादिकार्यं च कुर्वीत महेश्वरत्वात्, यथा प्रतिवादिप्रसिद्धो जिनेश्वरः प्रवचनोपदेशमिति प्रतिवादिप्रसिद्धमपि निदर्शनमनुमानस्य नोपपद्यते, स्याद्वादिभिः प्रतिज्ञायमानस्य जिनेश्वरस्य ज्ञानशक्त्यैव प्रवचनलक्षणकार्यकरणासिद्धेः[1] । सत्येव तीर्थंकरत्वनामपुण्यातिशये दर्शनविशुद्ध्यादिभावनाविशेषनिबधने समुत्पन्नकेवलज्ञानस्योदयप्राप्ते प्रवचनाख्यतीर्थकरणप्रसिद्धेः । प्रक्षीणाशेषकर्मणः सिद्धस्य वाक्-प्रवृत्तेरसम्भवात्तीर्थंकरत्वनामपुण्यातिशयापाये केवलिनोऽपि वाक्प्रसिद्ध्यसम्भव[2]वदिति धर्मविशेष-विशिष्ट एवोत्तमसंहननशरीरः केवली प्रवचनाख्यतीर्थस्य कर्त्ता प्रसिद्ध इति कथमसौ निदर्शनं महेश्वरस्यापि ?—

हैं, वे एकमात्र ज्ञानसे ही उपदेश नहीं करते। यही कारण है कि समस्तकर्मरहित सिद्धों—मुक्त जीवोंके तीर्थंकरकर्मका भी अभाव होजानेसे उनकी वचन-प्रवृत्ति न हो सकनेके कारण वे मोक्षमार्गके उपदेशक नहीं माने जाते।

§ ८२. वैशेषिक—हम युक्तिसे सिद्ध करते हैं कि महेश्वर इच्छा और प्रयत्नके बिना भी केवल ज्ञानशक्तिसे ही मोक्षमार्गका उपदेश और शरीरादिक कार्य करता है, क्योंकि वह महेश्वर है, जैसे आप जैनोंद्वारा माना गया जिनेश्वर मोक्षमार्गोपदेश एवं तीर्थप्रवर्त्तन कार्य करता है।

जैन—हमारे जिनेश्वरका उदाहरण आपके अनुमानमें लागू नहीं होता, क्योंकि जिनेश्वर केवल ज्ञानशक्तिसे ही मोक्षमार्गका उपदेश और तीर्थप्रवर्त्तन नहीं करते हैं किन्तु दर्शनविशुद्धि आदि सोलह विशेष आध्यात्मिक भावनाओंसे उत्पन्न तीर्थंकरनामक पुण्यकर्मका उदय होनेपर और केवलज्ञान (परिपूर्ण ज्ञान) के प्राप्त होजानेपर ही वे मोक्षमार्गोपदेशरूप तीर्थका प्रवर्त्तन करते हैं। और इसीसे जो समस्त कर्मोंसे रहित सिद्ध (मुक्त) परमात्मा हैं उन्हें तीर्थप्रवर्त्तक अर्थात् मोक्षमार्गोपदेशक नहीं माना गया है क्योंकि उनके तीर्थंकरनामा पुण्यकर्मका अभाव (नाश) होजाता है। यद्यपि वे केवली (पूर्ण ज्ञानी) हैं तथापि उनके तीर्थंकरकर्मके नाश होजानेसे वचन-प्रवृत्ति सम्भव नहीं है। अतः धर्मविशेषसे विशिष्ट और उत्तम संहननयुक्त शरीरवाले अरहन्त केवली ही मोक्षमार्गोपदेशरूप तीर्थके कर्त्ता (प्रवर्त्तक) हैं। और इसलिये उनका उदाहरण महेश्वरकी सिद्धिमें कैसे दिया जासकता है? अर्थात् नहीं दिया जा सकता।

1 मु 'कार्यकारणासिद्धेः'। 2 द 'सम्भवादिति'।

तथा धर्मविशेषोऽस्य योगश्च यदि शाश्वतः ।
तदेश्वरस्य देहोऽस्तु योग्यन्तरवदुत्तमः ॥ १७ ॥

८३. यस्य हि धर्मविशेषो योगविशेषश्च [1]महर्षेर्योगिनः प्रसिद्धस्तस्य देहोऽप्युत्तम एवायोगिजनदेहाद्विशिष्टः प्रसिद्धस्तथा महेश्वरस्यापि देहोनोत्तमेन भवितव्यम्, तमन्तरेण धर्मवि-शेषस्य योगविशेषस्य[2] वाऽनुपपत्ते[3]रैश्वर्यायोगाद्वैराग्यायोगवत्[4] कुतो जगन्निमित्तकारणत्वं सिद्ध्येदज्ञजन्तुवन्मुक्तात्मवच्च ?

[ईश्वरावतारवादिमतमाह]

§ ८४. मतान्तरमाशङ्क्य निराकुर्वन्नाह—

निग्रहानिग्रहौ देहं स्वं निर्मायान्यदेहिनाम् ।
करोतीश्वर इत्येतन्न परीक्षाक्षमं वचः ॥ १८ ॥

§ ८५. कस्यचिद्दुष्टस्य निग्रहं शिष्टस्य चानुग्रहं करोतीश्वरः प्रभुत्वात्, लोकप्रसिद्धप्रभुवत्।

इसी प्रकार यदि ईश्वरके शाश्वत धर्मविशेष और शाश्वत योग आप मानें तो अन्य योगियोंकी तरह उसके उत्तम शरीर भी स्वीकार करना चाहिये

§ ८३. प्रसिद्ध है कि जिस महान् ऋषि-योगीके धर्मविशेष और योगविशेष होता है उसके अयोगिजनोंके शरीरोंकी अपेक्षा विशिष्ट और उत्तम शरीर भी होता है। उसी प्रकार महेश्वरका भी शरीर उत्तम होना चाहिए; क्योंकि उत्तम शरीरके बिना धर्मविशेष और योगविशेष ये दोनों ही नहीं बन सकते हैं। जैसे ऐश्वर्यके बिना वैराग्य नहीं बनता है। ऐसी दशामें ईश्वर अज्ञ प्राणी और मुक्त जीवकी तरह जगतका निमित्तकारण कैसे सिद्ध हो सकता है? तात्पर्य यह कि जिस प्रकार अज्ञ प्राणी और मुक्त जीव जगतके निमित्तकारण नहीं हैं उसीप्रकार ईश्वर भी जगतका निमित्तकारण सिद्ध नहीं होता।

§ ८४. आचार्य अब दूसरे ईश्वरावतारवादिमतकी आशङ्का करके उसका निरा-करण करते हुए कहते हैं:—

'ईश्वर अपने शरीरका निर्माण करके दूसरे देहधारियोंके निग्रह और अनुग्रह—दण्ड और उपकारको करता है' यह ईश्वरावतारवादी कहते हैं किन्तु उनका यह कथन परीक्षायोग्य नहीं है—परीक्षा करनेपर ठहरता नहीं है।

§ ८५. शङ्का—ईश्वर किसी दुष्ट प्राणीको दण्ड और किसी सज्जनका उपकार दोनों करता है, क्योंकि वह प्रभु है—मालिक है, जैसे लोकमें प्रसिद्ध प्रभु। इससे यह नहीं

1 स मु 'महर्षियोगिनः'। 2 द 'चा'। 3 मु स प 'त्तिः'। 4 द 'वैराग्यायोग इति'।

न चैवं नानेश्वरसिद्धिः, नानाप्रभूणामेकमहाप्रभुतन्त्रत्वदर्शनात् । तथा हि विवादाध्यासिता नानाप्रभव एकमहाप्रभुतन्त्रा एव नानाप्रभुत्वात् , ये ये नानाप्रभवस्ते ते अत्रैकमहाप्रभुतन्त्रा दृष्टाः, यथा [1]सामन्त-महासामन्त-मण्डलिकादय एकचक्रवर्त्तितन्त्राः, प्रभवश्चैते नानाचक्रवर्तीन्द्रादयः, तस्मादेकमहाप्रभुतन्त्रा एव । योऽसौ महाप्रभुः स महेश्वर इत्येकेश्वरसिद्धिः[2] । स च स्वदेहनिर्माणकरो[3]ऽन्यदेहिनां निग्रहानुग्रहकरत्वात् , यो योऽन्यदेहिनां निग्रहानुग्रहकरः[4] स स स्वदेहनिर्माणकरो दृष्टः, यथा राजा, तथा चायमन्यदेहिनां निग्रहानुग्रहकरः, तस्मात्स्वदेहनिर्माणकर इति सिद्धम् । तथा सति स्वं देहं निर्मायान्यदेहिनां निग्रहानुग्रहौ करोतीश्वर इति केषाञ्चिद्वचः; तच्च न परीक्षाक्षमम् ; महेश्वरस्याशरीरस्य[5] स्वदेहनिर्माणानुपपत्तेः । तथा हि—

[आचार्यस्तन्निराकरोति]

देहान्तराद्विना तावत्स्वदेहं जनयेद्यदि ।
तदा प्रकृतकार्येऽपि देहाधानमनर्थकम् ॥१९॥

समझना चाहिये कि इस तरह अनेक ईश्वर सिद्ध हो जायेंगे, क्योंकि नाना प्रभु एक महाप्रभुके अधीन देखे जाते हैं। हम सिद्ध करते हैं कि विचारस्थ नाना प्रभु एक महाप्रभुके अधीन हैं क्योंकि नाना प्रभु हैं, जो जो नाना प्रभु होते हैं वे वे इस लोकमें एक महाप्रभुके अधीन देखे जाते हैं। जैसे सामन्त, महासामन्त और माण्डलिक आदि राजागण एक चक्रवर्ति—सम्राट्के अधीन हैं। और ये सभी नाना चक्रवर्ती, इन्द्र आदि प्रभु हैं, इस कारण एक महाप्रभुके अवश्य अधीन हैं। तथा जो महाप्रभु है वह महेश्वर है। इस प्रकार एक ही ईश्वर सिद्ध होता है—अनेक नहीं। और वह अपने शरीरका निर्माणकर्त्ता है क्योंकि वह दूसरे देहधारियोंके निग्रह और अनुग्रहको करता है, जो जो दूसरे देहधारियोंके निग्रह और अनुग्रहको करता है वह वह अपने शरीरका निर्माणकर्त्ता देखा गया है, जैसे राजा। और दूसरे प्राणियोंके निग्रह और अनुग्रहको करनेवाला यह महेश्वर है, इसलिये वह अपने शरीरका निर्माणकर्त्ता है। अतः ईश्वर अपने शरीरको रचकर दूसरे प्राणियोंके निग्रह और अनुग्रह—दण्ड और उपकारको करता है। यह बात भले प्रकार सिद्ध हो जाती है?

§ समाधान—ईश्वरावतारवादियोंका यह कथन परीक्षाद्वारा युक्तिपूर्ण सिद्ध नहीं होता। कारण, महेश्वर जब स्वयं शरीररहित (अशरीरी) है तब वह अपने शरीरका निर्माण कर्त्ता नहीं बन सकता है। इसी बातको आचार्य आगे बतलाते हैं :—

यदि ईश्वर शरीरान्तर (अन्य शरीर) के बिना अपने शरीरको उत्पन्न करता है तो समस्त प्राणियोंके शरीरादिक कार्योंको उत्पन्न करनेमें भी देहधारण करना व्यर्थ है।

1 मु 'सामन्तमाण्डलिका'। तत्र 'महासामन्त' इति पाठो त्रुटितः। 2 द 'महेश्वरः सिद्धः'। 3 द 'निर्माणं करोति'। 4 द 'नुग्रहं करोति। 5 द प्रतौ 'अशरीरस्य' पाठो नास्ति।

देहान्तरात्स्वदेहस्य विधाने चानवस्थितिः ।
तथा च प्रकृतं कार्यं कुर्यादीशो न जातुचित् ॥२०॥

§ ८६. यदि हीश्वरो देहान्तराद्विनाऽपि स्वदेहमनुध्यानमात्रादुत्पादयेत्, तदाऽन्यदेहिनां निग्रहानुग्रहलक्षणं कार्यमपि प्रकृतं तथैव जनयेदिति तज्जनने देहाधानमनर्थकं स्यात् । यदि पुनर्देहान्तरादेव स्वदेहं विदधीत तदा तदपि देहान्तरमन्यस्माद्देहादित्यनवस्थितिः स्यात् । तथा चापरापरदेहनिर्माण एवोपक्षीणशक्तिकत्वान्न कदाचित्प्रकृतं कार्यं कुर्यादीश्वरः । यथैव हि प्रकृतकार्यजननायापूर्वं शरीरमीश्वरो निष्पादयति तथैव तच्छरीरनिष्पादनायापूर्वं शरीरान्तरं निष्पादयेदिति कथमनवस्था विनिवार्येत ? न हि केषाञ्चित्प्राणिनां निग्रहानुग्रहकरणात्पूर्वं शरीरमीश्वरस्य प्रयुज्यते[1] ततोऽपि[2] पूर्वं शरीरान्तरप्रसङ्गात् । अनादिशरीरसन्ततिसिद्धेरशरीरत्वविरोधात् । न चैकेन निर्माणशरीरेण नानादिग्देशवर्तिप्राणिविशेषनिग्रहानुग्रहविधानमीश्वरस्य घटते, यतो युगपन्नानानिर्माण-

और यदि शरीरान्तरसे अपने शरीरको बनाता है तो अनवस्था नामका दोष प्रसक्त होता है। ऐसी हालतमें प्रकृत शरीरादिक कार्योंको ईश्वर कभी नहीं कर सकेगा।

§ ८६. तात्पर्य यह कि ईश्वर अपने शरीरका जो निर्माणकर्त्ता है वह शरीरान्तरके बिना ही अपने शरीरको निर्माण करता है या शरीरान्तरसे अपने शरीरको बनाता है? यदि शरीरान्तरके बिना ही वह अपने शरीरको केवल ध्यानमात्र (चिन्तन करने मात्र) से उत्पन्न करता है तो दूसरे प्राणियोंके निग्रह और अनुग्रहरूप प्रकृत कार्यको भी ध्यानमात्रसे ही उत्पन्न कर देगा फिर उनकी उत्पत्तिके लिये शरीरधारण करना व्यर्थ है। अगर शरीरान्तरसे ही वह अपने शरीरको बनाता है तो शरीरान्तरको अन्य शरीरसे और उस शरीरको अन्य शरीरसे बनायेगा और ऐसी दशामें अनवस्था आती है। और इसप्रकार दूसरे तीसरे आदि शरीरोंके बनानेमें ही ईश्वरकी शक्ति क्षीण होजानेसे वह कभी भी प्रकृत शरीरादिक कार्यको न कर सकेगा। प्रकट है कि जिसप्रकार वह प्रकृत कार्योंको उत्पन्न करनेके लिये नये शरीरको बनाता है उसी प्रकार उस शरीरको बनानेके लिये अन्य नये शरीरको बनायेगा। इसप्रकार अनवस्था कैसे दूर की जासकती है? यह तो माना ही नहीं जासकता है कि किन्हीं प्राणियोंके निग्रह और अनुग्रह करनेके पहले ईश्वरके शरीर विद्यमान है क्योंकि उस शरीरके पहले भी कोई अन्य शरीरका अस्तित्व मानना पड़ेगा, उसके पहले भी कोई दूसरा शरीर मानना होगा और इस तरह ईश्वरके अनादि शरीरपरम्परा सिद्ध होनेसे वह अशरीरी नहीं बन सकेगा। दूसरी बात यह है कि उस निर्मित एक शरीरके द्वारा नाना दिशाओं और नाना देशोंमें रहनेवाले प्राणियोंका विशेष निग्रह और अनुग्रह करना ईश्वरके नहीं बन सकता है।

1 द स प 'प्रयुज्येत'। 2 द 'अपि' पाठो नास्ति।

शरीराणि तस्य न स्युः । तदभ्युपगमे च तन्निर्माणाय नानाशरीरान्तराणि भवेयुरित्यनादिनानाशरीर-सन्ततयः कथमीश्वरस्य न प्रसज्येरन् ? यदि पुनरेकेन शरीरेण नानाशरीराणि कुर्वीत युगपत्क्रमेण वा तदैकेनैव देहेन नानादिग्देशवर्तिप्राणिगणनिग्रहानुग्रहावपि तथैव कुर्वीत । तथा च कणाद-गजासुराद्यनुग्रह-निग्रहविधानायोलूकादितदनुरूपशरीरनानात्वकथनं न युक्तिपथप्रस्थायि स्यात् ।

§ ८७. यदि पुनर्न देहान्तराद्विना स्वदेहं जनयेत्, नापि देहान्तरात्, स्वयमीश्वरस्य सर्वथा देहाविधानादिति मतम्, तदाऽपि[1] दूषणं दर्शयन्नाह—

स्वयं देहाविधाने तु तेनैव व्यभिचारिता ।
कार्यत्वादेः प्रयुक्तस्य हेतोरीश्वरसाधने ॥ २१ ॥

§ ८८. यदि हीश्वरो न स्वयं स्वदेहं विधत्ते तदाऽसौ तद्देहः किं नित्यः स्यादनित्यो वा ? न तावन्नित्यः, सावयवत्वात् । यत्सावयवं तदनित्यं दृष्टम्, यथा घटादि, सावयवश्चेश्वरदेहः, तस्मान्न नित्य

यदि बनता तो एक-साथ अनेक शरीर उसके प्रसक्त न होते । और उन अनेक शरीरोंके माननेपर उनको बनानेके लिये दूसरे अनेक शरीर और होना चाहिये और इस तरह अनादि नाना शरीरोंकी परम्पराएँ ईश्वरके क्यों प्रसक्त न होंगी ? अगर कहो वह कि एक शरीरसे नाना शरीरोंको कर लेता है तो एक-साथ अथवा क्रमसे उस शरीरसे ही नाना दिशाओं और देशोंमें रहनेवाले प्राणियोंके निग्रह और अनुग्रहको भी उसी प्रकार कर देगा । फिर कणादके उपकार और गजासुरके अनुपकार करनेके लिये उलूकादिरूपसे नाना शरीरोंका वर्णन युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता । अर्थात् एक ही शरीरद्वारा विभिन्न जीवोंके निग्रह और अनुग्रह दोनों हो जायेंगे—और इसलिये ईश्वरके उलूकादि अनेक अवतारोंका प्रतिपादन कुछ भी अर्थ नहीं रखता ।

§ ८७. यदि कहा जाय कि 'ईश्वर न तो शरीरान्तरके बिना अपने शरीरको बनाता है और न शरीरान्तरसे उत्पन्न करता है क्योंकि स्वयं वह शरीरका सर्वथा अनिर्माता है' तो इस कथनमें भी आचार्य दूषण दिखलाते हैं—

यदि ईश्वर स्वयं देहका निर्माण नहीं करता और देह उसके मानी जाती है तो ईश्वरके सिद्ध करनेमें दिये गये कार्यत्व (कार्यपना) आदि हेतु उसी ईश्वरदेहके साथ व्यभिचारी (अनैकान्तिक) हैं । इसका खुलासा टीकाद्वारा नीचे किया जाता है—

§ ८८. यदि वास्तवमें ईश्वर स्वयं अपने शरीरको नहीं बनाता है तो यह बतलाना चाहिये कि वह शरीर नित्य है अथवा अनित्य ? नित्य तो उसे कहा नहीं जा सकता, क्योंकि वह सावयव है और जो सावयव होता है वह अनित्य देखा गया है जैसे घड़ा आदि । और सावयव ईश्वरशरीर है, इस कारण वह नित्य नहीं है । इस-

---

1 स प स 'तदपि दूषयन्नाह' पाठः ।

इति बाधकसद्भावात् । यदि पुनरनित्यः तदा [1]कायोऽसौ कुतः प्रादुर्भवेत् ? महेश्वरधर्मविशेषादेवेति चेत्, तर्हि सर्वप्राणिनां शुभाशुभशरीरादिकार्यं तद्धर्माधर्मेभ्य एव प्रादुर्भवेदिति किं कृतमीश्वरेण निमित्तकारणतया परिकल्पितेन ? तथा च विवादापन्नं तनुकरणभुवनादिकं बुद्धिमन्निमित्तकं कार्यत्वात् स्वारम्भकावयवसन्निवेशविशिष्टत्वादचेतनोपादानत्वादित्यादे[2]र्हेतोरीश्वरसाधनाय प्रयुक्तस्येश्वरदेहेन व्यभिचारिता स्यात्, तस्यानीश्वरनिमित्तत्वेऽपि [3]कार्यत्वादित्वसिद्धेरिति । ततो नेश्वर-सिद्धिः सम्भाव्यते ।

[शङ्करमतस्यालोचना]

§ ८९. साम्प्रतं शङ्करमतमाशङ्क्य दूषयन्नाह—

यथाऽनीशः स्वदेहस्य कर्त्ता देहान्तरान्मतः ।
पूर्वस्मादित्यनादित्वान्नानवस्था प्रसज्यते ॥२२॥
तथेशस्यापि पूर्वस्माद् देहाद् देहान्तरोद्भवात् ।
नानवस्थेति यो ब्रूयात्तस्यानीशत्वमीशितुः ॥२३॥

प्रकार ईश्वरशरीरको नित्य माननेमें यह बाधक विद्यमान है । अगर अनित्य कहो तो वह ईश्वरशरीर किससे उत्पन्न होता है ? यदि कहा जाय कि महेश्वरके धर्मविशेषसे ही वह उत्पन्न होता है तो समस्त प्राणियोंके अच्छे या बुरे शरीरादिक कार्य भी उनके धर्म–अधर्मसे ही उत्पन्न हो जायँ और इसलिये ईश्वरको निमित्तकारण कल्पित करनेसे क्या फायदा ? अर्थात् कुछ भी नहीं । इसके अलावा, 'विचारकोटिमें स्थित शरीर इन्द्रिय और पृथिवी आदिक बुद्धिमान्निमित्तकारणजन्य हैं क्योंकि कार्य हैं, अपने आरम्भक अवयवसन्निवेशसे विशिष्ट हैं और अचेतन उपादानवाले हैं' इत्यादि हेतु जो ईश्वरके सिद्ध करनेके लिये दिये हैं, ईश्वरशरीरके साथ व्यभिचारी हैं । कारण, ईश्वरशरीर ईश्वरनिमित्तकारणजन्य न होनेपर भी कार्य आदि है । तात्पर्य यह कि ईश्वरशरीर कार्य आदि तो है किन्तु वह ईश्वरजन्य नहीं है और इसलिये ईश्वरसिद्धिमें प्रयुक्त हुए 'कार्यत्व' आदि समस्त हेतु अनैकान्तिक हेत्वाभास हैं । अतः ईश्वरसिद्धि सम्भव नहीं है ।

§८९. अब शङ्करके मतकी आशङ्का करके उसमें दूषण दिखाते हैं :—

जैसे अज्ञ प्राणी अपने शरीरका कर्त्ता पूर्ववर्ती दूसरे शरीरसे माना जाता है और वह पूर्ववर्ती शरीर अन्य पूर्ववर्ती तीसरे शरीरसे और इसप्रकार उसकी यह शरीरपरम्परा अनादि होनेसे उसमें अनवस्था दोष नहीं आता है वैसे ईश्वर भी अपने शरीरका कर्त्ता पूर्ववर्ती शरीरसे है और वह पूर्ववर्ती शरीर अन्य पूर्ववर्ती शरीरसे उत्पन्न होता है और इसलिये अनादि शरीरसन्तति सिद्ध होनेसे अनवस्था दोष प्रसक्त

---

1 प मु 'कार्यो' । स 'कार्यम-' । मूले द प्रतेः पाठो निक्षिप्तः । 2 द 'त्यादिहेतो' । 3 मु प स 'कार्यत्वादिसिद्धे' । मूले द प्रतिपाठः ।

अनीशः कर्मदेहेनानादिसन्तानवर्त्तिना ।
यथैव हि सकर्मा नस्तद्वन्न कथमीश्वरः ॥२४॥

§ ६०. न ह्यनीशः स्वशरीरस्य शरीरान्तरेण विना कर्त्ता प्रतिवादिनः सिद्धो यमुदाहरणीकृत्याशरीरस्यापीशस्य स्वशरीरनिर्माणाय सामर्थ्यं समर्थ्यते, अनवस्था चापद्यमाना निषिध्यते पूर्वपूर्वशरीरापेक्षयाऽपि तदुत्तरोत्तरशरीरकरणे। किं तर्हि ? कार्मणशरीरेण सशरीर एवानीशः शरीरान्तरमुपभोगयोग्यं निष्पादयतीति परस्य सिद्धान्तः। तथा यदीशः पूर्वकर्मदेहेन स्वदेहमुत्तरं निष्पादयेत्तदा सकर्मैव स्यान्न शश्वत्कर्मभिरस्पृष्टः सिद्ध्येत्, तस्यानीशवदनादिसन्तानवर्त्तिना कर्मशरीरेण सम्बन्धसिद्धेः। सकलकर्मणोऽप्यपाये स्वशरीरकरणायोगान्मुक्तवत्। सर्वथा निःकर्मणो बुद्धीच्छाद्वेषप्रयत्नासम्भवस्यापि साधनात्।

[पूर्वोक्तमुपसंहरन्ने]

ततो नेशस्य देहोऽस्ति प्रोक्तदोषानुषङ्गतः ।
नापि धर्मविशेषोऽस्य देहाभावे विरोधतः ॥२५॥

नहीं होता। इस प्रकार जो ईश्वरके शरीरका साधन करते हैं उनका ईश्वर अज्ञ प्राणीतुल्य हो जायगा। जिसप्रकार अज्ञ प्राणी अनादि सन्ततिसे चले आये कर्मरूप शरीरसे सहित होनेके कारण सकर्मा—कर्मयुक्त हमारे यहाँ माना जाता है उसीप्रकार ईश्वरके अनादि शरीरपरम्परा माननेपर वह सकर्मा (कर्मविशिष्ट) क्यों नहीं होजायगा ? अपि तु अवश्य होजायगा। अर्थात् उस हालतमें अज्ञ प्राणी और ईश्वरमें कोई अन्तर नहीं रहेगा।

§ ६०. स्पष्ट है कि प्रतिवादी—जैनोंके यहाँ अज्ञ प्राणीको अपने शरीरका कर्त्ता अन्य शरीरके बिना नहीं माना गया, जिसका आप उदाहरण देकर अशरीरी ईश्वरके अपने शरीरनिर्माणसामर्थ्यका समर्थन करें और पूर्व-पूर्व शरीरको लेकर आगे-आगेके शरीर बनानेमें आई अनवस्थाका परिहार करें। फिर जैनोंकी मान्यता क्या है ? कार्माण शरीरसे सशरीरी होकर ही अज्ञप्राणी अपने उपभोगके योग्य दूसरे शरीरको निष्पन्न करता है अर्थात् बनाता है, इसप्रकार जैनोंका सिद्धान्त (मान्यता) है। उसीप्रकार यदि ईश्वर पूर्व कर्मशरीरसे अपने अगले शरीरको बनाता है तो उसे सकर्मा (कर्मसहित) ही होना चाहिये और इसलिये वह सदा कर्मरहित सिद्ध नहीं होसकता, क्योंकि अज्ञप्राणीकी तरह उसका अनादि सन्ततिसे चले आये कर्मशरीरके साथ सम्बन्ध सिद्ध है। यदि उसके समस्त ही कर्मोंका अभाव है—कोई भी कर्म उसके शेष नहीं है तो वह मुक्तजीवोंकी तरह अपने शरीरका निर्माण करनेवाला नहीं बन सकता है। और जिस प्रकार सर्वथा कर्मरहित जीवके शरीर सम्भव नहीं है उसीप्रकार बुद्धि (क्षायोपशमिकज्ञान), इच्छा और प्रयत्न ये तीनों भी उसके असम्भव हैं, यह समझ लेना चाहिये, क्योंकि ये तीनों भी बिना कर्मके सिद्ध नहीं होते।

उपसंहार—अतः निर्णीत हुआ कि उपर्युक्त दोषोंके कारण ईश्वरके शरीर नहीं है।

येनेच्छामन्तरेणापि तस्य कार्ये प्रवर्त्तनम् ।
जिनेन्द्रवद् घटेतेति नोदाहरणसम्भवः ॥२६॥

§ ६१. इत्युपसंहारश्लोकौ।

[वैशेषिकाभिमतमीश्वरस्य ज्ञानं नित्यत्वानित्यत्वाभ्यां दूषयन् प्रथमं नित्यपक्षं दूषयति]

§ ६२. साम्प्रतमशरीरस्य सदाशिवस्य यैर्ज्ञानमभ्युपगतं ते एवं प्रष्टव्याः, किमीशस्य ज्ञानं नित्यमनित्यं च ? इति पक्षद्वयेऽपि दूषणमाह—

ज्ञानमीशस्य नित्यं चेदशरीरस्य नः क्रमः ।
कार्याणामक्रमाद्धेतोः कार्यक्रमविरोधतः ॥२७॥

§ ६३. ननु च ज्ञानस्य महेश्वरस्य नित्यत्वेऽपि नाक्रमत्वं निरन्वयक्षणिकस्यैवाक्रमत्वात्। कालान्तरदेशान्तरप्राप्तिविरोधात्कालापेक्षस्य देशापेक्षस्य च क्रमस्यासम्भवात्। सन्तानस्याप्यवस्तु-

---

और धर्मविशेष भी उसके नहीं है क्योंकि शरीरके अभावमें उसका विरोध है—सद्भाव नहीं बनता है। तात्पर्य यह कि धर्मविशेष एक प्रकारका तीर्थंकर नामका पुण्यकर्म है और वह शरीरके आश्रित है—शरीरके सद्भावमें ही उसका सद्भाव सम्भव है, अन्यथा नहीं। इस तरह ईश्वरके न शरीर सिद्ध है और न धर्मविशेष। तब 'इच्छाके बिना भी वह जिनेन्द्रकी तरह शरीरादिक कार्योंमें प्रवृत्त होसकता है' यह उदाहरण (जैनाभिमत जिनेन्द्रका दृष्टान्त) प्रदर्शित करना कदापि सम्भव नहीं है।

§ ६१. ये दोनों पद्य उपसंहाररूप हैं।

§ ६२. अब अशरीरी सदाशिव—(ईश्वर) के जिन्होंने ज्ञान स्वीकार किया है उनसे यह पूछते हुए कि ईश्वरका वह ज्ञान नित्य है अथवा अनित्य दोनों ही पक्षोंमें दूषण दिखाते हैं :—

अशरीरी ईश्वरका ज्ञान यदि नित्य है तो कार्योंमें क्रम नहीं बन सकता क्योंकि अक्रम (नित्य) कारणसे कार्योंमें क्रमका विरोध है। तात्पर्य यह कि ईश्वरके ज्ञानको यदि नित्य मानें तो कार्योंकी क्रमशः उत्पत्ति नहीं होसकती क्योंकि नित्य कारण एक ही समयमें समग्र कार्योंको एक-साथ उत्पन्न कर सकता है।

§ ६३. शङ्का—यद्यपि ईश्वरका ज्ञान नित्य है फिर भी उसमें अक्रमपना—क्रमका अभाव नहीं है। जो सर्वथा निरन्वय क्षणिक ज्ञान है उसीमें क्रम नहीं बनता। क्योंकि निरन्वय क्षणिकमें एक कालसे दूसरे काल और एक देशसे दूसरे देशमें प्राप्ति सम्भव न होनेसे काल और देशकी अपेक्षासे होनेवाला दोनों ही प्रकारका क्रम (देशक्रम और कालक्रम) असम्भव है। सन्तानकी अपेक्षासे भी

त्वात्परमार्थतः क्रमवत्त्वानुपपत्तेः कूटस्थनित्यवत् । न हि यथा सांख्याः कूटस्थं पुरुषमामनन्ति तथा वयमीश्वरज्ञानं मन्यामहि, तस्य सातिशयनित्यत्वात्क्रमोपपत्तेः । निरतिशयं हि पुरुषतत्त्वं प्रतिसमयं स्वरूपेणैवास्तीति शब्दज्ञानानुपातिना विकल्पेन वस्तुशून्येन पूर्वमासीदिदानीमस्ति पश्चाद्भविष्यतीति क्रमवदिव लोकैर्व्यवहारपदवीमानीयते इति न परमार्थतः क्रमवत्त्वं तस्य सांख्यैरभिधीयते । न च क्रमेणानेककार्यकारित्वं तस्याकर्तृत्वात्सदोदासीनतयाऽवस्थितत्वात । न च क्रमेणाक्रमेण चार्थक्रियाऽपाये तस्यावस्तुत्वमिति केषाञ्चिद्दूषणमवकाशं लभते, वस्तुनोऽर्थक्रियाकारित्वलक्षणाप्रतिष्ठानात्, अन्यथोदासीनस्य किञ्चिदकुर्वतो वस्तुत्वाभावप्रसङ्गात् । सत्ताया एव वस्तुलक्षणत्वोपपत्तेरभावस्यापि वस्त्वन्तरस्वभावस्य पुरुषतत्त्वस्य इव स्वसत्तानतिक्रमाद्वस्तुत्वाविरोधात्, सामान्यादेरपि स्वरूपसत्त्वस्य वस्तुलक्षणस्याभ्युपगमान्न किञ्चिद्वस्तु सत्तालक्षणं व्यभिचरतीति कापिलानां दर्शनं न पुनर्वैशेषिकाणां ईश्वरज्ञानस्योदासीनस्य कल्पने तत्कल्पनावैयर्थ्यप्रसङ्गात् । कार्यकारिणैव तेन भवितव्यम् । यच्च कार्यकारि तत्सातिशयमेव युक्तम् । न चैवं परिणामिनित्यता

निरन्वय क्षणिकमें वास्तविक क्रम अनुपपन्न है क्योंकि वह अवस्तु है—वस्तु नहीं है, जैसे कूटस्थ नित्य । जिस प्रकार सांख्य पुरुष (आत्मा) को कूटस्थ—सर्वथा अपरिणामी नित्य—मानते हैं और इसलिये उसमें भी क्रम अनुपपन्न है उस प्रकार हम ईश्वरके ज्ञानको नहीं मानते, क्योंकि वह सातिशय नित्य—परिणामी नित्य माना गया है। और इसलिये उसमें क्रम बन जाता है। वास्तवमें अपरिणामी पुरुष हर समय 'स्वरूपसे—ही है' इस प्रकारके शब्द और ज्ञानसे उत्पन्न हुये अवस्तुभूत विकल्पके द्वारा वह 'पहले था', 'इस समय है', 'पीछे होगा' इस तरहसे क्रमवान्की तरह लोगोंद्वारा व्यवहारित (व्यवहारको प्राप्त) कराया जाता है और इसलिये उसके सांख्य वास्तविक क्रम नहीं बतलाते हैं। दूसरी बात यह है कि उसके क्रमसे अनेक कार्योंका कारकपना है भी नहीं क्योंकि वह अकर्ता है–प्रकृतिको ही उन्होंने कर्त्री स्वीकार किया है और इसलिये वह सदा उदासीन रूपसे स्थित रहता है । पुरुषमें यद्यपि क्रम या अक्रम दोनों ही प्रकारसे अर्थक्रियाका अभाव है फिर भी उसमें अवस्तुपनेका दूषण नहीं आ सकता है क्योंकि अर्थक्रियाकारित्व–अर्थक्रियाको करना वस्तुका लक्षण नहीं है, अन्यथा जो उदासीन है—कुछ नहीं कर रहा है वह वस्तु नहीं होसकेगा–अवस्तु हो जायगा । अतः सत्ता (अस्तित्व) को ही वस्तुका लक्षण मानना सर्वथा उचित है अर्थात् जो है उसीको वस्तु कहते हैं चाहे वह कुछ करे, चाहे न करे—केवल विद्यमानता ही वस्तुका लक्षण है। अतएव अभाव भी जो कि अन्य वस्तुस्वरूप है, पुरुषकी तरह अपने अस्तित्वका उल्लंघन न करनेसे वस्तु है। इसी प्रकार सामान्यादिकमें भी स्वरूपसत्वरूप वस्तुलक्षण हमने माना है । इसलिये कोई भी वस्तु सत्तालक्षणकी व्यभिचारी नहीं है अर्थात् सभी वस्तुओंमें सत्तालक्षण पाया जाता है, इस प्रकार सांख्योंका मत है। लेकिन वैशेषिक ऐसा नहीं मानते हैं। उनकी मान्यता यह है कि यदि ईश्वरज्ञानको उदासीन माना जाय तो उसकी कल्पना करना ही व्यर्थ है क्योंकि उसको कार्य करनेवाला ही होना चाहिये और जो कार्य करनेवाला है वह सातिशय—परिणामी ही मानना योग्य है—

ज्ञानस्य सांख्यपरिकल्पितप्रधानवत्प्रसज्यते, तदतिशयानां क्रमभुवां ततो भिन्नत्वात् । तदभेदेऽतिशयानामिवेश्वरज्ञानस्यापि नाशोत्पादप्रसङ्गात् । ईश्वरज्ञानवद्वा तदतिशयानामनुत्पादविनाशधर्मकत्वप्रसङ्गात् । तदेवमीश्वरज्ञानं क्रमेणानेकातिशयसम्पाते क्रमवदेव । क्रमवतश्चेश्वरज्ञानात्कार्याणां क्रमो न विरुद्ध्यत एव, सर्वथाऽप्यक्रमादेव हेतोः कार्यक्रमविरोधसिद्धेः । एतेन सांख्यैः परिकल्प्यमानस्य पुरुषस्य निरतिशयस्य सर्वदोदासीनस्य वैयर्थ्यमापादितमिति बोद्धव्यम् । वैशेषिकाणामात्मादिवस्तुनो नित्यस्याप्यर्थान्तरभूतैरतिशयैः सातिशयत्वोपगमात्सर्वदोदासीनस्य कस्यचिदप्रतिज्ञानादिति केचिदाचक्षते ।

§ ६४. तेऽप्येवं प्रष्टव्याः; कथमीश्वरज्ञानस्य ततोऽर्थान्तरभूतानामतिशयानां क्रमवत्त्वे वास्तवं क्रमवत्त्वं सिद्ध्येत् ? तेषां तत्र समवायात्, इति चेत्[1], कथमर्थान्तरभूतानामतिशयानामीश्वरज्ञान एव समवायो न पुनरन्यत्रेति ? तत्रैवेहेदमिति प्रत्ययविशेषोत्पत्तेरिति

उचित है। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि सांख्योंके प्रधानकी तरह ईश्वरका ज्ञान परिणामि-नित्य है क्योंकि वे क्रमभावी अतिशय (परिणाम) ईश्वरज्ञानसे भिन्न हैं। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार सांख्योंका प्रधान परिणामयुक्त होकर स्वयं विकृतिको भी प्राप्त होता है उस प्रकारका ईश्वरज्ञान नहीं है। यद्यपि वह परिणामि-नित्य है लेकिन वे परिणाम उससे भिन्न हैं। अतः वह स्वयं विकृत (उत्पाद और विनाशको प्राप्त) नहीं होता। हाँ, ईश्वरज्ञानसे उन अतिशयों—परिणामोंको अभिन्न माननेपर अतिशयोंकी तरह ईश्वरज्ञान भी उत्पाद और विनाशशील हो जायगा। अथवा ईश्वरज्ञानकी तरह उसके अतिशय अनुत्पाद और अविनाश स्वभाववाले हो जायेंगे, क्योंकि अभेदमें एक दूसरेरूप परिणत होजाता है। इस प्रकार ईश्वरका ज्ञान क्रमसे अनेक अतिशयोंको प्राप्त होनेसे क्रमवान् ही है अर्थात् उसके क्रम उपपन्न हो जाता है और क्रमवान ईश्वरज्ञानसे कार्योंका क्रम विरुद्ध नहीं है—वह भी बन जाता है। सर्वथा अक्रम हेतु (कारण) से ही कार्योंके क्रमका विरोध है–वह नहीं बनता है। इस विवेचनसे सांख्योंद्वारा माने गये अपरिणामी और सर्वदा उदासीन रहनेवाले पुरुषकी व्यर्थताका आपादन समझना चाहिये। वैशेषिकोंके आत्मा आदि पदार्थ यद्यपि नित्य हैं तथापि वे उन्हें भिन्नभूत परिणामोंसे परिणामी मानते हैं उन्होंने सदा उदासीन कोई भी पदार्थ नहीं माना, इस प्रकार वैशेषिक मतको माननेवाले कोई वैशेषिक कथन करते हैं ?

§ ६४ समाधान—उनसे भी हम पूछते हैं कि ईश्वरज्ञानसे भिन्न अतिशयोंको क्रमवान् होनेसे ईश्वरज्ञानके वास्तविक क्रमवत्ता कैसे सिद्ध होसकती है ? यदि कहें कि वे वहाँ समवायसम्बन्धसे सम्बद्ध हैं, अतएव अतिशयोंमें क्रम होनेसे ईश्वरज्ञानमें भी क्रम बन जाता है तो यह बतलायें कि उन सर्वथा भिन्न अतिशयोंका ईश्वरज्ञानमें ही समवाय क्यों है, अन्यत्र (दूसरी जगह) क्यों नहीं है ? यदि यह

---

1 मु प स प्रतिषु 'समानः पर्यनुयोगः' इत्यधिकः पाठः। स चानावश्यकः प्रतिभाति।

चेत्, ननु स एव 'इहेदम्' इति प्रत्ययविशेषः कुतोऽन्यत्रापि न स्यात् ? सर्वथा विशेषाभावात् । यथैव हि, [1]इह महेश्वरज्ञानेऽतिशया इति ततोऽर्थान्तरभाविनोऽपि प्रतीयन्ते तथेह घटे तेऽतिशया प्रतीयन्ताम् । तत्रैव तेषां समवायादिहेदमिति प्रत्ययविशेषो न पुनरन्यत्रेति चेत्, सोऽमन्योन्य-संश्रयः । सतीहेदमिति प्रत्ययविशेषेऽतिशयानामीश्वरज्ञान एव समवायः सिद्ध्येत्, तत्रैव च[2] तेषां समवायात् [इति सति] इहेदमिति प्रत्ययविशेषो नियम्यते, इति नैकस्यापि प्रसिद्धिः । भवतु वा तेषां तत्र समवायः, स तु क्रमेण युगपद्वा ? क्रमेण चेत्, कथमक्रममीश्वरज्ञानं क्रमभाव्य-नेकातिशयसमवायं क्रमेण प्रतिपद्यते ? इति दुरवबोधम् । क्रमवर्त्तिभिरतिशयान्तरैरीश्वरज्ञानस्य क्रमवत्त्वसिद्धेरदोषोऽयमिति चेत्; ननु तान्यप्यन्यान्यतिशयान्तराणीश्वरज्ञानादर्थान्तरभूतानि कथं तस्य क्रमवत्त्वं[3] साधयेयुः ? अतिप्रसङ्गात् । तेषां तत्र समवायादिति चेत्, स तर्हि तत्समवायः क्रमेण युगपद्वेत्यनिवृत्तः पर्य्यनुयोगोऽनवस्था च । यदि पुनर्युगपदीश्वरज्ञानेऽतिशयानां समवाय-

कहें कि वहीं 'इहेदं' प्रत्ययविशेष उत्पन्न होता है तो हम यही तो जानना चाहते हैं कि वही 'इहेदं' प्रत्ययविशेष अन्यत्र भी क्यों उत्पन्न नहीं होता ? क्योंकि अतिशयोंकी भिन्नता समान है और अतिशयोंकी भिन्नताकी अपेक्षा ईश्वरज्ञान और तदतिरिक्तमें कोई विशेषता नहीं है। अतः जिसप्रकार 'इस महेश्वरज्ञानमें अतिशय हैं' इस तरह ईश्वरज्ञानसे सर्वथा भिन्न भी वे अतिशय उसमें प्रतीत होते हैं उसीप्रकार इस घटमें वे अतिशय प्रतीत हों। यदि कहा जाय कि ईश्वरज्ञानमें ही उनका समवाय होनेसे वहीं 'इहेदं' प्रत्ययविशेष उत्पन्न होता है, अन्यत्र उनका समवाय न होनेसे वहां 'इहेदं' प्रत्ययविशेष उत्पन्न नहीं होता, तो यह अन्योन्याश्रय (परस्पराश्रय) नामका दोष है। 'इहेदं' प्रत्ययविशेषके उपपन्न होजानेपर अतिशयोंका ईश्वरज्ञानमें ही समवाय सिद्ध हो और ईश्वरज्ञानमें ही अतिशयोंका समवाय है, इसके सिद्ध होनेपर 'इहेदं' प्रत्ययविशेषका नियम सिद्ध हो, इस तरह एककी भी सिद्धि सम्भव नहीं है। और यदि हम थोड़ी देरको यह मान भी लें कि ईश्वरज्ञानमें ही अतिशयोंका समवाय है तो यह बतलायें कि वे अतिशय ईश्वरज्ञानमें क्रमसे समवेत होते हैं अथवा एक-साथ ? यदि क्रमसे कहें तो अक्रम—क्रमसे रहित (नित्य) ईश्वरज्ञान क्रमभावी अनेक अतिशयोंके समवायको क्रमसे कैसे प्राप्त होसकता है ? यह समझमें नहीं आता। अगर कहें कि क्रमवर्ती अन्य अतिशयोंसे ईश्वरज्ञानमें क्रमपना आजाता है, इसलिये कोई दोष नहीं है तो हम पूछते हैं कि वे अन्य अतिशय भी, जो कि ईश्वरज्ञानसे सर्वथा भिन्न हैं, ईश्वरज्ञानके क्रमपना कैसे सिद्ध कर सकते हैं ? अन्यथा अतिप्रसङ्ग दोष आयगा। यदि कहें कि उन अन्य अतिशयोंका ईश्वरज्ञानमें समवाय है तो यह स्पष्ट करें कि वह समवाय क्रमसे होगा या एक-साथ ? यह हमारा प्रश्न ज्यों-का-त्यों खड़ा है और अनवस्था बनी हुई है। यदि

1 द प्रतौ 'इह' पाठो नास्ति। स प्रतौ तु 'इदं' पाठः। 2 मु 'च' नास्ति। 3 मु स 'वत्तां' पाठः।

स्तदा तन्निबन्धनोऽपि तस्य क्रमो दूरोत्सारित एव, तेषामक्रमत्वादिति सातिशयस्यापीश्वरज्ञानस्याक्रमत्वसिद्धिः । तथा चाक्रमादीश्वरज्ञानात्कार्याणां क्रमो न स्यादिति सूक्तं दूषणम् ।

[नित्येश्वरज्ञानं प्रमाणं फलं वेति विकल्पद्वयं कृत्वा तद् दूषयति]

§ ९५. किञ्च, तदीश्वरज्ञानं प्रमाणं स्यात्फलं वा ? पक्षद्वयेऽपि दोषमादर्शयन्नाह—

तद्बोधस्य प्रमाणत्वे फलाभावः प्रसज्यते ।
ततः फलावबोधस्यानित्यस्येष्टौ मतक्षतिः ॥२८॥
फलत्वे तस्य नित्यत्वं न स्यान्मानात्समुद्भवात् ।
ततोऽनुद्भवने तस्य फलत्वं प्रतिहन्यते ॥२९॥

§ ९६. [1]नेश्वरज्ञानं नित्यं प्रमाणं सिद्ध्येत् तस्य फलाभावात् फलज्ञानस्यानित्यस्य परिकल्पने च महेश्वरस्य नित्यानित्यज्ञानद्वयपरिकल्पनायां सिद्धान्तविरोधात् । फलत्वे [2]चेश्वर-

माना जाय कि एक-साथ ईश्वरज्ञानमें अतिशयोंका समवाय होता है तो अतिशयोंको लेकर जो ईश्वरज्ञानमें क्रम स्थापित किया गया था उसे अब छोड़ दिया जान पड़ता है क्योंकि अतिशयोंको अक्रम (युगपद्) मान लिया गया है और इसलिये ईश्वरज्ञानको सातिशय माननेपर भी उसमें अक्रमपना ही प्रसिद्ध होता है। अतएव 'अक्रम ईश्वरज्ञानसे कार्योंका क्रम नहीं बनता' यह दूषण बिल्कुल ठीक ही कहा गया है।

§ ९५. दूसरे, वह ईश्वरज्ञान प्रमाणरूप है या फलरूप ? दोनों ही पक्षोंमें आचार्य दोष दिखाते हैं :—

ईश्वरका नित्यज्ञान यदि प्रमाण है तो फलका अभाव प्राप्त होता है। और अगर उससे अनित्य फलज्ञान माना जाय तो सिद्धान्तकी हानि होती है। यदि कहा जाय कि ईश्वरका ज्ञान फल है तो वह नित्य नहीं बन सकता, क्योंकि प्रमाणसे वह उत्पन्न होता है। अगर उसे उत्पन्न न मानें तो वह फल नहीं होसकता। तात्पर्य यह कि ईश्वरज्ञान न तो प्रमाण सिद्ध होता है और न फल; क्योंकि दोनों ही पक्षोंमें दोष आते हैं।

§ ९६. अतएव हम कह सकते हैं कि नित्य ईश्वरज्ञान प्रमाण नहीं है क्योंकि उसका फल नहीं है और यदि अनित्य फलज्ञानकी कल्पना करें तो महेश्वरके नित्य और अनित्य दो ज्ञान कल्पित करना पड़ेंगे और उस हालतमें सिद्धान्तविरोध आयेगा।

1 द 'स्यान्मतम्' इत्यधिकः पाठः। 2 मु 'वे'।

ज्ञानस्य नित्यत्वं न स्यात्, प्रमाणतस्तस्य समुद्भवात्। ततोऽनुद्भवे[1] तस्य फलत्वविरोधान्न नित्यमीश्वरज्ञानमभ्युपगमनीयम् , तस्य निगदितदोषानुषङ्गेण निरस्तत्वात्।

[अनित्येश्वरज्ञानमपि दूषयति]

§ ९७. किं तर्हि ? अनित्यमेवेश्वरज्ञानमित्यपरे। तन्मतमनूद्य निराकुर्वन्नाह—

अनित्यत्वे तु तज्ज्ञानस्यानेन व्यभिचारिता।
कार्यत्वादेर्महेशेनाकरणेऽस्य स्वबुद्धितः ॥ ३० ॥
बुद्ध्यन्तरेण तद्बुद्धेः करणे चानवस्थितिः।
नानादिसन्ततिर्युक्ता कर्मसन्तानतो विना ॥ ३१ ॥

§ ९८. अनित्यं हीश्वरज्ञानमीश्वरबुद्धिकार्यं यदि नेष्यते तदा तेनैव कार्यत्वादिहेतु[2]स्तनुकरण-

---

तात्पर्य यह कि ईश्वरमें नित्य प्रमाणज्ञान और अनित्य फलज्ञान ये दो ज्ञान अवश्य स्वीकार करने पड़ेंगे; क्योंकि उनको स्वीकार किये बिना प्रसिद्ध प्रमाण-फलव्यवस्था नहीं बन सकती है। किन्तु ईश्वर क्या, किसी आत्मामें भी दो ज्ञान वैशेषिक दर्शनने स्वीकार नहीं किये हैं। कारण, सजातीय दो गुण एक जगह नहीं रहते। अतः ईश्वरमें उक्त दो ज्ञानोंकी कल्पना करनेमें सिद्धान्तविरोध या सिद्धान्तहानि स्पष्ट है। अगर ईश्वरज्ञानको फल माना जाय तो वह नित्य नहीं रहेगा, क्योंकि प्रमाणसे उसकी उत्पत्ति हुई है और यदि प्रमाणसे उत्पत्ति नहीं हुई तो उसे फल नहीं कहा जासकता, क्योंकि फल वही कहलाता है जो किसीसे उत्पन्न होता है। अतः ईश्वरज्ञानको नित्य नहीं स्वीकार करना चाहिये, क्योंकि उसमें उपर्युक्त दोष आते हैं।

§ ९७. तो क्या है ? अनित्य ही ईश्वरज्ञान है, यह अन्य वैशेषिक मतानुयायी मानते हैं उनके भी इस मतको आचार्य उपस्थित करके निराकरण करते हुए कहते हैं:—

'यदि ईश्वरके ज्ञानको अनित्य कहा जाय तो कार्यत्व आदि हेतु उसके साथ व्यभिचारी हैं क्योंकि ईश्वर उसे अपनी बुद्धिसे नहीं करता है। यदि अपनी बुद्धिसे उसे करता है तो उस बुद्धिको अन्य बुद्धिसे करेगा और इस तरह अनवस्था नामका दोष आता है। और बुद्धिकी अनादि सन्तान बिना कर्मसन्तानके मानी नहीं जासकती है।' इसका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है:—

§ ९८. ईश्वरका अनित्यज्ञान अगर ईश्वरबुद्धिका कार्य नहीं है तो शरीर, इन्द्रिय, जगत आदिको बुद्धिमान्कारणजन्य सिद्ध करनेमें प्रयुक्त हुए कार्यत्व आदिक हेतु

---

1 द 'द्भवनेऽस्य' पाठः। 2 द 'दिति हेतु' पाठः।

भुवनादेर्बुद्धिमत्कारणत्वे साध्येऽनैकान्तिकः स्यात्। यदि पुनर्बुद्ध्यन्तरेण स्वबुद्धिमीश्वरः कुर्वीत तदा परापरबुद्धिप्रतीक्षायामेवोपक्षीणत्वादीश्वरस्य प्रकृतबुद्धेः करणं न स्यादनवस्थानात्।

§ ९९. स्यान्मतम्—प्रकृतबुद्धेः करणे नाऽपूर्वबुद्ध्यन्तरं प्रतीक्षते महेशः। किं तर्हि ? पूर्वोत्पन्नां बुद्धिमाश्रित्य प्रकृतां बुद्धिं कुरुते। तामपि तत्पूर्वबुद्धिमित्यनादिर्बुद्धिसन्ततिरीश्वरस्य ततो नानवस्थेति; तदप्यसत् ; तथाबुद्धिसन्तानस्य कर्मसन्तानापाये [1]सम्भवाभावात्। क्रमजन्मा हि बुद्धिः परापरतद्धेतोरदृष्टविशेषस्य क्रमादुत्पद्यते नान्यथा। यदि पुनर्योगजधर्मसन्ततेरनादेरीश्वरस्य सद्भावादयमनुपालम्भः[1] पूर्वस्मात्समाधिविशेषाद्धर्मस्यादृष्टविशेषस्योत्पादात्ततो बुद्धिविशेषस्य प्रादुर्भावाददृष्टसन्ताननिबन्धनाया एव बुद्धिसन्ततेरभ्युपगमादिति मतम्; तदाऽपि कथमीश्वरस्य सकर्मता न सिद्ध्येत्। तत्सिद्धौ च सशरीताऽपि कथमस्य न स्यात् ? तस्यां च सत्यां न सदा मुक्तिस्तस्य सिद्ध्येत्। सदेहमुक्तेः[2] सदा सिद्धौ[3] तद्देहेन[4] च कार्यत्वादेः साधनस्य तन्वादेर्बुद्धिमत्कार-

---

उसी ईश्वरके अनित्यज्ञानके साथ अनैकान्तिक हेत्वाभास हैं। कारण, ईश्वरका अनित्यज्ञान कार्य तो है किन्तु ईश्वरबुद्धिके द्वारा वह उत्पन्न नहीं किया जाता। यदि ईश्वर अपनी बुद्धिको अन्य बुद्धिसे उत्पन्न करता है तो अन्य दूसरी आदि बुद्धियोंकी प्रतीक्षामें ही ईश्वरकी शक्ति क्षीण होजानेसे प्रकृत ईश्वरबुद्धि (ईश्वरके अनित्यज्ञान) की उत्पत्ति कदापि नहीं होसकती, क्योंकि अनवस्था आती है।

§ ९९. वैशेषिक—महेश्वर अपनी प्रकृत बुद्धिको उत्पन्न करनेके लिये किसी नई बुद्धिकी अपेक्षा नहीं करता। किन्तु पहले उत्पन्न हुई बुद्धिकी सहायतासे प्रकृत बुद्धिको उत्पन्न करता है, उस बुद्धिको भी उससे पहलेकी बुद्धिकी मददसे करता है और इस तरह ईश्वरके हम अनादि बुद्धिसन्तान मानते हैं, अतः अनवस्था दोष नहीं है ?

जैन—आपकी उक्त मान्यता ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त प्रकारकी बुद्धिसन्तानकी कल्पना बिना कर्मसन्तानको माने नहीं बनती है। इसका कारण यह है कि जो बुद्धि क्रमसे उत्पन्न होती है वह अदृष्टविशेषरूप तत्तत्कारणोंके क्रमसे पैदा होती है, इसके अतिरिक्त और किसी प्रकारसे नहीं होती है। अगर कहा जाय कि 'ईश्वरके हम अनादि योगजधर्मसन्तानका सद्भाव मानते हैं और इसलिये यह दोष नहीं है क्योंकि पूर्व समाधिविशेषसे अदृष्टविशेषरूप धर्म उत्पन्न होता है और उससे बुद्धिविशेषकी उत्पत्ति होती है। अतएव ईश्वरके हमने अदृष्टसन्ताननिमित्तक बुद्धिसन्तान स्वीकार की है' तो इस प्रकारके स्वीकार करनेमें भी ईश्वरके सकर्मता कैसे सिद्ध न होगी ? और सकर्मता सिद्ध होनेपर उसके सशरीरीपन भी क्यों नहीं आयेगा ? और इस प्रकार सशरीरीपन आनेपर वह फिर सदामुक्त कैसे सिद्ध हो सकेगा ? तथा यदि सशरीरमुक्ति सदा सिद्ध

1मु स 'पायेऽसम्भवात्' पाठः।

१ अदोषः। २ जीवन्मुक्तेः। ३ नित्यत्वे। ४ जीवन्मुक्तदेहेन।

णत्वे साध्ये कथमनैकान्तिकता परिहर्त्तुं शक्यते[1] ?, तस्य बुद्धिमत्कारणत्वासम्भवात् । सम्भवे चानवस्थानुषङ्गादिति प्रागेवोक्तम् ।

[अधुना व्यापित्वाव्यापित्वाभ्यां तदीश्वरज्ञानं दूषयन् व्यापित्वपक्षं दूषयति]

§ १००. किञ्च, इदं विचार्यते—किमीश्वरज्ञानमव्यापि, किं वा व्यापीति प्रथमपक्षे दूषणमाह—

अव्यापि च यदि ज्ञानमीश्वरस्य तदा कथम् ।
सत्कृत्सर्वत्र कार्याणामुत्पत्तिर्घटते ततः ॥ ३२ ॥
यद्यकत्र स्थितं देशे ज्ञानं सर्वत्र कार्यकृत् ।
तदा सर्वत्र कार्याणां सकृत् किं न समुद्भवः ? ॥३३॥
कारणान्तरवैकल्यात्तथाऽनुत्पत्तिरित्यपि ।
कार्याणामीश्वरज्ञानाहेतुकत्वं प्रसाधयेत् ॥३४॥
सर्वत्र सर्वदा तस्य व्यतिरेकाप्रसिद्धितः ।
अन्वयस्यापि सन्देहात्कार्यं तद्धेतुकं कथम् ॥३५॥

हो तो ईश्वरशरीरके साथ कार्यत्व आदि हेतु शरीरादिकार्यको बुद्धिमानकारणजन्य सिद्ध करनेमें अनैकान्तिक हेत्वाभास होनेसे कैसे बच सकेंगे ? क्योंकि वह बुद्धिमान्कारण-जन्य नहीं है । यदि है तो अनवस्था दोषका प्रसङ्ग आयेगा, यह पहले ही कहा जा चुका है।

§ १००. अब ईश्वरज्ञानमें और भी जो दोष आते हैं उनपर विचार करते हैं—बतलाइये ईश्वरज्ञान अव्यापक है ? अथवा, व्यापक ? प्रथम पक्षमें दूषण कहते हैं :—

'यदि ईश्वरका ज्ञान अव्यापक है तो उससे सब जगह एक साथ कार्योंकी उत्पत्ति नहीं बन सकती है । अगर एक जगह रहकर वह सब जगह कार्य करता है तो सब जगहके कार्य एक-साथ क्यों उत्पन्न नहीं होजाते ? अगर कहा जाय कि अन्य कारणोंके अभावसे सब जगहके कार्य एक-साथ उत्पन्न नहीं होते तो यह कथन भी कार्योंको ईश्वरज्ञान हेतुक सिद्ध नहीं कर सकता, क्योंकि सब जगह और सब कालमें ईश्वरज्ञानका व्यतिरेक अप्रसिद्ध है और इसलिये अन्वयमें भी सन्देह है । ऐसी दशामें शरीरादिक कार्य ईश्वरज्ञानहेतुक कैसे सिद्ध होसकते हैं ?'

---

1 मु 'शक्या' पाठः ।

§ १०१. तदीश्वरज्ञानं तावदव्यापीष्टं प्रादेशिकत्वात्सुखादिवत् । प्रादेशिकमीश्वरज्ञानं विभुद्रव्यविशेषगुणत्वात् । यदित्थं तदित्थम्, यथा सुखादि, तथा चेश्वरज्ञानम्, तस्मात्प्रादेशिकमिति नासिद्धं प्रादेशिकत्वं साधनम् । न च तत्साधनस्य हेतोः सामान्यगुणेन संयोगादिना व्यभिचारः, विशेषग्रहणात् । तथापि विशेषगुणेन रूपादिनाऽनैकान्तिक इति न मन्तव्यम् ; विभुद्रव्यग्रहणात् । तथापीष्टविरुद्धस्यानित्यत्वस्य साधनाद्विरुद्धो हेतुः, विभुद्रव्यविशेषगुणत्वस्यानित्यत्वेन व्याप्तत्वात् । यथा हि इदं विभुद्रव्यविशेषगुणत्वं प्रादेशिकत्वमीश्वरज्ञानस्य साधयेत् तद्वदनित्यत्वमपि, तदव्यभिचारात् । न हि कश्चिद्विभुद्रव्यविशेषगुणो नित्यो दृष्ट इत्यपि नाशङ्कनीयम्, महेश्वरस्यास्मद्विशिष्टत्वात्तद्विज्ञानस्यास्मद्विज्ञान[1] विलक्षणत्वात् । न हि अस्मदादिविज्ञाने यो धर्मो दृष्टः स महेश्वरविज्ञानेऽप्यापादयितुं युक्तः, अतिप्रसङ्गात् । तस्यास्मदादिविज्ञानवत्समस्तार्थपरिच्छेदकत्वाभावप्रसक्तेः । सर्वत्रास्मदादिबुद्ध्यादीनामेवानित्यत्वेन व्याप्तस्य विभुद्रव्यविशेषगुणत्वस्य प्रसिद्धेः । विभुद्रव्यस्य वा महेश्वरस्यैवाभिप्रेतत्वात् । तेन यदुक्तं भवति महेश्वरविशेषगुणत्वात् तदुक्तं भवति

---

§ १०१. वैशेषिक—ईश्वरके ज्ञानको हमने अव्यापक स्वीकार किया है, क्योंकि वह प्रादेशिक है—कहीं रहता है और कहीं नहीं रहता है, जैसे सुखादिक । ईश्वरका ज्ञान प्रादेशिक है क्योंकि विभुद्रव्यका विशेषगुण है । जो विभुद्रव्यका विशेषगुण है वह प्रादेशिक है, जैसे सुखादिक । और विभुद्रव्यका विशेषगुण ईश्वरज्ञान है, इस कारण वह प्रादेशिक है। इस प्रकार प्रादेशिकपना हेतु असिद्ध नहीं है । और न संयोगादि सामान्यगुणके साथ वह व्यभिचारी है, क्योंकि 'विशेष' पदका ग्रहण है । तथा रूपादिविशेषगुणके साथ भी वह अनैकान्तिक नहीं है, क्योंकि 'विभुद्रव्य' पदका ग्रहण है । यदि कहें कि 'उक्त दोष न होनेपर भी हेतु इष्टविरुद्ध—अनित्यपनेका साधन करनेसे विरुद्ध हेत्वाभास है, क्योंकि जो विभुद्रव्यका विशेषगुण होता है वह अनित्य होता है, दोनोंमें परस्पर अविनाभाव है और इसलिये जिस प्रकार यह विभुद्रव्यविशेषगुणपना ईश्वरज्ञानके प्रादेशिकपना सिद्ध करेगा उसी प्रकार अनित्यपना भी उसके सिद्ध करेगा, क्योंकि वह उसका अव्यभिचारी है । ऐसा कोई विभुद्रव्यका विशेषगुण नहीं देखा जाता जो नित्य हो ।' यह भी शङ्का नहीं करनी चाहिये । कारण, महेश्वर हम लोगोंकी अपेक्षा विशिष्ट है और उसका ज्ञान भी हम लोगोंके ज्ञानकी अपेक्षा भिन्न है । यह योग्य नहीं है कि हम लोगोंके ज्ञानमें जो धर्म (न्यूनता, अनित्यपना आदि) देखे जायँ वे ईश्वरके ज्ञानमें भी आपादित होना चाहिये । अन्यथा अतिप्रसङ्ग होगा । वह यह कि जिस प्रकार हम लोगोंका ज्ञान समस्त पदार्थोंका जाननेवाला नहीं है उसीप्रकार ईश्वरका ज्ञान भी समस्त पदार्थोंका जाननेवाला सिद्ध न होगा । अतः सब जगह हम लोगोंके बुद्धिआदिगुणोंकी अनित्यताके साथ ही विभुद्रव्यविशेषगुणपनेकी प्रसिद्धि है । अथवा विभुद्रव्य महेश्वर ही हमें अभिप्रेत है । इससे यह अर्थ हुआ कि 'महेश्वरका विशेषगुण है' यह कहो और चाहे 'विभुद्रव्यका विशेषगुण है' यह कहो—एक ही बात है । अतः उक्त

---

1 मु प 'विज्ञान' इति पाठो नास्ति ।

विभुद्रव्यविशेषगुणत्वादिति। ततो नेष्टविरुद्धसाधनो हेतुर्यतो विरुद्धः स्यात्। न चैवमुदाहरणानुपपत्तिः, ईश्वरसुखादेरेवोदाहरणत्वात् तस्यापि प्रादेशिकत्वात्साध्यवैकल्याभावात्, महेश्वरविशेषगुणत्वाच्च साधनवैकल्यासम्भवात्। ततोऽस्माद्धेतोरीश्वरज्ञानस्य सिद्धं प्रादेशिकत्वम्। ततश्चाव्यापि तदिष्टं यदि वैशेषिकैस्तदा कथं सकृत्सर्वत्र तन्वादिकार्याणामुत्पत्तिरीश्वरज्ञानाद् घटते। तद्धि निमित्तकारणं सर्वकार्योत्पत्तौ सर्वत्रासन्निहितमपि कथमुपपद्येत? कालादेर्व्यापिन एव युगपत् सर्वत्र कार्योत्पत्तौ निमित्तकारणत्वप्रसिद्धेः। [1]विभोरीश्वरस्य निमित्तकारणत्ववचनाददोष इति चेत्; न; तस्य यत्र प्रदेशेषु बुद्धिस्तत्रैव निमित्तकारणत्वोपपत्तेः। बुद्धिशून्येऽपि प्रदेशान्तरे तस्य निमित्तकारणत्वे न तत्र कार्याणां बुद्धिमन्निमित्तत्वं सिद्ध्येत्। तथा च व्यर्थं बुद्धिमन्निमित्तत्वसाधनम्, सर्वत्र कार्याणां [2]बुद्धिमदभावेऽपि भावापत्तेः। न चैवं कार्यत्वादयो हेतवो गमकाः स्युः, बुद्धिशून्येश्वरप्रदेशवर्त्तिभिर[3]बुद्धिमन्निमित्तैः कार्यादिभिर्व्यभिचारात्। ततस्तेषां बुद्धिमन्निमित्तत्वासिद्धेः।

अनुमानप्रयोगमें 'विभुद्रव्य' पदका अर्थ महेश्वर होनेसे हमारा हेतु इष्टसे विरुद्धका साधक नहीं है जिससे वह विरुद्ध हेत्वाभास कहा जासके। और इस प्रकारके कथनमें उदाहरणका अभाव नहीं बताया जासकता है क्योंकि ईश्वरके सुखादिकको ही उदाहरण प्रदर्शित कर सकते हैं। ईश्वरसुखादिक भी प्रादेशिक है, इसलिये वह साध्यविकल नहीं है और महेश्वरका वह विशेषगुण है, इसलिये साधनविकल भी नहीं है। अतः प्रस्तुत हेतु (विभुद्रव्यविशेषगुणपना) से ईश्वरज्ञानके प्रादेशिकपना सिद्ध है और उससे ईश्वरका ज्ञान अव्यापक सिद्ध हो जाता है।

जैन—यदि आप ईश्वरज्ञानको अव्यापक मानते हैं तो एक-साथ सब जगह शरीरादिकार्योंकी उत्पत्ति अव्यापि—एकदेशस्थित ईश्वरज्ञानसे कैसे सम्भव है? अर्थात् नहीं। दूसरी बात यह है कि वह समस्त कार्योंकी उत्पत्तिमें सब जगह मौजूद नहीं रहेगा तब वह निमित्तकारण भी कैसे बन सकेगा? कालादिक पदार्थ जब व्यापक हैं तभी वे सब जगहके कार्योंकी उत्पत्तिमें निमित्तकारण हैं। यदि कहा जाय कि विभु महेश्वरको निमित्तकारण कहनेसे यह दोष नहीं है तो यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि महेश्वरकी जिन जगहोंमें बुद्धि होगी उन्हीं जगहोंमें वह निमित्तकारण सिद्ध होगा। जहाँ महेश्वरकी बुद्धि नहीं है वहाँ भी यदि उसे निमित्तकारण कहा जाय तो वहाँके कार्य बुद्धिमान्निमित्तकारणजन्य सिद्ध नहीं हो सकेंगे और इसलिये उन्हें बुद्धिमान् निमित्तकारणजन्य सिद्ध करना व्यर्थ है क्योंकि सब जगह बुद्धिमान्के अभावमें भी कार्य उत्पन्न होसकते हैं। और इस प्रकार कार्यत्वादिक हेतु साध्यके साधक नहीं हैं। कारण, जिन जगहोंमें बुद्धिसे रहित केवल ईश्वर है वहाँ बगैर बुद्धिसे होनेवाले कार्योंके साथ उक्त हेतु व्यभिचारी हैं। अतः कार्योंके बुद्धिमान्निमित्तकारणजन्यता असिद्ध है।

---

1 मु स प 'विभोरीश्वरस्य निमित्तकारणत्वप्रसिद्धेः' इत्यधिकः पाठः। 2 द 'बुद्धिमदभावापत्तेः' इति पाठः। 3 द 'वर्त्तिभिर्व्यभिचारात्' इति पाठः। तत्र 'अबुद्धिमन्निमित्तैः कार्यादिभिः' इति पाठो नास्ति।

§ १०२. स्यान्मतम्—प्रदेशवर्तिनाऽपि ज्ञानेन महेश्वरस्य युगपत्समस्तकारकपरिच्छेदसिद्धेः सर्वकार्योत्पत्तौ युगपत्सकलकारकप्रयोक्तृत्वव्यवस्थितेः, निखिलतन्वादिकार्याणां बुद्धिमन्निमित्तत्वोपपत्तेर्नोक्तदोषः[1] प्रसज्यत इति; तदप्यसम्यक्; क्रमेणानेकतन्वादिकार्यजन्मनि तस्य निमित्तकारणत्वायोगात्। ज्ञानं हीश्वरस्य यद्येकत्र प्रदेशे वर्त्तमानं समस्तकारकशक्तिसाक्षात्करणात्समस्तकारकप्रयोक्तृत्वसाधनात्सर्वत्र परम्परया कार्यकारीष्यते तदा युगपत्सर्वकार्याणां सर्वत्र किं न समुद्भवः प्रसज्येत[2], यतो महेश्वरस्य प्राक् पश्चाच्च कार्योत्पत्तौ निमित्तकारत्वाभावो न सिद्ध्येत्, समर्थेऽपि सति निमित्तकारणे कार्यानुत्पादविरोधात्।

§ १०३. स्यान्मतम्—न [3]निमित्तकारणमात्रात्तन्वादिकार्याणामुत्पत्तिः समवाय्यसमवायि[4]कारणान्तराणामपि सद्भावे कार्योत्पत्तिदर्शनात्। न च सर्वकार्याणां युगपत्समवाय्यसमवायिनिमित्तकारणसद्भावः, क्रमेणैव तत्प्रसिद्धेः। ततः कारणान्तराणां वैकल्यात्तथा युगपत्सर्वत्र कार्याणा-

---

§ १०२. वैशेषिक—यद्यपि ईश्वरज्ञान एकप्रदेशवर्त्ती है तथापि महेश्वर उसके द्वारा एक-साथ समस्त कारकोंका ज्ञान कर लेता है। अतः समस्त कार्योंकी उत्पत्तिमें एक-साथ सब कारकोंका वह प्रयोक्ता बन जाता है और इसलिये समग्र शरीरादिक कार्य बुद्धिमान्निमित्तकारणजन्य सिद्ध हैं। अतएव उपर्युक्त दोष नहीं आता?

जैन—आपका यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि क्रमसे अनेक शरीरादिक कार्योंकी उत्पत्तिमें वह निमित्तकारण नहीं बन सकता है। कारण, ईश्वरका ज्ञान यदि एकदेशमें रहकर समस्त कारकोंकी शक्तिका साक्षात्कार कर लेता है और इसलिए उसे समस्त कारकोंका प्रयोक्ता सिद्ध होनेसे सब जगह परम्परासे कार्यकारी कहा जाता है तो एक-साथ समस्त कार्योंकी सब जगह उत्पत्ति क्यों न हो जाय? जिससे महेश्वरके पहले और पीछे निमित्तकारणताका अभाव सिद्ध न हो और यह सम्भव नहीं है कि समर्थनिमित्तकारणके रहनेपर भी कार्योंका उत्पाद न हो। तात्पर्य यह कि ईश्वरज्ञानको यदि शरीरादिकका निमित्तकारण माना जाय तो एकसमयमें ही विभिन्न कालिक और विभिन्न दैशिक कार्य एक-साथ ही उत्पन्न होजाना चाहिये, क्योंकि वह पूर्णतः समर्थ माना जाता है परन्तु ऐसा देखा नहीं जाता, अतः वह निमित्तकारण नहीं है।

§ १०३. वैशेषिक—हमारा कहना यह है कि केवल निमित्तकारणसे शरीरादिक कार्योंकी उत्पत्ति नहीं होती, किन्तु समवायि और असमवायि कारणोंके भी होनेपर कार्योत्पत्ति देखी जाती है और समस्त कार्योंके समवायि, असमवायि और निमित्तकारणोंका सद्भाव एक-साथ सम्भव नहीं है क्योंकि वे क्रमसे ही प्रसिद्ध होते हैं। अतः अन्य कारणोंका अभाव रहनेसे एक-साथ सर्वत्र कार्योंकी उत्पत्ति नहीं होती?

---

1 स प मु 'दोषोऽनुप्रसज्यते' पाठः। 2 मु स प 'प्रसज्यते'। 3 स 'तन्निमित्त' पाठः। 4 स मु प 'निमित्त' इत्यधिकः पाठः।

मनुत्पत्तिरिति; तदपि कार्याणां नेश्वरज्ञानहेतुकत्वं साधयेत् ; तदन्वयव्यतिरेकासिद्धेः । सत्यपीश्वरज्ञाने केषाञ्चित्कार्याणां कारणान्तराभावेऽनुत्पत्तेः कारणान्तरसद्भाव एवोत्पत्तेः कारणान्तरान्वयव्यतिरेकानुविधानस्यैव सिद्धेस्तत्कार्यत्वस्यैव व्यवस्थानात् ।

§ १०४. ननु च सत्येव ज्ञानवति महेश्वरे तन्वादिकार्याणामुत्पत्तेरन्वयोऽस्त्येव, व्यतिरेकोऽपि विशिष्टावस्थापेक्षया महेश्वरस्य विद्यत एव । कार्योत्पादनसमर्थकारणान्तर[1]सन्निधानविशिष्टेश्वरेऽसति [2]तत्कार्याणामनुत्पत्तेर्व्यतिरेकनिश्चयात्, सर्वत्रावस्थापेक्षयैवावस्थावतोऽन्वयव्यतिरेकप्रतीतेरन्यथा तदसम्प्रत्ययात् । न हि अवस्थावति[3] सति कार्योत्पत्तिरिति वक्तुं शक्यम्, सर्वावस्थासु तस्मिन्सति तदुत्पत्तिप्रसङ्गात् । नाप्यवस्थावतोऽसम्भवे कार्यस्यासम्भवः सुशको[4] वक्तुम्, तस्य नित्यत्वादभावानुपपत्तेः । द्रव्यावस्थाविशेषाभावे तु तत्साध्यकार्यविशेषानुत्पत्तेः सिद्धो व्यतिरेकोऽन्वयवत् । न चावस्थावतो द्रव्यस्यानाद्यनन्तस्योत्पत्तिविनाशशून्यस्यापन्हवो युक्तः, तस्याबाधितान्वय[1]ज्ञानसिद्धत्वात्, तदपह्नवे सौगतमतप्रवेशानुषङ्गात् कुतः स्याद्वादिनामिष्टसिद्धिः ? इति कश्चिद्वैशेषिकमतमनुमन्यमानः समभिधत्ते; सोऽप्येवं प्रष्टव्यः; किमवस्थावतोऽवस्था पदार्थान्तरभूता किं वा नेति ? प्रथमकल्पनायां कथमवस्थापेक्षयाऽन्वयव्यतिरेकानुविधानं [2]तन्वादिकार्याणामीश्वरान्वयव्यतिरेकानुविधानं युज्यते ? धूमस्य पावकान्वयव्यतिरेकानुविधाने पर्वताद्यन्वयव्यतिरेकानुविधानप्रसङ्गात्, पदार्थान्तरत्वाविशेषात् । यथैव हि पर्वतादेः पावकस्य पदार्थान्तरत्वं तथेश्वरात्कारणान्तरसन्निधानस्यावस्थाविशेषस्यापि, सर्वथा विशेषाभावात् ।

§ १०५. यदि पुनरीश्वरस्यावस्थातो भेदेऽपि तेन सम्बन्धसद्भावात्तदन्वयव्यतिरेकानुवि-

जैन—इस कथनसे भी कार्य ईश्वरज्ञानहेतुक सिद्ध नहीं होते, कारण कार्योंके साथ ईश्वरज्ञानका अन्वय और व्यतिरेक दोनों असिद्ध हैं। ईश्वरज्ञानके होनेपर भी कितने ही कार्य अन्य कारणोंके अभावमें उत्पन्न नहीं होते और अन्य कारणोंके सद्भावमें ही उत्पन्न होते हैं, अतः कार्योंका अन्य कारणोंके साथ ही अन्वय और व्यतिरेक सिद्ध होता है और इसलिये शरीरादिक कार्योंको अन्य कारणोंके ही कार्य मानना चाहिये।

§ १०४. वैशेषिक—ज्ञानवान् महेश्वरके होनेपर ही शरीरादिक कार्य उत्पन्न होते हैं इसलिये अन्वय सिद्ध है और व्यतिरेक भी विशिष्ट अवस्थाकी अपेक्षासे महेश्वरके मौजूद है, क्योंकि कार्यके उत्पादक जो समर्थ कारण हैं उन कारणोंकी सन्निकटतासे विशिष्ट ईश्वर जब नहीं होता तो तज्जन्य कार्योंकी उत्पत्ति नहीं होती। अतः व्यतिरेकका निश्चय होजाता है। सब जगह अवस्थाकी अपेक्षासे ही अवस्थावान्के अन्वय और व्यतिरेक प्रतीत होते हैं। यदि अवस्थाकी अपेक्षासे अन्वय और व्यतिरेक न हों तो उनका यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता है। यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि अवस्थावान्के होनेपर कार्योत्पत्ति होती है और इसलिये अवस्थावान्के साथ अन्वय है। कारण, अवस्थावान् सभी अवस्थाओंमें विद्यमान रहता है और उस हालतमें सदैव कार्योत्पत्तिका प्रसङ्ग आयेगा। अतः अवस्थावान्के साथ अन्वय न होकर अवस्थाके साथ ही अन्वय है। इसी प्रकार यह कहना भी सम्भव नहीं है कि अवस्थावान्के न होनेपर कार्य नहीं होता है और इसलिये अवस्थावान्के साथ व्यतिरेक है, क्योंकि अवस्थावान् नित्य है, इसलिये उसका अभाव कदापि सम्भव नहीं है। अतएव व्यतिरेक भी अवस्थावान्के साथ न होकर अवस्थाके साथ ही युक्त है। जब द्रव्यकी अवस्थाविशेष नहीं होती तब उस अवस्थाविशेषसे होनेवाला कार्य उत्पन्न नहीं होता। अतः अन्वयकी तरह व्यतिरेक भी अवस्थाकी अपेक्षासे सिद्ध है। यथार्थतः अवस्थावान् द्रव्यका, जो अनादि-अनन्त है और उत्पत्ति तथा विनाशसे रहित है, अपन्हव (इन्कार-निषेध) नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह निर्बाध अन्वयप्रत्ययसे सिद्ध है। यदि उसका अपन्हव किया जायगा तो बौद्धमतके स्वीकारका प्रसङ्ग आयेगा, फिर स्याद्वादियोंके अभीष्टकी सिद्धि कैसे हो सकती है ? अतः अवस्थाकी अपेक्षासे ईश्वरके अन्वय और व्यतिरेक दोनों बन जाते हैं ?

जैन—ऊपर आपने कार्योंके साथ ईश्वरके अन्वय और व्यतिरेकको सिद्ध करनेके लिये जो समाधान उपस्थित किया है उसके बारेमें हम आपसे पूछते हैं कि अवस्था अवस्थावान्से भिन्न है या अभिन्न ? प्रथम पक्षमें अवस्थाकी अपेक्षा सिद्ध हुआ अन्वय और व्यतिरेक शरीरादिक कार्योंके साथ ईश्वरके अन्वय और व्यतिरेकको कैसे सिद्ध कर सकता है ? अन्यथा धूमका जो अग्निके साथ अन्वय-व्यतिरेक है वह पर्वतके अन्वय और व्यतिरेकको भी सिद्ध करदे, क्योंकि भिन्नता दोनों जगह समान है। जिसप्रकार पर्वतादिकसे अग्नि स्पष्टतः भिन्न है उसीप्रकार अन्य कारणोंकी सन्निकटतारूप अवस्थाविशेष भी ईश्वरसे भिन्न है, दोनोंमें कुछ भी विशेषता नहीं है। तात्पर्य यह कि ईश्वरकी जिस (अन्य कारणोंकी सन्निकटतारूप) अवस्थाविशेषकी अपेक्षासे अन्वय और व्यतिरेक बतलाये गये हैं वह अवस्था ईश्वरसे सर्वथा भिन्न है और इसलिये उसकी अपेक्षासे सिद्ध हुए अन्वय-व्यतिरेक उसीके कहलाये जायेंगे—उससे भिन्न ईश्वरके कदापि नहीं। नहीं तो धूमका अग्निके साथ जो अन्वय-व्यतिरेक है वह पर्वतके साथ भी माना जाना चाहिये, क्योंकि भिन्नता बराबर है।

§ १०५. यदि कहा जाय कि यद्यपि ईश्वरका अवस्थासे भेद है तथापि उसके साथ सम्बन्ध है। अतः अवस्थाकी अपेक्षा सिद्ध हुआ अन्वय-व्यतिरेक कार्योंके

1 द 'कारणासन्निधान'। मु 'कारणान्तरासन्निधान'। 2 मु 'तत्' नास्ति। 3 सर्वप्रतिषु 'अवस्थान्तरे पाठः'। 4 मु स प 'सुशक्तो' पाठः।

1 द 'व्यतिरेक' इत्यधिकः पाठः। 2 द 'तन्वादिकार्याणामीश्वरान्वयव्यतिरेकानुविधानं' पाठो नास्ति।

धानं कार्याणामीश्वरान्वयव्यतिरेकानुविधानमेवेति मन्यते तदा पर्वतादेः पावकेन सम्बन्धात्पावकान्वयव्यतिरेकानुविधानमपि धूमस्य पर्वताद्यन्वयव्यतिरेकानुनिधानमनुमन्यताम् । पावकविशिष्टपर्वताद्यन्वयव्यतिरेकानुकरणं धूमस्यानुमन्यत एव तद्वदवस्थाविशिष्टेश्वरान्वयव्यतिरेकानुकरणं तन्वादिकार्याणां युक्तमनुमन्तुम्, इति चेत्; न; पर्वतादिवदीश्वरस्य भेदप्रसङ्गात् । यथैव हि [1]पावकविशिष्टपर्वतादेरन्यः पावकाविशिष्टपर्वतादिः सिद्धः तद्वत्कारणान्तरसन्निधानलक्षणावस्थाविशिष्टादीश्वरात्पूर्वं तदविशिष्टेश्वरोऽन्यः कथं न प्रसिद्ध्येत् ?

§ १०६. स्यान्मतम्—द्रव्याद्यनेकविशेषणविशिष्टस्यापि सत्तासामान्यस्य यथा न भेदः समवायस्य वाऽनेकसमवायिविशेषणविशिष्टस्याप्येकत्वमेव तद्वदनेकावस्थाविशिष्टस्यापीश्वरस्य न भेदः सिद्ध्येत् तदेकत्वस्यैव प्रमाणतः सिद्धेरिति; तदेतत्स्वगृहमान्यम्; सत्तासामान्यसमवाययोरपि स्वविशेषणभेदाद्भेदप्रसिद्धेर्व्यतिलङ्घयितुमशक्तेः, तस्यैकानेकस्वभावतयैव प्रमाणगोचरचारित्वात् । तदेतेन नानामूर्त्तिमद्द्रव्यसंयोगविशिष्टस्य व्योमात्मादिविभुद्रव्यस्याभेदः प्रत्याख्यातः, स्वविशेषणभेदाद्भेदसम्प्रत्ययादेकानेकस्वभावत्वव्यवस्थानात् ।

§ १०७. योऽप्यवस्थावतोऽवस्थां पदार्थान्तरभूतां नानुमन्यते तस्यापि कथमवस्थाभेदादवस्थावतो भेदो न स्यादवस्थानां वा[1] कथमभेदो न भवेत् ?, तदर्थान्तरत्वाभावात् ।

§ १०८. स्यादाकूतम्—अवस्थानामवस्थावतः पदार्थान्तरत्वाभावेऽपि न तद्भेदः, तासां तद्धर्मत्वात् । न च धर्मो धर्मिणोऽनर्थान्तरमेव धर्मधर्मिव्यवहारभेदविरोधात् । भेदे तु न धर्माणां भेदाद्धर्मिणो भेदः प्रत्येतुं शक्येत, यतोऽवस्थाभेदादीश्वरस्य भेदः सम्पाद्यत[2] इति; तदपि स्वमनोरथमात्रम्; धर्माणां सर्वथा धर्मिणो भेदे धर्मधर्मिभावविरोधात्, सह्यविन्ध्यादिवत् ।

साथ ईश्वरका अन्वय-व्यतिरेक सिद्ध है तो पर्वतादिकका अग्निके साथ सम्बन्ध है और इसलिये अग्निका अन्वय-व्यतिरेक भी धूमका पर्वतके साथ अन्वय-व्यतिरेक मानिये। अगर कहें कि पावकविशिष्ट पर्वतके साथ धूमका अन्वय-व्यतिरेक हम मानते ही हैं उसी प्रकार अवस्थाविशिष्ट ईश्वरका अन्वय-व्यतिरेक शरीरादिक कार्योंके साथ मानना योग्य है तो यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि पर्वतादिककी तरह ईश्वरके भेद मानना पड़ेगा। जिसप्रकार पावकविशिष्ट पर्वतादिकसे भिन्न पावकसे अविशिष्ट पर्वतादिक सिद्ध हैं उसीप्रकार अन्य कारणोंकी सन्निकटतारूप अवस्थासे विशिष्ट ईश्वरसे पहले उक्त अवस्थासे अविशिष्ट ईश्वर भिन्न (जुदा) क्यों सिद्ध नहीं होजायगा ? अर्थात् पावकसहित और पावकरहित पर्वतादिककी तरह ईश्वर भी दो प्रकारका सिद्ध होगा। एक उपरोक्त अवस्थारहित और दूसरा उपरोक्त अवस्थासहित। लेकिन यह सम्भव नहीं है क्योंकि ईश्वरमें वैशेषिकोंके लिये भेद अनिष्ट है।

§ १०६. वैशेषिक—हमारा अभिप्राय यह है कि जिसप्रकार सत्तासामान्य द्रव्यादि अनेक विशेषणोंसे विशिष्ट होनेपर भी उसमें भेद नहीं होता—वह एक ही बना रहता है। अथवा, जिसप्रकार समवाय अनेक समवायि विशेषणोंसे विशिष्ट होनेपर भी एक ही रहता है—अनेक नहीं हो जाता उसीप्रकार ईश्वर अनेक अवस्थाओंसे विशिष्ट होनेपर भी नाना नहीं होजाता वह एक ही प्रमाणसे सिद्ध है ?

जैन—यह आपके ही घरकी मान्यता है, क्योंकि सत्तासामान्य और समवाय दोनों ही अपने विशेषणोंके भेदसे अनेक हैं, वे इस अनेकताका उल्लंघन नहीं कर सकते हैं। कारण, सत्तासामान्य और समवाय दोनों एक और अनेक स्वभाववाले ही प्रमाणसे प्रतीत होते हैं। इस कथनसे नाना मूर्तिमान् द्रव्योंके संयोगसे विशिष्ट आकाशादि विभुद्रव्योंको एक मानना भी निरस्त होजाता है क्योंकि वे भी अपने विशेषणोंके भेदसे भिन्न प्रतीत होनेसे एक और अनेक स्वभाववाले व्यवस्थित होते हैं।

§ १०७. यदि अवस्थाको अवस्थावान्से भिन्न न मानें तो अवस्थाओंको नाना होनेसे अवस्थावान् भी नाना क्यों नहीं होजायगा ? अथवा, अवस्थाएँ एक क्यों नहीं हो जायँगी ? क्योंकि अवस्थाएँ अवस्थावान्से भिन्न नहीं हैं--अभिन्न हैं और अभेदमें एक दूसरेरूप परिणत हो जाता है।

§ १०८. वैशेषिक—यद्यपि अवस्थाएँ अवस्थावान्से अलग नहीं हैं फिर भी वे एक नहीं हो जातीं, कारण वे उसका धर्म हैं और धर्म, धर्मीसे अभिन्न नहीं होता —वह भी अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखता है, अन्यथा, धर्म और धर्मी इस प्रकारका जो धर्म-धर्मीका भेदव्यवहार प्रसिद्ध है वह नहीं बन सकता है। इस तरह जब धर्म और धर्मीमें भेद सिद्ध है तो धर्मोंके भेदसे धर्मीका भेद नहीं समझा जासकता है, जिससे कि अवस्थाओंके भेदसे ईश्वरके भेद बतलाया जाय। तात्पर्य यह कि अवस्थाएँ अवस्थावान्से अन्य पदार्थोंकी तरह भिन्न न होते हुए भी वे उसका धर्म हैं और वह उनका धर्मी है और इस तरह अवस्था तथा अवस्थावान्में धर्म-धर्मीभाव है और यह भी प्रकट है कि धर्म नाना ही होते हैं और धर्मी एक ही होता है। यह नहीं कि धर्मोंके नानापनसे धर्मीमें नानापन और धर्मीके एकपनसे धर्मोंमें एकपन आजाता है। अतः अवस्थाओंको नाना होनेसे ईश्वरको भी नाना होजाने एवं ईश्वरको एक होनेसे अवस्थाओंको भी एक होजानेका प्रसङ्गापादन करना उचित नहीं है ?

जैन—आपकी यह भी मान्यता केवल आपको ही सन्तोषदायक हो सकती है—अन्यको नहीं, क्योंकि धर्मोंको धर्मीसे सर्वथा भिन्न माननेपर सह्याचल और विन्ध्या-

---

1 द 'पावकाविशिष्टपर्वतादिः पावकविशिष्टपर्वतादेरन्यः सिद्धः' । स प्रतौ 'सिद्धः' स्थाने 'प्रसिद्धः' पाठः।

1 द 'च' पाठः। 2 द 'सम्पद्यते' पाठः।

§ १०९. ननु[1] धर्मधर्मिणोः सर्वथा भेदेऽपि निर्बाधप्रत्ययविषयत्वान्न धर्मधर्मिभाव-विरोधः। सह्यविन्ध्यादीनां तु निर्बाधधर्मधर्मिसम्प्रत्ययविषयत्वाभावान्न धर्मधर्मिभावव्यवस्था। न हि वयं भेदमेव धर्मधर्मिव्यवस्थानिबन्धनमभिदध्महे, येन भेदे धर्मधर्मिभावो विरुद्ध्यते सर्वथैवाभेद इव, प्रत्ययविशेषात्तद्व्यवस्थाभिधानात्। सर्वत्राबाधितप्रत्ययोपायत्वाद्वैशेषिकाणां तद्विरोधादेव विरोधसिद्धेरिति कश्चित्; सोऽपि[2] स्वदर्शनानुरागान्धीकृत एव बाधकमवलोकयन्नपि नावधारयति, धर्मधर्मिप्रत्ययविशेषस्यैव धर्मधार्मिणोर्भेदैकान्तेऽनुपपत्तेः सह्यविन्ध्यादिवत्प्रतिपादनात्।

§ ११०. यदि पुनः प्रत्यासत्तिविशेषादीश्वरतदवस्थयोर्भेदेऽपि धर्मधर्मिसम्प्रत्ययविशेषः स्यान्न तु सह्यविन्ध्यादीनाम्; तदभावादिति मतम्; तदाऽसौ प्रत्यासत्तिर्धर्मधर्मिभ्यां भिन्ना, कथं च धर्मधर्मिणोरिति व्यपदिश्येत[1] न पुनः सह्यविन्ध्ययोरिति विशेषहेतुर्वक्तव्यः। प्रत्यासत्त्यन्तरं तद्धेतुरिति चेत्, तदपि यदि प्रत्यासत्तितद्वद्भ्यो भिन्नं तदा तद्व्यपदेशनियमनिबन्धनं प्रत्यासत्त्यन्तरमभिधानीयं तथा चानवस्थानात्कुतः प्रकृतप्रत्यासत्तिनियमव्यवस्था? प्रत्ययविशेषादेवेति चेत्, ननु स एव विचार्यो वर्त्तते; प्रत्ययविशेषः किं प्रत्यासत्तेस्तद्वद्भ्यां सर्वदा भेदे सतीश्वरतदवस्थयोः प्रत्यासत्तिरिति प्रादुर्भवति, किं वाऽनर्थान्तरभाव एव, कथञ्चित्तादात्म्ये वा? तत्र सर्वथा भेदाभेदयोर्बाधकसद्भावात्कथञ्चित्तादात्म्यमनुभवतोरेव तथा प्रत्ययेन भवितव्यम्, तत्र बाधकानुदयात्।

§ १११. ननु चैकानेकयोः कथञ्चित्तादात्म्यमेव धर्मधर्मिणोः प्रत्यासत्तिः स्याद्वादिभिर-

---

चल आदिकी तरह उनमें धर्म-धर्मीभाव कदापि नहीं बन सकता है।

§ १०९. वैशेषिक—यह ठीक है कि धर्म और धर्मीमें सर्वथा भेद है तथापि वे अबाधित प्रत्ययके विषय हैं और इसलिये उनमें धर्म-धर्मिभावका विरोध नहीं है—वह बन जाता है। लेकिन सह्याचल और विन्ध्याचल आदि पदार्थ अबाधित धर्म-धर्मी-प्रत्ययके विषय नहीं हैं—वहाँ होनेवाला धर्म-धर्मीप्रत्यय प्रत्यक्षादिप्रमाणोंसे ही बाधित है और इसलिये उनमें धर्म-धर्मीभावकी व्यवस्था नहीं की जाती। यह हम स्पष्ट किये देते हैं कि भेदको ही हम धर्म-धर्मीकी व्यवस्थाका कारण नहीं कहते हैं, जैसे सर्वथा अभेदको उक्त व्यवस्थाका कारण नहीं कहा, जिससे कि सर्वथा भेद अथवा सर्वथा अभेदमें धर्म-धर्मीभावका विरोध प्राप्त होता। किन्तु ज्ञानविशेषसे उक्त व्यवस्था कही गई है। सब जगह अबाधित प्रत्ययको ही हमारे यहाँ उक्त व्यवस्थाका उपाय बतलाया गया है और उसके विरोधसे ही विरोध माना गया है?

जैन—आप अपने दर्शनके अनुरागसे इतने विचारहीन हैं कि बाधक देखते हुए भी उन्हें नहीं समझ रहे। हम ऊपर स्पष्ट बतला आये हैं कि धर्म और धर्मीमें सर्वथा भेद माननेपर धर्म-धर्मीप्रत्ययविशेष ही नहीं बन सकता है। जैसे सह्याचल और विन्ध्याचल आदिमें नहीं बनता है। वास्तवमें जब धर्म, धर्मीसे और धर्मी, धर्मोंसे सर्वथा भिन्न माना जाय तो उनमें सह्याचल-विन्ध्याचल, जीव-अजीव आदिकी तरह धर्म-धर्मिभाव कदापि नहीं बन सकता है।

§ ११०. वैशेषिक—बेशक आपका प्रतिपादन ठीक है, लेकिन हमारा मत यह है कि ईश्वर और उसकी अवस्थामें सम्बन्धविशेष है और इसलिये दोनोंमें भेद होने पर भी धर्म-धर्मीप्रत्ययविशेष बन जाता है। परन्तु सह्याचल और विन्ध्याचल आदिमें नहीं बन सकता, क्योंकि उनमें सम्बन्धविशेष नहीं है?

जैन—अच्छा तो यह बतलाइये कि वह सम्बन्धविशेष धर्म और धर्मीसे जब जुदा है तो धर्म और धर्मीमें धर्म-धर्मीभाव है, यह कथन कैसे हो सकेगा? और सह्याचल तथा विन्ध्याचलमें नहीं है, यह कैसे निर्णय होगा? अतः इसका कोई विशेष कारण बतलाना चाहिये। यदि दूसरा सम्बन्ध उसका कारण कहा जाय तो वह दूसरा सम्बन्ध भी यदि पहले सम्बन्ध और धर्म-धर्मीसे जुदा है तो उस पहले सम्बन्ध तथा धर्म-धर्मीका यह दूसरा सम्बन्ध है, ऐसे कथनके नियमका कारण अन्य तीसरा सम्बन्ध कहना चाहिये और उस हालतमें अनवस्था नामका दोष प्राप्त होता है फिर कैसे धर्म-धर्मीकी व्यवस्थाके लिये माने गये पहले सम्बन्धविशेषकी व्यवस्था होगी? अगर प्रत्ययविशेषसे उसकी व्यवस्था मानी जाय तो वही विचारणीय है कि वह प्रत्ययविशेष क्या सम्बन्धका सम्बन्धवानों (धर्म और धर्मी)से सर्वथा भेद माननेपर 'ईश्वर और उसकी अवस्थामें सम्बन्ध है' इस प्रकारसे उत्पन्न होता है? अथवा क्या उनमें अभेद माननेपर उत्पन्न होता है? या क्या उनमें कथंचित् तादात्म्य—(किसी दृष्टिसे भेद और किसी दृष्टिसे अभेद दोनों मिले हुये)—माननेपर पैदा होता है? उनमें, सर्वथा भेद और सर्वथा अभेद माननेमें तो बाधक मौजूद हैं—अनेक दोष आते हैं और इसलिये ईश्वर तथा अवस्थामें सर्वथा भेद या सर्वथा अभेद स्वीकार करनेपर उक्त प्रत्ययविशेष उत्पन्न ही नहीं हो सकता है। अब रह जाता है सिर्फ कथंचित् तादात्म्य, सो उसको मानते ही धर्म और धर्मीमें उक्त प्रत्ययविशेष उपपन्न हो जाता है, उसमें कोई बाधा अथवा दोष नहीं आता। परन्तु इस तरह ईश्वर तथा अवस्थामें कथंचित् तादात्म्य मान लेनेपर पूर्वोक्त दोष बना रहता है। अर्थात् अवस्थाओंकी अनेकतासे ईश्वरके अनेकता और ईश्वरकी एकतासे धर्मोंमें एकताका प्रसङ्ग तदवस्थ है।

§ १११. वैशेषिक—एक और अनेकके कथंचित् तादात्म्यको ही आप (जैन) धर्म और धर्मीका सम्बन्ध बतलाते हैं, सो वह (तादात्म्य) यदि उन दोनों (एक और

---

1 द 'ननु च' पाठः। 2 द 'पीश्वरदर्शन' पाठः।

1 मु 'व्यपदिश्यते' पाठः।

भिधीयते। तच्च यदि ताभ्यां भिन्नं तदा न तयोर्व्यपदिश्येत[1]। तदभिन्नं चेत्, किं केन व्यपदेश्यम्? यदि पुनस्ताभ्यां कथञ्चित्तादात्म्यस्यापि परं कथञ्चित्तादात्म्यमिष्यते तदा प्रकृतपर्यनुयोगस्यानिवृत्तेः परापरकथञ्चित्तादात्म्यपरिकल्पनायामनवस्था स्यात्। सैव च[2] कथञ्चित्तादात्म्यपक्षस्य बाधिकेति कथमयं पक्षः क्षेमङ्करः प्रेक्षावतामक्षूणमालक्ष्यते[3]? यदि पुनः कथञ्चित्तादात्म्यं धर्मधर्मिणोर्भिन्नमेवाभ्यनुज्ञायते ताभ्यामनवस्थापरिजिहीर्षयाऽनेकान्तवादिना तदा धर्मधर्मिणोरेव भेदोऽनुज्ञायतां सुदूरमपि गत्वा तस्याश्रयणीयत्वात्। तदनाश्रयणे भेदव्यवहारविरोधादित्यपरः।

§ ११२. सोऽप्यनवबोधाकुलितान्तःकरण एव; कथञ्चित्तादात्म्यं हि[4] धर्मधर्मिणोः सम्बन्धः। स चाविष्वग्भाव एव तयोर्जात्यन्तरत्वेन सम्प्रत्ययात् व्यवस्थाप्यते। धर्मधर्मिणोरविष्वग्भाव इति व्यवहारस्तु न सम्बन्धान्तरनिबन्धनो यतः कथञ्चित्तादात्म्यान्तरं सम्बन्धान्तरमनवस्थाकारि परिकल्प्यते। तत एव कथञ्चित्तादात्म्याद्धर्मधर्मिणोः कथञ्चित्तादात्म्यमिति प्रत्यय-

अनेक) से जुदा है तो 'वह उनका है' यह व्यपदेश (कथन) नहीं होसकेगा। और यदि जुदा नहीं है—अभिन्न है तो कौन किसके द्वारा अभिहित होगा? अर्थात् अभेदमें दोनोंकी एकरूप परिणति होजानेसे कोई किसीके द्वारा अभिहित नहीं हो सकता। अगर कहा जाय कि वह उन दोनोंसे कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न है तो उसका भी तीसरा कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न सम्बन्ध मानना पड़ेगा और उस हालतमें प्रकृत प्रश्नकी निवृत्ति नहीं हो सकती—वह ज्यों-का-त्यों अवस्थित रहेगा और चौथे-पाँचवें आदि कथंचित् तादात्म्योंको माननेपर अनवस्था आयेगी। इस तरह वही अनवस्था कथंचित् तादात्म्यको स्वीकार करनेमें भी बाधक है। इसलिये विद्वज्जन इस पक्षको कल्याणकारी और निर्दोष कैसे मान सकते हैं? अगर इस अनवस्था दोषको दूर करना चाहते हैं तो जैनोंके लिये कथंचित् तादात्म्यको धर्म और धर्मीसे जुदा ही स्वीकार करना चाहिये और तब यही उचित है कि धर्म और धर्मीमें ही भेद माना जाय, क्योंकि आगे जाकर उसे स्वीकार करना ही पड़ता है। उसे स्वीकार न करनेपर धर्म और धर्मीमें जो भेद व्यवहार प्रसिद्ध है वह नहीं बन सकेगा?

§ ११२. जैन—आपके इस कथनसे आपकी अज्ञता ही प्रकट होती है, क्योंकि धर्म और धर्मीमें जो हमारे यहां कथंचित् तादात्म्य सम्बन्ध बतलाया गया है वह उन दोनोंसे विजातीय (विलक्षण) सुप्रतीत होनेसे अविष्वग्भावरूप अर्थात् अपृथक ही सिद्ध होता है। धर्म और धर्मीमें अविष्वग्भाव है, यह व्यवहार अन्य दूसरे आदि सम्बन्धोंसे नहीं होता, किन्तु स्वरूपतः ही हो जाता है जिससे कि दूसरे आदि कथंचित् तादात्म्योंकी कल्पना करनी पड़ती और अनवस्था प्राप्त होती। अतः उसी कथंचित् तदात्म्यसे धर्म और धर्मीमें अथवा धर्म और धर्मीका कथंचित् तदात्म्य है,

1 मु 'व्यपदिश्यते'। 2 मु स प प्रतिषु 'च' नास्ति। 3 द 'दयेत'। 4 द 'हि' नास्ति।

विशेषस्य करणात्। कथञ्चित्तादात्म्यस्य कथञ्चिद्भेदाभेदस्वीकारत्वात्[1]। कथञ्चिद्भेदाभेदौ हि कथञ्चित्तादात्म्यम्। तत्र कथञ्चिद्भेदाश्रयणाद्धर्मधर्मिणोः कथञ्चित्तादात्म्यमिति भेदविभक्तिसद्भावात् भेदव्यवहारसिद्धिः[2]। कथञ्चिदभेदाश्रयणात्तु धर्मधर्मिणावेव कथञ्चित्तादात्म्यमित्यभेदव्यवहारः प्रवर्तते; धर्मधर्मिव्यतिरेकेण कथञ्चिद्भेदाभेदयोरभावात्। कथञ्चिद्भेदो हि धर्म एव, कथञ्चिदभेदस्तु धर्म्येव, कथञ्चिद्भेदाभेदौ तु धर्मधर्मिणावेवैवं सिद्धौ, तावेव च कथञ्चित्तादात्म्यं वस्तुनोऽभिधीयते। तच्छब्देन वस्तुनः परामर्शात्, तस्य वस्तुनः आत्मानौ तदात्मानौ तयोर्भावस्तादात्म्यं भेदाभेदस्वभावत्वम्, कथञ्चिदिति विशेषणेन सर्वथा भेदाभेदयोः परस्परनिरपेक्षयोः प्रतिक्षेपात्तत्पक्ष[3]निक्षिप्तदोषपरिहारः। परस्परसापेक्षयोश्च परिग्रहाज्जात्यन्तरवस्तुव्यवस्थापनात्सर्वथा शून्यवादप्रतिक्षेपसिद्धिरिति कथञ्चिद्भेदाभेदात्मकं कथञ्चिद्धर्मधर्म्यात्मकं कथञ्चिद्द्रव्यपर्यायात्मकमिति प्रतिपाद्यते स्याद्वादन्यायनिष्ठैस्तथैव तस्य प्रतिष्ठितत्वात्, सामान्यविशेषवत्, मेचक-

यह प्रत्ययविशेष उत्पन्न हो जाता है। कथंचित् तादात्म्यको कथंचित् भेदाभेदरूप हमने स्वीकार किया है। यथार्थमें कथंचित् भेद और कथंचिद् अभेद ये दोनों ही कथंचित् तादात्म्य हैं। जब कथंचित् भेदकी विवक्षा होती है तब 'धर्म और धर्मीका कथंचित् तादात्म्य' इस प्रकार भेदविभक्ति (भेदकी ज्ञापक छठवीं विभक्ति) होनेसे भेदव्यवहार किया जाता है और जब कथंचित् अभेदकी विवक्षा होती है तब 'धर्म और धर्मी ही कथंचित् तादात्म्य हैं' इस तरह अभेदका व्यवहार प्रवृत्त होता है। क्योंकि धर्म और धर्मीसे अलग कथंचित् भेद और अभेद नहीं हैं। वास्तवमें धर्म ही कथंचित् भेद है और धर्मी ही कथंचित् अभेद है एवं धर्म और धर्मी दोनों ही कथंचित् भेद और कथंचित् अभेद हैं और ये दोनों—कथंचित् भेद और कथंचित् अभेद ही वस्तुके कथंचित् तादात्म्य कहे जाते हैं अर्थात् उन दोनोंको ही वस्तुका कथंचित् तादात्म्य कहते हैं। तादात्म्यमें[1] जो 'तत्' शब्द है उसके द्वारा वस्तुका ग्रहण है। अतः 'तस्य वस्तुनः आत्मानौ तदात्मानौ तयोर्भावस्तादात्म्यं भेदाभेदस्वभावत्वम्' अर्थात् वस्तुके जो दो स्वरूप हैं एक भेद और दूसरा अभेद, इन दोनोंको तादात्म्य कहा जाता है। तात्पर्य यह कि वस्तुके भेदाभेदस्वभावको तादात्म्य कहते हैं। और 'कथंचित्' इस विशेषणको लगानेसे परस्पर निरपेक्ष—आपसमें एक-दूसरेकी अपेक्षासे रहित—सर्वथा भेद और सर्वथा अभेदका निराकरण हो जाता है और इसलिये उन पक्षोंमें प्राप्त दूषणोंका परिहार हो जाता है। तथा परस्पर सापेक्ष—आपसमें एक दूसरेकी अपेक्षासे सहित—भेदाभेदका ग्रहण होनेसे जात्यन्तर—सर्वथा भेदाभेदसे विजातीय कथंचिद्भेदाभेदरूप वस्तुकी व्यवस्था होती है और इसलिये सर्वथा शून्यवादका भी निराकरण होजाता है। अतएव स्याद्वादन्यायके विवेचक जैन विद्वान् वस्तुको कथंचित् भेदाभेदरूप, कथंचित् धर्म-धर्मीरूप और कथंचित् द्रव्य-पर्यायरूप प्रतिपादन करते हैं क्योंकि वह उसी

1 प्राप्तप्रतिषु 'कथञ्चिद्भेदस्वीकारत्वात्' पाठः। 2 द 'द्धेः'। 3 मु स प 'क्षे'।

ज्ञानवच्च । तत्र विरोधवैयधिकरण्यादिदूषणमनेनैवापसारितमिति किं नश्चिन्तया ।

§ ११३. नन्वेवं[1] स्याद्वादिनामपि द्रव्यस्य नित्यत्वात्तदन्वयव्यतिरेकानुविधानं कार्याणां न स्यात्, ईश्वरान्वयव्यतिरेकानुविधानवत् । पर्यायाणां च क्षणिकत्वात्तदन्वयव्यतिरेकानुविधानमपि न घटते । नष्टे पूर्वपर्याये स्वयमसत्येवोत्तरकार्यस्योत्पत्तेः सति चानुत्पत्तेः । अन्यथैकक्षणवृत्तित्वप्रसङ्गात् सर्वपर्यायाणामिति तद्भावभावित्वानुपपत्तिः । यदि पुनर्द्रव्ये सत्येव कार्याणां प्रसूते[2]स्तदन्वयसिद्धिस्तन्निमित्तपर्यायाणामभावे वाऽनुत्पत्तेर्व्यतिरेकसिद्धिरिति तदन्वयव्यतिरेकानुविधानमिष्यते तदेश्वरस्य तदिच्छाविज्ञानयोश्च नित्यत्वेऽपि तन्वादिकार्याणां तद्भाव एव भावात्तदन्वयस्तत्सहकारिकारणावस्थाऽपाये च तेषामनुत्पत्तेर्व्यतिरेक इति तदन्वयव्यतिरेकानुविधानमिष्यताम्[3],

---

प्रकारसे प्रतिष्ठित है। जैसे सामान्य और विशेष तथा मेचकज्ञान । मतलब यह कि जिसप्रकार नैयायिक और वैशेषिक द्रव्यत्वादिको सामान्य और विशेष दोनोंरूप स्वीकार करते हैं और दोनोंको ही अविष्वग्भावरूप मानते हैं तथा जिसप्रकार बौद्ध मेचकज्ञानको नीलादि अनेकरूप कथन करते हैं और उन रूपोंको अविष्वग्भावरूप मानते हैं उसीप्रकार सभी वस्तुएँ कथंचित् भेदाभेदरूप, कथंचित् धर्म-धर्मीरूप और कथंचित् द्रव्य-पर्यायरूप सिद्ध हैं। उसमें विरोध, वैयधिकरण्य आदि दूषण इस 'कथंचित्' विशेषण द्वारा परिहृत (दूर) होजाते हैं, इसलिये हमारे दूषणोंकी आपको चिन्ता नहीं करनी चाहिये ।

§ ११३. वैशेषिक—इसप्रकार तो जैनोंके यहाँ भी द्रव्यको नित्य माननेसे उसका अन्वय-व्यतिरेक कार्योंके साथ नहीं बन सकता है, जिसप्रकार कि ईश्वरका अन्वय-व्यतिरेक नहीं बनता । तथा पर्यायोंको क्षणिक-अनित्य स्वीकार करनेसे उनका भी अन्वय-व्यतिरेक नहीं बन सकता है। कारण, जब पूर्व पर्याय नाश होजाती है तब उसके असद्भावमें ही उत्तर पर्याय उत्पन्न होती है और जब तक वह बनी रहती है तब तक उत्तरपर्याय उत्पन्न नहीं होती। अन्यथा—पूर्व पर्यायके सद्भावमें ही यदि उत्तरपर्याय हो तो—समस्त पर्यायें एक समयमें ही होजायँगी और इसलिये 'उसके होनेपर उसका होना' रूप अन्वय उपपन्न (सिद्ध) नहीं होता। अगर कहा जाय कि द्रव्यके होनेपर ही कार्य उत्पन्न होते हैं और इसलिये उसका अन्वय उपपन्न होजाता है तथा उन कार्योंकी निमित्तकारणीभूत पर्यायोंके न होनेपर कार्य उत्पन्न नहीं होते, इस तरह व्यतिरेक भी सिद्ध होजाता है, इस प्रकार द्रव्य और पर्याय दोनोंका अन्वय-व्यतिरेक व्यवस्थित है तो ईश्वर और ईश्वर-इच्छा एवं ईश्वर-ज्ञानको नित्य स्वीकार करनेमें भी शरीरादिकार्य ईश्वरादिकके होनेपर ही होते हैं, तथा उसके सहकारी कारणरूप अमुक अवस्थाके न होनेपर नहीं होते हैं, इस तरह अन्वय और व्यतिरेक दोनों बन जाते हैं और इसलिये ईश्वरादिकका

---

1 द 'नन्विदं'। 2 मु 'प्रसूते'। 3 द 'ते'।

विशेषाभावात् । ततः सर्वकार्याणां बुद्धिमत्कारणत्वसिद्धिः, इति परे प्रत्यवतिष्ठन्ते ।

§ ११४. तेऽपि न कार्यकारणभावविदः; स्याद्वादिनां द्रव्यस्य पर्यायनिरपेक्षस्य पर्यायस्य वा द्रव्यनिरपेक्षस्य द्रव्यपर्याययोर्वा परस्परनिरपेक्षयोः कार्यकारित्वानभ्युपगमात्, तथा प्रतीत्यभावात्, द्रव्यपर्यायात्मकस्यैव जात्यान्तरवस्तुनः कार्यकारित्वेन सम्प्रत्ययात् कार्यकारणभावस्य तथैव प्रसिद्धेः । वस्तुनि द्रव्यरूपेणान्वयप्रत्ययविषये सत्येव कार्यस्य प्रादुर्भावात्तन्निबन्धनपर्यायविशेषाभावे च कार्यस्याप्रादुर्भावात्तदन्वयव्यतिरेकानुकरणात्कार्यकारणभावो व्यवतिष्ठते । न च द्रव्यरूपेणापि वस्तुनो नित्यत्वमवधार्यते, तस्य पर्यायेभ्यो भङ्गुरेभ्यः कथञ्चिदनर्थान्तरभावात् कथञ्चिदनित्यत्वसिद्धेः । महेश्वरस्य तु वैशेषिकैः सर्वथा नित्यत्वप्रतिज्ञानात्तदन्वयव्यतिरेकानुकरणासम्भवात्कार्याणामुत्पत्तेरयोगात् । पर्यायाणां च द्रव्यरूपेण नित्यत्वसिद्धेः कथञ्चिन्नित्यत्वात्सर्वथाऽप्य-[1]नित्यत्वानवधारणात् । विशिष्टपर्यायसद्भावे कार्यस्योदयात्तदभावे चानुदयात्कार्यस्य तदन्वय-

---

अन्वय-व्यतिरेक भी आपको कहना चाहिये अर्थात् उसे मानना चाहिये क्योंकि दोनों जगह कोई विशेषता नहीं है। अतः समस्त कार्योंका बुद्धिमान् कारण अवश्य सिद्ध है?

§ ११४. जैन—आपने कार्य-कारणभावको नहीं समझा, क्योंकि हमारे यहाँ पर्यायकी अपेक्षासे रहित केवल द्रव्यको और द्रव्यकी अपेक्षासे रहित केवल पर्यायको तथा परस्पर एक-दूसरेकी अपेक्षासे रहित द्रव्य और पर्याय दोनोंको कार्यकारी अर्थात् कार्यका करनेवाला (कारण) नहीं माना है। कारण, वैसी प्रतीति नहीं होती है। किन्तु द्रव्य-पर्यायरूप विजातीय वस्तु ही कार्यकी जनक प्रतीत होनेसे वही कार्य-कारणभावरूप स्वीकार की गई है। तात्पर्य यह कि द्रव्य और पर्याय सापेक्ष रहते हुए ही कार्य और कारण बनते हैं, निरपेक्ष द्रव्य और पर्याय न तो कार्य प्रतीत होते हैं और न कारण प्रतीत होते हैं। अतएव द्रव्यरूपसे अन्वयज्ञानकी विषयभूत वस्तुके होनेपर ही कार्य उत्पन्न होता है और उस कार्यकी कारणभूत अव्यवहित पूर्ववर्ती पर्यायविशेषके न होनेपर कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती है, इसप्रकार द्रव्य-पर्यायरूप वस्तुके अन्वय-व्यतिरेकसे कार्यकारणभावकी व्यवस्था होती है। दूसरी बात यह है कि द्रव्यरूपसे भी हम वस्तुको नित्य नहीं मानते, क्योंकि वह क्षणिक पर्यायोंसे कथंचित् अभिन्न है और इसलिये कथंचित् अनित्यता उसमें भी स्वीकार करते हैं। लेकिन महेश्वरको तो वैशेषिकोंने सर्वथा नित्य ही माना है, इसलिये उसका अन्वय-व्यतिरेक सर्वथा असम्भव होनेसे शरीरादिकार्योंकी उत्पत्ति उससे नहीं बन सकती है। इसी प्रकार पर्यायोंको द्रव्यरूपसे नित्य सिद्ध होनेसे कथंचित् नित्य स्वीकार किया है, सर्वथा अनित्य उन्हें भी नहीं माना है। अमुक पर्यायविशेषके होनेपर कार्य उत्पन्न होता है और उस पर्यायके न होनेपर कार्य उत्पन्न नहीं होता, इसप्रकार

---

1 मु 'सर्वथा नित्यत्वा'।

व्यतिरेकानुकरणसिद्धेः। निरन्वयक्षणिकपर्यायाणामेव तदघटनात्, तत्र कार्यकारणभावाव्यवस्थितेः। पर्यायार्थिकनयप्राधान्याद विरोधाद्द्रव्यार्थिनयप्राधान्येन तद्विरोधवत्। प्रमाणार्पणया तु द्रव्यपर्यायात्मनि वस्तुनि सति कार्यस्य प्रसवनादसति [1]चाप्रसवनाददन्वयव्यतिरेकानुविधानं सकलजनसाक्षिकं कार्यकारणभावं व्यवस्थापयेत्। सर्वथैकान्तकल्पनायां तदभावं विभावयतीति कृतमतिप्रसङ्गिन्या कथया महेश्वरज्ञानस्य नित्यस्याव्यापिनोऽपि सर्वत्र कार्यकारणसमर्थस्य सर्वेषु देशेषु सर्वस्मिन् काले व्यतिरेकाप्रसिद्धेः। अन्वयस्यापि नियतस्य निश्चेतुमशक्तेस्तन्वादिकार्यं तद्धेतुकं कारणान्तरापेक्षयाऽपि न सिद्ध्यत्येवेति स्थितम्।

[व्यापिनित्येश्वरज्ञाने दूषणप्रदर्शनम्]

§ ११५. कस्यचिन्नित्यव्यापीश्वरज्ञानाभ्युपगमेऽपि दूषणमतिदिशन्नाह—

एतेनैवेश्वरज्ञानं व्यापिनित्यमपाकृतम्।
तस्येशवत्सदा कार्यक्रमहेतुत्वहानितः॥३६॥

पर्यायोंका कार्योंके साथ अन्वय-व्यतिरेक सिद्ध होजाता है। अन्वयरहित क्षणिक पर्यायोंका ही कार्यके साथ अन्वय-व्यतिरेक नहीं बनता है और इसलिये उनमें कार्यकारणभावकी व्यवस्था नहीं होती है। हाँ, यदि पर्यायार्थिक नयकी प्रधानता स्वीकार की जाय तो उनमें भी कार्य-कारणभाव बन जाता है, जैसे द्रव्यार्थिक नयकी प्रधानतासे द्रव्यके कार्यकारणभावका विरोध नहीं है—वह उसमें उपपन्न होजाता है। और जब प्रमाणविवक्षा होती है तब द्रव्य-पर्यायरूप वस्तुके होनेपर कार्यके होने और द्रव्यपर्याय रूप वस्तुके न होनेपर कार्यके न होनेसे अन्वय और व्यतिरेक दोनों, जो सभीके प्रत्यक्ष हैं, कार्यकारणभावकी व्यवस्था करते हैं तथा सर्वथा एकान्त वस्तुके स्वीकारमें कार्यकारणभावके अभावको सिद्ध करते हैं। इस विषयमें इससे और ज्यादा चर्चा करना अनावश्यक है। अतः उपर्युक्त विवेचनसे प्रकट है कि महेश्वरज्ञानको, जो कि सब जगहके कार्य करनेमें समर्थ है, नित्य-अव्यापक माननेपर भी उसके सब देशों और सब कालोंमें व्यतिरेक प्रसिद्ध नहीं होता और नियमित अन्वयका भी निश्चय नहीं होसकता। इसलिये शरीरादिक कार्य अन्य कारणोंकी अपेक्षासे भी ईश्वरज्ञानजन्य सिद्ध नहीं होते, यह स्थित हुआ।

§ ११५. इस समय ईश्वरके ज्ञानको जो नित्य-व्यापक मानते हैं उनकी मान्यतामें भी दूषण दिखलाते हैं:—

उपर्युक्त इसी विवेचनसे व्यापक और नित्य ईश्वरज्ञानका खण्डन जानना चाहिये, क्योंकि वह ईश्वरकी तरह कार्योंका कभी भी क्रमसे जनक नहीं हो सकता है।

1 मु स प 'वा'।

§ ११६. एतेन व्यतिरेकाभावान्वयसन्देहव्यवस्थापकवचनेन व्यापिनित्यमीश्वरज्ञानं तन्वादिकार्योत्पत्तिनिमित्तमपाकृतं वेदितव्यम्; तस्येश्वरवत्सर्वगतत्वेन क्वचिद्देशे नित्यत्वेन कदाचित्काले व्यतिरेकाभावनिश्चयात्। तदन्वयमात्रस्य चात्मान्तरवन्निश्चेतुमशक्तेः। तस्मिन्सति युगपत्सर्वकार्याणामुत्पत्तिप्रसङ्गात् सदा कार्यक्रमहेतुत्वहानेः कालदेशकृतक्रमाभावात्। [1]सर्वथा स्वयं क्रमाभावात्, क्रमवत्त्वे नित्यत्वसर्वगतत्वविरोधात्पावकादिवत्।

§ ११७. स्यान्मतम्—प्रतिनियतदेशकालसहकारिकारणक्रमापेक्षया[2] कार्यक्रमहेतुत्वं महेश्वरस्येव[3] तद्विज्ञानस्यापि न विरुद्ध्यते, इति; तदप्यशक्यनिष्ठम्; सहकारिकारणेषु क्रमवत्सु सत्सु तन्वादिकार्याणां प्रादुर्भवतां तेष्वसत्सु चानुत्पद्यमानानां तदन्वयव्यतिरेकानुविधानात्तद्धेतुक-

§ ११६. ऊपर नित्य और अव्यापक ईश्वरज्ञानमें व्यतिरेकके अभाव और अन्वयके संदेह होनेका प्रतिपादन किया जा चुका है उसी प्रतिपादनसे व्यापक-नित्य ईश्वरज्ञानमें भी उक्त दोष समझना चाहिये और इसलिये वह भी शरीरादिक कार्योंकी उत्पत्तिमें निमित्तकारण नहीं होसकता है, क्योंकि जिस प्रकार ईश्वर सर्वगत और नित्य है और इसलिये उसके व्यतिरेकके अभावका निश्चय है और केवल अन्वय अन्य आत्माओंकी तरह उसके अनिश्चित है—सन्देहापन्न है। दूसरी बात यह है कि ईश्वरज्ञान जब नित्य और व्यापक है तो उसके होनेपर समस्त कार्य एक-साथ उत्पन्न होजाना चाहिये और तब कभी भी वह कार्योंका क्रमशः जनक नहीं हो सकता है। कारण, उसके व्यापक और नित्य होनेसे कालकृत और देशकृत दोनों ही तरहका क्रम नहीं बन सकता है और स्वयं भी सर्वथा क्रमरहित है। यदि उसे क्रमवान् माना जाय तो वह नित्य और सर्वगत नहीं होसकता है। जैसे अग्नि आदिक क्रमवान्—अनित्य और एकदेशी—होनेसे नित्य और सर्वगत नहीं हैं क्योंकि उनमें विरोध है।

§ ११७. वैशेषिक—तत्तत् देश और कालमें प्राप्त होनेवाले सहकारी कारणोंके क्रमकी अपेक्षासे महेश्वरकी तरह महेश्वरज्ञानके भी कार्योंकी उत्पत्तिमें क्रमसे कारण होना बन जाता है—कोई विरोध नहीं है। मतलब यह कि महेश्वरज्ञान विभिन्न देशों और कालोंमें क्रमसे प्राप्त सहकारी कारणोंकी अपेक्षासे कार्योंके प्रति क्रमसे जनक होजाता है और इसलिये उपरोक्त दोष नहीं है?

जैन—आपका यह कथन भी प्रतिष्ठायोग्य नहीं है, क्योंकि इस तरह वास्तविक क्रम सहकारी कारणोंमें ही उपपन्न होता है और इसलिये क्रमवान् सहकारी कारणोंके होनेपर शरीरादिक कार्योंकी उत्पत्ति होती है और उनके न होनेपर उनकी उत्पत्ति

1 द 'सर्वथा स्वयमक्रमात्'। 2 मु 'क्रममापेक्ष्य'। 3 मु स प 'महेश्वरस्य च'।

त्वस्यैव प्रसिद्धेर्महेश्वरज्ञानहेतुकत्वं दुरुपपादमापनीपद्यते[1]।

§ ११८. यदि पुनः सकलसहकारिकारणानामनित्यानां क्रमजन्मनामपि चेतनत्वाभावाच्चेतनेनानधिष्ठितानां कार्यनिष्पादनाय प्रवृत्तेरनुत्पत्ते[2]स्तुरीतन्तुवेमशलाकादीनां कुविन्देनानधिष्ठितानां पटोत्पादनायाप्रवृत्तिवच्चेतनस्तदधिष्ठाता साध्यते। तथा हि—विवादाध्यासितानि कारणान्तराणि क्रमवर्तीन्यक्रमाणि च[3] चेतनाधिष्ठितान्येव तन्वादिकार्याणि कुर्वन्ति स्वयमचेतनत्वात्, यानि यान्यचेतनानि तानि तानि चेतनाधिष्ठितान्येव स्वकार्यंकुर्वाणानि दृष्टानि, यथा तुरीतन्त्वादीनि पटकार्यम्, स्वममचेतनानि च कारणान्तराणि, तस्माच्चेतनाधिष्ठितान्येव तन्वादिकार्याणि कुर्वन्ति। योऽसौ तेषामधिष्ठाता स महेश्वरः पुरुषविशेषः क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः समस्तकारकशक्तिपरिज्ञानभाक् सिसृक्षाप्रयत्नविशेषवांश्च प्रभुर्विभाव्यते, तद्विपरीतस्य समस्तकारकाधिष्ठातृत्वविरोधात्। बहूनामपि समस्तकारकाधिष्ठायिनां पुरुषविशेषाणां प्रतिनियतज्ञानादिशक्तीनामेकेन महाप्रभुणाऽधिष्ठितानामेव प्रवृत्तिघटनात्, सामन्तमहासामन्तमण्डलिका[1]दीनामेकचक्रवर्त्यधिष्ठितानां प्रवृत्तिवदिति महेश्वरसिद्धिः। तत्राचेतनत्वादिति हेतोर्वत्सविवृद्धिनिमित्तं प्रवर्तमानेन[2]गोक्षीरेणानैकान्तिकत्वमिति न शङ्कनीयम्, तस्यापि चेतनेन [3]वत्सेनादृष्टविशेषसहकारिणाधिष्ठितस्यैव प्रवृत्तेः। अन्यथा मृते वत्से गोभक्तेनैव तस्य प्रवृत्तिविरोधात्। न च वत्सादृष्टविशेषवशात्प्रवृत्तावपि समानोऽयं दोष इति वक्तुं शक्यः, तत्क्षीरोपभोक्तृजनादृष्टविशेषसहकारिणामपि चेतनेनाधिष्ठितस्य प्रवृत्तिघटनात्सहकारिणामप्रतिनियमात्। यदपि कैश्चिदुच्यते महेश्वरोऽपि [4]चेतनान्तरेणाधिष्ठितः प्रवर्त्तते, चेतनत्वाद्विशिष्टकर्मकरादिवदिति; तदपि न सत्यम्; तदधिष्ठाय[5]कस्यैव महेश्वरत्वात्। यो

नहीं होती है, इस प्रकार सहकारी कारणोंका ही कार्योंके साथ अन्वय-व्यतिरेक बनता है। अतः शरीरादिक कार्य सहकारी कारणहेतुक ही प्रसिद्ध होते हैं, महेश्वरज्ञानहेतुक नहीं।

§ ११८. वैशेषिक—यह ठीक है कि सहकारी कारण अनित्य हैं और क्रमजन्य भी हैं, लेकिन वे चेतन नहीं हैं और इसलिये चेतनद्वारा जब तक अधिष्ठित (नियोजित) न होंगे तब तक कार्योंको उत्पन्न करनेके लिए उनकी प्रवृति नहीं होसकती है। जैसे तुरी, सूत, वेम, शलाका आदि जब त जुलाहेसे अधिष्ठित नहीं होजाते तब तक पटके उत्पन्न करनेके लिये वे प्रवृत्त नहीं होते। अतः उनका चेतन अधिष्ठाता (नियोक्ता) साधनीय है।

वह इस प्रकारसे है—'विचारकोटिमें स्थित क्रमवान् और अक्रमवान् दोनों ही प्रकारके सहकारी कारण चेतनद्वारा अधिष्ठित होकर ही शरीरादिक कार्योंको करते हैं, क्योंकि स्वयं अचेतन हैं। जो जो अचेतन होते हैं वे वे चेतनद्वारा अधिष्ठित होकरके ही अपने कार्यको करते हुए देखे जाते हैं। जैसे तुरी, सूत आदि पटके कारण चेतन जुलाहासे अधिष्ठित होकर पटरूप कार्यको उत्पन्न करते हैं। और स्वयं अचेतन सहकारी कारण हैं। इस कारण चेतनद्वारा अधिष्ठित होकर ही वे शरीरादिक कार्योंको करते हैं।' जो उनका अधिष्ठाता है—संचालक है वह महेश्वर है, जो क्लेश, कर्म, विपाक, आशय इनसे रहित पुरुषविशेषरूप है, समस्त कारकोंकी शक्तिका परिज्ञाता है, विशिष्ट इच्छा तथा प्रयत्नवाला है और जिसे प्रभु कहा जाता है। इससे जो विपरीत है वह समस्त कारकोंका अधिष्ठाता नहीं बन सकता है। यदि समस्त कारकोंके अधिष्ठाता बहुत पुरुषविशेष हों तो उनकी ज्ञानादि शक्तियाँ (ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति और प्रयत्नशक्ति ये तीनों) सीमित होनेके कारण वे भी एक महाप्रभुसे अधिष्ठित होकर ही प्रवृत्त होंगे। जैसे, सामन्त, महासामन्त, माण्डलिक आदि राजे महाराजे एक चक्रवर्ती—साम्राट्से अधिष्ठित होकर अपनी प्रवृत्ति करते हैं। इस प्रकार महेश्वरकी सिद्धि होजाती है। यदि यहाँ कोई शङ्का करे कि इस अनुमानमें जो 'अचेतनत्व' हेतु दिया गया है वह गायके बच्चेकी वृद्धि (पुष्टि-पोषण) के लिये प्रवृत्त हुए गोदुग्धके साथ अनैकान्तिक है, क्योंकि गोदुग्ध अचेतन है, पर चेतनसे अधिष्ठित होकर प्रवृत्त नहीं होता, तो ऐसी शङ्का करनी योग्य नहीं है, क्योंकि वह (गोदुग्ध) भी चेतन अदृष्टविशेषसे युक्त गायके बच्चे से अधिष्ठित होकर ही प्रवृत्त होता है। अन्यथा—यदि गोदुग्ध अदृष्टविशेषसे युक्त चेतन गायके बच्चे से अधिष्ठित होकर प्रवृत्त न हो—उससे अनधिष्ठित प्रवृत्त हो तो—बच्चे के मर जानेपर गायके सेवकद्वारा ही (अधिष्ठित होकर) उसकी प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये, किन्तु यह सभीके अनुभवसिद्ध है कि बच्चे के मर जानेपर गायकी जो विशिष्ट सेवा करते हैं उनके पोषणादिके लिये उनसे अधिष्ठित होकर गोदुग्ध प्रवृत्त होता है और इसलिये गायके बच्चे के मर जानेके बाद भी गोदुग्ध चेतन गोसेवकोंसे अधिष्ठित होकर ही प्रवृत्त होता है—अनधिष्ठित कभी भी प्रवृत्त नहीं होता। यदि कहा जाय, कि बच्चे के अदृष्टविशेषसे प्रवृत्ति माननेमें भी यह दोष बराबर है अर्थात् बच्चे की जीवितावस्थामें गोदुग्धकी प्रवृत्तिमें गोसेवकका ही अधिष्ठान मानना चाहिये—अदृष्टविशेषसे सहकृत चेतन गोवत्सको उसकी प्रवृत्तिमें अधिष्ठाता मानना उचित नहीं, तो यह कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि गायके दूधको पीनेवाले जितने भी व्यक्ति हैं उन सबके अदृष्टविशेषसे भी विशिष्ट चेतनद्वारा अधिष्ठित होकर उसकी प्रवृत्ति बनती है, सहकारियोंकी कोई गिनती नहीं है—उनका कोई प्रतिनियम नहीं है वे अनेक होते हैं।

यदि कहा जाय कि 'महेश्वर भी अन्य चेतनद्वारा अधिष्ठित होकर प्रवृत्त होता है। क्योंकि चेतन है। जैसे विशिष्ट कर्मचारी आदि' तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि उन सबका सर्वोच्च अधिष्ठाता ही महेश्वर है। वास्तवमें जो अन्तिम अधिष्ठाता है और जो

---

1 मु 'द्यते'। 2 'रनुपपत्तेः' इति पाठेन भाव्यम्।—सम्पा०। 3 द 'वा'।

1 मु प स 'लीका'। 2 द 'क्षीरेणा-'। 3 द 'वत्साद'। 4 मु 'चेतनान्तराधिष्ठितः'। 5 मु 'प'।

ह्यन्त्योऽधिष्ठाता स्वतन्त्रः स महेश्वरस्ततोऽन्यस्य महेश्वरत्वानुपपत्तेः। न चान्त्योऽधिष्ठाता न व्यवतिष्ठते, तन्वादिकार्याणामुत्पत्तिव्यवस्थाना[1]भावप्रसङ्गात्परापरमहेश्वरप्रतीक्षायामेवोपक्षीणशक्तिकत्वात्। ततो निरवद्यमिदं साधनमिति केचित्;[2] तेऽपि न [3]हेतुसामर्थ्यवेदिनः; अचेतनत्वस्य हेतोः संसारिजनज्ञानेषु स्वयं चेतनेष्वभावात्पक्षाव्यापकत्वात्।

§ ११९. ननु च न चेतनत्वप्रतिषेधोऽचेतनत्वम्, किं तर्हि ? चेतनासमवायप्रतिषेधः। स च ज्ञानेष्वस्ति, तेषां स्वयं चेतनत्वात्, तत्रापरचेतनासमवायाभावात्। ततोऽचेतनत्वं साधनं न पक्षाव्यापकं ज्ञानेष्वपि सद्भावादिति न मन्तव्यम्, संसार्यात्मसु चेतनासमवायात् चेतनत्वप्रसिद्धेरचेतनत्वस्य हेतोरभावात् पक्षाव्यापकत्वस्य तदवस्थत्वात्।

§ १२०. यदि तु[1] संसार्यात्मनां स्वतोऽचेतनत्वादचेतनत्वस्य हेतोस्तत्र सद्भावान्न पक्षाव्यापकत्वमिति मतिः, तदा महेश्वरस्याप्यचेतनत्वप्रसङ्गस्तस्यापि स्वतोऽचेतनत्वात्। तथा च दृष्टादृष्टकारणान्तरवदीश्वरस्यापि हेतुकर्त्तुश्चेतनान्तराधिष्ठितत्वं साधनीयम्, तथा चानवस्था, सुदूरमपि गत्वा कस्यचित्स्वतश्चेतनत्वानभ्युपगमात्। महेश्वरस्य स्वतोऽचेतनस्यापि चेतनान्तराधिष्ठितत्वाभावे[2] तेनैव हेतोरनैकान्तिकत्वम्, इति कुतः सकलकारकाणां चेतनाधिष्ठितत्वसिद्धिः ? यत इदं शोभते—

> अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः।
> ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा[3] ॥[महाभा० व० ३०—२८] इति

§ १२१. स्यादाकूतम्—चेतना ज्ञानं तदधिष्ठितत्वं सकलकारकान्तराणामचेतनत्वेन हेतुना साध्यते। तच्च ज्ञानं समस्तकारकशक्तिपरिच्छेदकं नित्यं गुणत्वादाश्रयमन्तरेणासम्भवात् स्वाश्रयमा-

---

पूरा स्वतंत्र है—जिसका दूसरा अधिष्ठाता नहीं है वह महेश्वर है उससे अन्यके महेश्वरपना नहीं है। और यह तो कहा ही नहीं जा सकता कि कोई अन्तिम अधिष्ठाता व्यवस्थित नहीं होता, क्योंकि शरीरादि कार्योंकी उत्पत्तिकी जो व्यवस्था है—प्रत्येक कार्य व्यवस्थित ढंगसे पैदा होता है वह अधिष्ठाताके अभावमें सम्भव नहीं है। और यदि महेश्वर भी अन्य महेश्वरकी अपेक्षा करे तो अन्य, अन्य, महेश्वरोंकी अपेक्षामें ही उसकी शक्ति क्षीण होजानेसे शरीरादिकार्योंकी उत्पत्ति कदापि नहीं होसकती। अतः हमारा 'अचेतनत्व' हेतु पूर्णतः निर्दोष है ?

जैन—आप हेतुके सामर्थ्य—योग्यता अथवा यथार्थताको—कि कौन निर्दोष है और कौन नहीं, नहीं जानते, क्योंकि संसारी जीवोंके ज्ञानोंमें 'अचेतनपना' हेतु नहीं रहता है। कारण, वे स्वयं चेतन हैं लेकिन वे पक्षान्तर्गत हैं। अतः आपका यह 'अचेतनपना' हेतु सम्पूर्ण पक्षमें न रहनेसे पक्षाव्यापक अर्थात् भागासिद्ध है। तब उसे आप निर्दोष कैसे कह सकते हैं ? वह तो स्पष्टतः सदोष है।

§ ११९. वैशेषिक—यहाँ चेतनपनाका अभावरूप अचेतनपना विवक्षित नहीं है, किन्तु चेतनाके समवायका अभावरूप अचेतनपना विवक्षित है और वह संसारी जीवोंके ज्ञानोंमें है क्योंकि वे स्वयं चेतन हैं—चेतनाके समवायसे चेतन नहीं हैं, कारण उनमें अन्य चेतनाका समवाय सम्भव नहीं है। अतः 'अचेतनपना' हेतु पक्षाव्यापक नहीं है, वह संसरीजीवोंके ज्ञानोंमें भी विद्यमान है ?

जैन—यह मान्यता युक्तिसंगत नहीं है। कारण, संसारी आत्माओंमें चेतनाके समवायसे चेतनपना प्रसिद्ध है और इसलिये उनमें 'अचेतनपना' हेतु नहीं रहता है। अतः वह पूर्ववत् संसारी आत्माओंमें पक्षाव्यापक है ही।

§ १२०. वैशेषिक—हमारा अभिप्राय यह है कि संसारी आत्माएँ यद्यपि चेतनाके समवायसे चेतन हैं परन्तु स्वतः तो अचेतन हैं। अतः 'अचेतनपना' हेतु उनमें मौजूद रहनेसे पक्षाव्यापक नहीं है—सम्पूर्ण पक्षमें रहता है ?

जैन—यह अभिप्राय भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस प्रकारसे तो महेश्वर भी अचेतन होजायगा, कारण वह भी स्वतः अचेतन हैं—चेतनाके समवायसे ही उसे चेतन माना है वह स्वतः चेतन नहीं है और उस हालतमें दृष्ट (देखे गये) और अदृष्ट (देखनेमें नहीं आनेवाले) सहकारीकारणोंकी तरह उन कारणोंका कर्ता महेश्वर भी अन्य दूसरे चेतनद्वारा अधिष्ठित होकर कार्य (प्रवृत्ति) करेगा, इस प्रकार उसका भी दूसरा अधिष्ठाता सिद्ध करना चाहिये। और ऐसी दशामें अनवस्था आवेगी। बहुत दूर जाकर भी आपने किसीको स्वतः चेतन स्वीकार नहीं किया। अगर महेश्वरको स्वतः अचेतन होनेपर भी उसका कोई दूसरा चेतन अधिष्ठाता न मानें तो 'अचेतनपना' हेतु उसीके साथ अनैकान्तिक है, क्योंकि वह स्वतः अचेतन तो है पर उसका अन्य दूसरा कोई चेतन अधिष्ठाता नहीं है, इसलिये 'अचेतनपना' हेतु महेश्वरके साथ व्यभिचारी होनेसे अपने साध्यका साधक नहीं हो सकता है। अतः उससे सकल कारकोंके चेतनसे अधिष्ठितपना कैसे सिद्ध हो सकता है ? जिससे यह कथन शोभित होता—अच्छा लगता कि—

"यह अज्ञ प्राणी असमर्थ होता हुआ अपने सुख और दुखके अनुसार ईश्वर द्वारा प्रेरित होकर स्वर्ग अथवा नरकको प्राप्त करता है।"—अर्थात् विश्वके समस्त प्राणी चूँकि अज्ञ और असमर्थ (सामर्थ्यहीन) हैं, इसलिये वे अपने सुख और दुखको भोगनेके लिये ईश्वरकी, जो प्रभु और सर्वज्ञ है, प्रेरणासे स्वर्ग और नरकको क्रमशः जाते हैं।

§ १२१. वैशेषिक—हमारा आशय आप इसप्रकार समझिये—जो चेतना है वह ज्ञान है और उस ज्ञानसे अधिष्ठितपना समस्त कारकोंके 'अचेतनपना' हेतुद्वारा सिद्ध करते हैं। तात्पर्य यह कि 'अचेतनपना' हेतुद्वारा महेश्वरज्ञानको तदतिरिक्त समस्त कारकोंका अधिष्ठाता मानते हैं। और उसे समस्त कारकोंकी शक्तिका परिच्छेदक

---

1 मु 'स्थानामभाव'। 2 मु स प 'केश्चित्'। 3 द 'हेतु' नास्ति।

। 1 द 'तु' नास्ति। 2 द 'भावेनैव'। 3 मु 'च'।

त्मान्तरं साधयति । स नो महेश्वर इति; तदप्ययुक्तम् ; संसार्यात्मनां ज्ञानैरपि स्वयंचेतनास्वभावैरधिष्ठितस्य शुभाशुभकर्मकलापस्य [1]तत्सहकारिकारणकदम्बस्य[2] च तन्वादिकार्योत्पत्तौ व्यापारसिद्धेरीश्वरज्ञानाधिष्ठानपरिकल्पनावैयर्थ्यप्रसङ्गात् । तदन्वयव्यतिरेकाभ्यामेव तद्व्यवस्थापनात् ।

§ १२२. अथ मतमेतत्—संसार्यात्मनां विज्ञानानि विप्रकृष्टार्थाविषयत्वान्न धर्माधर्मपरमाणुकालाद्यतीन्द्रियकारकविशेषसाक्षात्करणसमर्थानि । न च तदसाक्षात्करणे [3]तत्प्रयोजकत्वं तेषामवतिष्ठते । तदप्रयोजकत्वे च न तदधिष्ठितानामेव धर्मादीनां तन्वादिकार्यजन्मनि प्रवृत्तिः सिद्ध्येत् । ततोऽतीन्द्रियार्थसाक्षात्कारिणा ज्ञानेनाधिष्ठितानामेव स्वकार्ये व्यापारेण भवितव्यम् । तच्च महेश्वरज्ञानम्, इति; तदप्यनालोचितयुक्तिकम्; सकलातीन्द्रियार्थसाक्षात्कारिण एव ज्ञानस्य कारकाधिष्ठायकत्वेन प्रसिद्धस्य दृष्टान्ततयोपादीयमानस्यासम्भवात्तदधिष्ठित्वसाधने हेतोरनन्वयत्व[4]-

एवं नित्य स्वीकार करते हैं। चूँकि वह गुण है, इसलिये वह आश्रयके बिना नहीं रह सकता, अतः अपने आश्रयभूत आत्मान्तरको—हम लोगोंकी आत्माओंसे विशिष्ट आत्माको सिद्ध करता है। वही हमारा महेश्वर है ?

जैन—आपका यह आशय भी युक्त नहीं है, क्योंकि संसारी आत्माओंके ज्ञानोंद्वारा भी, जो स्वयं चेतनास्वभाव हैं, अधिष्ठित अच्छे-बुरे कर्म और उनके सहायक सहकारी कारण शरीरादिक कार्योंकी उत्पत्तिमें व्यापार (प्रवृत्ति) करते हुए प्रतीत होते हैं और इसलिये ईश्वरज्ञानको उनका अधिष्ठाता कल्पित करना सर्वथा अनावश्यक और व्यर्थ है। संसारी आत्माओंके ज्ञानोंद्वारा अधिष्ठित (संचालित एवं प्रेरित) उनके अच्छे-बुरे कर्मादिके होनेपर शरीरादिककी उत्पत्ति होने और उनके न होनेपर उनकी (शरीरादिककी) उत्पत्ति न होनेसे उन्हीं (संसारी जीवोंके ज्ञानोंसे अधिष्ठित अच्छे-बुरे कर्मादि) का अन्वय-व्यतिरेक कार्योंमें सिद्ध होता है—महेश्वर अथवा महेश्वरज्ञानका नहीं।

§ १२२. वैशेषिक—हमारा मत यह है कि संसारी आत्माओंके ज्ञान विप्रकृष्ट—काल, देश और स्वभावकी अपेक्षा दूरवर्ती—पदार्थोंको विषय न करनेसे धर्म, अधर्म, परमाणु, काल आदिक अतीन्द्रिय कारकविशेषोंको वे प्रत्यक्षरूपसे नहीं जान सकते हैं और उनके न जाननेपर वे (ज्ञान) उनके (कारकोंके) प्रयोजक (प्रयोक्ता) एवं प्रवर्त्तक नहीं होसकते हैं तथा प्रयोजक एवं प्रवर्त्तक न होनेपर उनसे (ज्ञानोंसे) अधिष्ठित धर्मादिकोंकी शरीरादिक कार्योंकी उत्पत्तिमें प्रवृत्ति नहीं बन सकती है। अतः अतीन्द्रिय पदार्थोंको प्रत्यक्ष जाननेवाले ज्ञानद्वारा अधिष्ठित ही धर्मादिकोंकी शरीरादिक कार्योंकी उत्पत्तिमें प्रवृत्ति होना चाहिये और वह ज्ञान महेश्वरज्ञान है—वही अतीन्द्रिय पदार्थोंका साक्षात्कर्ता है ?

जैन—आपका यह मत भी विचारपूर्ण नहीं है, क्योंकि उसमें ऐसा कोई दृष्टान्त नहीं मिलता, जो समस्त अतीन्द्रिय पदार्थोंका साक्षात्कारी हो और कारकोंका अधिष्ठाता प्रसिद्ध हो, और इसलिये उपर्युक्त धर्मादिक कारकोंमें महेश्वरज्ञानद्वारा

1 स 'वा' इत्यधिकः। 2 मु 'तत्सहकारिकदम्बकस्य'। स 'तत्सहकारणकदम्बकस्य'।
3 मु 'ततः प्रयोजकत्वं'। 4 मु 'रन्वयत्व'।

प्रसक्तेः । न हि कुम्भकारादेः कुम्भाद्युत्पत्तौ तत्कारकसाक्षात्कारिज्ञानं विद्यते, दण्डचक्रादिदृष्टकारकसन्दोहस्य तेन साक्षात्क[1]रणेऽपि तन्निमित्तादृष्टविशेषकालादेरसाक्षात्करणात् ।

§ १२३. ननु लिङ्गविशेषात्तत्परिच्छित्तिनिमित्तस्य लैङ्गिकस्य ज्ञानस्य सद्भावात्, तथा स्वादृष्टविशेषाः कुम्भकारादयः कुम्भादिकार्याणि कुर्वन्ति नेतरे, तेषां तथाविधादृष्टविशेषाभावादित्यागमज्ञानस्यापि तत्परिच्छेदनिबन्धनस्य सद्भावात् सिद्धमेव कुम्भकारादिज्ञानस्य कुम्भादिकारकपरिच्छेदकत्वं तत्प्रयोक्तृत्वेन तदधिष्ठाननिबन्धनत्वम्, ततस्तस्य दृष्टान्ततयोपादान्न हेतोरनन्वयत्वा[2]पत्तिरिति चेत्, तर्हि सर्वसंसारिणां यथास्वं तन्वादिकार्यजन्मनि प्रत्यक्षतोऽनुमानादागमाच्च तन्निमित्तदृष्टादृष्टकारकविषयपरिज्ञानसिद्धेः कथमज्ञत्वम्[3] ? येनात्मनः सुखदुःखोत्पत्तौ हेतुत्वं न भवेत् । यतश्च 'सर्वसंसारीश्वरप्रेरित एव स्वर्गं वा श्वभ्रं वा गच्छेत्' इति समञ्जसमालक्ष्येत[4] । ततः किमीश्वरपरिकल्पनया ? दृष्टादृष्टकारकान्तराणामेव क्रमाक्रमजन्मनामन्व-

अधिष्ठितपना सिद्ध करनेमें हेतुके अनन्वयपनेका दोष आता है—अन्वय दृष्टान्तके न मिलनेसे हेतुके अन्वयव्याप्तिका अभाव प्रसक्त होता है। प्रकट है कि जो कुम्हार आदि घड़े वगैरहकी उत्पत्तिमें कारण माने जाते हैं उनके ज्ञानको घड़े आदिके समस्त कारकोंका साक्षात्कर्त्ता कोई स्वीकार नहीं करता। केवल वह दण्ड, चक्र आदि कुछ दृष्टकारकोंको जानता है, लेकिन फिर भी दूसरे अतीन्द्रिय अदृष्टविशेष (पुण्य-पापादि) और काल वगैरहको वह साक्षात्कार नहीं करता।

§ १२३. वैशेषिक—उल्लिखित कारकोंकी ज्ञप्तिमें कारणीभूत लिङ्गजन्य लैङ्गिक—अनुमान—ज्ञान कुम्हार आदिको रहता है, इसलिये कुम्हार आदिक अपने अदृष्टविशेषको लेकर घटादिक कार्योंको करते हैं, उनसे जो भिन्न हैं—जिन्हें न तो उन घटादिकके कारकोंका ज्ञान है और न वैसा उनका अदृष्टविशेष है—वे उन घटादि कार्योंको नहीं करते हैं। इसके अलावा, उन्हें कितने ही कारकोंका आगमज्ञान (सुनने आदिसे होनेवाला ज्ञान) भी होता है। अतः कुम्हार आदिका ज्ञान घटादिकके कारकोंका परिच्छेदक स्पष्टतः सिद्ध है और इसलिये वह उनका प्रयोक्ता होनेसे कारकोंका अधिष्ठाता बन जाता है। अतएव उसको यहाँ दृष्टान्तरूपसे ग्रहण किया है। ऐसी दशामें हमारे हेतुमें अनन्वयपनेका दोष नहीं आता ?

जैन—इसप्रकार तो सभी संसारी जीवोंको अपने-अपने शरीरादिक कार्योंकी उत्पत्तिमें प्रत्यक्षसे, अनुमानसे और आगमसे यथायोग्य उन शरीरादिकार्योंके कारणीभूत दृष्ट (दिखनेमें आनेवाले) और अदृष्ट (दिखनेमें न आनेवाले) कारकोंका ज्ञान विद्यमान है तब उन्हें अज्ञ कैसे कहा जासकता है ? अर्थात् नहीं कहा जासकता है। जिससे कि वे अपने सुख-दुःखकी उत्पत्तिमें स्वयं कारण न हों और जिससे सभी संसारी ईश्वरद्वारा प्रेरित होकर ही स्वर्ग और नरकको जावें, यह युक्त समझा जाता। अतः ईश्वरकी कल्पनासे क्या फायदा ? कारण, क्रमजन्मा और अक्रमजन्मा दृष्ट-अदृष्ट कारकोंके ही अन्वय और व्यतिरेक पाया जानेसे क्रमजन्य और अक्रमजन्य

1 मु 'कार'। 2 मु 'रन्वयत्वा'। 3 स 'मतत्सत्त्वम्'। 4 मु स प 'लक्ष्यते'। द 'लक्षते'।

यव्यतिरेकानुविधानात् क्रमाक्रमजन्मानि तन्वादिकार्याणि भवन्तु, तदुपभोक्तृजनस्यैव ज्ञानवतः तदधिष्ठायकस्य प्रमाणोपपन्नस्य व्यवस्थापनात् ।

[ईश्वरज्ञानस्यास्वसंविदितत्वस्वसंविदितत्वाभ्यां दूषणप्रदर्शनम्]

§ १२४. साम्प्रतमभ्युपगम्यापि महेश्वरज्ञानमस्वसंविदितं स्वसंविदितं वेति कल्पनाद्वितयसम्भवे प्रथमकल्पनायां दूषणमाह—

अस्वसंविदितं ज्ञानमीश्वरस्य यदीष्यते ।
तदा सर्वज्ञता न स्यात्स्वज्ञानस्याप्रवेदनात् ॥३७॥
ज्ञानान्तरेण तद्वित्तौ तस्याप्यन्येन वेदनम् ।
वेदनेन भवेदेवमनवस्था महीयसी ॥३८॥
गत्वा सुदूरमप्येवं स्वसंविदितवेदने ।
इष्यमाणे महेशस्य प्रथमं तादृगस्तु वः ॥३९॥

§ १२५. महेश्वरस्य [1]हि विज्ञानं यदि स्वं न वेदयते, स्वात्मनि क्रियाविरोधात्, तदा

शरीरादिक कार्योंको उन्हींका कार्य स्वीकार करना चाहिये; क्योंकि उनके ज्ञानवान् उपभोक्ता जन ही प्रमाणसे उनके अधिष्ठाता उपपन्न एवं व्यवस्थित होते हैं। तात्पर्य यह कि यदि कारकोंके नियन्ताको कार्योत्पत्तिमें उन कारकोंका ज्ञान होना लाजमी है तो कुम्हारके ज्ञानकी तरह संसारके सभी जीवोंको भी अपने शरीरादिक भोगोपभोग वस्तुओंके कारकोंका यथायोग्य प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे ज्ञान प्राप्त है तब उन्हींको उनका अधिष्ठाता और उत्पादक मानना चाहिये। उसके लिये एक महेश्वरकी कल्पना करना, उसे अधिष्ठाता मानना और सृष्टिकर्त्ता बतलाना सर्वथा अनावश्यक और व्यर्थ है।

§ १२४. इस समय महेश्वरज्ञानको स्वीकार करके 'वह अस्वसंवेदी है अथवा स्वसंवेदी' इन दो विकल्पोंके साथ प्रथम विकल्पमें प्राप्त दूषणोंको कहते हैं—

'यदि महेश्वरज्ञान अस्वसंवेदी है—अपने आपको नहीं जानता है तो उसके सर्वज्ञता—सम्पूर्ण पदर्थोंको जाननापना नहीं बन सकता है, क्योंकि वह अपने ज्ञानको नहीं जानता—सर्व पदार्थोंके अन्तर्गत उसका (महेश्वरका) ज्ञान भी है सो यदि वह अस्वसंवेदी माना जायगा तो अन्य पदार्थोंको जान लेनेपर भी अपने ज्ञानको न जाननेसे वह समस्त पदार्थोंका परिच्छेदक—सर्वज्ञ नहीं हो सकता।'

'यदि अन्य ज्ञानसे उसका ज्ञान माना जाय तो उस अन्य ज्ञानका भी ज्ञान अन्य तृतीय ज्ञानसे होगा, क्योंकि वह अन्य दूसरा ज्ञान अस्वसंवेदी ही होगा, इस प्रकार अन्य, अन्य ज्ञानोंकी कल्पना होनेसे बड़ी भारी अनवस्था आती है।'

'यदि बहुत दूर जाकर किसी अन्य ज्ञानको स्वसंवेदी कहा जाय तो उससे अच्छा यही है कि पहले ज्ञानको ही आप स्वसंवेदी स्वीकार करें।,

§ १२५. यदि वस्तुतः महेश्वरका ज्ञान अपने आपको नहीं जानता है, क्योंकि

1 द 'यज्ज्ञानं'।

समस्तकारकशक्तिनिकरमपि कथं संवेदयेत् ? तथा हि—नेश्वरज्ञानं सकलकारकशक्तिनिकरसंवेदकम्, स्वासंवेदकत्वात् । यद्यत्स्वासंवेदकं तत्तन्न सकलकारकशक्तिनिकरसंवेदकम्, यथा चक्षुः, तथा चेश्वरज्ञानम्, तस्मान्न तथा, इति कुतः समस्तकारकाधिष्ठायकम् ? यतस्तदाश्रयस्येश्वरस्य निखिलकार्योत्पत्तौ निमित्तकारणत्वं सिद्ध्येत्, असर्वज्ञताया[1] एव तस्यैवं प्रसिद्धेः । अथवा, यदीश्वरस्य ज्ञानं स्वयमीश्वरेण न संवेद्यते इत्यस्वसंविदितमिष्यते, तदा तस्य सर्वज्ञता न स्यात्, स्वज्ञानप्रवेदनाभावात् ।

§ १२६. ननु च सर्वं ज्ञेयमेव जानन् सर्वज्ञः कथ्यते न पुनर्ज्ञानं तस्याज्ञेयत्वात् । न च तदज्ञाते ज्ञेयपरिच्छित्तिर्न भवेत्, [2]चक्षुरपरिज्ञाने तत्परिच्छेद्यरूपापरिज्ञानप्रसङ्गात् । कारणापरिज्ञानेऽपि विषयपरिच्छित्तेरविरोधात्; इत्यपि [3]नानुमन्तव्यम्; सर्वग्रहणेन ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञातृ-ज्ञप्तिलक्षणस्य तत्त्वचतुष्टयस्य प्रतिज्ञानात् । "प्रमाणं प्रमाता प्रमेयं प्रमितिरिति चतसृषु चैवंविधासु तत्त्वं परिसमा-

अपने आपमें क्रियाका विरोध है--क्रिया नहीं बन सकती है तो समस्त कारकोंकी शक्तिसमूहको भी वह कैसे जान सकेगा ? हम प्रमाणित करेंगे कि 'ईश्वरज्ञान' समस्त कारकोंकी शक्तिसमूहका ज्ञायक नहीं है, क्योंकि वह अपनेको नहीं जानता है, जो जो अपनेको नहीं जानता वह वह समस्त कारकोंकी शक्तियोंके समूहका ज्ञायक नहीं होता, जैसे चक्षु। और अपनेको ईश्वर-ज्ञान नहीं जानता है, इस कारण वह समस्त कारकोंकी शक्तिसमूहका ज्ञायक नहीं है।' ऐसी हालतमें वह समस्त कारकोंका अधिष्ठायक (संचालक—प्रवर्त्तक) कैसे हो सकता है ? जिससे उसका आश्रयभूत महेश्वर समग्र कार्योंकी उत्पत्तिमें निमित्तकारण सिद्ध हो। इस तरह महेश्वरज्ञानके असर्वज्ञता ही प्रमाणित होती है। अथवा, यदि ईश्वरका ज्ञान स्वयं ईश्वरके द्वारा ज्ञात नहीं होता, इस प्रकारसे उसे अस्वसंविदित कहा जाता है तो महेश्वरके सर्वज्ञता नहीं बन सकती है, क्योंकि वह अपने ज्ञानको नहीं जानता है, इस तरह अस्वसंवेदी पक्षमें असर्वज्ञतादोष प्रसक्त होता है।

§ १२६. वैशेषिक—समस्त ज्ञेय पदार्थोंको ही जाननेवाला सर्वज्ञ कहा जाता है न कि ज्ञानको, क्योंकि वह ज्ञेय नहीं है—ज्ञान है और ज्ञेय, ज्ञानसे भिन्न ही माना गया है और इसलिये यह नहीं कहा जा सकता है कि ज्ञानका ज्ञान न होनेपर ज्ञेयका ज्ञान नहीं हो सकेगा, अन्यथा चक्षुरिन्द्रियका परिज्ञान न होनेपर उससे जाना जानेवाले रूपका परिज्ञान भी नहीं हो सकेगा। किन्तु यह सर्व प्रसिद्ध है कि कारणका ज्ञान न होनेपर भी विषयका ज्ञान होता है। अतः समस्त ज्ञेय पदार्थोंके ही ज्ञायकको सर्वज्ञ मानना चाहिये, ज्ञानके ज्ञायकको नहीं। और इसलिये महेश्वरज्ञानके असर्वज्ञता प्राप्त नहीं होती ?

जैन—यह मान्यता आपकी उचित नहीं है, क्योंकि 'सर्वज्ञ' पद में निहित 'सर्व' शब्दके ग्रहणद्वारा ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञाता और ज्ञप्तिरूप चार तत्त्वोंको स्वीकार किया गया है। आपके ही प्रसिद्ध आचार्य न्यायभाष्यकार वात्स्यायनने भी कहा है कि 'प्रमाण, प्रमाता, प्रमेय और प्रमिति इन चार प्रकारोंमें तत्त्व पूर्णतः समाप्त है अर्थात् इन चारों-

1 द 'एतस्यैव प्रसिद्धेः'। 2 द 'चक्षुरज्ञाने'। 3 द 'न मन्तव्यम्'।

प्यते[1]" [वात्स्यायनन्यायभाष्य पृष्ठ २] इति वचनात् । तदन्यतमापरिज्ञानेऽपि सकलतत्त्वपरिज्ञानानुपपत्तेः कुतः सर्वज्ञतेश्वरस्य सिद्ध्येत् ? ज्ञानान्तरेण स्वज्ञानस्यापि वेदनान्नास्यासर्वज्ञता, इति चेत्, तर्हि तदपि ज्ञानान्तरं परेण ज्ञानेन ज्ञातव्यमित्यभ्युपगम्यमानेऽनवस्था महीयसी स्यात् । सुदूरमप्यनुसृत्य कस्यचिद्विज्ञानस्य स्वार्थावभासनस्वभावत्वे प्रथमस्यैव सहस्रकिरणवत् स्वार्थावभासनस्वभावत्वमुररीक्रियतामलमस्वसंविदितज्ञानकल्पनया ।

[महेश्वरज्ञानस्य महेश्वराद्भिन्नत्वाभ्युपगमे दूषणप्रदर्शनम्]

§ १२७. स्वार्थव्यवसायात्मकज्ञानाभ्युपगमे च युष्माकं तस्य महेश्वराद् भेदे पर्यनुयोगमाह—

तत्स्वार्थव्यवसायात्म ज्ञानं भिन्नं महेश्वरात् ।
कथं तस्येति निर्देश्यमाकाशादिवदञ्जसा ॥४०॥
समवायेन, तस्यापि तद्भिन्नस्य कुतो गतिः[1] ? ।
इहेदमिति विज्ञानादबाध्याद्व्यभिचारि तत् ॥४१॥

को ही तत्व कहते हैं ।" [न्यायभाष्य पृ० २] । अतः यदि इनमेंसे एकका भी ज्ञान न हो तो समस्त तत्वोंका ज्ञान नहीं बन सकता है । अतः महेश्वरको अपने ज्ञानका ज्ञान न होनेपर उसके सर्वज्ञता कैसे सिद्ध हो सकती है ? अगर कहा जाय कि महेश्वर अन्य-ज्ञानसे अपने ज्ञानको भी जानता है और इसलिये उसके असर्वज्ञता नहीं है तो वह अन्य ज्ञान भी अन्य तृतीय ज्ञानसे जाना जावेगा और ऐसा माननेपर बड़ी अनवस्था आयेगी । बहुत दूर पहुँचकर भी यदि किसी ज्ञानको स्वार्थावभासी (अपने और अर्थका प्रकाशक) स्वीकार करें तो उससे अच्छा यही है कि पहले ही ज्ञानको सूर्यकी तरह स्वपर-प्रकाशकस्वभाव स्वीकार करें और उस हालतमें अस्वसंवेदीज्ञानकी कल्पना व्यर्थ है ।

§ १२७. अब दूसरे विकल्पमें, जो महेश्वरज्ञानको स्वसंवेदी माननेरूप है, दूषण दिखाते हैं और यह कहते हुए कि यदि महेश्वरज्ञानको आप लोग स्वार्थप्रकाशक स्वीकार करें तो यह बतलाना चाहिये कि वह महेश्वरसे भिन्न है क्या ? और भेद माननेपर निम्न पर्यनुयोग—(दूषणार्थजिज्ञासा—प्रश्न) किये जाते हैं:—

'यदि वह महेश्वरज्ञान, जिसे आपने स्वार्थव्यवसायात्मक स्वीकार किया है, महेश्वरसे भिन्न है तो 'वह उसका है' यह निश्चयसे आकाशादिकी तरह कैसे निर्देश हो सकेगा ? तात्पर्य यह कि जिस प्रकार महेश्वरज्ञान आकाशादिसे भिन्न है और इसलिये वह उनका नहीं माना जाता है उसीप्रकार वह महेश्वरसे भी सर्वथा भिन्न है तब वह महेश्वरका है अन्यका नहीं, यह निर्देश कैसे बन सकेगा ?

---

१ 'तत्र यस्येप्साजिहासाप्रयुक्तस्य प्रवृत्तिः स प्रमाता, स येनाऽर्थं प्रमिणोति तत्प्रमाणम्, योऽर्थः प्रमीयते तत्प्रमेयम्, यदर्थविज्ञानं सा प्रमितिः, चतसृषु चैवंविधास्वर्थतत्त्वं परिसमाप्यते'—वात्स्या० न्यायभा० पृ० २ ।

1 मु 'मतिः' ।

इह कुण्डे दधीत्यादिविज्ञानेनास्तविद्विषा ।
साध्ये सम्बन्धमात्रे तु परेषां सिद्धसाधनम् ॥४२॥

§ १२८. यदि स्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानमीश्वरास्याभ्यनुज्ञायते, तस्यास्मदादिविशिष्टत्वात्, तदा तदीश्वराद्भिन्नमभ्युपगन्तव्यम्, अभेदे सिद्धान्तविरोधात् । तथा चाकाशादेरिव कथं तस्येति व्यपदेश्यमिति पर्य्यनुयुज्महे ।

[महेश्वरतज्ज्ञानयोः सम्बन्धकारकस्य समवायस्य पूर्वपक्षपुरस्सरं निरसनम्]

§ १२९. स्यान्मतम्—भिन्नमपि विज्ञानं महेश्वरात्तस्येति व्यपदिश्यते, तत्र समवायात् । नाकाशादेरिति निर्दिश्यते, तत्र तस्यासमवायात्, इति; तदप्ययुक्तम्; ताभ्यामीश्वर-ज्ञानाभ्यां भिन्नस्य समवायस्यापि कुतः प्रतिपत्तिः ? इति पर्य्यनुयोगस्य तदवस्थत्वात् ।

'यदि कहा जाय कि समवाय सम्बन्धसे उक्त निर्देश बन जायगा अर्थात् महेश्वर-ज्ञानका महेश्वरके साथ समवाय सम्बन्ध है, आकाशादिकके साथ नहीं, अतः समवाय सम्बन्धसे 'महेश्वरज्ञान महेश्वरका है' यह निर्देश उपपन्न होजायगा, तो वह समवाय सम्बन्ध भी दोनोंसे भिन्न माना जायगा और उस हालतमें उसका भी ज्ञान कैसे हो सकेगा ? अगर कहें कि 'इसमें यह है' इस प्रकारके अबाधित ज्ञानसे उसका ज्ञान हो जाता है, तो वह ज्ञान 'इस कुण्डमें दही है' इस प्रकारके संयोगनिमित्तक अबाधित ज्ञानके साथ व्यभिचरित है । 'इस कुण्डमें दही है' यह ज्ञान भी 'इसमें यह है' इस रूप है और वह अबाधित भी है। लेकिन वह समवायसम्बन्धनिमित्तक नहीं है—संयोगसम्बन्ध-निमित्तक है । अतः उक्त ज्ञान इसके साथ व्यभिचारी है । अगर कहा जाय कि सम्बन्ध-सामान्य यहाँ साध्य है और इसलिये उक्त दोष नहीं है, तो जैनोंके लिये उसमें सिद्धसाधन है ।'

§ १२८. यदि कहें कि महेश्वरके ज्ञानको हम स्वार्थव्यवसायात्मक मानते हैं क्योंकि वह हम लोगोंसे विशिष्ट है, तो उसे महेश्वरसे भिन्न स्वीकार करना चाहिये, कारण, अभिन्न माननेमें सिद्धान्तविरोध आता है—वैशेषिक मतमें महेश्वरज्ञानको महेश्वरसे भिन्न माना गया है, अभिन्न नहीं । और महेश्वरसे महेश्वरज्ञानको भिन्न स्वीकार करनेपर 'वह उसका है' यह व्यपदेश आकाशादिककी तरह कैसे बन सकेगा, यह हमारा आपसे प्रश्न है । तात्पर्य यह कि महेश्वरज्ञान जब महेश्वरसे सर्वथा भिन्न है तब 'वह उसका है' अन्यका नहीं है, यह व्यवस्था नहीं बन सकती है ।

§ १२९. वैशेषिक—हमारा आशय यह है कि महेश्वरज्ञान महेश्वरसे भिन्न होता हुआ भी 'उसका है' यह व्यपदेश बन जाता है क्योंकि महेश्वरमें उसका समवाय है, वह आकाशादिकका नहीं है, यह निर्देश भी हो जाता है, क्योंकि आकाशादिकमें महेश्वरज्ञानका समवाय नहीं है ?

जैन—यह आशय भी आपका ठीक नहीं है, क्योंकि ईश्वर और ईश्वरज्ञानसे भिन्न समवायका भी ज्ञान कैसे हो सकता है, यह प्रश्न ज्यों-का-त्यों अवस्थित है ।

§ १३०. इहेदमिति प्रत्ययविशेषाद्बाधकरहितात् समवायस्य प्रतिपत्तिः । तथा हि—[1]'इह महेश्वरे ज्ञानम्' इतीहेदंप्रत्ययो विशिष्टपदार्थहेतुकः, सकलबाधकरहितत्वे सतीहेदमिति प्रत्ययविशेषत्वात्, यो यः सकलबाधकरहितत्वे सति प्रत्ययविशेषः स स विशिष्टपदार्थहेतुको दृष्टः, यथा 'द्रव्येषु द्रव्यं द्रव्यम्[2]' इत्यन्वयप्रत्ययविशेषः सामान्यपदार्थहेतुकः, सकल[3]बाधकरहितत्वे सति प्रत्ययविशेषश्चेहेदमिति प्रत्ययविशेषः, तस्माद्विशिष्टपदार्थहेतुक इत्यनुमीयते । योऽसौ विशिष्टः पदार्थस्तद्धेतुः स समवायः, पदार्थान्तरस्य तद्धेतोरसम्भवात्तद्धेतुकत्वायोगाच्च । न हि 'इह तन्तुषु पटः' इति प्रत्ययस्तन्तुहेतुकः, तन्तुषु[4] तन्तवः इति प्रत्ययस्योत्पत्तेः । नापि पटहेतुकः, पटात्पट इति प्रत्ययस्योदयात् । नापि वासनाविशेषहेतुकः, तस्याः कारणरहितायाः सम्भवाभावात् । पूर्वं तथाविधज्ञानस्य तत्कारणत्वे तदपि कुतो हेतोरिति चिन्त्यमेतत् । पूर्वतद्वासनात इति चेत्, न, अनवस्थाप्रसङ्गात् । ज्ञानवासनयोरनादिसन्तानपरिकल्पनायां कुतो बहिरर्थसिद्धिः ? अनादिवासनाबलादेव नीलादिप्रत्ययानामपि भावात् । न चैवं विज्ञानसन्ताननानात्वसिद्धिः, सन्तानान्तरग्राहिणो विज्ञानस्यापि सन्तानान्तरमन्तरेण वासनाविशेषादेव तथाप्रत्ययप्रसूतेः, स्वप्नस-

§ १३० वैशेषिक—'इसमें यह है' इस प्रकारके बाधकरहित प्रत्ययसे समवायका ज्ञान होता है । वह इस प्रकारसे है—'महेश्वरमें ज्ञान है' यह 'इहेदं'प्रत्यय विशिष्टपदार्थके निमित्तसे होता है क्योंकि वह सम्पूर्ण बाधकरहित होकर इहेदंप्रत्ययविशेष है, जो-जो सम्पूर्ण बाधकरहित होकर प्रत्ययविशेष है वह वह विशिष्ट पदार्थके निमित्तसे होता है, जैसे द्रव्योंमें 'द्रव्य है द्रव्य है' यह अन्वयप्रत्ययविशेष सामान्यपदार्थ (सत्ता-जातिरूप द्रव्यत्व) के निमित्तसे होता है । और सम्पूर्णबाधकरहित होकर प्रत्ययविशेष इहदंप्रत्ययविशेष है, इस कारण वह विशिष्टपदार्थके निमित्तसे होता है । इस तरह हम उसका अनुमानसे साधन करते हैं । जो विशिष्टपदार्थ उक्त प्रत्ययमें निमित्त है वह समवाय है, कारण, अन्य पदार्थ उसमें निमित्त संभव नहीं है और इसलिये वह अन्य पदार्थके निमित्तसे नहीं होता । प्रसिद्ध है कि 'इन तन्तुओंमें पट है' यह प्रत्यय तन्तुओंके निमित्तसे नहीं होता, अन्यथा 'तन्तुओंमें तन्तु हैं' यह प्रत्यय होना चाहिये । और न वह प्रत्यय पटके निमित्तसे होता है, नहीं तो 'पटसे पट होता है' यह प्रत्यय उत्पन्न होगा । तथा न वह वासनाविशेषके निमित्तसे होता है क्योंकि वासनाका जनक कोई कारण नहीं है और इसलिये कारणरहित वासना असंभव है । यदि उसका कारण उक्त प्रकारका कोई पूर्ववर्ती ज्ञान स्वीकार किया जाय तो वह ज्ञान किस कारणसे होता है ? यह विचारणीय है । यदि कहें कि वह अपनी पूर्व वासनासे होता है, तो यह कथन ठीक नहीं है, कारण उसमें अनवस्था आती है । अगर कहा जाय कि ज्ञान और वासनाकी अनादि परम्परा मानते हैं, तो बाह्य पदार्थोंकी सिद्धि फिर कैसे हो सकेगी ? क्योंकि अनादिवासनाके बलसे ही नीलादि प्रत्यय भी उत्पन्न हो जायेंगे । दूसरी बात यह है कि इस तरह नाना विज्ञानसन्तानें भी सिद्ध न हो सकेंगी, क्योंकि द्वितीयादिसन्तानोंका ग्राहक ज्ञान भी अन्य सन्तानके बिना बासनाविशेषसे ही उक्त प्रत्ययको

1 मु स प 'इदमिहेश्वरे' । 2 मु स प प्रतिषु द्वितीयं 'द्रव्यम्' नास्ति । 3 मु स प प्रतिषु 'सकलपदार्थ' । 4 द 'तन्तुषु' नास्ति ।

न्तानान्तरप्रत्ययवत् । नानासन्तानानभ्युपगमे चैकज्ञानसन्तानसिद्धिरपि कुतः स्यात् ? स्वसन्तानाभावेऽपि तद्ग्राहिणः प्रत्ययस्य भावात् । स्वसन्तानस्याप्यनिष्टौ संविद्द्वैतं कुतः साधयेत् ? स्वतः प्रतिभासनादिति चेत्, न, तथावासनाविशेषादेव स्वतः प्रतिभासस्यापि भावात् । शक्यं हि वक्तुं स्वतः प्रतिभासवासनावशादेव स्वतः प्रतिभासः संवेदनस्य न पुनः परमार्थत इति न किञ्चित्पारमार्थिकं संवेदनं सिद्ध्येत् । तथा च 'स्वरूपस्य स्वतो गतिः' इति रिक्ता वाचोयुक्तिः । [1]तदनेन कुतश्चित्किञ्चित्परमार्थतः साधयता दूषयता वा साधनज्ञानं दूषणज्ञानं वाऽभ्रान्तं सालम्बनमभ्युपगन्तव्यम् । तद्वत्सर्वमबाधितं ज्ञानं सालम्बनमिति कथमिहेदमिति प्रत्ययस्याबाधितस्य निरालम्बनता ? येन वासनामात्रहेतुरयं स्यात् । नापि निर्हेतुकः, [2]कादाचित्कत्वात् । ततोऽस्य विशिष्टः पदार्थो हेतुरभ्युपगन्तव्य इति वैशेषिकाः ।

§ १३१. तेऽप्येवं प्रष्टव्याः; कोऽसौ विशिष्टः पदार्थः ? समवायः सम्बन्धमात्रं वा ? न तावत्समवायः, तद्धेतुकत्वे साध्येऽस्येहेदमिति प्रत्ययस्येह कुण्डे दधीत्यादिना निरस्तसमस्तबाध-

उत्पन्न कर देगा, जैसे अन्य स्वप्नसन्तानें वासनाविशेषसे ही उत्पन्न हो जाती हैं । और जब इस प्रकार नाना विज्ञानसन्तानें अस्वीकृत हो जायेंगी तो एकज्ञानसन्तानकी सिद्धि भी कैसे बन सकेगी ? क्योंकि स्वसन्तानके अभावमें भी स्वसन्तानग्राही प्रत्यय निष्पन्न हो जाता है । तात्पर्य यह कि ज्ञानसन्तानको माने बिना भी ज्ञानसन्तानग्राहक प्रत्यय वासनाके बलसे ही समुत्पन्न हो जायगा । और जब एक विज्ञानसन्तान भी अस्वीकृत हो जायगी तो संवेदनाद्वैतकी सिद्धि कैसे होगी ? यदि कहा जाय कि उसका स्वतः ही प्रतिभास होता है तो वह स्वतः प्रतिभास भी बासनाविशेषसे ही हो जाय । हम कह सकते हैं कि 'संवेदनका स्वतः प्रतिभास स्वतः प्रतिभासरूप वासनाके वशसे ही होता है, परमार्थतः नहीं' और इस तरह कोई ज्ञान परमार्थिक सिद्ध नहीं हो सकता । अतएव 'स्वरूपस्य स्वतो गतिः' अर्थात् स्वरूप (ज्ञान) की अपने आप ही प्रतिपत्ति हो जाती है, यह केवल कथनमात्र है, उसका कोई अर्थ नहीं है । इस कारण किसी साधनसे किसी साध्यको यदि वास्तवमें सिद्ध अथवा दूषित करना चाहते हैं तो साधनज्ञान और दूषणज्ञानको अभ्रान्त—भ्रान्तिरहित और सविषय स्वीकार करना चाहिये अर्थात् उन्हें वास्तविक अर्थको विषय करनेवाला मानना चाहिये । उसीप्रकार सभी अबाधित ज्ञानोंको सविषय मानना सर्वथा युक्तियुक्त है । ऐसी दशामें 'इसमें यह है' यह अबाधित प्रत्यय निरालम्बन—निर्विषय कैसे माना जा सकता है ? अर्थात् नहीं माना जासकता और जिससे वह वासनामात्रके निमित्तसे होनेवाला कहा जाय । और न वह प्रत्यय बिना निमित्तके है क्योंकि कादाचित्क है—कभी होता है और कभी नहीं होता, अर्थात् जन्य है और जब वह जन्य है तो उसका कोई विशिष्ट पदार्थ निमित्त अवश्य स्वीकार करना चाहिये ?

§ १३१. जैन—आपसे हम पूछते हैं कि वह विशिष्ट पदार्थ क्या है ? क्या समवाय है अथवा, सम्बन्धसामान्य है ? वह समवाय तो हो नहीं सकता, क्योंकि समवायके निमित्तसे उस प्रत्ययको सिद्ध करनेमें 'इसमें यह है' वह 'इस

1 द 'तदेतेन' । 2 मु 'कदा' ।

केन प्रत्ययेन व्यभिचारित्वात् । तदपीहेदमिति विज्ञानमबाधं भवत्येव । न च समवायहेतुकम्, तस्य संयोगहेतुकत्वात् । सम्बन्धमात्रे तु तन्निबन्धने साध्ये परेषां सिद्धसाधनमेव, स्याद्वादिनां सर्वत्रेहेदंप्रत्ययस्याबाधितस्य सम्बन्धमात्रनिबन्धनत्वेन सिद्धत्वात् ।

§ १३२. स्यान्मतम्—वैशेषिकाणामबाधितेहेदंप्रत्ययाल्लिङ्गात्सामान्यतः सम्बन्धे सिद्धे विशेषेणावयवावयविनोर्गुणगुणिनोः क्रियाक्रियावतोः सामान्यतद्वतोर्विशेषतद्वतोश्च य सम्बन्ध इहेदंप्रत्ययलिङ्गः स समवाय एव भविष्यति लक्षणविशेषसम्भवात् । तथा हि—"अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानामिहेदंप्रत्ययलिङ्गो यः सम्बन्धः स समवायः" [प्रशस्तपा० भा० सम० प्र०] इति प्रशस्तकरः । तत्रेहेदंप्रत्ययलिङ्गः समवाय इत्युच्यमानेऽन्तरालाभावनिबन्धनेन 'इह ग्रामे वृक्षः' इति इहेदंप्रत्ययेन व्यभिचारात्, सम्बन्ध इति वचनम् । सम्बन्धो हि इहेदंप्रत्ययलिङ्गो यः स एव समवाय इष्यते । न चान्तरालाभावो ग्रामवृक्षाणां सम्बन्ध इति न तेन व्यभिचारः । तथापि 'इहाऽऽकाशे शकुनिः' इति इहेदंप्रत्ययेन संयोगसम्बन्धमात्रनिबन्धनेन व्यभिचार इत्या-

---

कुण्डमें दही है' इस अबाधित प्रत्ययके साथ व्यभिचारी है। क्योंकि वह भी 'इसमें यह है' इस प्रकारसे अबाधित है लेकिन वह समवायनिमित्तक नहीं है, संयोग-निमित्तक है। यदि सम्बन्धसामान्यके निमित्तसे उक्त प्रत्ययको सिद्ध करें तो उसमें जैनोंके लिये सिद्धसाधन है। कारण, जैनोंके यहाँ सब जगह अबाधित 'इहेदं' प्रत्ययको सम्बन्ध-सामान्यके निमित्तके माना गया है।

§ १३२ वैशेषिक—हम अबाधित 'इहेदं' प्रत्ययरूप लिङ्गसे सामान्यतः सम्बन्धको सिद्ध करते हैं और उसके सिद्ध हो जानेपर विशेषरूपसे 'अवयव-अवयवि, गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान्, सामान्य-सामान्यवान् और विशेष-विशेषवानमें जो सम्बन्ध है और जो 'इहेदं' प्रत्ययसे जाना जाता है वह समवाय ही होना चाहिए, क्योंकि उसका विशेषलक्षण सम्भव है' इस प्रकार समवायसम्बन्धका साधन करते हैं। उसका खुलासा इस प्रकारसे है—

"जो अयुतसिद्ध हैं—अपृथग्भूत हैं और आधार्य-आधाररूप हैं—आधाराधेयभावसे युक्त हैं उनमें जो सम्बन्ध होता है और जो 'इहेदं' प्रत्ययसे अवगत होता है वह समवाय सम्बन्ध है।" यह प्रशस्तकर अथवा प्रशस्तपादका उनके भाष्यमें प्रतिपादित समवायका लक्षण है। इस लक्षणमें यदि इतना ही कहाजाता कि जो 'इहेदं' प्रत्ययसे अवगत हो वह समवाय है' तो 'इस गाँवमें वृक्ष हैं' इस अन्तरालाभावको लेकर होनेवाले 'इहेदं' प्रत्ययके साथ उसकी अतिव्याप्ति होती है अतः 'सम्बन्ध' यह विशेषण कहा गया है। यथार्थतः 'इहेदं' प्रत्ययसे अवगत होनेवाले सम्बन्धका नाम समवाय है और अन्तरालाभाव ग्राम तथा वृक्षोंका कोई सम्बन्ध नहीं है—कोई भी विवेकी अन्तरालके अभावको सम्बन्ध नहीं मानता और इसलिये 'सम्बन्ध' कहनेसे अन्तरालाभावको लेकर होनेवाले 'इस गाँवमें वृक्ष हैं' इस प्रत्ययके साथ समवायका लक्षण अतिव्याप्त नहीं है। 'सम्बन्ध' विशेषण कहनेपर भी 'इस आकाशमें पक्षी है' इस संयोगनिमित्तक 'इहेदं' प्रत्ययके साथ उक्त समवायलक्षणकी

धाराधेयभूतानामिति निगद्यते । न हि यथाऽवयवावयव्यादीनामाधाराधेयभूतत्वमुभयोः प्रसिद्धं तथा शकुन्याकाशयोरा[1]धाराधार्ययोगात् । आकाशस्य सर्वगतत्वेन शकुनेरुपर्यपि भावादधस्तादिवेति न तत्रेहेदंप्रत्ययेन व्यभिचारः । नन्वाकाशस्यातीन्द्रियत्वात्तत्रा[2]स्मदादीनामिहेदंप्रत्ययस्यासम्भवात् कथं तेन व्यभिचारचोदना साधीयसी ?; इति न मन्तव्यम्; कुतश्चिल्लिङ्गादनुमितेऽप्याकाशे श्रुतिप्रसिद्धे वा[3] कस्यचिदिहेदमिति प्रत्ययाविरोधात् । तत्र भ्रान्तेन वा केषाञ्चिदिहेदमिति प्रत्ययेन व्यभिचारचोदनायाः न्यायप्राप्तत्वात् । तत्परिहारार्थमाधाराधेयभूतानामिति वचनस्योपपत्तेः । नन्वेवमपीह कुण्डे दधीति प्रत्ययेनानेकान्तः[4], तस्य संयोगनिबन्धनत्वेन[5] समवायाहेतुकत्वादिति न शङ्कनीयम्, अयुतसिद्धानामिति प्रतिपादनात् । न हि यथाऽवयवावयव्यादयोऽयुतसिद्धास्तथा दधिकुण्डादयः, तेषां युतसिद्धत्वात् । तर्हि 'अयुतसिद्धानामेव' इति वक्तव्यम्, आराधाधेयभूतानामिति वचनस्याभावेऽपि व्यभिचाराभावात्; इति न चेतसि विधेयम्;

अतिव्याप्ति होती है। अतः 'आधार्याधारभूत' यह विशेषण कहा जाता है। निस्सन्देह जिस प्रकार अवयव-अवयवी आदिमें आधाराधेयभाव वैशेषिकों और जैनोंके प्रसिद्ध है उस प्रकार आकाश तथा पक्षीमें आधाराधेयभाव प्रसिद्ध नहीं है, क्योंकि उनमें आधाराधेयभाव अनुपपन्न है। आकाश सर्वगत (व्यापक) होनेसे वह पक्षीके ऊपर भी नीचेकी तरह विद्यमान है। इसलिये उक्त विशेषण देनेसे आकाशमें होनेवाले 'इहेदं' प्रत्ययके साथ समवायलक्षणकी अतिव्याप्ति नहीं है। यदि कहा जाय कि आकाश तो अतीन्द्रिय है, उसमें हम लोगोंको 'इहेदं' प्रत्यय नहीं हो सकता है और इसलिये उसके साथ अतिव्याप्तिकथन सम्यक् नहीं है, तो यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि किसी लिङ्गसे अनुमित हुए—अनुमानसे जाने गये आकाशमें अथवा, श्रुतिप्रसिद्ध आकाशमें किसीको 'इहेदं' प्रत्यय हो सकता है—उसके होनेमें कोई विरोध नहीं है। अथवा, उसमें भ्रान्तिसे किसीको 'इहेदं' प्रत्यय सम्भव है और उसके साथ अतिव्याप्तिकथन न्यायप्राप्त है—असंगत नहीं है। अतः उसके परिहारार्थ 'आधाराधेयभूत' यह विशेषण कहना सर्वथा उचित है।

शङ्का—'आधाराधेयभूत' विशेषण कहनेपर भी 'इस कुण्डमें दही है' इस प्रत्ययके साथ अतिव्याप्ति है, क्योंकि वह संयोगसम्बन्धहेतुक प्रत्यय है, समवायहेतुक नहीं?

समाधान—उक्त शङ्का नहीं करनी चाहिये, क्योंकि 'अयुतसिद्ध' विशेषण कहा है। स्पष्ट है कि जिस प्रकार अवयव-अवयवी आदिक अयुतसिद्ध हैं उस प्रकार दही-कुण्ड आदिक नहीं हैं, क्योंकि वे युतसिद्ध हैं।

शङ्का—तब 'अयुतसिद्ध' यही विशेषण कहना उचित है, क्योंकि 'आधाराधेयभूत' विशेषणके न कहनेपर भी अतिव्याप्ति नहीं हो सकती है?

---

1 मु स 'रोत्तराधेया'। 2 मु 'त्तदस्मदा'। 3 द 'च'। 4 द 'अनेकान्तः' इति पाठो नास्ति। 5 द 'ने'।

वाच्यवाचकभावेनाकाशाकाशशब्दयोर्व्यभिचारात् । 'इहाऽऽकाशे वाच्ये वाचक आकाशशब्दः' इति इहेदंप्रत्ययलिङ्गस्यायुतसिद्धसम्बन्धस्य वाच्यवाचकभावस्य[1] प्रसिद्धेस्तेन व्यभिचारोपपत्तेराधाराधेयभूतानामिति वचनस्योपपत्तेः । नन्वाधाराधेयभूतानामयुतसिद्धानामपि सम्बन्धस्य विषयविषयिभावस्य सिद्धेः कुतः समवायसिद्धिः ? न ह्यात्मनीच्छादीनां ज्ञानमयुतसिद्धं न भवति । तथाऽहमिति ज्ञानम्[2], आधाराधेयभावस्याप्यत्र भावात् । न चाहमिति प्रत्ययस्यात्मविषयस्यायुतसिद्धस्यात्माधारस्य विषयविषयिभावोऽसिद्ध[3] इति कुतस्तयोः समवाय एव सिद्ध्येत् ?, इति न वक्तव्यम्; आराधधेयभूतानामेवायुतसिद्धानामेवेति चावधारणात् । वाच्यवाचकभावो हि युतसिद्धानामनाधाराधेयभूतानां च प्रतीयते विषयविषयिभाववत् । ततोऽनेनानवधारितविषयेण न व्यभिचारः सम्भाव्यते ।

§ १३३. [4]नन्वेवमयुतसिद्धानामेवेत्यवधारणात् [5]व्यभिचाराभावादाधाराधेयभूतानामिति वचनमनर्थकं स्यात्, आधाराधेयभूतानामेवेत्यवधारणे सत्ययुतसिद्धानामिति वचनवत्[6], विषयविषयिभावस्य वाच्यवाचकभावस्य च युतसिद्धानामप्यानाधार्याधारभूतानामिव सम्भवात्, तेन व्यभिचाराभावात्,

समाधान—यह विचार भी चित्तमें नहीं लाना चाहिये, क्योंकि आकाश और आकाशशब्दमें रह रहे वाच्यवाचकभावके साथ अतिव्याप्ति है। 'इस आकाश वाच्यमें वाचक आकाशशब्द है' यहाँ वाच्य-वाचकभाव है और वह 'इहेदं' प्रत्ययसे अवगत होता है तथा अयुतसिद्ध भी है। अतः उसके साथ अतिव्याप्ति उपपन्न है, इसलिये उसके परिहारार्थ 'आधाराधेयभूत' यह विषेशण देना बिल्कुल ठीक है।

शङ्का—जो आधाराधेयस्वभाव हैं और अयुतसिद्ध हैं उनमें विषय-विषयीभाव सम्बन्ध सिद्ध है, तब समवायकी सिद्धि कैसे हो सकती है ? और यह कहा नहीं जा सकता कि आत्मामें इच्छादिकोंका ज्ञान अयुतसिद्ध नहीं है, क्योंकि वह स्पष्टतः अयुतसिद्ध है। तथा 'मैं हूँ' इस ज्ञानमें आधाराधेयभाव भी मौजूद है। अतएव 'मैं हूँ' इस प्रत्ययमें, जो आत्माविषयक है, अयुतसिद्ध है, आत्मा जिसका आधार है, विषय-विषयीभाव असिद्ध नहीं है। तब उनमें समवाय ही कैसे सिद्ध होगा ? अर्थात् नहीं, उनमें तो विषय-विषयीभाव सम्बन्ध सिद्ध है ?

समाधान—यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि हमने 'आधाराधेयभूतोंके ही' और 'अयुतसिद्धोंके ही' ऐसा अवधारण प्रतिपादन किया है। निश्चय ही वाच्यवाचकभाव युतसिद्धों और आधाराधेयभावरहितोंके भी प्रतीत होता है, जैसे विषयविषयीभाव। अतः इस अनवधारित विषय-विषयीभावके साथ अतिव्याप्ति नहीं है।

§ १३३. शङ्का—यदि ऐसा है तो 'अयुतसिद्धोंके ही' ऐसा अवधारण करनेसे अतिव्याप्तिका अभाव हो जाता है, फिर 'आधाराधेयभूतोंके ही' यह कहना व्यर्थ है। जैसे 'आधाराधेयभूतोंके ही' ऐसा अवधारण होनेपर 'अयुतसिद्धोंके ही' यह वचन व्यर्थ है। क्योंकि विषय-विषयीभाव और वाच्य-वाचकभाव युतसिद्धोंके भी सम्भव हैं, जैसे आधाराधेयभावरहितोंके भी वे सम्भव हैं और इसलिये इनके साथ अतिव्याप्ति नहीं है ?

1 मु 'भावप्रसिद्धेः' । 2 द 'ज्ञानमेव' । 3 द 'भावासिद्ध' । 4 द 'नत्वे' । 5 द 'व्यभिचाराभावात्' इति नास्ति । 6 द 'वचनात्' ।

इति च[1] न मननीयम्; घटाद्येकद्रव्यसमवायिनां रूपरसादीनामयुतसिद्धानामेव परस्परं समवायाभावादेकार्थसमवायेन[2] सम्बन्धेन व्यभिचारात् । न ह्ययं[3] युतसिद्धानामपि सम्भवति विषयविषयिभाववद्वाच्यवाचकभाववद्वा । ततोऽयुतसिद्धानामेवेत्यवधारणेऽपि व्यभिचारनिवृत्त्यर्थमाधार्याधारभूतानामिति वचनम् । तथाऽऽधार्याधारभूतानामेवेति वचनेऽप्याधाराधेयभावेन संयोगविशेषेण [4]सर्वदाऽनाधार्याधारभूतानामसम्भवता व्यभिचारः सम्भाव्यत एव, तन्निवृत्त्यर्थमयुतसिद्धानामेवेति वचनमर्थवदेवेति निरवद्यमयुतसिद्धत्वाधार्याधारभूतत्वलक्षणं संयोगादिभ्यो व्यवच्छेदकं सम्बन्धस्येहेदंप्रत्ययलिङ्गेन व्यवस्थापितस्य समवायस्वभावत्वं साधयत्येव । अतः सम्बन्धमात्रेऽपि साध्ये न सिद्धसाधनम्; इति वैशेषिकाः सञ्चक्षते; तेषामयुतसिद्धानामिति वचनं तावद्विचार्यते ।

[समवायलक्षणगतायुतसिद्धविशेषणस्य विचारः]

§ १३४. किमिदमयुतसिद्धत्वं नाम विशेषणम् ? वैशेषिकशास्त्रापेक्षया लोकापेक्षया वा स्यात् ? उभयथाऽपि न साध्वित्याह—

सत्यामयुतसिद्धौ चेन्नेदं साधुविशेषणम् ।
शास्त्रीयायुतसिद्धत्वविरहात्समवायिनोः ॥४३॥

समाधान—यह मानना भी ठीक नहीं, कारण, घटादिक एक द्रव्यमें समवाय सम्बन्धसे रहनेवाले रूप-रसादिकोंके, जो कि अयुतसिद्ध ही हैं, आपसमें समवाय सम्बन्ध नहीं है, किन्तु एकार्थसमवायसम्बन्ध है, उसके साथ अतिव्याप्ति है। और यह नहीं, कि वह एकार्थसमवाय विषय-विषयीभाव और वाच्य-वाचकभावकी तरह युतसिद्धोंके भी होता हो। अतः 'अयुतसिद्धोंके ही' ऐसा अवधारण कहनेपर भी उसके साथ होनेवाले व्यभिचार (अतिव्याप्ति) के निवारणार्थ 'आधार्याधारभूत' यह वचन अवश्य ही कहना चाहिये। इसी प्रकार 'आधार्याधारभूतोंके ही' यह अवधारण प्रतिपादन करनेपर भी आधाराधेयभावरूप संयोगविशेषके साथ, जो कभी भी आधाराधेयभावरहितोंके सम्भव नहीं है, अतिव्याप्ति सम्भव है, इसलिये उसकी निवृत्तिके लिये 'अयुतसिद्धोंके ही' यह वचन कहना सर्वथा सार्थक है। इस प्रकार यह निर्दोष 'अयुतसिद्धपना और 'आधाराधेयभूतपनारूप' लक्षण 'इहेदं' प्रत्ययसे सिद्ध हुए सम्बन्धके समवायस्वभावताको सिद्ध करता है। तात्पर्य यह कि उपर्युक्त निर्दोष लक्षणसे समवायसम्बन्धकी सिद्धि होती है। अतः सम्बन्धसामान्यको भी साध्य बनानेमें सिद्धसाधन नहीं है, इस प्रकार हम वैशेषिकोंका मन्तव्य है ?

§ १३४. जैन—सबसे पहले हम आपके 'अयुतसिद्ध' विशेषणपर विचार करते हैं। बतलाइये, यह 'अयुतसिद्धत्व' विशेषण क्या है ? वैशेषिकशास्त्रमें जो 'अयुतसिद्धत्व' प्रतिपादित किया गया है वह 'अयुतसिद्धत्व' यहाँ इष्ट है अथवा, लोकमें जो 'अयुतसिद्धत्व' प्रसिद्ध है वह यहाँ मान्य है ? दोनों ही पक्ष निर्दोष नहीं हैं अर्थात् दोनों ही तरहसे दूषण आते हैं, इस बातको बतलाते हैं—

'यदि कहा जाय कि 'अयुतसिद्धि' विशेषण कहनेसे उक्त व्यभिचार दोष नहीं

1 द 'वचनं माननीयं' । 2 द 'स्वसत्वेन' । 3 द 'न ह्ययुत' । 4 मु 'सर्वथा' ।

द्रव्यं स्वावयवाधारं गुणो द्रव्याश्रयो यतः ।
लौकिक्ययुतसिद्धिस्तु भवेद् दुग्धाम्भसोरपि ॥४४॥

§ १३५. इह तन्तुषु पट इत्यादिरिहेदंप्रत्ययः समवायसम्बन्धनिबन्धन एव, निर्बाधत्वे सति अयुतसिद्धेहेदंप्रत्ययत्वात् । यस्तु न समवायसम्बन्धनिबन्धनः स नैवम्, यथा 'इह समवायिषु समवायः' इति बाध्यमानेहेदंप्रत्ययः, 'इह कुण्डे दधि' इति युतसिद्धेहेदंप्रत्ययश्च । निर्बाधत्वे सत्ययुतसिद्धेहेदंप्रत्ययश्चायं 'इह तन्तुषु पटः' इत्यादिः । तस्मात्समवायसम्बन्धनिबन्धन इति केवलव्यतिरेकी हेतुः असिद्धत्वादिदोषरहितत्वात्स्वसाध्याविनाभावी समवायसम्बन्धं साधयतीति परैरभिधीयते सत्यामयुतसिद्धाविति वचनसामर्थ्यात् । तत्रेदमयुतसिद्धत्वं यदि शास्त्रीयं हेतोर्विशेषणं तदा न साधु प्रतिभासते, समवायिनोरवयवावयविनोर्गुणगुणिनोः क्रियाक्रियावतोः सामान्यतद्वतोर्विशेषतद्वतोश्च शास्त्रीयस्यायुतसिद्धत्वस्य विरहात् । वैशेषिकशास्त्रे हि प्रसिद्धं "अपृथगाश्रयवृत्तित्वमयुतसिद्धत्वम्" [ ] । तच्चेह नास्त्येव, यतः कारणद्रव्यं[1] तन्तुलक्षणं

है तो वह विशेषण सम्यक् नहीं है, क्योंकि अवयव-अवयवी आदि समवायिओंके शास्त्रीय (वैशेषिकशास्त्रमें प्रतिपादित) अयुतसिद्धि नहीं है। कारण, द्रव्य (गुणी) तो अपने अवयवोंमें रहता है और गुण द्रव्यमें रहता है, इस तरह दोनों भिन्न भिन्न आश्रयमें रहते हैं—दोनोंका एक आश्रय नहीं है और इसलिये उनमें शास्त्रीय अयुतसिद्धि नहीं है। तथा लौकिकी—लोकप्रसिद्ध अयुतसिद्धि दूध और पानीमें भी पायी जाती है।'

§ १३५. वैशेषिक—'इन तन्तुओंमें वस्त्र है' इत्यादि 'इहेदं' प्रत्यय समवाय-सम्बन्धके निमित्तसे ही होता है, क्योंकि वह निर्बाध अयुतसिद्ध 'इहेदं' प्रत्यय है, जो समवायसम्बन्धके निमित्तसे नहीं होता वह निर्बाध अयुतसिद्ध 'इहेदं' प्रत्यय नहीं है, जैसे 'इन समवायिओंमें समवाय है' यह बाधित होनेवाला प्रत्यय और 'इस कुण्डमें दही है' यह युतसिद्ध 'इहेदं' प्रत्यय। और निर्बाध अयुतसिद्ध 'इहेदं' प्रत्यय 'इन तन्तुओंमें वस्त्र है' यह है। इस कारण वह समवायसम्बन्धके निमित्तसे होता है, यह केवलव्यतिरेकी हेतु, जो असिद्धतादिदोषरहित होनेसे अपने साध्यका अविनाभावी है, समवायसम्बन्धरूप साध्यको सिद्ध करता है, यह हम 'अयुतसिद्धि' विशेषणके सामर्थ्यसे प्रतिपादन करते हैं ?

जैन—आप यह बतलायें कि हेतुमें जो 'अयुतसिद्धत्व' विशेषण दिया गया है वह यदि शास्त्रीय—वैशेषिक शास्त्रमें प्रतिपादित विशेषण है तो वह सम्यक् नहीं है, क्योंकि अवयव-अवयवी, गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान्, सामान्य-सामान्यवान् और विशेष-विशेषवानरूप समवायिओंमें शास्त्रीय अयुतसिद्धि नहीं है। वैशेषिकशास्त्रमें "अपृथक् आश्रयमें रहनेको अयुतसिद्धि" [ ] कहा गया है। अर्थात् जिन दो पदार्थोंकी अभिन्न (एक) आश्रयमें वृत्ति है उनमें अयुतसिद्धि बतलाई गई है।

1 मु 'कारणाद्द्रव्यं'।

स्वावयवांशुषु[1] वर्त्तते, कार्यद्रव्यं च पटलक्षणं स्वावयवेषु तन्तुषु वर्त्तत इति स्वावयवाधारमित्यनेनावयवावयविनोः पृथगाश्रयवृत्तित्वसिद्धेरपृथगाश्रयवृत्तित्वमसदेवेति प्रतिपादितम् । यतश्च गुणः कार्यद्रव्याश्रयो रूपादिः, कार्यद्रव्यं तु स्वावयवाधारं प्रतीयते, तेन गुणगुणिनोरपृथगाश्रयवृत्तित्वमसम्भाव्यमानं निवेदितम् । एतेन क्रियायाः कार्यद्रव्ये[2] वर्त्तनात्कार्यद्रव्यस्य च स्वावयवेषु क्रियाक्रियावतोरपृथगाश्रयवृत्तित्वाभावः कथितः । तथा सामान्यस्य द्रव्यत्वादेर्द्रव्यादिषु [3]वृत्तेर्द्रव्यादीनां च स्वाश्रयेषु सामान्यतद्वतोः पृथगाश्रयवृत्तित्वं ख्यापितम् । तथैवापरविशेषस्य कार्यद्रव्येषु प्रवृत्तेः[4] कार्यद्रव्याणां च स्वावयवेषु विशेषतद्वतोरपृथगाश्रयवृत्तित्वं निरस्तं वेदितव्यम् । ततो न शास्त्रीयायुतसिद्धिः समवायिनोरस्ति । या तु लौकिकी लोकप्रसिद्धैकभाजनवृत्तिः सा दुग्धाम्भसोरपि युतसिद्धयोरस्तीति तयाऽपि नायुतसिद्धत्वं[5] समवायिनोः साधीय[6] इति प्रतिपत्तव्यम् ।

पृथगाश्रयवृत्तित्वं युतसिद्धिर्न चानयोः ।
साऽस्तीशस्य विभुत्वेन परद्रव्याश्रितिच्युतेः ॥४५॥

सो वह अयुतसिद्धि इन अवयव-अवयवी, गुण-गुणी आदिमें नहीं पायी जाती, कारण, तन्तुरूप कारणद्रव्य अपने अवयवरूप अंशोंमें रहता है और पटरूप कार्यद्रव्य अपने अवयवरूप तन्तुओंमें रहता है, इस प्रकार 'स्वावयवाधारम्' इस वाक्यके द्वारा—अवयव और अवयवीमें पृथगाश्रयवृत्तिता–भिन्न आश्रयमें रहना सिद्ध होता है—अपृथगाश्रयवृत्तिता (अभिन्न आश्रयमें रहना) का उनमें अभाव है—यह प्रतिपादन समझना चाहिये। और रूपादिक गुण कार्यद्रव्यमें रहते हैं और कार्यद्रव्य अपने अवयवोंमें रहता है, इस तरह उक्त वाक्यके द्वारा गुण और गुणीमें भी अपृथगाश्रयवृत्तिताका अभाव बतला दिया है। इसी विवेचनसे क्रिया कार्यद्रव्यमें और कार्यद्रव्य अपने अवयवोंमें रहता है. और इस तरह क्रिया-क्रियावान्के भी अपृथगाश्रयवृत्तिताका अभाव कथित हो जाता है। तथा द्रव्यत्वादिरूप सामान्य द्रव्यादिकोंमें रहता है और द्रव्यादिक अपने आश्रयोंमें रहते हैं, इस प्रकार सामान्य और सामान्यवानोंमें पृथगाश्रयवृत्तिता कही गई है । एवं विशेष कार्यद्रव्योंमें और कार्यद्रव्य अपने अवयवोंमें रहते हैं, इस तरह विशेष और विशेषवान्में अपृथगाश्रयवृत्तिताका निराकरण समझना चाहिये। अतः स्पष्ट है कि समवायिओंमें शास्त्रीय अयुतसिद्धि नहीं है । और जो लौकिकी—लोकप्रसिद्ध—एक पात्रमें दो वस्तुओंका रहनारूप अयुतसिद्धि है वह दूध और पानीमें भी मौजूद है लेकिन उनमें समवाय नहीं है—संयोग है और इसलिये उसके द्वारा भी समवायिओंमें 'अयुतसिद्धत्व' (अयुतसिद्धपना) सिद्ध नहीं होता।

'पृथक्—भिन्न आश्रयमें रहना युतसिद्धि है, सो वह युतसिद्धि ईश्वर और ईश्वरज्ञानमें नहीं है, क्योंकि ईश्वर विभु (व्यापक) है, इसलिये वह दूसरे द्रव्यमें

1 मु 'शेषु'। 2 मु 'कार्यद्रव्यवर्त्तना'। 3 द 'प्रवृत्ते:'। 4 द 'वृत्तिः'। 5 मु 'सत्या', स 'सत्यां' अधिकः पाठः। 6 द 'साधीयते'।

ज्ञानस्यापीश्वरादन्यद्रव्यवृत्तित्वहानितः ।
इति येऽपि समादध्युस्तांश्च पर्यनुयुञ्जमहे ॥४६॥
विभुद्रव्यविशेषाणामन्याश्रयविवेकतः ।
युतसिद्धिः कथं नु स्यादेकद्रव्यगुणादिषु ॥४७॥
समवायः प्रसज्येताऽयुतसिद्धौ परस्परम् ।
तेषां तद्द्वितयाऽसत्वे स्याद्व्याघातो दुरुत्तरः ॥४८॥

§ १३६. ननु च पृथगाश्रयवृत्तित्वं युतसिद्धिः, "पृथगाश्रयाश्रयित्वं युतसिद्धिः" [ ] इति वचनात् । 'पृथगाश्रय[1]समवायो युतसिद्धिः' इति वदतां समवायस्य विवादाध्यासितत्वात्तल्लक्षणासिद्धिप्रसङ्गात् । लक्षणस्याकारकत्वेन ज्ञापकत्वेऽपि तेन सिद्धेन भावितव्यम्, असिद्धस्य विवादाध्यासितस्य सन्दिग्धस्य[2] वा तल्लक्षणत्वायोगात् । सिद्धं हि कस्यचिद्भेदकं[3] लक्षणमुपपद्यते नान्यथेति लक्ष्यलक्षणभावविदो विभावयन्ति । तच्च[4] युतसिद्धत्वमीश्वरज्ञानयोर्नास्त्येव, महेश्वरस्य विभुत्वान्नित्यत्वाच्चान्यद्रव्यवृत्तित्वाभावान्महेश्वरादन्यत्र तद्विज्ञानस्यावृत्तेः[1] पृथगाश्रयवृत्तित्वाभावात् । कुण्डस्य हि कुण्डावयवेषु वृत्तिर्दध्नश्च दध्यवयवेष्विति कुण्डावयवदध्यवयवाख्यौ पृथग्भूतावाश्रयौ तयोश्च कुण्डस्य दध्नश्च वृत्तिरिति पृथगाश्रयवृत्तित्वं तयोरभिधीयते । न चैवंविधं पृथगाश्रयाश्रयित्वं समवायिनोः सम्भवति, तन्तूनां स्वावयवेष्वंशुषु यथा वृत्तिर्न तथा पटस्य तन्तुव्यतिरिक्ते क्वचिदाश्रये । न ह्यत्र चत्वारोऽर्थाः प्रतीयन्ते, द्वावाश्रयौ पृथग्भूतौ द्वौ चाश्रयिणाविति, तन्तोरेव[2] स्वावयवापेक्षयाऽऽश्रयित्वात्पटापेक्षया[3]चाश्रयत्वात् त्रयाणामेवार्थानां प्रसिद्धेः पृथगाश्रयाश्रयित्वस्य युतसिद्धिलक्षणस्याभावादयुतसिद्धत्वं शास्त्रीयं समवायिनोः सिद्धमेव । ततोऽयुतसिद्धत्वविशेषणं साध्वेवासिद्धत्वाभावात् । लौकिक्ययुतसिद्धत्वं तु प्रतीतिबाधितं नाभ्युपगम्यत एव । ततः सविशेषणाद्धेतोः समवायसिद्धिः, इति येऽपि समादधते विदग्धवैशेषिकास्तांश्च पर्यनुयुञ्जमहे ।

§ १३७. विभुद्रव्यविशेषाणामात्माकाशादीनां कथं नु[4] युतसिद्धिः परिकल्प्यते[5] भवद्भिः, तेषामन्याश्रयविरहात् पृथगाश्रयाश्रयित्वासम्भवात् । नित्यानां च पृथग्गतिमत्वं युतसिद्धिरित्यपि न विभु-

---

नहीं रहता। और उसका ज्ञान भी उससे भिन्न दूसरे द्रव्यमें नहीं पाया जाता। अतः इनमें युतसिद्धि नहीं है—अयुतसिद्धि है, इस प्रकार जो (वैशेषिक) समाधान करते हैं—अयुतसिद्धिके उपर्युक्त लक्षणमें आये दोषका निराकरण करते हैं उनसे भी हम पूछते हैं कि विभुद्रव्य अन्य द्रव्योंमें नहीं रहते हैं, अतः उनके युतसिद्धि कैसे बन सकेगी ? अर्थात् नहीं बन सकती है—अयुतसिद्धि ही उनके उक्त प्रकारसे सिद्ध होती है और इसलिये उनमें तथा एकद्रव्यमें रहनेवाले रूपरसादि गुणोंमें अयुतसिद्धि प्राप्त होनेपर परस्परमें समवायसम्बन्ध प्रसक्त होता है। यदि उनमें अयुतसिद्धि न मानें तो युतसिद्धि और अयुतसिद्धि दोनोंका अभाव होनेपर जो व्याघात—विरोध आता है वह दुर्निवार है— उसका परिहार नहीं हो सकता।

§ १३६. वैशेषिक—पृथक् आश्रयमें रहना युतसिद्धि है। कहा भी है—"भिन्न आश्रयमें रहना युतसिद्धि है।" जो पृथगाश्रयसमवायको युतसिद्धि कहते हैं उनके यहाँ समवाय विचारकोटिमें स्थित होनेके कारण समवायलक्षणकी असिद्धिका प्रसङ्ग आता है। तात्पर्य यह कि समवायका जो लक्षण है वह अयुतसिद्धिघटित है और अयुतसिद्धिका लक्षण—(अपृथगाश्रयसमवाय) समवायगर्भित है और इसलिये परस्पराश्रय होनेसे किसी एककी भी सिद्धि नहीं हो सकेगी। अतः युतसिद्धिका लक्षण समवायघटित नहीं होना चाहिये। दूसरे, लक्षण कारक न होकर ज्ञापक होता है और इसलिये उसे सिद्ध होना चाहिये। जो असिद्ध, विचारकोटिमें स्थित अथवा सन्दिग्ध होता है वह लक्षण सम्यक् नहीं होता। वास्तवमें जो लक्षण सिद्ध होता है वही किसीका व्यावर्त्तक बनता है, अन्य नहीं, ऐसा लक्ष्यलक्षणभावके जानकार प्रतिपादन करते हैं। सो वह युतसिद्धि ईश्वर और ईश्वरज्ञानमें नहीं है, क्योंकि महेश्वर विभु और नित्य है अतः उसकी दूसरे द्रव्यमें वृत्ति नहीं हो सकती है और ईश्वरको छोड़कर अन्यत्र दूसरे द्रव्यमें उसका ज्ञान भी नहीं रहता है। अतः उनमें पृथक् आश्रयमें रहनारूप युतसिद्धि नहीं है। प्रकट है कि कुण्डकी अपने कुण्डावयवोंमें और दहीकी अपने दही-अवयवोंमें वृत्ति है और इसलिये उनके कुण्डावयव तथा दही-अवयव नामके दो भिन्नभूत आश्रय (आधार) हैं और उनमें कुण्ड तथा दहीकी वृत्ति है, इस प्रकार उनके पृथक् आश्रयमें रहना कहा जाता है। किन्तु इस प्रकारका पृथक् आश्रयमें रहना समवायिओंमें सम्भव नहीं है, जिस प्रकार तन्तुओंकी अपने अवयव-अंशोंमें वृत्ति है उस प्रकार पटकी तन्तुओंसे अलग दूसरी जगह वृत्ति नहीं है। निश्चय ही यहाँ चार चीजें प्रतीत नहीं होतीं—दो पृथक्भूत आश्रय और दो आश्रयी। किन्तु तन्तु ही अपने अवयवोंकी अपेक्षा आश्रयी और पटकी अपेक्षा आश्रय है और इस तरह तीन ही चीजें प्रसिद्ध हैं। अतः पृथक् आश्रयमें रहनारूप जो युतसिद्धिका लक्षण है वह इनमें न पाया जानेसे शास्त्रीय अयुतसिद्धि (युतसिद्ध्यभावरूप) समवायिओंमें सिद्ध होती है। इसलिये 'अयुतसिद्धत्व' विशेषण सम्यक् ही है क्योंकि वह असिद्ध नहीं है। लेकिन लौकिकी अयुतसिद्धि तो अनुभवसे विरुद्ध है और इसलिये उसे स्वीकार नहीं करते हैं। अतः विशेषणसहित हेतुसे समवायकी सिद्धि होती है, ऐसा कुछ वैशेषिकोंका कहना है ?

§ १३७. जैन—पर उनका यह कथन समीचीन नहीं है, क्योंकि इस तरह आत्मा तथा आकाशादि विभुद्रव्यविशेषोंके युतसिद्धि कैसे बन सकेगी ? कारण, वे दूसरे आश्रयमें नहीं रहते हैं और इसलिये पृथक् आश्रयमें रहनारूप युतसिद्धि उनमें सम्भव नहीं

---

1 द 'श्रयः'। 2 मु 'ग्धत्वात् तल्लक्षण'। 3 द 'किञ्चिद्भेदकं'। 4 मु 'तत्र'।

1 मु स 'तद्विज्ञानत्वस्याप्रवृत्तेः'। 2 द 'तयोरेव'। 3 मु स 'वा'। 4 मु स 'तु'। 5 मु द स 'परिकल्पते'।

द्रव्येषु सम्भवति। तद्धि पृथग्गतिमत्त्वं द्विधा अभिधीयते कैश्चित्—अन्यतरपृथग्गतिमत्त्वमुभयपृथग्गतिमत्त्वं चेति। तत्र परमाणुविभुद्रव्ययोरन्यतरपृथग्गतिमत्त्वम्, परमाणोरेव गतिमत्त्वात्, विभुद्रव्यस्य तु निःक्रियत्वेन गतिमत्त्वाभावात्। परमाणूनां तु परस्परमुभयपृथग्गतिमत्त्वम्, उभयोरपि परमाण्वोः पृथक्पृथग्गतिमत्त्वसम्भवात्। न चैतद् द्वितयमपि परस्परं विभुद्रव्यविशेषाणां [1]सम्भवति तथैकद्रव्याश्रयाणां गुणकर्मसामान्यानां च परस्परं पृथगाश्रयवृत्तेरभावात् युतसिद्धिः कथं नु स्यात्? इति वितर्कयन्तु भवन्तः। तेषां युतसिद्ध्यभावे चायुतसिद्धौ सत्यां समवायोऽन्योन्यं प्रसज्येत। स च नेष्टः, तेषामाश्रयाश्रयिभावाभावात्।

§ १३८. [2]अत्र केचित् विभुद्रव्यविशेषाणामन्योन्यं नित्यसंयोगमाचक्षते[3], तस्य कुतश्चदजातत्वात्। न ह्ययमन्यतरकर्मजः, यथा स्थाणोः श्येनेन विभूनां च मूर्तैः। नाऽप्युभयकर्मजः, यथा मेषयोर्मल्लयोर्वा। न च संयोगजः, यथा द्वितन्तुकवीरणयोः शरीराकाशयोर्वा। स्वावयवसंयोगपूर्वको ह्यवयविनः केनचि[4]त्संयोगः संयोगजः प्रसिद्धः। न चाकाशादीनामवयवाः सन्ति, निरवयवत्वात्। ततो न तत्संयोगपूर्वकः परस्परं संयोगो यतः संयोगजः स्यात्। प्राप्तिस्तु तेषां सर्वदाऽस्तीति तल्लक्षणः[1] संयोगः अज एवाभ्युपगन्तव्यः। तत्सिद्धेश्च युतसिद्धिस्तेषां प्रतिज्ञातव्या, युतसिद्धानामेव संयोगस्य निश्चयात्। न चैवं ये ये युतसिद्धास्तेषां सह्यहिमवदादीनामपि संयोगः प्रसज्यते, तथाव्याप्तेरभावात्। संयोगेन हि युतसिद्धत्वं व्याप्तं न युतसिद्धत्वेन संयोगः। ततो यत्र यत्र संयोगस्तेषां तत्र तत्र युतसिद्धिरित्यनुमीयते, कुण्डबदरादिवत्। एवं चैकद्रव्याश्रयाणां गुणादीनां संयोगस्यासम्भवान्न युतसिद्धिः, तस्य गुणत्वेन द्रव्याश्रयत्वात् तदभावान्न युतसिद्धिः। नाऽप्ययुतसिद्धिरस्तीति समवायः प्राप्नुयात्, तस्येहेदंप्रत्ययलिङ्गत्वादाधार्याधारभूतपदार्थविषयत्वाच्च। न चैते परस्परमाधार्याधारभूताः, स्वाश्रयेण द्रव्येण सहाधार्याधारभावात्। न चेहेदमिति प्रत्ययस्तत्रा[2]बाधितः सम्भवति यल्लिङ्गः समवायो व्यवस्थाप्यते। न हीह रसे रूपं कर्मेति चाबाधितः प्रत्ययोऽस्ति। नाऽपीह सामान्ये कर्म गुणो वेति न ततो[3] समवायः स्यात्। न च[4] यत्र यत्रायुतसिद्धिस्तत्र तत्र समवाय इति व्याप्तिरस्ति, यत्र यत्र समवायस्तत्र तत्रायुतसिद्धिरिति व्याप्तेः सम्प्रत्ययात्, इति सर्वं निरवद्यं परोक्तदूषणानवकाशात्, इति।

है। और जो 'नित्योंके पृथक्गतिमत्तारूप युतसिद्धि' कही गई है वह भी विभु-(व्यापक) द्रव्योंमें सम्भव नहीं है, क्योंकि वह पृथक् गतिमत्ता दो प्रकारकी है—एक तो दोमेंसे एककी पृथक् गति और दूसरी दोनोंकी पृथक् गति। इनमें पहली परमाणु तथा विभुद्रव्योंमें पायी जाती है, क्योंकि विभुद्रव्य तो निष्क्रिय होनेसे स्थिर रहते हैं और परमाणु गमनकर उनसे संयोग करते हैं। दूसरी, परमाणु-परमाणुमें पायी जाती है, क्योंकि दोनों ही परमाणु जुदे-जुदे गमन कर सकते हैं। सो यह दोनों ही प्रकारकी पृथक् गतिमत्ता विभुद्रव्यविशेषोंके परस्परमें सम्भव नहीं है। इसी प्रकार एकद्रव्यके आश्रय रहनेवाले गुण, कर्म और सामान्य इनके पृथक् आश्रयमें रहना नहीं है और इसलिये इनके युतसिद्धि कैसे बनेगी? यह विचारिये। और जब इन सबके युतसिद्धि नहीं बनेगी तो अयुतसिद्धि प्राप्त होगी और उसके प्राप्त होनेपर इनमें परस्परमें समवायका प्रसंग आयेगा। लेकिन वह आपको इष्ट नहीं है, क्योंकि विभुद्रव्योंमें और एकद्रव्यवृत्ति गुणादिकोंमें आश्रय-आश्रयीभाव नहीं है।

§ १३८. वैशेषिक—बात यह है कि हम विभुद्रव्यविशेषोंके परस्पर नित्य संयोग मानते हैं, क्योंकि वह किसीसे उत्पन्न नहीं होता। न तो वह अन्यतरकर्मजन्य है, जैसे ठूंठका श्येन पक्षीके साथ और विभुद्रव्योंका मूर्त्तद्रव्योंके साथ है। तथा न उभयकर्मजन्य है, जैसे दो भेसाओंका अथवा दो पहलवानोंका होता है। और न संयोगजन्य है, जैसे दो तन्तुजन्य दो वीरणोंका अथवा शरीर और आकाशका होता है। जो अपने अवयवोंके संयोगपूर्वक अवयवीका किसी दूसरे द्रव्यके साथ संयोग होता है वह संयोगजसंयोग कहलाता है। सो आकाशादिक विभुद्रव्योंके अवयव नहीं हैं, क्योंकि वे निरवयव हैं। अतः उनके अवयवसंयोगपूर्वक परस्परमें संयोग नहीं है, जिससे उनके संयोगजसंयोग कहा जाता है। किन्तु प्राप्ति उनकी हमेशा है, इसलिये प्राप्तिलक्षण संयोग नित्य ही स्वीकार करना चाहिये। और जब वह (संयोग) सिद्ध हो जाता तो युतसिद्धि मान लेना चाहिये, क्योंकि युतसिद्धोंके ही निश्चयसे संयोग होता है। इससे यह अर्थ न लगाना चाहिये कि जो जो युतसिद्ध हैं उन सबके—सह्य और हिमवान् आदिकोंके भी—संयोग है, क्योंकि वैसी व्याप्ति (अविनाभाव) नहीं है। वास्तवमें संयोगके साथ युतसिद्धिकी व्याप्ति है, युतसिद्धिके साथ संयोगकी नहीं। अतः इस प्रकारसे अनुमान होना चाहिये कि 'जहाँ जहाँ सयोग होता है वहाँ वहाँ उनके युतसिद्धि होती है'। जैसे कुण्ड और बेर आदिकोंमें संयोगपूर्वक युतसिद्धि पायी जाती है। इसी तरह एकद्रव्यमें रहनेवाले गुणादिकोंमें संयोग न होनेसे युतसिद्धि नहीं है। कारण, संयोग गुण है और गुण द्रव्यके ही आश्रय रहता है। अतः उनके संयोगका अभाव होनेसे युतसिद्धि नहीं है। तथा अयुतसिद्धि भी नहीं है, जिससे समवाय प्राप्त हो, क्योंकि समवाय 'इहेदं' प्रत्ययसे सिद्ध होता है और आधाराधेयभूत पदार्थोंको विषय करता है। किन्तु ये एकद्रव्यवृत्ति गुणकर्मादि परस्परमें आधाराधेयभूत नहीं हैं। हाँ, अपने आश्रयभूत द्रव्यके साथ उनका आधाराधेयभाव है। तथा न उनमें 'इहेदं प्रत्यय' भी अबाधित (बाधारहित) सम्भव है जिससे कि उस प्रत्ययसे वहाँ समवाय प्रसक्त हो। स्पष्ट है कि 'इस रसमें रूप है अथवा कर्म है' यह प्रत्यय अबाधित नहीं है और न 'इस सामान्यमें कर्म है अथवा गुण है' यह प्रत्यय निर्बाध है। अतएव इस प्रत्ययसे, जो कि बाधित है, समवाय प्रसक्त नहीं हो सकता है। दूसरी बात यह है कि 'जहाँ जहाँ अयुतसिद्धि है वहाँ वहाँ समवाय है' ऐसी व्याप्ति नहीं है, किन्तु 'जहाँ जहाँ समवाय है वहाँ वहाँ अयुतसिद्धि है' इस प्रकारकी व्याप्ति निर्णीत होती है। इसलिये हमारा उपर्युक्त समस्त कथन निर्दोष है, उसमें आपके द्वारा कहे गये कोई भी दूषण नहीं आते हैं?

1 द 'सम्भवति तथैकद्रव्याश्रयाणां' इति पाठो नास्ति। 2 द स 'अत्रैके विभु'। 3 मु 'मासंचक्षते' इति। 4 मु 'चित्संयोगः'। स 'चित्संयोगजः'।

1 मु द 'क्षणसंयोगः'। 2 द 'तथा'। 3 द 'ततोऽपि'। 4 मु स 'न हि'।

§ १३९. त एवं वदन्तः शङ्करादयोऽपि पर्यनुयोज्याः; कथं पृथगाश्रयाश्रयित्वं युतसिद्धिः, नित्यानां च पृथग्गतिमत्त्वमिति युतसिद्धेर्लक्षणद्वयमव्यापि न स्यात् ? तस्य विभुद्रव्येष्वजसंयोगेनानुमितायां युतसिद्धावभावात् ।

§ १४०. यदि पुनरेतल्लक्षणद्वयव्यतिक्रमेण संयोगहेतुर्युतसिद्धिरिति लक्षणान्तरमुररीक्रियते, तदा कुण्डवदरादिषु परमाण्वाकाशादिषु परमाणुष्वात्ममनस्सु विभुद्रव्येषु च परस्परं युतसिद्धेर्भावाल्लक्षणस्याव्याप्त्यतिव्याप्त्यसम्भवदोषपरिहारेऽपि कर्मापि[1] युतसिद्धिं प्राप्नोति, तस्यापि संयोगहेतुत्वाददृष्टेश्वरकालादेरिवेति दुःशक्याऽतिव्याप्तिः परिहर्तुम् । संयोगस्यैव हेतुरित्यवधारणाददोषोऽयम्, इति चेत्, न; एवमपि हिमवद्विन्ध्यादीनां युतसिद्धेः संयोगाहेतोरपि प्रसिद्धे[2]र्लक्षणस्याव्याप्तिप्रसङ्गात् । हेतुरेव संयोगस्येत्यवधारणादयमपि न दोष इति चेत्, न; एवमपि

§ १३९. जैन—इस प्रकारसे कथन करनेवाले शङ्कर आदिकोंसे भी हम पूछते हैं कि उक्त प्रकार कथन करनेपर 'पृथक् आश्रयमें रहनारूप' और 'नित्योंकी पृथक् गतिमत्तारूप' ये युतसिद्धिके दोनों लक्षण अव्याप्त क्यों नहीं होंगे ? अर्थात् दोनों ही लक्षण अव्याप्त हैं, क्योंकि विभुद्रव्योंमें जो नित्यसंयोगके द्वारा युतसिद्धि अनुमानित की गई है उसमें उक्त दोनों ही लक्षण नहीं हैं। न तो विभुद्रव्य पृथक् आश्रयमें रहते हैं और न पृथग्गतिमान् हैं। अतः युतसिद्धिके उक्त दोनों लक्षण विभुद्रव्योंमें अव्याप्त (अव्याप्तिदोषयुक्त) हैं।

§ १४०. वैशेषिक—हम युतसिद्धिके इन दोनों लक्षणोंके अलावा 'संयोगका जो कारण है वह युतसिद्धि है, यह युतसिद्धिका अन्य तीसरा लक्षण मानते हैं, अतः उपर्युक्त दोष नहीं है ?

जैन—आपका यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि कुण्ड तथा बेर आदिकोंमें, परमाणु तथा आकाशादिकोंमें, परमाणु-परमाणुओंमें, आत्मा तथा मनोंमें और विभुद्रव्योंमें परस्पर युतसिद्धि होनेसे इनमें युतसिद्धिलक्षणकी अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव दोषोंका परिहार होजानेपर भी कर्म भी युतसिद्धिको प्राप्त होता है। कारण, वह भी अदृष्ट, ईश्वर और कालादिककी तरह संयोगका कारण होता है और इसलिये कर्ममें उक्त युतसिद्धिलक्षणकी अतिव्याप्तिका परिहार दुःशक्य है।

वैशेषिक—'संयोगका ही जो कारण है वह युतसिद्धि है' इस प्रकार अवधारण कर देनेसे उक्त अतिव्याप्ति नहीं है ?

जैन—यह कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि इस प्रकारसे भी हिमवान् और विन्ध्याचल आदिकोंमें संयोगका कारण न होनेवाली युतसिद्धि प्रसिद्ध होनेसे उनमें युतसिद्धिका उक्त लक्षण अव्याप्त होता है।

वैशेषिक—'जो संयोगका कारण ही है वह युतसिद्धि है' इस प्रकार अवधारण करनेसे यह भी दोष (अव्याप्ति) नहीं है ?

जैन—यह मान्यता भी आपकी ठीक नहीं है, क्योंकि इस प्रकारसे भी संयोगका कारण ही होनेवाले कर्मके भी युतसिद्धिका प्रसङ्ग आता है। तात्पर्य यह कि कर्म संयोग-

1 द 'कर्म'। 2 द 'द्धेतल्लक्षणस्याव्याप्त्या-'।

संयोगहेतोः[1] [कर्मणोऽपि] युतसिद्धिप्रसङ्गात् । संयोगस्यैव हेतुर्युतसिद्धिरित्यवधारणेऽपि विभागहेतुर्युतसिद्धिः कथमिव व्यवस्थाप्यते ? न च युतसिद्धानां संयोग एव, विभागस्यापि भावात् । संयोगो विभागहेतुरित्यपि वार्त्तम्, तस्य तद्विरोधिगुणत्वात्तद्विनाशहेतुत्वात् । संयुक्तविषयत्वाद्विभागस्य संयोगो हेतुरिति चेत्, न, तर्हि विभक्तविषयत्वात्संयोगस्य विभागो हेतुरस्तु । कयोश्चिद्विभक्तयोरप्युभयकर्मणोऽन्यतरकर्मणोऽवयवसंयोगस्य चापाये संयोगापायान्न विभागः संयोगहेतुः; इति चेत्; तर्हि संयुक्तयोरप्युभयकर्मणोऽन्यतरकर्मणोऽवयवविभागस्य चापाये विभागस्याभावात्संयोगोऽपि[2] विभागस्य हेतुर्माभूत् । कथं च शश्वदविभक्तानां विभुद्रव्यविशेषाणामजः संयोगः सिद्ध्यन् विभागहेतुको व्यवस्थाप्यते ? तत्र युतसिद्धिर्विभागहेतुरपि कथमवस्थाप्यते ? इति चेत्, सर्वस्य हेतोः कार्योत्पादनानियमात्, इति ब्रूमः । समर्थो हि हेतुः स्वकार्यमुत्पादयति

का कारण ही है—कार्य आदि नहीं है, अतः युतसिद्धिका उक्त लक्षण माननेपर कर्ममें अतिव्याप्ति होती है। एक बात और है, वह यह कि यदि 'संयोगका ही जो कारण हो वह युतसिद्धि है' ऐसा कहा जाय तो विभागहेतु (विभागजनक) युतसिद्धि कैसे व्यवस्थित होगी ? अर्थात् उसकी व्यवस्था कैसे करेंगे ? क्योंकि यह तो कहा नहीं जा सकता कि युतसिद्धोंके संयोग ही होता है—विभाग नहीं, कारण उनके विभाग भी होता है। 'संयोग विभागका कारण है' यह भी कथनमात्र है, क्योंकि संयोग विभागका विरोधी गुण होनेसे उसके विनाशमें कारण होता है—उत्पत्तिमें नहीं।

वैशेषिक—विभाग संयुक्तोंको विषय करता है अर्थात् जिनमें संयोग होता है उन्हींमें विभाग होता है और इसलिये संयोग विभागका कारण है ?

जैन—नहीं, क्योंकि संयोग विभक्तोंको विषय करता है अर्थात् जिनमें विभाग होता है उन्हींमें संयोग होता है और इसलिये विभाग संयोगका कारण हो।

वैशेषिक—हमारा मतलब यह है कि किन्हीं दो विभक्तोंमें भी उभयकर्म और अन्यतर कर्म तथा अवयवसंयोग नहीं रहता है और उनके अभावमें संयोग नहीं बन सकता, अतः विभाग संयोगका कारण नहीं है ?

जैन—इस प्रकार तो किन्हीं दो संयोगविशिष्टों (संयुक्तों) में भी उभयकर्म और अन्यतरकर्म तथा अवयवविभाग नहीं रहते हैं और उनके न रहनेपर विभाग नहीं बन सकता है, अतः संयोग भी विभागका कारण न हो। दूसरे, जो विभुद्रव्य सदा ही अविभक्त (मिले हुए) हैं—कभी भी विभक्त नहीं हुये हैं उनमें नित्य संयोग सिद्ध होता हुआ कैसे विभागहेतुक व्यवस्थित होगा ? तात्पर्य यह कि संयोगको विभागहेतुक माननेपर विभुद्रव्योंमें नित्यसंयोग नहीं बन सकेगा, क्योंकि विभुद्रव्य सदैव अविभक्त हैं—वे विभक्त नहीं हैं।

वैशेषिक—उनमें विभागजनक युतसिद्धि भी कैसे करेंगे ?

जैन—इसका उत्तर यह है कि सभी कारणोंके कार्योत्पत्तिका नियम नहीं है। अर्थात् यह नियम नहीं है कि सभी कारण कार्यके उत्पादक होते ही हैं। किन्तु जो समर्थ

1 स 'संयोगाहेतोः', मु 'संयोगहेतोर्युतसिद्धेः प्रस-'। 2 मु 'संयोगो विभागस्यापि', स 'संयोगो स्यापि'।

नासमर्थः सहकारिकारणानपेक्षः, अतिप्रसङ्गात् । तेन यथा हिमवद्विन्ध्यादीनां युतसिद्धिर्विद्यमानाऽपि न संयोगमुपजनयति सहकारिकारणस्य कर्मादेरभावात् । तथा विभुद्रव्यविशेषाणां शाश्वतिकी[1] युतसिद्धिः सत्यपि न विभागं जनयति[2], सहकारिकारणस्यान्यतरकर्मादेरभावात्, इति संयोगहेतुं युतसिद्धिमभ्यनुजानन्तो, विभागहेतुमपि तामभ्यनुजानन्तु, सर्वथा विशेषाभावात् । तथा च संयोगस्यैव हेतुर्युतसिद्धिरित्यपि लक्षणं न व्यवतिष्ठत एव । लक्षणाभावे च न युतसिद्धिः । नाऽपि युतसिद्ध्यभावलक्षणा स्यादयुतसिद्धिः । इति युतसिद्ध्ययुतसिद्धिद्वितयापाये व्याघातो दुरुत्तरः स्यात्, सर्वत्र संयोगसमवाययोरभावात् । "संसर्गहानेः सकलार्थहानिः" [युक्त्यनुशा० का ७] स्यादित्यभिप्रायः ।

§ १४१. संयोगापाये तावदात्मान्तःकरणयो[3]स्संयोगाद्बुद्ध्यादिगुणोत्पत्तिर्न भवेत् । तदभावे चात्मनो व्यवस्थापनोपायाऽपायादात्मतत्त्वहानिः । एतेन भेरीदण्डाद्याकाशसंयोगाभावाच्छब्दस्यानुत्पत्तेराकाशव्यवस्थापनोपायाऽसत्वादाकाशहानिरुक्ता । सर्वत्रावयवसंयोगाभावात्तद्विभागस्याऽप्यनुपपत्तेस्तन्निमित्तस्यापि शब्दस्याभावात् । एतेन परमाणुसंयोगाभावात् द्व्यणुकादिप्रक्रमेणावयविनोऽनुत्पत्तेस्तत्र परापरादिप्रत्ययाऽपायादिदमतः पूर्वेणेत्यादि[1]प्रत्ययाऽपायाच्च न कालो दिक् च व्यवतिष्ठत इत्युक्तम् ।

कारण होता है वह अपने कार्यको उत्पन्न करता है, सहकारी कारणोंकी अपेक्षासे रहित असमर्थ कारण नहीं। अन्यथा अतिप्रसङ्ग दोष आयेगा—जिस किसी कारणसे भी कार्यकी उत्पत्ति हो जायगी। अतः जिस प्रकार हिमवान् और विन्ध्याचल आदिकोंके युतसिद्धि रहते हुये भी वह संयोगको उत्पन्न नहीं करती है, क्योंकि सहकारी कारण कर्मादिकका अभाव है उसी प्रकार विभुद्रव्यविशेषोंके शाश्वतिक (सदा रहनेवाली) युतसिद्धि होते हुए भी वह विभागको पैदा नहीं करती, क्योंकि उसके सहकारी कारण अन्यतर कर्मादि नहीं हैं, इस प्रकार यदि संयोगहेतुक युतसिद्धिको आप मानते हैं तो विभागहेतुक भी युतसिद्धिको मानिये, क्योंकि दोनोंमें कुछ भी विशेषता नहीं है। ऐसी दशामें 'संयोगका ही जो कारण है वह युतसिद्धि है' यह युतसिद्धिलक्षण भी व्यवस्थित नहीं होता । और जब लक्षण व्यवस्थित नहीं होता तो युतसिद्धिरूप लक्ष्यकी भी व्यवस्था नहीं हो सकती है । तथा युतसिद्धिकी व्यवस्था न होनेपर युतसिद्धिका अभावरूप अयुतसिद्धि भी नहीं बन सकती है, इस प्रकार युतसिद्धि और अयुतसिद्धि दोनोंके अभाव हो जानेपर वैशेषिकोंके यहाँ जो व्याघात—विरोध आता है वह निवारण नहीं किया जा सकता। कारण, सब जगह संयोग और समवाय दोनों ही सम्बन्धोंका अभाव है। और 'सम्बन्धके अभावसे समस्त पदार्थोंका अभाव प्राप्त होता है' ।

§ १४१. फलितार्थ यह कि संयोग जब नहीं रहेगा तो आत्मा और मनके संयोगसे बुद्धि आदिक गुणोंकी उत्पत्ति नहीं होगी और उनके न होनेपर आत्माका व्यवथापक उपाय न होनेसे आत्मा-तत्त्वकी हानि हो जायगी। इस कथनसे दण्डादिका आकाशके साथ संयोगका अभाव होनेसे शब्दकी उत्पत्ति नहीं होगी और उसके न होनेपर आकाशकी व्यवस्थाका उपाय न रहनेसे आकाशतत्त्वकी भी हानि कथित होजाती है। अवयवसंयोगका सर्वत्र अभाव होनेसे अवयवविभाग भी नहीं बन सकता है और इसलिये विभागनिमित्तक भी शब्द सिद्ध नहीं हो सकेगा। इसी तरह परमाणुसंयोग न होनेसे द्व्यणुक आदि क्रमसे अवयवीकी भी उत्पत्ति नहीं बन सकेगी और उसके न बननेपर उसमें पर और अपर आदि प्रत्यय न होसकनेसे तथा 'यह इससे पूर्वमें है' इत्यादि प्रत्ययके अभाव होजानेसे न तो काल व्यवस्थित होता है और न दिशा, यह कथन भी समझ लेना चाहिये।

---

1 मु 'शाश्वतिका'। 2 मु स प 'जनयति' इति पाठो नास्ति। 3 मु प स 'करणस्-'।

§ १४२. तथा समवायाऽसत्वे सकलसमवायिनामभावान्न मनःपरमाणवोऽपि सम्भाव्यन्ते इति सकलद्रव्यपदार्थहानेस्तदाश्रयगुण-कर्म-सामान्य-विशेषपदार्थहानिरपीति सकलपदार्थव्याघातात् दुरुत्तरो वैशेषिकमतस्य व्याघातः स्यात् । तं परिजिहीर्षता युतसिद्धिः कुतश्चिद् व्यवस्थापनीया । तत्र—

[अन्यप्रकारेण युतसिद्धिव्यवस्थापनेऽपि दोषमाह]

युतप्रत्ययहेतुत्वाद् युतसिद्धिरितीरणे ।
विभुद्रव्यगुणादीनां युतसिद्धिः समागता ॥४९॥

§ १४३. यथैव हि कुण्डवदरादिषु युतप्रत्यय उत्पद्यते 'कुण्डादिभ्यो वदरादयो युताः' इति, तथा विभुद्रव्यविशेषेषु प्रकृतेषु गुणगुणिषु क्रियाक्रियावत्सु सामान्यतद्वत्सु विशेषतद्वत्सु चावयवावय-

---

§ १४२. तथा समवाय जब नहीं रहेगा तो सम्पूर्ण समवायिओंका अभाव हो जायगा और उनके अभाव हो जानेपर मन भी, जो परमाणुरूप हैं, नहीं बन सकेंगे। इस प्रकार समस्त द्रव्यपदार्थकी हानि हो जाती है और उसकी हानि होनेपर उसके आश्रित रहनेवाले गुण, कर्म, सामान्य और विशेष इन पदार्थोंकी भी हानि निश्चित है। इस तरह सर्व पदार्थोंका अभाव प्राप्त होनेसे वैशेषिकमतका दुर्निवार नाश प्रसक्त होता है। तात्पर्य यह हुआ कि युतसिद्धि और अयुतसिद्धिके उपर्युक्त लक्षण माननेपर वे लक्षण निर्दोष सिद्ध न होनेसे न युतिसिद्धिके निमित्तिसे व्यवस्थापित संयोग बनता है और न अयुतसिद्धिके निमित्तिसे व्यवस्थापित समवाय बनता है और जब ये दोनों सम्बन्ध नहीं बनेंगे तो संसर्गकी हानिसे सकल पदार्थोंकी हानिका प्रसङ्ग आवेगा, जिसका निवारण कर सकना असम्भव है। अतः इस दोषको यदि वैशेषिक दूर करना चाहते हैं तो उन्हें युतसिद्धिकी किसी तरह व्यवस्था करनी चाहिये।

§ १४३. जिस प्रकार कुण्ड, वेर आदिकोंमें 'कुण्डादिकसे वेर आदिक पृथक् हैं' इस प्रकार पृथक् प्रत्यय उत्पन्न होता है उसी प्रकार प्रकृत विभुद्रव्यविशेषोंमें, गुण-गुणियोंमें, क्रिया-क्रियावानोंमें, सामान्य-सामान्यवानोंमें, विशेष-विशेषवानोंमें और

---

1 द स 'त्यादिना प्रत्यया'।

विषु च युतप्रत्ययो भवत्येव, इति युतसिद्धिः समागता, सर्वत्रायुतप्रत्ययस्याभावात्। देशभेदाभावान्न[1] तत्र युतप्रत्यय इति चेत्; न; वाताऽऽतपादिषु युतप्रत्ययानुत्पत्तिप्रसङ्गात्। तेषां स्वावयवेषु भिन्नेषु देशेषु[2] वृत्तेस्तत्र युतप्रत्ययः, इति चेत्, किमेवं तन्तुपटादिषु पटरूपादिषु च युतप्रत्ययः प्रतिषिध्यते ?, [3]स्वाश्रयेषु भिन्नेषु वृत्तेरविशेषात्। तथा च न तेषामयुतसिद्धिः। ततो न युतप्रत्ययहेतुत्वेन युतसिद्धिर्व्यवतिष्ठते। तदव्यवस्थानाच्च किं स्यात्? इत्याह—

[युतसिद्ध्यभावेऽयुतसिद्धिरपि नोपपद्यते इति कथनम्]

ततो नाऽयुतसिद्धिः स्यादित्यसिद्धं विशेषणम्।
हेतोर्विपक्षतस्तावद् व्यवच्छेदं न साधयेत् ॥५०॥
सिद्धेऽपि समवायस्य समवायिषु दर्शनात्।
इहेदमिति संवित्तेः साधनं व्यभिचारि तत् ॥५१॥

अवयव-अवयवियोंमें पृथक् प्रत्यय होता है और इसलिये इनमें भी युतसिद्धि प्राप्त होती है तथा इस तरह कहीं भी अयुतप्रत्यय—अपृथक् प्रत्यय नहीं बन सकेगा।

वैशेषिक—विभुद्रव्य आदिकोंमें देशभेद न होनेसे उनमें पृथक् प्रत्यय नहीं हो सकता है और इसलिये उपर्युक्त दोष नहीं है ?

जैन—नहीं, क्योंकि आपके इस कथनसे हवा और धूप आदि अभिन्न देशवर्ती पदार्थोंमें पृथक् प्रत्यय उत्पन्न नहीं हो सकेगा।

वैशेषिक—हवा आदि तो अपने भिन्न देशरूप अवयवोंमें रहते हैं और इसलिये उनमें पृथक् प्रत्यय बन जायगा ?

जैन—इस प्रकार फिर आप तन्तु-पटादिकोंमें और पट-रूपादिकोंमें पृथक् प्रत्ययका प्रतिषेध क्यों करते हैं ? क्योंकि वे भी अपने भिन्न आश्रयोंमें रहते हैं। अतः हवा आदिकोंमें और इनमें कुछ भी विशेषता नहीं है। और इसलिये उनके अयुतसिद्धि सिद्ध नहीं होती। अतएव 'जो पृथक् प्रत्ययमें कारण है वह युतसिद्धि है' यह युतसिद्धि-लक्षण भी व्यवस्थित नहीं होसका। और जब इस तरह युतसिद्धि नहीं व्यवस्थित हो सकी तो उस हालतमें क्या होगा ? इसे आगे बतलाते हैं—

'चूँकि युतसिद्धिकी व्यवस्था नहीं होती है, अतः उसके अभावरूप अयुतसिद्धि नहीं बनती है। अतः हेतुगत 'अयुतसिद्धत्व' विशेषण असिद्ध है और इसलिये वह हेतुकी विपक्षसे व्यावृत्ति नहीं करा सकता है। अगर किसी प्रकार उक्त विशेषण सिद्ध भी हो जाय तो भी समवायिओंमें समवायका (इन समवायिओंमें समवाय है, इस प्रकारका) 'इहेदं' प्रत्यय देखा जाता है। अतः उसके साथ हेतु व्यभिचारी है—अनैकान्तिक हेत्वाभास है।'

---

1 मु 'भावात्तत्र न'। 2 द 'देशेषु' नास्ति। 'वृत्तेः' इत्यत्र 'प्रवृत्तेः' इति च पाठः। 3 द 'आश्रयेषु प्रवृत्तेरविशेषात्' इति पाठः।

§ १४४. तदेवमयुतसिद्धेरसम्भवे 'सत्यामयुतसिद्धौ' इति विशेषणं तावदसिद्धम्, विपक्षादसमवायात्संयोगादेर्व्यवच्छेदं न साधयेत्, संयोगादिना व्यभिचारस्याबाधितेहेदंप्रत्ययस्य हेतोर्दुःपरिहारत्वात्। केवलमभ्युपगम्यायुतसिद्धत्वं विशेषणं हेतोरनैकान्तिकत्वमुच्यते। सिद्धेऽपि विशेषणे साधनस्येह समवायिषु समवाय इत्ययुतसिद्धा[1]बाधितेहेदंप्रत्ययेन साधनमेतद् व्यभिचारि कथ्यते। न ह्ययमयुतसिद्धा[2]बाधितेहेदंप्रत्ययः समवायहेतुकः, इति।

§ १४५. [3]नन्वबाधितत्वविशेषणमसिद्धिमिति परमतमाशङ्क्याह—

समवायान्तराद्वृत्तौ समवायस्य तत्त्वतः।
समवायिषु, तस्यापि परस्मादित्यनिष्ठितिः[4] ॥५२॥
तद्वाऽधास्तीत्यबाधत्वं नाम नेह विशेषणम्।
हेतोः सिद्धमनेकान्तो यतोऽनेनेति ये[5] विदुः ॥५३॥
तेषामिहेति विज्ञानाद्विशेषणविशेष्यता।
समवायस्य तद्वत्सु तत एव न सिद्ध्यति ॥५४॥

---

§ १४४. इस तरह अयुतसिद्धिके सिद्ध न होनेपर 'सत्यामयुतसिद्धौ' इत्यादि वाक्यद्वारा हेतुमें दिया गया 'अयुतसिद्धत्व' विशेषण निश्चय ही असिद्ध हो जाता है और इसलिये वह हेतुकी विपक्ष—असमवायरूप संयोगादिकसे व्यावृत्ति नहीं करा सकता है। अतः अबाधित 'इहेदं' प्रत्ययरूप हेतुका संयोगादिकके साथ व्यभिचार अपरिहार्य है—वह निवारण नहीं किया जा सकता है। अब केवल 'अयुतसिद्धत्व' विशेषणको मानकर हेतुके अनैकान्तिकता बतलाते हैं कि किसी प्रकार 'अयुतसिद्धत्व' विशेषण सिद्ध हो भी जाय तो भी हेतु 'इन समवायिओंमें समवाय है' इस अयुतसिद्ध और अबाधित 'इहेदं' प्रत्ययके साथ व्यभिचारी है। प्रकट है कि यह अबाधित 'इहेदं' प्रत्यय समवायहेतुक नहीं है—किन्तु अन्य सम्बन्धहेतुक है।

§ १४५. वैशेषिक—'इन समवायिओंमें समवाय है' यह प्रत्यय अबाधित नहीं है—बाधित है। अतः उक्त प्रत्ययमें 'अबाधितत्व' विशेषण असिद्ध है ? वह इस प्रकारसे है—

'यदि समवायिओंमें समवायकी अन्य समवायसे वृत्ति मानी जाय तो उसकी भी अन्य समवायसे वृत्ति मानी जायगी और इस तरह अनवस्था उक्त प्रत्ययमें बाधक है। अतः 'अबाधितत्व' विशेषण नहीं है, जिससे कि इस प्रत्ययके साथ हेतु व्यभिचारी होता।'

जैन—'इस तरह तो समवायिओंमें समवायका 'इहेदं' ज्ञानसे विशेषण-विशेष्यत्व सम्बन्ध भी सिद्ध नहीं हो सकेगा, क्योंकि वह विशेषणविशेष्यत्व सम्बन्ध भी

---

1 मु 'द्धबाधि'। 2 मु 'द्धबाधि'। 3 द स 'नन्वबा'। 4 स 'ष्ठितिः'। 5 स 'यत्'।

विशेषणविशेष्यत्वसम्बन्धोऽप्यन्यतो यदि ।
स्वसम्बन्धिषु वर्त्तेत तदा बाधाऽनवस्थितिः ॥५५॥

§ १४६. इह समवायिषु समवाय इति समवायसमवायिनोरयुतसिद्धत्वे समवायस्य[1] पृथगाश्रयाभावात्प्रसिद्धे सतीहेदमिति संवित्तेरबाधितत्वविशेषणस्याभावान्न तया साधनं व्यभिचरेत्, तत्रानवस्थाया बाधिकायाः सद्भावात्। तथा हि—समवायिषु समवायस्य वृत्तिः समवायान्तराद् यदीष्यते, तदा तस्यापि समवायान्तरस्य समवायसमवायिषु स्वसम्बन्धिषु वृत्तिरपरापरसमवायरूपैषितव्या । तथा चापरापरसमवायपरिकल्पनायामनिष्ठितिः[2] स्यात् । तथा एक एव समवायः "तत्त्वं भावेन व्याख्यातम्" [वैशेषि० सू० ७-२-२८] इति सिद्धान्तस्य चानिष्ठितिः । [3]सैवेहेदमिति प्रत्ययस्य बाधा, ततो नाबाधत्वं नाम विशेषणं हेतोर्येनाऽनेकान्तः स्यात्, इति ये वदन्ति तेषां विशेषणविशेष्यत्वसम्बन्धोऽपि समवायिषु समवाय इति प्रत्ययान्न सिद्ध्येत्, अनवस्थायाः सद्भावात् । विशेषणविशेष्यभावो हि समवायसमवायिनां परैरिष्टः समवायस्य विशेषणत्वात्समवायिनां विशेष्यत्वात्, अन्यथा समवायप्रतिनियमानुपपत्तेः । स च समवाय[4]-

---

अपने सम्बन्धियोंमें अन्य विशेषणविशेष्यत्व सम्बन्धसे रहेगा और इस तरह समवायिओं और समवायमें विशेषण-विशेष्यभाव माननेमें भी अनवस्था बाधा विद्यमान है'।

§ १४६. वैशेषिक—'इन समवायिओंमें समवाय है' इस ज्ञानसे समवाय और समवायिओंमें यद्यपि अयुतसिद्धपना प्रसिद्ध है, क्योंकि समवाय पृथक् आश्रयमें नहीं रहता है। लेकिन 'इहेदं' (इसमें यह), यह ज्ञान अबाधित नहीं है और इसलिये उसके साथ हेतु व्यभिचारी नहीं है। कारण, उसमें अनवस्थारूप बाधक मौजूद है। वह इस तरहसे है—

यदि समवाय समवायिओंमें अन्य समवायसे रहता है तो वह अन्य समवाय भी अपने समवाय-समवायीरूप सम्बन्धियोंमें अन्य तीसरे आदि समवायोंसे रहेगा और उस हालतमें अन्य, अन्य समवायोंकी कल्पना होनेसे अनवस्था दोष आता है। तथा "एक ही समवाय सत्ताकी तरह वास्तविक कहा गया है" [वैशेषि० सू० ७-२-२८] इस सिद्धान्तकी हानि होती है। इसलिये यह सिद्धान्त-हानि ही वहाँ 'इहेदं' प्रत्ययकी बाधक है। अतः उक्त प्रत्ययमें 'अबाधपना' (बाधारहितपना) विशेषण नहीं है। तात्पर्य यह कि उक्त स्थलमें उक्त प्रत्यय अबाधित नहीं है, जिससे हेतु अनैकान्तिक होता ?

जैन—आपका यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि आपका अभिमत विशेषणविशेष्यभावरूप सम्बन्ध भी 'समवायिओंमें समवाय' इस ज्ञानसे सिद्ध नहीं हो सकता, कारण, उसमें अनवस्था आती है। प्रकट है कि आप लोग समवाय और समवायिओंमें विशेषण-विशेष्यभाव स्वीकार करते हैं। समवाय तो विशेषण है और समवायी विशेष्य हैं। यदि उनमें विशेषण-विशेष्यभाव न हो तो समवायका प्रतिनियम (अमुकमें ही

---

1 द 'स्यापृथ'। 2 स 'ष्टितिः'। 3 द 'सा चे'। 4 द स 'समवायः समवायि'।

समवायिभ्योऽ[1]र्थान्तरमेव न पुनरनर्थान्तरं समवायस्यापि समवायिभ्योऽनर्थान्तरत्वा[2]पत्तेः । स चार्थान्तरभूतो विशेषणविशेष्यभावः सम्बन्धः स्वसम्बन्धिषु परस्मादेव विशेषणविशेष्यभावात्प्रतिनियतः स्यात्, नान्यथा । तथा चापरापरविशेषणविशेष्यभावपरिकल्पनायामनवस्थाख्या[3] बाधा तदवस्थैव । ततस्तया सबाधादिहेदमिति प्रत्ययाद्विशेषणविशेष्यभावोऽपि न सिद्ध्येत्, इति कुतः समवायप्रतिनियमः क्वचिदेव समवायिषु परेषां स्यात् ?

विशेषणविशेष्यत्वप्रत्ययादवगम्यते ।
विशेषणविशेष्यत्वमित्यप्येतेन दूषितम् ॥५६॥

§ १४७. यथेह [4]समवायिषु समवाय इतीहेदंप्रत्ययादनवस्थया बाध्यमानात् समवायवद्विशेषणविशेष्यभावो न सिद्ध्येदिति, तथा विशेषणविशेष्यत्वप्रत्ययादप्यनवस्थया[5] बाध्यमानत्वाविशेषात्ततोऽनेनेहेदंप्रत्ययदूषणेन विशेषणविशेष्यत्वप्रत्ययोऽपि दूषित एव । तेनैव च तद्दूषणेन विशेषणविशेष्यत्वं सर्वत्र दूषितमवगम्यताम् ।

समवाय है, अमुकमें नहीं, ऐसा व्यवस्थाकारक नियम) नहीं बन सकता है। सो वह विशेषण-विशेषणभाव समवाय-समवायिओंसे भिन्न ही स्वीकार किया जायगा, अभिन्न नहीं। अन्यथा, समवायको भी समवायिओंसे अभिन्न मानना होगा। इस तरह भिन्न माना गया वह विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्ध अपने सम्बन्धियोंमें अन्य दूसरे विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्धसे प्रतिनियमित होगा, अन्य प्रकार नहीं और उस दशामें अन्य, अन्य विशेषण-विशेष्यभावोंकी कल्पना करनेपर अनवस्था नामकी बाधा पूर्ववत् इसमें (विशेषण-विशेष्यभावके माननेमें) भी मौजूद है। अतः इस अनवस्थारूप बाधासे सहित होनेके कारण 'इहेदं' (इसमें यह) प्रत्ययसे विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्ध भी सिद्ध नहीं हो सकता है। तब बतलाइये, किन्हीं समवायिओंमें ही समवायका प्रतिनियम आपके यहाँ कैसे बन सकता है? अर्थात् नहीं बन सकता ।

'अगर कहा जाय कि विशेषण-विशेष्यभाव विशेषण-विशेष्यभावज्ञानसे जाना जाता है तो वह ज्ञान भी उपर्युक्त प्रकारसे दूषित है—दोषयुक्त है।'

§ १४७. जिस प्रकार 'इन समवायिओंमें समवाय है' इस अनवस्था-बाधित प्रत्ययसे समवायकी तरह विशेषण-विशेष्यभाव सिद्ध नहीं होता उसी प्रकार विशेषण-विशेष्यभाव प्रत्ययसे भी वह सिद्ध नहीं होता, क्योंकि यह प्रत्यय भी पूर्ववत् अनवस्था-बाधित है। अतः इस 'इहेदं' प्रत्ययके दूषणद्वारा विशेषण-विशेष्यभाव प्रत्यय भी दूषित है। और उसके दूषित होनेसे विशेषण-विशेष्यभाव सब जगह दूषित समझना चाहिये।

---

1 स 'अर्थान्तरमेव' इत्यतः 'स च' इत्यन्तं पाठो त्रुटितः। 2 मु 'रापत्तेः'। 3 मु 'स्था बाधा'। 4 स प्रतौ 'समवायिषु' नास्ति। 5 स 'स्थयाः'।

[वैशेषिकाणां जैनापादितानवस्थापरिहारस्य निराकरणम्]

§ १४८. अत्रानवस्थापरिहारं परेषामाशङ्क्य निराचष्टे—

तस्यानन्त्यात्प्रपत्तृणामाकाङ्क्षाक्षयतोऽपि वा ।
न दोष इति चेदेवं समवायादिनाऽपि किम् । ५७ ।
गुणादिद्रव्ययोर्भिन्नद्रव्ययोश्च परस्परम् ।
विशेषणविशेष्यत्वसम्बन्धोऽस्तु निरङ्कुशः ॥५८॥
संयोगः समवायो वा तद्विशेषोऽस्त्वनेकधा ।
स्वातन्त्र्ये समवायस्य सर्वथैक्ये च दोषतः ॥५६॥

§ १४६. तस्य विशेषणविशेष्यभावस्यानन्त्यात्समवायवदेकत्वानभ्युपगमान्नानवस्था दोषो यदि परैः कथ्यते प्रपत्तॄणामाकाङ्क्षाक्षयतोऽपि वा यत्र यस्य प्रतिपत्तुर्व्यवहारपरिसमाप्तेराकाङ्क्षाक्षयः स्यात् तत्रापरविशेषणविशेष्यभावानन्वेषणादनवस्थानुपपत्तेः, तदा समवायादिनाऽपि परिकल्पितेन न किञ्चित्फलमुपलभामहे, समवायिनोरपि विशेषणविशेष्यभावस्यैवाभ्युपगमनीयत्वात् । संयोगिनोरपि विशेषणविशेष्यभावानतिक्रमात् । गुणद्रव्ययोः, क्रियाद्रव्ययोः, द्रव्यत्वद्रव्ययोः, गुणत्वगुणयोः कर्मत्वकर्मणोः गुणत्वद्रव्ययोः कर्मत्वद्रव्ययोः विशेषद्रव्ययोश्च द्रव्ययोरिव विशेषणविशेष्यत्वस्य साक्षात्परम्परया वा प्रतीयमानस्य बाधकाभावात् । यथैव हि गुणिद्रव्यं क्रियावद्द्रव्यं द्रव्यत्ववद्द्रव्यं विशेषवद्द्रव्यं गुणत्ववान् गुणः कर्मत्ववत्कर्म इत्यत्र साक्षाद् विशेषणविशेष्यभावः प्रतिभासते [1]दण्डिकुण्डलिवत्, तथा परम्परया गुणत्ववद्द्रव्यमित्यत्र गुणस्य द्रव्यविशेषणत्वात् गुणत्वस्य च गुणविशेषणत्वाद्विशेषणविशेष्यभावोऽपि[2] । तथा कर्मत्ववद्द्रव्यमित्यत्रापि [3]कर्मणो द्रव्यविशेषणत्वात् कर्मत्वस्य च कर्मविशेषणत्वात् विशेषणविशेष्यभाव एव निरङ्कुशोऽस्तु ।

§ १५०. ननु च दण्डपुरुषादीनामवयवावयव्यादीनां च संयोगः समवायश्च विशेषणविशेष्यभावहेतुः सम्प्रतीयते, तस्य तद्भाव एव भावात्, इति न मन्तव्यम्; तदभावेऽपि विशेषणविशेष्यभावस्य सद्भावात् धर्मधर्मिवद्भावाभाववद्वा । न हि धर्मधर्मिणोः संयोगः, तस्य द्रव्यनिष्ठत्वात् । नापि समवायः परैरिष्यते, समवायतदस्तित्वयोः समवायान्तरप्रसङ्गात् । तथा

§ १४८. आगे वैशेषिक उक्त अनवस्था दोषका परिहार करते हैं और आचार्य उसका उल्लेख करके निराकरण करते हैं—

वैशेषिक—'विशेषण-विशेष्यभावको हमने अनन्त स्वीकार किया है, इसलिये अनवस्था दोष नहीं आता। दूसरे, प्रतिपत्ता लोगोंकी आकांक्षाका नाश भी सम्भव है, इसलिये भी अनवस्था दोष नहीं आसकता।

जैन—परन्तु उनका यह कहना युक्तिसङ्गत नहीं है, क्योंकि इस तरह तो समवाय आदि सम्बन्धोंको मानना भी व्यर्थ ठहरेगा। कारण, गुणादिक और द्रव्यमें तथा द्रव्य और द्रव्यमें विशेषणविशेष्यभावरूप सम्बन्ध ही मानना उचित एवं युक्त है। संयोग तथा समवाय आदि सम्बन्धोंको उसीके अनेक भेद स्वीकार करना चाहिये। और यदि समवायको स्वतंत्र और सर्वथा एक माना जाय तो उसमें अनेक दोष आते हैं।'

§ १४६. वैशेषिक—बात यह है कि विशेषणविशेष्यभाव अनन्त हैं, वे समवायकी तरह एक नहीं हैं। अतः अनवस्था दोष नहीं है। अथवा, प्रतिपत्ताओंकी आकांक्षा नाश होजानेसे अनवस्था दोष नहीं आता। जहाँ जिस प्रपिपत्ताका व्यवहार समाप्त होजाता है वहाँ उसकी आगे आकांक्षा (जिज्ञासा) नहीं रहती—वह नष्ट होजाती है, क्योंकि वहाँ अन्य विशेषणविशेष्यभावकी आवश्यकता नहीं होती और इसलिये अनवस्था नहीं आ सकती है?

जैन—आपका यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि इस तरह तो माने गये समवाय आदिसे भी कोई अर्थ नहीं निकलता। कारण, जो समवायी हैं उनमें भी विशेषण-विशेष्यभावको ही स्वीकार करना सर्वथा उचित है। इसी प्रकार जो संयोगी हैं उनमें भी विशेषणविशेष्यभावको ही स्वीकार करना चाहिए। गुण और द्रव्यमें, क्रिया और द्रव्यमें, द्रव्यत्व और द्रव्यमें, गुणत्व और गुणमें, कर्मत्व और कर्ममें; गुणत्व और द्रव्यमें, कर्मत्व और द्रव्यमें तथा विशेष और द्रव्यमें दो द्रव्योंकी तरह साक्षात् अथवा परम्परासे विशेषणविशेष्यभाव प्रतीत होता है और उस प्रतीतिमें कोई बाधा नहीं है। वास्तवमें जिस प्रकार गुणवान् द्रव्य, क्रियावान् द्रव्य, द्रव्यत्ववान् द्रव्य, विशेषवान् द्रव्य, गुणत्ववान् गुण, कर्मत्ववान् कर्म इन स्थलोंपर दण्डी (दण्डवान्) और कुण्डली (कुण्डलवान्) की तरह साक्षात् विशेषणविशेष्यभाव प्रतीत होता है उसी प्रकार 'गुणत्ववान् द्रव्य' यहाँ पर गुण द्रव्यका विशेषण है और गुणत्व गुणका विशेषण है और इस तरह परम्परासे विशेषणविशेष्यभाव भी सुप्रतीत होता है। तथा 'कर्मत्ववान् द्रव्य' यहाँपर भी कर्म द्रव्यका विशेषण है और कर्मत्व कर्मका विशेषण है, इस तरह परम्परा विशेषणविशेष्यभाव ही रहता है और उसमें कोई बाधा नहीं है। अतः एक विशेषण-विशेष्यभावसम्बन्धको ही मानना चाहिये, समवायादिको नहीं।

§१५०. वैशेषिक—दण्ड और पुरुष आदिमें तथा अवयव और अवयवी आदिमें विद्यमान संयोग और समवाय विशेषणविशेष्यभावके जनक अच्छी तरह प्रतीत होते हैं, क्योंकि वह संयोग और समवायके होनेपर ही होता है। अतः विशेषण-विशेष्यभाव संयोग और समवायको बिना माने नहीं बन सकता है?

जैन—आपकी यह मान्यता ठीक नहीं है, क्योंकि संयोग और समवायके अभावमें भी विशेषणविशेष्यभाव पाया जाता है। जैसे धर्म और धर्मी तथा भाव और अभावमें वह उपलब्ध होता है। प्रकट है कि धर्म-धर्मीमें न संयोग है क्योंकि वह द्रव्य-द्रव्यमें होता है और न उनमें समवाय है, अन्यथा समवाय और उसके अस्तित्वमें अन्य समवायका प्रसंग आवेगा। तथा भाव और अभावमें भी वैशेषिकोंने न संयोग

द 'दण्डी कुण्डलीव'। 2 द 'विशेषणविशेष्यभावत्ववत् कार्यकारणभावः कार्यकारणभावत्ववन्निश्चीयते' इत्यधिकः पाठः। 3 मु स 'कर्मत्वस्य कर्मविशेषणत्वात् कर्मणो द्रव्यविशेषणत्वात्' पाठः।

न भावाभावयोः संयोगः समवायो वा परैरिष्टः, सिद्धान्तविरोधात् । तयोर्विशेषणविशेष्यभावस्तु तैरिष्टो दृष्टश्च, इति न संयोगसमवायाभ्यां विशेषणविशेष्यभावो व्याप्तस्तेन तयोर्व्याप्तत्वसिद्धेः[1] । न हि विशेषणविशेष्यभावस्याभावे कयोश्चित्संयोगः समवायो वा व्यवतिष्ठते । क्वचिद्विशेषण-विशेष्यभावाविवक्षायां तु संयोगसमवायव्यवहारो न विशेषणविशेष्यभावस्याव्यापकत्वं व्यवस्थाप-यितुमलम् । सतोऽप्यनर्थित्वादेर्विवक्षानुपपत्तेर्व्यापकत्व[2]प्रसिद्धेः । ततः संयोगः समवायो वा अन्यो वाऽविनाभावादिः सम्बन्धस्तस्यैव विशेषणविशेष्यभावस्य विशेषोऽस्तु ।

[समवायस्य स्वतन्त्रत्वे सर्वथैकत्वे च दूषणप्रदर्शनम्]

§ १५१. ननु च समवायस्य स्वतन्त्रत्वादेकत्वाच्च कथमसौ तद्विशेषः स्थाप्यते ? इति चेत् ; न; समवायस्य स्वतन्त्रत्वे सर्वथैकत्वे च दोषसद्भावात् । तथा हि—

स्वतन्त्रस्य कथं तावदाश्रितत्वं स्वयं मतम् ।
तस्याश्रितत्ववचने[3] स्वातन्त्र्यं प्रतिहन्यते ॥ ६० ॥
समवायिषु सत्स्वेव समवायस्य वेदनात्
आश्रितत्वे दिगादीनां मूर्तद्रव्याश्रितिर्न किम् ॥६१॥

माना है और न समवाय। अन्यथा, सिद्धान्त-विरोध आयगा। लेकिन उनमें उन्होंने विशेषणविशेष्यभाव अवश्य स्वीकार किया है और वह देखा भी जाता है। अतः संयोग और समवायके साथ विशेषणविशेष्यभावकी व्याप्ति नहीं है किन्तु विशेषण-विशेष्यभावके साथ संयोग और समवायकी व्याप्ति है। यथार्थमें विशेषणविशेष्यभावके बिना न तो किन्हींमें संयोग प्रतिष्ठित होता है और न समवाय। यह दूसरी बात है कि कहीं विशेषणविशेष्यभावकी विवक्षा न होनेपर संयोग और समवायका व्यवहार होता है। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि वह वहाँ नहीं है—अव्यापक है, क्योंकि विद्यमान रहनेपर भी प्रयोजनादि न होनेसे विवक्षा नहीं होती है और इसलिये उसमें व्यापकता प्रसिद्ध है। अतः संयोग या समवाय अथवा अविनाभाव आदि अन्य सम्बन्ध उसी विशेषणविशेष्यभावके भेद मानना चाहिए।

§ १५१. वैशेषिक—समवाय स्वतंत्र और एक है वह उसका भेद कैसे माना जासकता है ?

जैन—नहीं, समवायको स्वतंत्र और सर्वथा एक माननेमें दोष आते हैं। वह इस प्रकारसे हैं—

'यदि समवाय स्वतंत्र है तो उसमें आप लोगोंने आश्रितपना कैसे कहा है ? और उसमें आश्रितपना कहनेपर वह स्वतंत्र नहीं बन सकता है। यदि कहा जाय कि सम-वायिओंके होनेपर ही समवायका ज्ञान होता है, इसलिये समवायमें आश्रितपना कहा जाता है, तो इस तरह दिगादिक मूर्तद्रव्योंके आश्रित क्यों नहीं हो जायेंगे ? दूसरे,

1 मु स 'द्धि'। 2 द 'त्वाप्र'। 3 मु 'तस्याश्रितत्वे वचने'।

कथं चानाश्रितः सिद्ध्येत्सम्बन्धः सर्वथा क्वचित् ।
स्वसम्बन्धिषु येनातः सम्भवेन्नियतस्थितिः ॥ ६२॥
एक एव च सर्वत्र समवायो यदीष्यते ।
तदा महेश्वरे ज्ञानं समवैति न खे कथम् ॥६३॥
इहेति प्रत्ययोऽप्येष शङ्करे न तु खादिषु ।
इति भेदः कथं सिद्ध्येन्नियामकमपश्यतः॥६४॥
न चाचेतनता तत्र सम्भाव्येत नियामिका ।
शम्भावपि तदास्थानात्खादेस्तदविशेषतः ॥६५॥
नेशो ज्ञाता न चाज्ञाता[1] स्वयं ज्ञानस्य केवलम् ।
समवायात्सदा ज्ञाता यद्यात्मैव स किं स्वतः॥६६॥
नाऽयमात्मा न चानात्मा स्वात्मत्वसमवायतः ।
सदात्मैवेति चेदेवं द्रव्यमेव स्वतोऽसिधत्[2] ॥६७॥

यदि समवाय परमार्थतः अनाश्रित है, क्योंकि उपचारसे ही उसमें आश्रितपना माना गया है तो वह सम्बन्ध कैसे सिद्ध हो सकता है ? जिससे कि उसकी कहीं अपने सम्बन्धियोंमें नियत स्थिति-वृत्ति सम्भव हो और चूँकि वह अनाश्रित है इसलिये उससे उसके सम्बन्धियोंकी निश्चित स्थिति नहीं बन सकती है। तथा यदि एक ही समवाय सब जगह कहा जाय तो महेश्वरज्ञानका समवाय महेश्वरमें है, आकाशमें क्यों नहीं ? यदि माना जाय कि 'इसमें यह' इस प्रकारका प्रत्यय महेश्वरमें होता है, आकाशादिकमें नहीं और इसलिये महेश्वरज्ञानका समवाय महेश्वरमें है, आकाशमें नहीं, तो इस प्रकार का भेद कैसे सिद्ध हो ? क्योंकि उक्त प्रत्ययका नियामक-नियमन करनेवाला दृष्टिगोचर नहीं होता। तात्पर्य यह कि उक्त प्रत्यय महेश्वरकी तरह आकाशमें भी क्यों नहीं होता ? क्योंकि नियामक तो है नहीं। अगर कहा जाय कि उक्त प्रत्ययमें अचेतनपना नियामक है अर्थात् आकाश अचेतन है इसलिये उसमें उक्त प्रत्यय नहीं हो सकता है तो वह अचेतनपना तो महेश्वरमें भी मौजूद है और इसलिये उसके आकाशादिकसे कोई विशेषता नहीं है। मतलब यह कि वैशेषिकोंके यहाँ चेतनाके समवायसे ही महेश्वरको चेतन माना है स्वतः तो उसे अचेतन ही माना है। अगर यह कहा जाय कि महेश्वर स्वयं न ज्ञाता (चेतन) है और न अज्ञाता (अचेतन) है। केवल ज्ञानके समवायसे सदा ज्ञाता है, तो बतलायें वह स्वतः क्या है ? यदि वह स्वतः आत्मा है, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि आत्माको भी आत्मत्वके समवायसे आत्मा माना है। यदि कहें कि महेश्वर न आत्मा है और न अनात्मा। केवल अपने आत्मत्वके समवायसे सदा आत्मा है तो पुनः प्रश्न उठता है कि वह स्वतः क्या है ? यदि स्वतः द्रव्य

1 द 'नवाज्ञाता'। 2 द स 'द्धत्'।

नेशो द्रव्यं न चाद्रव्यं द्रव्यत्वसमवायतः ।
सर्वदा द्रव्यमेवेति यदि सन्नेव स स्वतः ॥ ६८ ॥
न स्वतः सन्नसन्नापि सत्त्वेन समवायतः ।
सन्नेव शश्वदित्युक्तौ व्याघातः केन वार्यते ॥ ६९ ॥
स्वरूपेणाऽसतः सत्त्वसमवाये च खाम्बुजे ।
स स्यात् किं न विशेषस्याभावात्तस्य ततोऽञ्जसा ॥ ७० ॥
स्वरूपेण सतः सत्त्वसमवायेऽपि सर्वदा ।
सामान्यादौ भवेत्सत्त्वसमवायोऽविशेषतः[1] ॥७१॥
स्वतः सतो यथा सत्त्वसमवायस्तथाऽस्तु सः ।
द्रव्यत्वात्मत्वबोद्धृत्वसमवायोऽपि तत्त्वतः ॥७२॥
द्रव्यस्यैवात्मनो बोद्धुः स्वयं सिद्धस्य सर्वदा ।
न हि स्वतोऽतथाभूतस्तथात्वसमवायभाक् ॥७३॥
स्वयं ज्ञत्वे च सिद्धेऽस्य महेशस्य निरर्थकम् ।
ज्ञानस्य समवायेन ज्ञत्वस्य परिकल्पनम् ॥७४॥

है तो वह स्वतः द्रव्य भी सिद्ध नहीं होता, क्योंकि द्रव्यत्वके समवायसे ही द्रव्य माना गया है। अगर कहा जाय कि महेश्वर न द्रव्य है और न अद्रव्य। केवल द्रव्यत्वके समवायसे सर्वदा द्रव्य ही है तो फिर सवाल उठता है कि वह स्वयं क्या है ? यदि स्वयं वह सत् है तो वह स्वयं सत् भी सिद्ध नहीं होता, क्योंकि सत्ताके समवायसे ही उसे सत् माना गया है। यदि माना जाय कि वह स्वयं न सत् है और न असत् है। केवल सत्त्वके समवायसे हमेशा सत् ही है—असत् नहीं है तो इसप्रकारके कथनमें जो विरोध आता है उसका वारण किस तरह करेंगे ? क्योंकि स्वरूपसे असत्के सत्त्वका समवाय माननेपर आकाशकमलमें वह क्यों न हो जाय ? कारण, उससे उसमें निश्चय ही कोई विशेषता नहीं है—दोनों असत् हैं। और स्वरूपसे सत्के सत्त्वका समवाय स्वीकार करनेपर वह सत्त्वसमवाय सर्वदा सामान्यादिकमें भी हो जाय, क्योंकि महेश्वर और सामान्यादिकमें स्वरूप सत्की अपेक्षा कोई भेद नहीं है—दोनों समान हैं। और जिस प्रकार स्वतः सत्के सत्त्वका समवाय मान लिया उसी प्रकार द्रव्यत्व, आत्मत्व, चेतनत्वका समवाय भी स्वतः सिद्ध द्रव्य, आत्मा, चेतनके सर्वदा मानिये। क्योंकि वास्तवमें जो स्वयं द्रव्यादिरूप नहीं है उसके द्रव्यत्वादिकका समवाय नहीं बन सकता है। और इस तरह जब महेश्वर स्वयं ज्ञाता सिद्ध हो जाता है तो उसके ज्ञानके समवायसे ज्ञातापनकी कल्पना करना सर्वथा निरर्थक है।

1 द 'सत्वं समवायाविशेषतः'।

तत्स्वार्थव्यवसायात्मज्ञानतादात्म्यमृच्छतः ।
कथञ्चिदीश्वरस्याऽस्ति[1] जिनेशत्वमसंशयम् ॥७५॥
स एव मोक्षमार्गस्य प्रणेता व्यवतिष्ठते ।
सदेहः सर्वविन्नष्टमोहो धर्मविशेषभाक् ॥७६॥
ज्ञानादन्यस्तु निर्देह सदेहो वा न युज्यते ।
शिवः कर्त्तोपदेशस्य सोऽभेत्ता कर्मभूभृताम् ॥७७॥

§ १५२. स्वतन्त्रत्वे हि समवायस्य "षण्णामाश्रितत्वमन्यत्र नित्यद्रव्येभ्यः" [प्रशस्तपा० भा० पृ० ६] इति कथमाश्रितत्वं स्वयं वैशेषिकैरिष्टम् इति ?; तन्त्रविरोधो दोषः, तस्याश्रितत्वप्रतिपादने स्वतन्त्रत्वविरोधात्। पराश्रितत्वं हि पारतन्त्र्यम्, तेन स्वातन्त्र्यं कथं न प्रतिहन्यते ?

§ १५३. स्यान्मतम्—न परमार्थतः समवायस्याश्रितत्वं धर्मः कथ्यते, यतस्तन्त्रविरोधः स्यात्, किन्तूपचारात्। निमित्तं तूपचारस्य समवायिषु सत्सु समवायज्ञानम्, समवायिशून्ये देशे समवायज्ञानासम्भवात्। परमार्थतस्तस्याश्रितत्वे स्वाश्रयविनाशा[2]द्विनाशप्रसङ्गात्, गुणा-

---

अतः उस स्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञानको महेश्वरसे कथंचित् अभिन्न मानना चाहिये और उस हालतमें निश्चय ही महेश्वरके जिनेश्वरपना प्राप्त होता है। वही मोक्षमार्गका प्रणेता व्यवस्थित होता है और सशरीरी, सर्वज्ञ, वीतराग तथा धर्मविशेषयोगी सिद्ध होता है। किन्तु ज्ञानसे भिन्न महेश्वर, चाहे वह सशरीरी हो या अशरीरी, मोक्षमार्गके उपदेशका कर्ता नहीं बन सकता है, क्योंकि वह कर्मपर्वतोंका भेत्ता अर्थात् रागादिकर्मोंका नाशकर्त्ता नहीं है। तात्पर्य यह कि जो वीतरागी और सर्वज्ञ है। साथमें शरीरनामकर्म और तीर्थंकरनामकर्मके उदयसे विशिष्ट है वह मोक्षमार्गोपदेशक है और वह जिनेश्वर ही है, महेश्वर नहीं।'

§ १५२. वास्तवमें समवाय यदि स्वतंत्र है तो "नित्यद्रव्योंको छोड़कर छह पदार्थोंके आश्रितपना है।" [प्रशस्त० भा० पृ० ६] यह वैशेषिकोंने स्वयं उसमें आश्रितपना क्यों स्वीकार किया ? और इसलिये यह सिद्धान्तविरोध स्पष्ट है। क्योंकि उसमें आश्रितपना स्वीकार करनेपर स्वतन्त्रताका विरोध आता है। कारण, पराश्रितपनेको परतंत्रता कहा गया है और इसलिये समवायमें पराश्रितपना माननेपर स्वतंत्रताका नाश क्यों नहीं होता ? अर्थात् अवश्य होता है।

§ १५३. वैशेषिक—हम आश्रितपना समवायका वास्तविक धर्म नहीं मानते, जिससे सिद्धान्तविरोध हो, किन्तु औपचारिक धर्म मानते हैं। और उपचारका कारण समवायिओंके होनेपर समवायका ज्ञान होना है, क्योंकि जिस जगह समवायी नहीं होते वहाँ समवायका ज्ञान नहीं होता। यदि वास्तवमें उसके (समवायके) आश्रि-

1 द 'कथञ्चिदस्य स्याज्जिनेश'। 2 मु 'नाशा'।

दिवत्, इति ।

§ १५४. तदसत्; दिगादीनामप्येवमाश्रितत्वप्रसङ्गात् । मूर्तद्रव्येषु सत्सूपलब्धिलक्षणप्राप्तेषु दिग्लिङ्गस्येदमतः पूर्वेणेत्यादिप्रत्ययस्य काललिङ्गस्य च परत्वापरत्वादिप्रत्ययस्य सद्भावात् मूर्तद्रव्याश्रितत्वोपचारप्रसङ्गात् । तथा च 'अन्यत्र नित्यद्रव्येभ्यः' इति व्याघातः, नित्यद्रव्यस्यापि दिगादेरुपचारादाश्रितत्वसिद्धेः । सामान्यस्यापि परमार्थतोऽनाश्रितत्वमनुषज्यते[1], स्वाश्रयविनाशेऽपि विनाशाभावात्, समवायवत् । तदिदं स्वाभ्युपगमविरुद्धं वैशेषिकाणामुपचारतोऽपि समवायस्याश्रितत्वं स्वातन्त्र्यं वा ।

§ १५५. किञ्च, समवायो न सम्बन्धः, सर्वथाऽनाश्रितत्वात् । यो यः सर्वथाऽनाश्रितः स स न सम्बन्धः, यथा दिगादिः, सर्वथाऽनाश्रितश्च समवायः, तस्मान्न सम्बन्धः, इति इहेदंप्रत्ययलिङ्गो यः सम्बन्धः[2] स समवायो न स्यात्, अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानामपि सम्बन्धान्तरेणाऽऽश्रितेन भवितव्यम्, संयोगादेरसम्भवात् । समवास्याऽप्यनाश्रितस्य सम्बन्धत्वविरोधात् ।

तपना कहा जाय तो आश्रयके नाशसे उसका भी नाश मानना होगा, जैसे गुणादिक ?

§ १५४. जैन—आपका यह कथन समीचीन नहीं है, इस प्रकार तो दिशा आदिकोंके भी आश्रितपनेका प्रसङ्ग आयेगा। क्योंकि उपलब्ध होनेवाले मूर्तद्रव्योंके होनेपर दिशा ज्ञापक 'यह इससे पूर्वमें है' इत्यादि ज्ञान और काल ज्ञापक परत्वापरत्व (यह इससे पर—ज्येष्ठ है अथवा अपर—कनिष्ठ है, इस प्रकारका) ज्ञान होता है। अतः दिगादिक भी उपचारसे मूर्तद्रव्योंके आश्रित हो जायेंगे। और ऐसी हालतमें "नित्यद्रव्योंको छोड़कर छह पदार्थोंके आश्रितपना है", यह सिद्धान्त स्थित नहीं रहता है, क्योंकि दिगादिक नित्य द्रव्य भी उपचारसे आश्रित सिद्ध होते हैं। इसके अतिरिक्त, सामान्य भी परमार्थतः अनाश्रित हो जायगा, क्योंकि समवायकी तरह उसके आश्रयका नाश हो जानेपर भी उसका नाश नहीं होता। इस तरह यह आपका समवायका उपचारसे भी आश्रित और स्वतंत्र मानना अपनी स्वीकृत मान्यतासे विरुद्ध है।

§ १५५. दूसरे, हम प्रमाणित करेंगे कि समवाय सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि वह सर्वथा अनाश्रित है। जो जो सर्वथा अनाश्रित होता है वह वह सम्बन्ध नहीं होता, जैसे दिशा आदिक। और सर्वथा अनाश्रित समवाय है, इस कारण वह सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार जो सम्बन्ध 'इसमें यह' इस प्रत्ययसे अनुमानित किया जाता है वह समवाय नहीं है। कारण, जो अयुतसिद्ध और आधार्याधारभूत हैं उनका भी अन्य सम्बन्ध आश्रित होना चाहिये, संयोगादिक सम्बन्ध तो उनके सम्भव नहीं हैं। समवाय यद्यपि उनके सम्भव है लेकिन वह अनाश्रित है और इसलिये उसके सम्बन्धपना नहीं बन सकता है। मतलब यह कि समवायको अनाश्रित माननेपर वह सम्बन्ध नहीं हो सकता है, क्योंकि सम्बन्ध वह है जो अनेकोंके आश्रित रहता है। अतः सिद्ध है कि समवाय अनाश्रित होनेसे सम्बन्ध नहीं है और उस हालतमें अयुतसिद्धोंके 'इहेदं' प्रत्ययसे उसका साधन नहीं हो सकता है।

---

1 द 'षज्येत'। 2 मु स प 'सम्बन्धो' इति नास्ति'।

§ १५६. स्यादाकूतम्—समवायस्य धर्मिणोऽप्रतिपत्तौ हेतोराश्रयासिद्धत्वम् । प्रतिपत्तौ धर्मिग्राहकप्रमाणबाधितः पक्षो हेतुश्च कालात्ययापदिष्टः प्रसज्यते[1] । समवायो हि यतः प्रमाणात्प्रतिपन्नस्तत एवायुतसिद्ध[2] सम्बन्धत्वं प्रतिपन्नम्, अयुतसिद्धानामेव सम्बन्धस्य समवायव्यपदेशसिद्धेः, इति ।

§ १५७. तदपि न साधीयः; [3]समवायग्राहिणा प्रमाणेनाश्रितस्यैव समवायस्याविष्वग्भावलक्षणस्य प्रतिपत्तेः । तस्यानाश्रितत्वाभ्युपगमे चासम्बन्धत्वस्य प्रसङ्गेन साधनात् । साध्यसाधनयोर्व्याप्यव्यापकभावसिद्धौ परस्य व्याप्याभ्युपगमे तन्नान्तरीयकस्य व्यापकाभ्युपगमस्य प्रतिपादनात् । न ह्यनाश्रितत्वमसम्बन्धत्वेन व्याप्तं दिगादिष्वसिद्धम् । नाऽप्यनैकान्तिकम्, अनाश्रितस्य कस्यचित्सम्बन्धत्वाप्रसिद्धेर्विपक्षे वृत्त्यभावात् । तत एव न विरुद्धम् । नाऽपि सत्प्रतिपक्षम्, तस्यानाश्रितस्यापि सम्बन्धत्वव्यवस्थापकानुमानाभावात्, इति न परेषां समवायः सम्बन्धोऽस्ति, यतः प्रतिनियमः कस्यचित्क्वचित्समवायिनि व्यवस्थाप्यते ।

---

§ १५६. वैशेषिक—हमारा अभिप्राय यह है कि आपने जो उपर्युक्त अनुमानमें समवायको धर्मी (पक्ष) बनाया है वह प्रमाणसे प्रतिपन्न है अथवा नहीं ? यदि नहीं, तो आपका हेतु (सर्वथा अनाश्रितपना) आश्रयासिद्ध है। और यदि प्रमाणसे प्रतिपन्न है तो जिस प्रमाणसे धर्मीकी प्रतिपत्ति होगी उसी प्रमाणसे पक्ष बाधित है और हेतु कालात्ययापदिष्ट—बाधितविषय हेत्वाभास है। निःसन्देह जिस प्रमाणसे समवाय प्रतिपन्न (ज्ञात) होता है उसी प्रमाणसे अयुतसिद्धोंका सम्बन्धत्व (सम्बन्धपना) भी प्रतिपन्न हो जाता है, क्योंकि अयुतसिद्धोंके ही सम्बन्धको समवाय कहा गया है। अतः समवायके सम्बन्धपना प्रमाणसिद्ध है ?

§ १५७. जैन—आपका यह कथन भी साधु नहीं है, क्योंकि समवायका ग्राहक जो प्रमाण है उसके द्वारा आश्रितरूप ही अभिन्न समवायका ग्रहण होता है। उसे अनाश्रित स्वीकार करनेपर उसके असम्बन्धपना—सम्बन्धपनेका अभाव हम प्रसङ्ग (अनिष्टापादनरूप प्रमाण) से सिद्ध करते हैं। क्योंकि यह सभी दार्शनिक प्रतिपादन करते हैं कि यदि साध्य और साधनमें व्याप्य-व्यापकभाव हो और दूसरा (प्रतिवादी) व्याप्य स्वीकार करता हो तो उसे व्याप्यका अविनाभावी व्यापक अवश्य स्वीकार करना पड़ता है। यह प्रकट है कि दिशा आदि नित्य द्रव्योंमें अनाश्रितपना असम्बन्धपनाके साथ व्याप्त होता हुआ असिद्ध नहीं है। और न वह अनैकान्तिक है क्योंकि कोई अनाश्रित होकर सम्बन्ध नहीं है और इसलिये वह विपक्षमें नहीं रहता है। तथा सत्प्रतिपक्ष भी नहीं है, कारण उसके अनाश्रित होनेपर भी सम्बन्धपनाको सिद्ध करने वाला कोई अनुमान नहीं है। इस तरह आपका समवाय, सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता, जिससे किसीका किसी समवायीमें प्रतिनियम (अमुकमें ही अमुकका समवाय है, ऐसा नियम) बने अथवा बनाया जाय।

---

1 मु 'सज्येत'। २ द 'सिद्धि'। 3 मु 'समवायि'।

§ १५८. भवतु वा समवायः, किमेकोऽनेको वा ? यदि सर्वत्रैक एव समवायोऽभ्युपगम्यते, तदा महेश्वरे ज्ञानं समवैति न पुनः खे दिगादौ वा, इति कथमवबुद्धयते ? इहेति प्रत्ययात्, इति चेत्; न; तस्येह शङ्करे ज्ञानमिति प्रत्ययस्यैकसमवायहेतुकस्य खादिव्यवच्छेदेन शङ्कर एव ज्ञानसमवायसाधनासमर्थत्वात् नियामकादर्शनाद्भेदस्य व्यवस्थापयितुमशक्तेः ।

[सत्तादृष्टान्तेन समवायस्यैकत्वसाधनम्]

§ १५९. ननु च विशेषणभेद एव नियामकः, सत्तावत् । सत्ता हि द्रव्यादिविशेषणभेदादेकाऽपि भिद्यमाना दृष्टा प्रतिनियतद्रव्यादिसत्त्वव्यवस्थापिका द्रव्यं सत्, गुणः सन्, कर्म सदिति द्रव्यादिविशेषणविशिष्टस्य सत्प्रत्ययस्य द्रव्यादिविशिष्टसत्ताव्यवस्थापकत्वात् । तद्वत् समवायिविशेषणविशिष्टेहेदंप्रत्ययाद्विशिष्टसमवायिविशेषणस्य समवायस्य व्यवस्थितेः । समवायो हि यदुपलक्षितो विशिष्टप्रत्ययात्सिद्धयति तत्प्रतिनियमहेतुरेवाभिधीयते । यथेह तन्तुषु पट इति तन्तुपटविशिष्टेहेदंप्रत्ययात्तन्तुष्वेव पटस्य समवायो नियम्यते न वीरणादिषु । न चायं विशिष्टेहेदंप्रत्ययः सर्वस्य प्रतिपत्तुः प्रतिनियतविषयः समनुभूयमानः पर्यनुयोगार्हः किमिति भवन् तत्रैव प्रतिनियतोऽनुभूयते न पुनरन्यत्र, इति । तथा तस्य पर्यनुयोगे कस्यचित्स्वेष्टतत्त्वव्यवस्था-

---

§ १५८. यदि समवाय किसी प्रकार सम्बन्ध सिद्ध भी हो जाय, फिर भी यह सवाल कि वह एक है अथवा अनेक ? बना हुआ है ? यदि सर्वत्र एक ही समवाय स्वीकार किया जाय तो महेश्वरमें ज्ञानका समवाय है, आकाशमें अथवा दिशा आदिमें नहीं, यह कैसे समझा जाय ? अगर कहें कि 'इसमें यह' इस ज्ञानसे वह जाना जाता है तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि वह 'इस महेश्वरमें ज्ञान है' इस प्रकारका प्रत्यय, जो एक समवायके निमित्तसे होता है, आकाशादिकको छोड़कर महेश्वरमें ही ज्ञानके समवायका साधक नहीं हो सकता है। कारण, कोई नियामक न होनेसे उनमें भेद स्थापित करना शक्य नहीं है ।

§ १५९. वैशेषिक—हम उक्त प्रत्ययका नियामक सत्ताकी तरह विशेषणभेदको स्वीकार करते हैं। स्पष्ट है कि जिस प्रकार सत्ता एक होती हुई भी द्रव्यादिविशेषणोंके भेदसे भेदवान् उपलब्ध होती है और तत्तत् द्रव्यादिके सत्त्वकी व्यवस्थापक है, क्योंकि द्रव्य सत् है, गुण सत् है, कर्म सत् है, इत्यादि द्रव्यादिविशेषणोंसे विशिष्ट सत्प्रत्यय (सत्ताका ज्ञान) द्रव्यादिविशिष्ट सत्ताका साधक है उसी प्रकार समवायिविशेषणोंसे विशिष्ट 'इसमें यह' इस ज्ञानसे विशिष्ट समवायिविशेषणवाले समवायकी व्यवस्था होती है। वस्तुतः जिससे उपलक्षित समवाय विशिष्ट प्रत्ययसे सिद्ध होता है उसके प्रतिनियमनका ही वह कारण कहा जाता है। जैसे, 'इन तन्तुओंमें वस्त्र' इस तन्तु-वस्त्र विशिष्ट 'इहेदं' ज्ञानसे तन्तुओंमें ही वस्त्रका समवाय नियमित होता है, वीरण (खस) आदिमें नहीं। और यह विशिष्ट 'इहेदं' प्रत्यय, जो सभी प्रतिपत्ताओंद्वारा प्रतिनियतविषयक प्रतीयमान है, पर्यनुयोग (प्रश्न) के योग्य नहीं है कि वह वहीं क्यों प्रतिनियत प्रतीत होता है, अन्यत्र क्यों नहीं ? यदि वैसा प्रश्न हो तो कोई भी दार्शनिक अपने इष्ट तत्त्वकी व्यवस्था नहीं कर सकता है, क्योंकि

ऽनुपपत्तेः । तद्व्यवस्थापकप्रत्ययस्यापि पर्यनुयोग्यत्वानिवृत्तेः । सुदूरमपि गत्वा यदि कस्यचित्प्रत्ययविशेषस्यानुभूयमानस्य पर्यनुयोगाविषयत्वात्ततस्तत्त्वव्यवस्थितिरभ्युपगम्यते, तदा इह शङ्करे ज्ञानमिति विशिष्टेहेदंप्रत्ययात्प्रमाणोपपन्नात्तत्रैव ज्ञानसमवायो व्यवतिष्ठते न खादिषु, विशेषणभेदात्समवायस्य भेदप्रसिद्धेः, इति केचिद् व्युत्पन्नवैशेषिकाः समनुमन्यन्ते[1] ।

[सत्तायाः समवायस्य च सर्वथैकत्वस्य विस्तरतः प्रतिविधानम्]

§ १६०. तेऽपि न यथार्थवादिनः; समवायस्य सर्वथैकत्वे नानासमवायिविशेषणत्वायोगात् । सत्तादृष्टान्तस्यापि साध्यत्वात् । न हि सर्वथैका सत्ता कुतश्चित्प्रमाणात्सिद्धा ।

§ १६१. ननु सत्प्रययाविशेषाद्विशेषलिङ्गाभावादेका सत्ता प्रसिद्धैव, इति चेत्; न; सर्वथा सत्प्रत्ययाविशेषस्यासिद्धत्वाद्विशेष[2]लिङ्गाभावस्य च । कथञ्चित्सत्प्रत्ययाविशेषस्तु कथञ्चिदेवैकत्वं सत्तायाः साधयेत् । यथैव हि सत्सामान्यादेशात् सत्सदिति [3]प्रत्ययस्याविशेषस्तथा सद्विशेषादेशात्सत्प्रत्ययविशेषोऽपि घटः सन् पटः सन्नित्यादिः समनुभूयते । घटादिपदार्था एव तत्र विशिष्टा न सत्ता, इति चेत्, न; एवं घटादीनामपि सर्वथैकत्वप्रसङ्गात् ।

उसके व्यवस्थापक ज्ञानमें भी पर्यनुयोग (प्रश्न) नहीं टाला जासकता है—उसमें भी वह उठे बिना न रहेगा । बहुत दूर जाकर भी यदि किसी अनुभूयमान ज्ञानविशेषको पर्यनुयोगका विषय न माना जाय और उससे तत्त्वकी व्यवस्था स्वीकृत की जाय तो 'महेश्वरमें ज्ञान है' इस प्रमाणसिद्ध विशिष्ट 'इहेदं' प्रत्ययसे महेश्वरमें ही ज्ञानका समवाय व्यवस्थित होता है, आकाशादिकमें नहीं, क्योंकि विशेषणभेदसे समवायमें भेद है, इस तर्कयुक्त बातको भी मानना चाहिये ?

§ १६०. जैन—आपका यह कथन भी यथार्थ नहीं है, क्योंकि समवाय जब सर्वथा एक है—वह किसी तरह भी अनेक नहीं होसकता है तो—नाना समवायी उसके विशेषण नहीं होसकते हैं। यथार्थमें जब समवाय सर्वथा एक है तो वह अनेक समवायिओंसे विशिष्ट नहीं होसकता है। ऊपर जो आपने समवायके एकत्वको प्रमाणित करनेके लिये सत्ताका दृष्टान्त उपस्थित किया है वह भी साध्यकोटिमें स्थित है, क्योंकि सत्ता भी किसी प्रमाणसे सर्वथा एक सिद्ध नहीं है ।

§ १६१. वैशेषिक—'सत् सत्' इस प्रकारका अनुगताकार सामान्य प्रत्यय होने और विशेष प्रत्यय न होनेसे सत्ता एक प्रसिद्ध है ?

जैन—नहीं, सर्वथा सामान्यप्रत्यय असिद्ध है और विशेषप्रत्ययका अभाव भी असिद्ध है। हाँ, कथंचित् सामान्य प्रत्यय सिद्ध है, किन्तु उससे सत्तामें कथंचित् ही एकत्व सिद्ध होगा—सर्वथा नहीं। जिस प्रकार सत्तासामान्यकी अपेक्षासे 'सत् सत्, इस प्रकारका सामान्यप्रत्यय होता है उसी प्रकार सद्विशेषकी अपेक्षासे सत्प्रत्ययविशेष भी होता है, 'घट सत् है', 'पट सत् है' इत्यादि अनुभवसिद्ध है।

वैशेषिक—'घट सत् है' इत्यादि जगह घटादि पदार्थ ही विशिष्ट होते हैं, सत्ता नहीं। अतः वह एक ही है, अनेक नहीं ?

---

1 मु 'समनुमन्यन्तोऽपि न यथार्थवादिनः'। 2 मु स 'विशिष्ट'। 3 द 'प्रत्ययविशेषः'।

शक्यं[1] हि वक्तुं घटप्रत्ययाविशेषादेको घटः, तद्धर्मा एव विशिष्टप्रत्ययहेतवो विशिष्टा इति । घटस्यैकत्वे क्वचिद्घटस्य विनाशे प्रादुर्भावे वा सर्वत्र विनाशः प्रादुर्भावो वा स्यात् । तथा च परस्परव्याघातः सकृद्घटविनाशप्रादुर्भावयोः प्रसज्येत[2], इति चेत्; न; सत्ताया अपि सर्वथैकत्वे कस्यचित्प्रागसतः सत्तया[3] सम्बन्धे सर्वस्य सकृत्सत्तासम्बन्धप्रसङ्गात् । तदसम्बन्धे वा सर्वस्यासम्बन्ध इति परस्परव्याघातः सत्तासम्बन्धासम्बन्धयोः सकृद्दुःपरिहारः स्यात् । प्रागसतः कस्यचिदुत्पादककारणसन्निधानादुत्पद्यमानस्य सत्ता[4]सम्बन्धः, परस्य तदभावात्सत्ता[5]सम्बन्धाभाव इति [6]प्रागुक्तदोषाप्रसङ्गे घटस्यापि क्वचिदुत्पादककारणभावादुत्पादस्य धर्मस्य सद्भावे घटेन सम्बन्धः क्वचित्तु विनाशहेतूपधाना[7]द्विनाशस्य भावो[8] घटस्य तेनासम्बन्ध इति कुतः परोक्तदोषप्रसङ्गः ? सर्वथैकत्वेऽपि घटस्य तद्धर्माणामुत्पादादीनां स्वकारणनियमाद्देशकालाकारनियमोपपत्तेः । न ह्युत्पादादयो धर्मा घटादनर्थान्तरभूता एव सत्ताधर्माणामपि तदनर्थान्तरत्वप्रसङ्गात् । तेषां ततोऽर्थान्तरत्वे

जैन—नहीं, इस तरह तो घटादिक भी सर्वथा एक हो जायेंगे। हम कह सकते हैं कि सामान्यघटप्रत्यय होनेसे घट एक है, उसके धर्म ही विशिष्ट होते हैं और वे ही विशिष्ट प्रत्ययके जनक हैं।

वैशेषिक—यदि घट एक हो तो कहीं घटके नाश होने अथवा उत्पन्न होनेपर सब जगह उसका नाश अथवा उत्पाद हो जायगा। और ऐसी हालतमें एक-साथ घट-विनाश और घटोत्पादमें परस्पर विरोध प्रसक्त होगा ?

जैन—नहीं, सत्ता भी यदि एक हो तो किसीके, जो पहले सत् नहीं है, सत्ताका सम्बन्ध होनेपर सबके एक-साथ सत्ताका सम्बन्ध हो जायगा। अथवा, उसके साथ सत्ताका सम्बन्ध न होनेपर सबके सत्ताका असम्बन्ध हो जायगा और इस तरह सत्ता-सम्बन्ध और सत्ता-असम्बन्धमें परस्पर दुष्परिहार्य विरोध आवेगा।

वैशेषिक—बात यह है कि जो पहले असत् है उसके उत्पादक कारण मिल जानेसे उत्पन्न हुए उस पदार्थके साथ सत्ताका सम्बन्ध हो जाता है और अन्यके उत्पादक कारण न मिलनेसे उत्पन्न न हुए अन्यके साथ सत्ताका सम्बन्ध नहीं होता और इसलिये सत्ताको एक माननेमें दिया गया उपर्युक्त दोष नहीं है ?

जैन—इस तरह तो घटको भी एक माननेमें आपके द्वारा दिया गया दोष नहीं है, क्योंकि घटके भी उत्पादक कारण मिलनेसे उत्पाद धर्मका सद्भाव होता है और घटके साथ उसका सम्बन्ध होता है। किन्तु कहीं विनाशकारण मिलनेसे विनाश धर्म होता है और घटका उसके साथ असम्बन्ध [सम्बन्ध ?] हो जाता है। अतः घटको सर्वथा एक होनेपर भी उसके उत्पादादिक धर्मोंका अपने कारणोंके नियमसे देश, काल और आकारका नियम बन जाता है। कारण, उत्पादादिक धर्म घटसे अभिन्न ही हों, सो बात नहीं है। अन्यथा सत्ताधर्मोंको भी सत्तासे अभिन्न मानना पड़ेगा। और इस-

1 मु स 'शक्यो'। 2 मु स 'प्रसज्यते'। 3 मु स प 'सत्तायाः'। 4 मु स 'सम्बन्धः'। 5 मु स 'सम्बन्धाभावः'। 6 द 'प्रोक्त'। 7 मु स 'तूपादाना'। 8 द 'भावे'।

घटादुत्पादादीनामप्य[1]र्थान्तरत्वं प्रतिपत्तव्यम् । तथा च त एव विशिष्टा न घट इति कथं न घटैकत्वमापद्यते ।

§ १६२. ननु घटस्य नित्यत्वे कथमुत्पादादयो धर्मा घटेरन्[2], नित्यस्यानुत्पादाविनाशधर्मकत्वात् ? इति चेत्, तर्हि सत्ताया नित्यत्वे कथमुत्पद्यमानैरर्थैः सम्बन्धः प्रभज्यमानैश्चेति चिन्त्यताम् ? स्वकारणवशादुत्पद्यमानाः प्रभज्यमानाश्चार्थाः शश्वदवस्थितया सत्तया सम्बन्ध्यन्ते न पुनः शश्वदवस्थितेन घटेन स्वकारणसामर्थ्यादुत्पादादयो धर्माः सम्बन्ध्यन्ते, इति स्वदर्शनपक्षपातमात्रम् ।

§ १६३. घटस्य सर्वगतत्वे पदार्थान्तराणामभावापत्तेरुत्पादादिधर्मकारणानामप्यसम्भवात् कथमुत्पादादयो धर्माः स्युः ? इति चेत्, सत्तायाः सर्वगतत्वेऽपि प्रागभावादीनां क्वचिदनुपपत्तेः कथमुत्पद्यमानैः प्रभज्यमानैश्चार्थैः सम्बन्धः सिद्ध्येत् ? प्रागभावाभावे हि कथं प्रागसतः प्रादुर्भवतः सत्तया[3] सम्बन्धः ? प्रध्वंसाभावाभावे हि कथं विनश्यतः पश्चादसतः सत्तया सम्बन्धा-

लिये जब सत्ताधर्म सत्तासे भिन्न हैं अथवा भिन्न माने जाते हैं तो उत्पादादिक धर्मोंको भी घटसे भिन्न मानना चाहिये। अतएव वे ही विशिष्ट होते हैं, घट नहीं, इस तरह घटकी एकताका आपादन क्यों नहीं किया जासकता है ? अर्थात् अवश्य किया जासकता है।

§ १६२. वैशेषिक—अगर घट नित्य हो तो उसमें उत्पादादिक धर्म कैसे बन सकेंगे ? क्योंकि जो नित्य होता है वह उत्पाद और विनाशधर्म रहित होता है ?

जैन—तो सत्ता भी यदि नित्य हो तो उत्पन्न होनेवाले और नष्ट होनेवाले पदार्थोंके साथ उसका सम्बन्ध कैसे बनेगा, यह भी सोचिये।

वैशेषिक—अपने कारणोंसे उत्पन्न और नष्ट होनेवाले पदार्थ सदा ठहरनेवाली सत्ताके साथ सम्बन्धित होते हैं, अतः कोई दोष नहीं है ?

जैन—तो सदा ठहरनेवाले घटके साथ अपने कारणोंसे होनेवाले उत्पादादिक धर्म भी सम्बन्धित हो जायें, अन्यथा केवल अपने मतका पक्षपात कहा जायगा। तात्पर्य यह कि नित्य सत्ताके साथ तो उत्पद्यमान और प्रभज्यमान पदार्थोंका सम्बन्ध हो जाय और नित्य घटके साथ उत्पादादिक धर्मोंका सम्बन्ध न हो, यह तो सर्वथा सरासर अन्ध पक्षपात है।

§ १६३. वैशेषिक—घट यदि व्यापक हो तो दूसरे पदार्थोंका अभाव प्रसक्त होगा और तब उत्पादादिधर्मोंके कारणोंका भी अभाव होनेसे उत्पादादिक धर्म कैसे बन सकेंगे ?

जैन—सत्ता भी यदि व्यापक हो तो प्रागभावादिक कहीं भी उपपन्न न होनेसे उसका उत्पन्न होनेवाले और नष्ट होनेवाले पदार्थोंके साथ सम्बन्ध कैसे बनेगा ? स्पष्ट है कि प्रागभावके अभावमें प्राक् असत् और पीछे उत्पन्न होनेवाले पदार्थका सत्ताके साथ सम्बन्ध कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता है। तथा प्रध्वंसके अभावमें

1 मु 'मर्थान्तर'। 2 मु 'घटेरन्' इति पाठो नास्ति। 3 द 'सत्तायाः'।

भावः ? इति सर्वं दुरवबोधम् ।

§ १६४. स्यान्मतम्—सत्तायाः स्वाश्रयवृत्तित्वात्स्वाश्रयापेक्षया सर्वगतत्वं न सकलपदार्थापेक्षया, सामान्यादिषु प्रागभावादिषु च तद्वृत्त्यभावात् । [1]तत्राबाधितस्य सत्प्रत्ययस्याभावाद्द्रव्यादिष्वेव तदनुभवात्, इति; तदपि स्वगृहमान्यम्; घटस्याऽप्येवमबाधितघटप्रत्ययोत्पत्तिहेतुष्वेव स्वाश्रयेषु भावान्न सर्वपदार्थव्यापित्वम्, पदार्थान्तरेषु[2] घटप्रत्ययोत्पत्त्यहेतुषु तदभावात्, इति वक्तुं शक्यत्वात् ।

§ १६५. नन्वेको घटः कथमन्तरालवर्त्तिपटाद्यर्थान् परिहृत्य नानाप्रदेशेषु दविष्टेषु भिन्नेषु[3] वर्त्तते युगपत् ? इति चेत्, कथमेका सत्ता सामान्यविशेषसमवायान् प्रागभावादींश्च परिहृत्य द्रव्यादिपदार्थान् सकलान् सकृद् व्याप्नोतीति समानः पर्यनुयोगः । तस्याः[4] स्वयममूर्त्तत्वात्केनचित्प्रतिघाताभावाददोष इति चेत्, तर्हि घटस्याऽप्यनभिव्यक्त[5]मूर्त्तेः केनचित्प्रतिबन्धाभावात्सर्वगतत्वे को दोषः ? सर्वत्र घटप्रत्ययप्रसङ्ग इति चेत्, सत्तायाः सर्वगत्वे सर्वत्र सत्प्रत्ययः किं न स्यात् ? प्रागभावादिषु तस्यास्तु तिरोधानान्न सत्प्रत्ययहेतुत्वम्, इति चेत्, घटस्यापि पदार्थान्तरेषु तत्तिरोधानाद्घटप्रत्ययहेतुत्वं माभूत् । न चैवं "सर्वं सर्वत्र विद्यते" [ ] इति वदतः सांख्यस्य किञ्चिद्विरुद्धम्, बाधकाभावात्, तिरोधानाविर्भावाभ्यां स्वप्रत्ययाविधानस्य क्वचित्स्वप्रत्ययविधानस्य[1] चाविरोधात् ।

§ १६६. किञ्च, घटत्वादि[2]सामान्यस्य [3]घटादिव्यक्तिष्वभिव्यक्तस्य तदन्तराले [4]चानभिव्यक्तस्य घटप्रत्ययहेतुत्वाहेतुत्वे स्वयमुररीकुर्वाणः कथं न घटस्य स्वव्यञ्जकदेशेऽभिव्यक्तस्यान्यत्र चानभिव्यक्तस्य घटप्रत्ययहेतुत्वाहेतुत्वे नाभ्युपगच्छतीति स्वेच्छाकारी ।

§ १६७. स्यान्मतम्—नाना घटः, सकृद्भिन्नदेशतयोपलभ्यमानत्वात्, घटकटमुकुटादिपदार्थान्तरवदिति; तर्हि नाना सत्ता, युगपद्बाधकाभावे सति भिन्नदेशद्रव्यादिषूपलभ्यमानत्वात्तद्वदिति दर्शनान्तरमायातम्, न्यायस्य समानत्वात् । न हि विभिन्नप्रदेशेषु घटपटादिषु युगपत्स-

विनष्ट होनेवाले अतएव पीछे असत् हुए पदार्थका सत्ताके साथ सम्बन्धाभाव कैसे बन सकता है ? इस तरह सब दुर्बोध हो जाता है ।

§ १६४. वैशेषिक—हमारा आशय यह है कि सत्ता अपने आश्रयमें रहती है, अतः वह अपने आश्रयकी अपेक्षा व्यापक है, सम्पूर्ण पदार्थोंकी अपेक्षा वह व्यापक नहीं है; क्योंकि सामान्यादिक और प्रागभावादिक पदार्थोंमें वह नहीं रहती है । कारण, उनमें निर्बाध सत्प्रत्यय (सत्ताका ज्ञान) नहीं होता, द्रव्यादिकोंमें ही वह प्रतीत होता है ?

जैन—यह भी आपकी निजकी ही मान्यता है, क्योंकि इस तरह घट भी व्यापक सिद्ध हो जाता है । कारण, वह भी निर्बाध घटप्रत्ययके उत्पादक अपने आश्रयोंमें ही रहता है और इस लिये वह समस्त पदार्थोंकी अपेक्षा व्यापक नहीं है, क्योंकि अन्य पदार्थोंमें, जो घटज्ञानके जनक नहीं हैं, नहीं रहता है ।

§ १६५. वैशेषिक—एक घड़ा बीचके वस्त्रादिकोंको छोड़कर दूरवर्ती विभिन्न अनेक देशोंमें एक-साथ कैसे रह सकता है ?

जैन—तो एक सत्ता सामान्य, विशेष, समवाय और प्रागभावादिकोंको छोड़कर समस्त द्रव्यादि पदार्थोंको एक-साथ कैसे व्याप्त कर सकती है ? इस तरह यह प्रश्न तो दोनों जगह बराबर है ।

वैशेषिक—सत्ता स्वयं अमूर्तिक है, इसलिये उसका किसीके साथ प्रतिघात नहीं होता । अर्थात् समस्त द्रव्यादि पदार्थोंको व्याप्त करनेमें किसीसे उसकी रोक नहीं होती और इसलिये सत्ताके विषयमें उक्त दोष नहीं है ?

जैन—तो जिस घटकी मूर्ति (आकृति) अनभिव्यक्त है—अभिव्यक्त नहीं हुई है उस घटकी किसीसे रुकावट नहीं होती और इसलिये उसको भी व्यापक स्वीकार करनेमें क्या दोष है । अर्थात् सत्ताकी तरह घटको भी व्यापक होनेमें कोई दोष नहीं है ।

वैशेषिक—घट यदि व्यापक हो तो सर्वत्र घटका ज्ञान होना चाहिए ?

जैन—सत्ता भी यदि व्यापक हो तो सब जगह सत्ताका ज्ञान क्यों नहीं होगा ?

वैशेषिक—प्रागभावादिकोंमें सत्ताका तिरोभाव रहता है, इसलिये वहाँ सत्ताका ज्ञान नहीं हो सकता ?

जैन—अन्य पदार्थोंमें घटका भी तिरोभाव रहता है, अतः उनमें घटके ज्ञानका भी प्रसङ्ग मत हो । और इस तरहका कथन तो "सब सब जगह मौजूद है" ऐसा कहनेवाले सांख्यके कुछ भी विरुद्ध नहीं है, क्योंकि उसमें बाधा नहीं है । तथा तिरोभाव और आविर्भावके द्वारा इष्ट प्रत्ययका न होना और कहीं इष्ट प्रत्ययका होना बन सकता है—कोई विरोध नहीं है ।

§ १६६. दूसरे, जब आप यह स्वीकार करते हैं कि 'घटत्व' आदि सामान्य घटादिक व्यक्तियोंमें अभिव्यक्त (प्रकट) है और इसलिये उनमें घटज्ञान होता है । किन्तु घटादिव्यक्तियोंके अन्तराल (बीच) में वह अनभिव्यक्त है, अतः वहाँ घटज्ञान उत्पन्न नहीं होता, तो आप इस बातको भी क्यों स्वीकार नहीं करते कि घट अपने अभिव्यञ्जकवाले देशमें अभिव्यक्त है, इसलिये वहाँ तो घटका ज्ञान होता है और अभिव्यञ्जकशून्य स्थानमें वह अनभिव्यक्त है, अतः वहाँ घटका ज्ञान नहीं होता । यदि ऐसा स्वीकार न करें तो आपकी स्वेच्छाकारिता क्यों नहीं कहलाई जायगी ।

§ १६७. वैशेषिक—हमारा अभिप्राय यह है कि 'घड़ा अनेक हैं, क्योंकि एक-साथ भिन्न देशोंमें उपलब्ध होते हैं, जैसे वस्त्र, चटाई, मुकुट आदि दूसरे पदार्थ ।' अतः घड़ा एक नहीं हो सकता है ?

जैन—यदि ऐसा है तो सत्ताको भी नाना मानिये । हम प्रमाणित करेंगे कि 'सत्ता अनेक है, क्योंकि एक-साथ बिना बाधकके भिन्न देशोंमें उपलब्ध होती है, जैसे वस्त्र, चटाई, मुकुट आदि दूसरे पदार्थ ।' अतः सत्ता भी एक नहीं हो सकती और इसलिये यह अन्य मत प्राप्त होता है, क्योंकि न्याय तो दोनों जगह एक-सा है । यह भी नहीं कि भिन्न देशवर्ती घड़ा, वस्त्र आदि पदार्थोंमें एक-साथ सत्ताका उपलम्भ असिद्ध हो,

1 द 'तत्र बाधितस्य सत्प्रत्ययस्य भावात्' । 2 द 'पदार्थान्तरेष्वघटप्रत्ययोत्पत्तिहेतुषु' । 3 द 'भिन्नेषु' नास्ति । 4 द 'तस्या' इति पाठो नास्ति । 5 मु स 'क्ति' ।

1 मु स प 'स्याविरो' । 2 मु स प 'घटादि' । 3 द 'घटव्यक्ति' । 4 द 'वानभि-' ।

त्तो[1]पलम्भोऽसिद्धः, सन्तोऽमी [2]घटपटादय इति प्रतीतेरबाधितत्वात् । व्योम्नाऽनैकान्तिकोऽयं हेतुरिति चेत्; न; तस्य प्रत्यक्षतो भिन्नदेशतयाऽतीन्द्रियस्य युगपदुपलम्भाभावात् । परेषां युगपद्भिन्नदेशाकाशलिङ्गशब्दोपलम्भासम्भवाच्च नानुमानतोऽपि भिन्नदेशतया युगपदुपलम्भोऽस्ति यतस्तेनानैकान्तिकत्वं हेतोरभिधीयते । नानादेशाकाशलिङ्गशब्दानां नानादेशस्थपुरुषैः श्रवणादाकाशस्यानुमानात् युगपद्भिन्नदेशतयोपलम्भस्य प्रसिद्धावपि न तेन व्यभिचारः साधनस्य, तस्य प्रदेशभेदान्नानात्वसिद्धेः । निःप्रदेशस्य युगपद्भिन्नदेशकालसकलमूर्तिमद्द्रव्यसंयोगानामनुपपत्तेरेकपरमाणुवत् ।

[सत्तायाः स्वतन्त्रपदार्थत्वं निराकृत्यासत्तादृष्टान्तेन तस्याः पदार्थधर्मत्वसाधनं चातुर्विध्यसमर्थनं च]

§ १६८. न चेयं सत्ता स्वतन्त्रः पदार्थः सिद्धः, पदार्थधर्मत्वेन प्रतीयमानत्वात्, असत्त्ववत् । यथैव हि घटस्यासत्त्वं पटस्यासत्त्वमिति पदार्थधर्मतया प्रतीयमानत्वान्नाऽसत्त्वं स्वतन्त्रः पदार्थस्तथा घटस्य सत्त्वं पटस्य सत्त्वमिति पदार्थधर्मत्वेनोपलभ्यमानत्वात्सत्त्वमपि, सर्वथा विशे-

---

क्योंकि 'ये घड़ा, वस्त्रादिक सत् हैं' इस प्रकारका निर्बाध ज्ञान होता है ।

वैशेषिक—आपका यह हेतु आकाशके साथ अनैकान्तिक है, क्योंकि आकाश भिन्न देशोंमें उपलब्ध होता है, पर वह अनेक नहीं है—एक है ?

जैन—नहीं, आकाश अतीन्द्रिय (इन्द्रियागोचर) है और इसलिये वह प्रत्यक्षसे एक-साथ भिन्न देशोंमें उपलब्ध नहीं होता । दूसरे, आपके यहाँ एक-साथ भिन्न देशवर्ती आकाशज्ञापक शब्दोंका उपलम्भ भी सम्भव नहीं है, अतः अनुमानसे भी आकाशका भिन्न देशोंमें एक-साथ ग्रहण नहीं हो सकता है, जिससे आकाशके साथ हेतुको अनैकान्तिक बतलायें ।

वैशेषिक—विभिन्नदेशवर्ती आकाशज्ञापक शब्द विभिन्न देशीय पुरुषोंद्वारा सुने जाते हैं और इसलिये आकाशकी अनुमानसे एक-साथ भिन्न देशोंमें उपलब्धि सुप्रसिद्ध है । अतः उसके साथ हेतु अनैकान्तिक है ही ?

जैन—नहीं, हेतु उसके (आकाशके) साथ अनैकान्तिक नहीं है, क्योंकि आकाशको हमने प्रदेशभेदसे अनेक व्यवस्थापित किया है । प्रदेशरहित पदार्थमें एक परमाणुकी तरह एक-साथ भिन्न देश और कालवर्ती समस्त मूर्तिमान् द्रव्योंके संयोग नहीं बन सकते हैं और चूँकि आकाशका समस्त मूर्तिमान् द्रव्योंके साथ संयोग सर्व प्रसिद्ध है । अतः उसे प्रदेशभेदरहित नहीं माना जासकता है । अतएव वह प्रदेशभेदकी अपेक्षासे अनेक है और इसलिये उसके साथ अनैकान्तिक नहीं है ।

§ १६८. दूसरी बात यह है कि सत्ता स्वतन्त्र पदार्थ सिद्ध नहीं होती, क्योंकि वह पदार्थका धर्म प्रतीत होती है, जैसे असत्ता । प्रकट है कि जिस प्रकार असत्ता 'घटकी असत्ता', 'पटकी असत्ता' इस तरह पदार्थका धर्म प्रतीत होती है और इसलिये वह स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है उसी प्रकार सत्ता भी 'घटकी सत्ता', 'पटकी सत्ता' इस तरह पदार्थका धर्मरूपसे उपलब्ध होती है और इसलिये वह भी स्वतन्त्र पदार्थ

---

1 मु स प 'त्वो' । 2 मु स प 'घटादय' ।

षाभावात् । सर्वत्र घटः सन् पटः सन् इति प्रत्ययस्याविशेषादेकं सत्त्वं पदार्थधर्मत्वेऽपीति चेत्, तर्हि सर्वत्रासदिति प्रत्ययस्याविशेषाद्भावपरतन्त्रत्वेऽप्येकमसत्त्वमभ्युपगम्यताम् । प्रागसत् पश्चादसदितरे[1]तरदसदत्यन्ता[2]सदिति प्रत्ययविशेषात् प्रागसत्त्वपश्चादसत्त्वेतरेतरासत्त्वात्यन्तासत्त्वभेदसिद्धेर्नैकमसत्त्वमिति चेत्, नन्वेवं विनाशात्पूर्वं सत्त्वं प्राक्सत्त्वं[3] स्वरूपलाभादुत्तरं सत्त्वं पश्चात्सत्त्वं[4] समानजातीययोः केनचिद्रूपेणेतरस्येतरत्र[5] सत्त्वमितरेतरसत्त्वं कालत्रयेऽप्यनाद्यनन्तस्य सत्त्वमत्यन्तसत्त्वमिति सत्त्वभेदः किं नानुमन्यते, सत्प्रत्ययस्यापि प्राक्कालादितया[6]ऽविशेषसिद्धेर्बाधकाभावात् । यथा चासत्त्वस्य सर्वथैकत्वे क्वचित्कार्यस्योत्पत्तौ[7] प्रागभावविनाशे सर्वत्राभावविनाशप्रसङ्गात् न किञ्चित्प्रागसदिति सर्वकार्यमनादि स्यात्, न किञ्चित्पश्चादसदिति तदनन्तं स्यात्, न क्वचित्किञ्चिदसदिति सर्वं सर्वात्मकं स्यात्, न क्वचित्किञ्चि[8]दत्यन्तमसदिति सर्वं सर्वत्र

नहीं है । दोनोंमें कुछ भी विशेषता नहीं है । अतः असत्ताकी तरह सत्ताको भी पदार्थका धर्म ही मानना चाहिये, स्वतन्त्र पदार्थ नहीं ।

वैशेषिक—'घट सत् है', पट सत् है,' इस प्रकारका सब जगह एक-सा प्रत्यय होता है । अतः सत्ता पदार्थका धर्म होनेपर भी एक है—अनेक नहीं ?

जैन—तो 'असत्' इस प्रकारका सब जगह एक-सा प्रत्यय होता है । अतः असत्ताको भी भावपरतन्त्र होनेपर भी एक मानिये—उसे भी अनेक मत मानिये ।

वैशेषिक—पूर्व असत्, पश्चात् असत्, परस्पर असत् और अत्यन्त असत्, इस प्रकारके प्रत्ययविशेष होनेसे प्राक् असत्ता, पश्चात् असत्ता, इतरेतर असत्ता और अत्यन्त असत्ता अर्थात् प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव) ये चार असत्ताके भेद प्रसिद्ध होते हैं । अतः असत्ता एक नहीं है— अनेक है ?

जैन—इस तरह तो सत्ताके भी अनेक भेद हो सकते हैं, विनाशके पहलेकी सत्ता पूर्व सत्ता, स्वरूपलाभ (उत्पत्ति) के बादकी सत्ता पश्चात् सत्ता, एक जातीय दो पदार्थोंमें किसी रूपसे एककी दूसरेमें सत्ता इतरेतर सत्ता, और तीनों कालोंमें भी बर्तमान अनादि अनन्त सत्ता अत्यन्त सत्ता, इस प्रकार सत्ताके भी भेद क्यों नहीं माने जासकते हैं ? असत्ताके प्रत्ययविशेषोंकी तरह सत्ताके भी प्राक्कालिक सत्ता, पश्चात्कालिक सत्ता आदिरूपसे प्रत्ययविशेष होते हैं और उनमें कोई बाधा नहीं है । और जिस प्रकार असत्ताको सर्वथा एक होनेमें यह बाधा कही जासकती है कि कहीं कार्यके उत्पन्न होनेपर प्रागभावके विनाश हो जानेसे सब जगह अभावके विनाशका प्रसङ्ग आयेगा और उस हालतमें न कोई प्राक् असत् (प्रागभावयुक्त) रहेगा और इसलिये सब कार्य अनादि हो जायेंगे तथा न कोई पश्चात् असत् (प्रध्वंसाभावयुक्त) रहेगा और इसलिये सब कार्य अनन्त–अन्तरहित (नाशहीन) हो जायेंगे, एवं न कोई किसीमें असत् रहेगा और इसलिये सब सवरूप हो जायेंगे, और न किसीमें कोई अत्यन्त असत् (अत्यन्ताभावयुक्त) बनेगा और इसलिये सब, सब जगह और सब

---

1 मु 'रत्रेतरद' । 2 मु 'न्तमस' । 3 द प्रतौ 'प्राक्सत्वं' नास्ति । 4 द प्रतौ 'पश्चात्सत्वं' नास्ति । 5 मु 'णेतरेतरत्र' । 6 मु 'तया विशेष' । 7 'कार्योत्यत्तौ' । 8 स मु प प्रतिषु 'किञ्चित्' पाठो नास्ति ।

सर्वदा प्रसज्येतेति बाधकं तथा सत्त्वैकत्वेऽपि[1] समानमुपलभामहे । कस्यचित्प्रध्वंसे सत्त्वाभावे सर्वत्र सत्त्वाभावप्रसङ्गान्न किञ्चित्कुतश्चित्प्राक् सत् पश्चात्सद्वा स्यात्[2] । नाऽपीतरत्रेतरत्सत्स्यात् अत्यन्तसद्वेति सर्वशून्यतापत्तिदुःशक्या परिहर्त्तुम् । तां परिजिहीर्षता सत्त्वस्य भेदोऽभ्युपगन्तव्य इति नैका सत्ता सर्वथा सिद्ध्येत्, असत्तावत्, तदनन्तपर्यायतोपपत्तेः ।

§ १६६. स्यान्मतिरेषा ते—कस्यचित्कार्यस्य प्रध्वंसेऽपि न सत्तायाः प्रध्वंसः, तस्या नित्यत्वात् । पदार्थान्तरेषु सत्प्रत्ययहेतुत्वात्प्राक्कालादिविशेषणभेदेऽप्यभिन्नत्वात् सर्वथा शून्यतां परिहरतोऽपि सत्ताऽनन्तपर्यायताऽनुपपत्तिरिति, साऽपि न साधीयसी, कस्यचित्कार्यस्योत्पादेऽपि प्रागभावस्याभावानुपपत्तिप्रसङ्गात्, तस्य नित्यत्वात्, पदार्थान्तराणामुत्पत्तेः पूर्वं प्रागभावस्य स्वप्रत्ययहेतोः सद्भावसिद्धेः । समुत्पन्नैककार्यविशेषणतया विनाशव्यवहारेऽपि प्रागभावस्यावि-

कालमें प्रसक्त होंगे। इस प्रकार असत्ताको सर्वथा एक माननेपर यह बड़ी भारी बाधा आती है उसी प्रकार सत्ताको भी एक माननेमें भी वह उपस्थित की जासकती है और इस तरह दोनों ही जगह हम समानता पाते हैं। मान लीजिये कि एक जगह किसीका नाश हुआ तो वहाँ सत्ताके न रहनेसे सब जगह सत्ताके अभावका प्रसङ्ग आवेगा और उस दशामें न कोई किसीसे प्राक् सत् होगा, न पश्चात् सत् होगा और न इतरेतर सत् होगा तथा न अत्यन्त सत् होगा और इस तरह सर्वशून्यताकी प्राप्ति होती है, जिसका परिहार अत्यन्त कठिन हो जायगा। अतः यदि आप सर्वशून्यताका परिहार करना चाहते हैं तो सत्ताको अनेक मानना चाहिये। अतएव सत्ता सर्वथा एक सिद्ध नहीं होती है, जैसे असत्ता, क्योंकि उसके अनन्त भेद (पर्यायें) प्रमाणसे प्रतिपन्न होते हैं।

§ १६६. वैशेषिक—हमारा अभिप्राय यह है कि किसी कार्यके नाश हो जानेपर भी सत्ताका नाश नहीं होता, क्योंकि वह नित्य है। जो नित्य होता है वह कदापि नाश नहीं होता। अतः दूसरे पदार्थोंमें सत्ताका ज्ञान होनेसे प्राक् कालिकी, पश्चात्कालिकी इत्यादि विशेषणभेद होनेपर भी सत्ता एक है—भेदवाली नहीं है और इसलिये सर्वशून्यताका परिहार हो जाता है और सत्तामें उपर्युक्त अनन्त भेदोंका प्रसङ्ग भी नहीं आता। तात्पर्य यह कि सत्ताके विशेषणभूत घटपटादि पदार्थोंके नाश हो जानेपर भी सत्ताका न तो नाश होता है और न उसमें अनेकता ही आती है। उक्त विशेषणोंमें ही विनाश, उत्पाद और अनेकतादि होते हैं। अतः सत्ता सर्वथा एक है—अनेक नहीं ?

जैन—आपका यह अभिप्राय भी साधु नहीं है, क्योंकि किसी कार्यके उत्पन्न हो जानेपर भी प्रागभावका अभाव नहीं हो सकता, कारण, वह नित्य है, और नित्य इसलिये है कि अन्य दूसरे पदार्थोंकी उत्पत्तिके पहले उनके प्रागभावका ज्ञान करानेवाले प्रागभाव विद्यमान रहते हैं। अतः उत्पन्न एक कार्यरूपविशेषणकी अपेक्षासे

1 मु स 'बाधकमपि तथा सत्त्वैकत्वे', द 'बाधकमपि सत्त्वैकत्वे'। मूले संशोधितः पाठो निक्षिप्तः। 2 मु स 'स्यात्' नास्ति ।

नाशिनो नानाऽनुत्पन्नकार्यापेक्षया विशेषणभेदेऽपि भेदासम्भवादेकत्वाविरोधात् । न ह्युत्पत्तेः पूर्वं घटस्य प्रागभावः पटस्य प्रागभाव इत्यादिविशेषणभेदेऽप्यभावो भिद्यते घटस्य सत्ता पटस्य सत्तेत्यादिविशेषणभेदेऽपि सत्तावत् ।

§ १७०. ननु प्रागभावस्य नित्यत्वे कार्योत्पत्तिर्न स्यात्, तस्य तत्प्रतिबन्धकत्वात् । तदप्रतिबन्धकत्वे प्रागपि कार्योत्पत्तेः[1] कार्यस्यानादित्वप्रसङ्ग इति चेत्, तर्हि सत्ताया नित्यत्वे कार्यस्य प्रध्वंसो न स्यात, तस्यास्तत्प्रतिबन्धकत्वात् । तदप्रतिबन्धकत्वे प्रध्वंसात्प्रागपि प्रध्वंसप्रसङ्गात् कार्यस्य स्थितिरेव न स्यात् । कार्यसत्ता हि प्रध्वंसात्प्राक् प्रध्वंसस्य प्रतिघातिकेति कार्यस्य स्थितिः सिद्ध्येत्, नान्यथा ।

§ १७१. यदि पुनर्बलवत्प्रध्वंसकारणसन्निपाते कार्यस्य सत्ता न प्रध्वंसं प्रतिबध्नाति, ततः पूर्वं तु बलवद्विनाशकारणाभावात् प्रध्वंसं[2] प्रतिबध्नात्येव ततो न प्रागपि प्रध्वंसप्रसङ्ग

प्रागभावमें विनाशका व्यवहार होनेपर भी अनेक अनुत्पन्न कार्योंकी अपेक्षा अविनाशी प्रागभावमें विशेषणभेद होनेपर भी भेद नहीं हो सकता है और इसलिये उसके एकपनेका कोई विरोध नहीं है। स्पष्ट है कि उत्पत्तिके पूर्व घटका प्रागभाव, पटका प्रागभाव इत्यादि विशेषणभेद होनेपर भी अभाव (प्रागभाव) में कोई भेद नहीं होता। जैसे घटकी सत्ता, पटकी सत्ता इत्यादि विशेषणभेद होनेपर भी सत्तामें भेद नहीं होता। तात्पर्य यह कि सत्ताकी तरह प्रागभाव भी नित्य और एक कहा जा सकता है। हम कह सकते हैं कि प्रागभावके विशेषणभूत घटपटादि पदार्थोंके नाश होनेपर भी प्रागभावका न तो नाश होता है और न उसमें अनेकता ही आती है। उक्त विशेषणोंमें ही विनाश और अनेकतादि होते हैं। अतः प्रागभाव एक है।

§ १७०. वैशेषिक—यदि प्रागभाव नित्य हो तो कार्यकी उत्पत्ति नहीं हो सकेगी, क्योंकि वह उसका प्रतिबन्धक (रोकनेवाला) है। और यदि उसे कार्योत्पत्तिका प्रतिबन्धक न माना जाय तो कार्योत्पत्तिके पूर्व भी कार्य अनादि हो जायगा ?

जैन—यह दोष तो सत्ताको नित्य माननेमें भी लागू हो सकता है। हम कह सकते हैं कि सत्ता भी यदि नित्य हो तो कार्यका नाश नहीं हो सकेगा, क्योंकि वह उसकी प्रतिबन्धक है। और अगर वह प्रतिबन्धक न हो तो कार्यनाशके पहले भी नाशका प्रसङ्ग आवेगा और उस दशामें कार्यकी स्थिति (अवस्थान) ही नहीं बन सकती है। स्पष्ट है कि कार्यकी सत्ता नाशके पहले नाशकी प्रतिबन्धक है और इस तरह कार्यकी स्थिति सिद्ध हो सकती है, अन्यथा नहीं।

§ १७१. वैशेषिक—बात यह है कि नाशके बलवान् कारण मिलनेपर कार्यकी सत्ता नाशको नहीं रोकती है। लेकिन नाशके पहले तो नाशके बलवान् कारण न मिलनेसे वह नाशको रोकती ही है। अतः कार्यनाशके पहले भी कार्यनाशका प्रसङ्ग नहीं आसकता है ?

1 'कार्योत्पत्तेः' इति द प्रतौ नास्ति। 2 द प्रतौ 'प्रध्वंसं' नास्ति।

इति मतम्, तदा बलवदुत्पादकारणोपधानात्कार्यस्योत्पादं प्रागभावः सन्नपि न [1]निरुणद्धि [2]कार्योत्पादात्पूर्वं तु तदुत्पादकारणाभावात्तं [3]निरुणद्धि ततो न प्रागपि कार्योत्पत्तिर्येन कार्यस्यानादित्वप्रसङ्ग इति प्रागभावस्य सर्वदा सद्भावो मन्यताम्, सत्तावत्। तथा चैक एव सर्वत्र प्रागभावो व्यवतिष्ठते। प्रध्वंसाभावश्च न प्रागभावादर्थान्तरभूतः स्यात्, कार्यविनाशविशिष्टस्य तस्यैव प्रध्वंसाभाव इत्यभिधानात्। तस्यैवेतरेतरव्यावृत्तिविशिष्टस्येतरेतराभावाभिधानवत्[4]।

§ १७२. ननु च कार्यस्य विनाश एव प्रध्वंसाभावो न पुनस्ततोऽन्यो येन विनाशविशिष्टः प्रध्वंसाभाव इत्यभिधीयते। नापीतरेतरव्यावृत्तिरितरेतराभावादन्या येन तया विशिष्टस्येतरेतराभावाभिधानमिति चेत्, तर्हीदानीं कार्यस्योत्पाद एव प्रागभावाभावः, ततोऽर्थान्तरस्य तस्या[5]सम्भवात्कथं तेन कार्यस्य प्रतिबन्धः सिद्ध्येत्? कार्योत्पादात्प्रागभावाभावस्यार्थान्तरत्वे प्रागेव कार्योत्पादः स्यात्, शश्वदभावाभावे शश्वत्सद्भाववत्। न ह्यन्यदैवाभावस्याभावोऽन्यदैव भावस्य सद्भावः इत्यभावाभावभाव[6]सद्भावयोः कालभेदो युक्तः, सर्वत्राभावाभावस्यैव भावसद्भावप्रसिद्धेः भावाभावस्याभावप्रसिद्धिवत्। तथा च कार्यसद्भाव एव तदभावाभावः, कार्याभाव एव च तद्भावस्याभाव इत्यभावविनाशवद्भावविनाशप्रसिद्धेः न भावाभावौ परस्परमतिशयाते[1] यतस्तयोरन्यतरस्यैवैकत्व-नित्यत्वे नानात्वानित्यत्वे वा व्यवतिष्ठेते।

§ १७३. तदनेनासत्त्वस्य नानात्वमनित्यत्वं च प्रतिजानता सत्त्वस्यापि तत्प्रतिज्ञातव्यमिति कथञ्चित्सत्ता एका, सदिति प्रत्ययाविशेषात्। कथञ्चिदनेका प्राक्सदित्यादिसत्प्रत्ययभेदात्। कथञ्चिन्नित्या, सैवेयं सत्तेति प्रत्यभिज्ञानात्। कथञ्चिदनित्या, कालभेदात्, पूर्वसत्ता पश्चात्सत्तेति सत्प्रत्ययभेदात् सकलबाधकाभावादनुमन्तव्या, तत्प्रतिपक्षभूताऽसत्तावत्। ततः 'समवायिविशेषणविशिष्टेहेदंप्रत्ययहेतुत्वात्समवायः समवायिविशेषप्रतिनियमहेतुर्द्रव्यादिविशेषणविशिष्टसत्प्रत्ययहेतुत्वाद्द्रव्यादिविशेषप्रतिनियमहेतुसत्तावत्' इति विषम उपन्यासः, सत्ताया नानात्वसाधनात्। तद्वत्समवायस्य नानात्वसिद्धेः।

[समवायस्यापि सत्तावदेकत्वानेकत्वं नित्यत्वानित्यत्वं च प्रदर्शयति]

§ १७४. सोऽपि हि कथञ्चिदेक एव इहेदंप्रत्ययाविशेषात्। कथञ्चिदनेक एव नानासम-

जैन—इस तरह तो हम भी कह सकते हैं कि उत्पत्तिके बलवान् कारण मिल जानेसे प्रागभाव भी कार्यकी उत्पत्तिको नहीं रोकता। हाँ, कार्योत्पत्तिके पूर्व तो उसकी उत्पत्तिके कारण न होनेसे वह उसको रोकता है, अतः कार्योत्पत्तिके पहले भी कार्योत्पत्तिका प्रसङ्ग नहीं आसकता है, जिससे कि कार्यमें अनादिपना प्राप्त होता। और इसलिये प्रागभावका सत्ताकी तरह सर्वदा सद्भाव मानिये। अतः सिद्ध है कि प्रागभाव सब जगह एक ही है। तथा प्रध्वंसाभाव प्रागभावसे भिन्न नहीं है, क्योंकि कार्यविनाशसे विशिष्ट प्रागभावका ही नाम प्रध्वंसाभाव है। इसी तरह इतरेतरव्यावृत्तिविशिष्ट प्रागभावका ही नाम इतरेतराभाव है।

§ १७२. वैशेषिक—कार्यका विनाश ही प्रध्वंसाभाव है उससे अन्य कोई प्रध्वंसाभाव नहीं है, जिससे विनाशविशिष्ट प्रागभावको प्रध्वंसाभाव कहा जाय। और न इतरेतरव्यावृत्ति भी इतरेतराभावसे भिन्न है, जिससे इतरेतरव्यावृत्तिसे विशिष्ट प्रागभावको इतरेतराभाव कहा जाय। तात्पर्य यह कि प्रध्वंसाभाव और इतरेतराभाव प्रागभावसे भिन्न हैं और सर्वथा स्वतंत्र हैं—वे उसके विशेषण नहीं हैं?

जैन—इस प्रकार तो यह कहना भी अयुक्त न होगा कि जो इस समय कार्यकी उत्पत्ति है वही प्रागभावाभाव है, उससे भिन्न प्रागभावाभाव नहीं है और तब प्रागभावसे कार्यका प्रतिबन्ध कैसे सिद्ध हो सकता है? यदि कार्योत्पत्तिसे प्रागभावाभाव भिन्न हो तो कार्योत्पत्तिसे पहले भी कार्यकी उत्पत्ति हो जानी चाहिये, जैसे नित्य अभावाभावके होनेपर नित्य सद्भाव होता है। अन्य समयमें ही अभावाभाव है और अन्य समयमें ही भावसद्भाव है, इस तरह अभावाभाव और भावसद्भावमें कालभेद मानना युक्त नहीं प्रतीत होता। सब जगह अभावाभावको ही भावसद्भावरूप स्वीकार किया गया है और सिद्ध किया गया है, जैसे भावाभावको अभाव सिद्ध किया है। अत एव कार्यका सद्भाव ही कार्याभावाभाव है और कार्यका अभाव ही कार्यसद्भावाभाव है, इस तरह अभावनाशकी तरह भावका भी नाश सिद्ध होता है और इसलिये भाव (सत्ता) और अभाव (असत्ता) में परस्परमें कुछ भी विशेषता नहीं है, जिससे उनमेंसे भाव (सत्ता) को ही एक और नित्य और अभाव (असत्ता) को नाना तथा अनित्य व्यस्थित किया जाय।

§ १७३. अतः यदि असत्ताको अनेक और अनित्य मानते हैं तो सत्ताको भी अनेक और अनित्य मानना चाहिये। और इसलिये हम सिद्ध करेंगे कि सत्ता कथंचित् एक है, क्योंकि 'सत्' इस प्रकारका सामान्यप्रत्यय होता है। तथा वह कथंचित् अनेक हैं, क्योंकि 'प्राक् सत्' इत्यादि विशेषप्रत्यय होते हैं। कथंचित् वह नित्य है, क्योंकि 'वही यह सत्ता है' इस प्रकारका प्रत्यभिज्ञान होता है। कथंचित् वह अनित्य है, क्योंकि कालभेद उपलब्ध होता है। पूर्वकालिकी सत्ता, पश्चात्कालिकी सत्ता, इस प्रकार कालको लेकर विशेष सत्प्रत्यय होते हैं और ये प्रत्यय बाधारहित हैं। इसलिये सत्ता कथंचित् अनित्य भी है, जैसे असत्ता।

अतः पहले जो यह कहा था कि 'समवाय समवायिविशेषके प्रतिनियमका कारण है, क्योंकि वह समवायिविशेषणसे विशिष्ट 'इहेदं' (इसमें यह) इस ज्ञानका जनक है, जैसे द्रव्यादिविशेषणसे विशिष्ट सत्ताज्ञानमें कारण होनेसे द्रव्यादिविशेषका प्रतिनियम करानेवाली सत्ता।' सो यहाँ सत्ताका दृष्टान्त विषम है अर्थात् वादी और प्रतिवादी दोनोंको मान्य न होनेसे प्रकृतमें उपयोगी नहीं है, क्योंकि सत्ता उपर्युक्त प्रकारसे नाना सिद्ध होती है—एक नहीं और इसलिये सत्ताकी तरह समवाय नाना प्रसिद्ध होता है।

§ १७४. हम प्रतिपादन करेंगे कि समवाय भी कथंचित् एक ही है, क्योंकि 'इसमें

1, 3 मु प स 'विरुणद्धि'। 2 मु स 'कार्योत्पादनात्पूर्वं'। 4 द 'भावाभिधानाभाववत्'। 5 मु प 'र्थान्तरस्यासम्भवा'। स 'र्थान्तरस्य सद्भावा'। 6 मु 'भाव' इति नास्ति।

1 द 'शयेते'।

वायिविशिष्टेहेदंप्रत्ययभेदात् । कथञ्चिन् नित्य एव, प्रत्यभिज्ञायमानत्वात् । कथञ्चिदनित्य एव, कालभेदेन प्रतीयमानत्वात् । न चैकत्राधिकरणे परस्परमेकत्वानेकत्वे नित्यत्वानित्यत्वे वा विरुद्धे, सकलबाधकरहितत्वे सत्युपलभ्यमानत्वात्, कथञ्चित्सत्त्वासत्त्ववत् ।

[सत्त्वासत्त्वयोरेकत्र वस्तुनि युगपद्विरोधमाशङ्क्य तत्परिहारप्रदर्शनम्]

§ १७५. यदप्यभ्यधायि—सत्त्वासत्त्वे नैकत्र वस्तुनि सकृत्सम्भवतः, तयोर्विधिप्रतिषेधरूपत्वात् । ययोर्विधिप्रतिषेधरूपत्वं ते नैकत्र वस्तुनि सकृत्सम्भवतः, यथा शीतत्वाशीतत्वे । विधिप्रतिषेधरूपे च सत्त्वासत्त्वे । तस्मान्नैकत्र वस्तुनि सकृत्सम्भवत इति; तदप्यनुपपन्नम्; वस्तुन्येकत्राभिधेयत्वानभिधेयत्वाभ्यां सकृत्सम्भवद्भ्यां व्यभिचारात् । कस्यचित्स्वाभिधायकाभिधानापेक्षयाऽभिधेयत्वमन्याभिधायकाभिधानापेक्षया चानभिधेयत्वं सकृदुपलभ्यमानमबाधितमेकत्राभिधेयत्वानभिधेयत्वयोः सकृत्सम्भवं साधयतीत्यभ्यनुज्ञाने स्वरूपाद्यपेक्षया सत्त्वं पररूपाद्यपेक्षया चासत्त्वं निर्बाधमनुभूयमानमेकत्र वस्तुनि सत्त्वासत्त्वयोः सकृत्सम्भवं किं न साधयेत् ? विधिप्रतिषेधरूपत्वाविशेषात्कथञ्चिदुपलभ्यमानयोर्विरोधानवकाशात् । येनैव स्वरूपेण सत्त्वं तेनैवासत्त्वमिति सर्वथाऽर्पितयोरेव सत्त्वासत्त्वयोर्युगपदेकत्र विरोधसिद्धेः ।

यह' इस प्रकारका समान प्रत्यय होता है। कथंचित् वह अनेक ही है, क्योंकि नाना समवायिविशेषणोंसे विशिष्ट 'इहेदं' प्रत्ययविशेष होते हैं। कथंचित् वह नित्य ही है, क्योंकि 'वही यह है' इस प्रकारका प्रत्यभिज्ञान होता है। कथंचित् अनित्य ही है, क्योंकि विभिन्न कालोंमें वह प्रतीत होता है। और यह नहीं कि एक जगह एकपना और अनेकपना तथा नित्यपना और अनित्यपना परस्पर विरोधी हों, क्योंकि बिना किसी बाधकके वे एक जगह उपलब्ध होते हैं, जैसे कथंचित् अस्तित्व और कथंचित् नास्तित्व।

§ १७५. वैशेषिक—एक वस्तुमें एक-साथ अस्तित्व और नास्तित्व सम्भव नहीं हैं, क्योंकि वे विधि और प्रतिषेधरूप हैं। जो विधि और प्रतिषेधरूप होते हैं वे एक जगह वस्तुमें एक-साथ नहीं रह सकते हैं, जैसे शीतता और उष्णता। और विधि-प्रतिषेधरूप अस्तित्व और नास्तित्व हैं। इस कारण वे एक जगह वस्तुमें एक-साथ नहीं रह सकते हैं ?

जैन—आपका यह कथन भी युक्त नहीं है, क्योंकि एक जगह एक-साथ रहनेवाले अभिधेयपने और अनभिधेयपनेके साथ आपका हेतु व्यभिचारी है। किसी एक वस्तुके अपने अभिधायक शब्दकी अपेक्षा अभिधेयपना और अन्य वस्तुके अभिधायक शब्दकी अपेक्षा अनभिधेयपना दोनों एक-साथ स्पष्टतया पाये जाते हैं और इसलिये वह एक जगह अभिधेयपने और अनभिधेयपनेकी एक-साथ सम्भवताको साधता है, इस तरह जब यह स्वीकार किया जाता है तो स्वरूपादिककी अपेक्षासे अस्तित्व और पररूपादिककी अपेक्षासे नास्तित्व, जो कि निर्बाधरूपसे अनुभवमें आरहे हैं, एक जगह वस्तुमें अस्तित्व और नास्तित्वकी एक-साथ सम्भवताको क्यों नहीं साधेंगे ? क्योंकि विधि-प्रतिषेधरूपपना समान है और इसलिये जिनकी एक जगह एक-साथ कथंचित् उपलब्धि होती है उनमें विरोध नहीं आता है। हाँ, यदि जिसरूपसे अस्तित्व माना जाता है उसीरूपसे नास्तित्व कहा जाता तो उन सर्वथा एकान्तरूप अस्ति-

§ १७६. कथञ्चित्सत्त्वासत्त्वयोरेकत्र वस्तुनि सकृत्प्रसिद्धौ च तद्वदेकत्वानेकत्वयोर्नित्यत्वानित्यत्वयोश्च सकृदेकत्र निर्णयान्न किञ्चिद्विप्रतिषिद्धम् । समवायस्यापि तथाप्रतीतेरबाधितत्वात् । सर्वथैकत्वे महेश्वर एव ज्ञानस्य समवायाद्वृत्तिर्न पुनराकाशादिष्विति प्रतिनियमस्य नियामकमपश्यतो निश्चयासम्भवात् । न चाकाशादीनामचेतनता नियामिका, चेतनात्मगुणस्य ज्ञानस्य चेतनात्मन्येव महेश्वरे समवायोपपत्तेरचेतनद्रव्ये[1] गगनादौ तदयोगात्, ज्ञानस्य तद्गुणत्वाभावादिति वक्तुं युक्तम्; शम्भोरपि स्वतोऽचेतनत्वप्रतिज्ञानात्खादिभ्यस्तस्य विशेषासिद्धेः[2] ।

§ १७७. स्यादाकूतम्—नेश्वरः स्वतश्चेतनोऽचेतनो वा चेतना[3]समवायात्तु चेतयिता खादयस्तु न चेतनासमवायाच्चेतयितारः कदाचित् । अतोऽस्ति तेभ्यस्तस्य विशेष इति; तदप्यसत्; स्वतो महेश्वरस्य स्वरूपानवधारणान्निस्स्वरूपतापत्तेः[4] । स्वयं तस्यात्मरूपत्वान्न स्वरूप-

त्व-नास्तित्वधर्मोंके ही एक-साथ एक-जगह रहनेमें विरोध होता है—कथंचित्में नहीं।

§ १७६. इस प्रकार कथंचित् अस्तित्व और कथंचित् नास्तित्वकी एक जगह वस्तुमें जब एक-साथ प्रसिद्धि हो जाती है तो वैसे ही एकपना और अनेकपनाकी तथा नित्यपना और अनित्यपनाकी भी एक जगह वस्तुमें एक-साथ सिद्धि हो जाती है। अतः उसमें कुछ भी विरोध नहीं है।

समवाय भी एक-अनेक, नित्य-अनित्य आदिरूप प्रतीत होता है और उस प्रतीतिमें कोई बाधा नहीं है। यथार्थमें यदि समवाय एक हो तो 'महेश्वरमें ही ज्ञानकी समवायसे वृत्ति है, आकाशादिकमें नहीं' इस व्यवस्थाका कोई नियामक न दिखनेसे ज्ञानका महेश्वरमें निश्चय नहीं हो सकता है। और यह कहना युक्त नहीं कि 'आकाशादिक तो अचेतन हैं और ज्ञान चेतन-आत्माका गुण है, इसलिये वह चेतनात्मक महेश्वरमें ही समवायसे रहता है, अचेतनद्रव्य आकाशादिकोंमें नहीं। कारण, ज्ञान उनका गुण नहीं है—महेश्वरका है। अतः आकाशादिनिष्ठ अचेतनता उक्त व्यवस्थाकी नियामक है।' क्योंकि वैशेषिकोंने महेश्वरको भी स्वतः अचेतन स्वीकार किया है और इसलिये आकाशादिकसे महेश्वरके भेद सिद्ध नहीं होता। तात्पर्य यह उक्त व्यवस्थाकी नियामक आकाशादिककी अचेतनता नहीं हो सकती है, क्योंकि वह अचेतनता महेश्वरके भी है—उसे भी वैशेषिकोंने स्वतः अचेतन स्वीकार किया है—चेतनासमवायसे ही उसे चेतन माना है।

§ १७७. वैशेषिक—हमारी मान्यता यह है कि महेश्वर स्वतः न चेतन है और न अचेतन। किन्तु चेतनासमवायसे चेतन है, लेकिन आकाशादिक तो कभी भी चेतनासमवायसे चेतन नहीं हैं। अतः आकाशादिकसे महेश्वरके भेद है ही ?

जैन—यह मान्यता भी आपकी सम्यक् नहीं है, क्योंकि महेश्वरका स्वतः कोई स्वरूप निश्चित अथवा निर्धारित न होनेसे उसके स्वरूपहीनताकी प्राप्ति होती है।

वैशेषिक—महेश्वर स्वतः आत्मारूप है, अतः उसके स्वरूपहानि प्राप्त नहीं होती ?

1 मु 'द्रव्यगगना' इति पाठः । 2 द '।।६५।।' इति पाठः । 3 मु 'तन' । 4 द 'निरात्मतापत्तेः'

हानिरिति चेत्; न; आत्मनोऽप्यात्मत्वयोगादात्मत्वेन व्यवहारोपगमात् स्वतोऽनात्मत्वादात्मरूपस्याऽप्यसिद्धेः[1]।

§ १७८. यदि पुनः स्वयं नाऽऽत्मा महेशो नाऽप्यनात्मा केवलमात्मत्वयोगादात्मेति मतम्, तदा स्वतः किमसौ स्यात् ? द्रव्यमिति चेत्; न; द्रव्यत्वयोगाद्द्रव्यव्यवहारवचनात्[2], स्वतो[3] द्रव्यस्वरूपेणापि महेश्वरस्याव्यवस्थितेः।

§ १७९. यदि तु न स्वतोऽसौ द्रव्यं नाऽप्यद्रव्यं द्रव्यत्वयोगाद्द्रव्यमिति प्रतिपाद्यते, [4]तदा स्वयं द्रव्यस्वरूपस्याप्यभावात्किंस्वरूपः शम्भुर्भवेदिति वक्तव्यम् ? सन्नेव स्वयमसाविति चेत्; न; [5]सत्त्वयोगात्सन्निति व्यवहारसाधनात् स्वतः सद्रूपस्याप्रसिद्धेः। अथ न स्वतः सन्न चासन् सत्त्वसमवायात्तु सन्नित्यभिधीयते, तदा व्याघातो दुरुत्तरः स्यात्[6], सत्त्वासत्त्वयोरन्योन्यव्यवच्छेदरूपयोरेकतरस्य प्रतिषेधेऽन्यतरस्य विधानप्रसङ्गादुभयप्रतिषेधस्यासम्भवात् । कथमेवं

जैन—नहीं, आपके यहाँ आत्माको भी आत्मत्वके सम्बन्धसे आत्मा स्वीकार किया है, स्वतः आत्मा नहीं है। अतएव महेश्वरका आत्मारूप भी सिद्ध नहीं होता।

§ १७८. वैशेषिक—बात यह है कि महेश्वर स्वयं न आत्मा है और न अनात्मा। केवल आत्मत्वके सम्बन्धसे आत्मा है ?

जैन—तो आप बतलायें कि वह स्वयं क्या है ? अर्थात् स्वतः उसका क्या स्वरूप है ?

वैशेषिक—स्वयं वह द्रव्य है, अर्थात् स्वतः उसका द्रव्य स्वरूप है ?

जैन—नहीं, आपके शास्त्रोंमें द्रव्यत्वके योगसे 'द्रव्य' व्यवहार बतलाया गया है। अतः महेश्वरका स्वतः द्रव्यस्वरूप भी व्यवस्थित नहीं होता।

§१७९. वैशेषिक—हमारा कहना यह है कि महेश्वर स्वतः न द्रव्य है और न अद्रव्य है, किन्तु द्रव्यत्वके योगसे द्रव्य है ?

जैन—जब महेश्वर स्वयं द्रव्यस्वरूप भी नहीं है तो आपको यह स्पष्टतया बतलाना चाहिये कि महेश्वरका स्वतः क्या स्वरूप है ?

वैशेषिक—वह स्वयं सत् ही है अर्थात् उसका स्वतः सत् स्वरूप है ?

जैन—नहीं; सत्ताके सम्बन्धसे आपके यहाँ 'सत्' व्यवहार सिद्ध किया गया है। इसलिये महेश्वर स्वतः सत्स्वरूप भी सिद्ध नहीं होता।

वैशेषिक—हमारा वक्तव्य यह है कि महेश्वर स्वतः न सत् है और न असत् है किन्तु सत्ताके समवायसे सत् है ?

जैन—इसप्रकारका कथन करनेसे तो वह महान् विरोध आता है, जिसका वारण करना आपके लिये कठिन होजायगा; क्योंकि सत्ता और असत्ता परस्पर व्यवच्छेदरूप हैं और इसलिये उनमेंसे किसी एकका निषेध करनेपर दूसरेका विधान अवश्य मानना पड़ेगा, दोनोंका प्रतिषेध असम्भव है। इसलिये यह कदापि नहीं कहा जासकता कि

---

1 द '॥६६॥' इत्यधिकः पाठः। 2 द '॥६७॥' इति पाठः। 3 मु प स प्रतिषु 'सतो' पाठः। 4 मु 'तदा न स्वयं द्रव्यं स्वरूप-'। 5 द '॥६८॥' इत्यधिकः पाठः। 6 द '॥६९॥' इत्यधिकः पाठः।

सर्वथासत्त्वासत्त्वयोः स्याद्वादिभिः प्रतिषेधे तेषां व्याघातो न भवेदिति चेत्; न; तैः कथञ्चित्सत्त्वासत्त्वयोर्विधानात् । सर्वथासत्त्वासत्त्वे हि कथञ्चित्सत्त्वासत्त्वव्यवच्छेदेनाभ्युपगम्येते । सर्वथासत्त्वस्य कथञ्चित्सत्त्वस्य व्यवच्छेदेन व्यवस्थानात् । असत्त्वस्य च कथञ्चिदसत्त्वव्यवच्छेदेनेति सर्वथासत्त्वस्य प्रतिषेधे कथञ्चित्सत्त्वस्य विधानात् । सर्वथा चासत्त्वस्य निषेधे कथञ्चिद[1]सत्त्वस्य विधिः, इति कथं सर्वथासत्त्वासत्त्वप्रतिषेधे स्याद्वादिनां व्याघातो दुरुत्तरः स्यात् ? सर्वथैकान्तवादिनामेव तस्य दुरुत्तरत्वात् ।

§ १८०. एतेन द्रव्यत्वाद्रव्यत्वयोरात्मत्वानात्मत्वयोश्चेतनत्वाचेतनत्वयोश्च परस्परव्यवच्छेदरूपयोर्युगपत्प्रतिषेधे व्याघातो दुरुत्तरः प्रतिपादितः, तदेकतरप्रतिषेधेऽन्यतरस्य विधेरवश्यम्भावादुभयप्रतिषेधस्यासम्भवात्, कथञ्चित्सत्त्वासत्त्वयोर्वैशेषिकैरनभ्युपगमात् ।

महेश्वर स्वतः न सत् है और न असत् है, क्योंकि सत्का प्रतिषेध करनेपर असत्का विधान अवश्य होगा और असत्का प्रतिषेध करनेपर सत्का विधान होगा—दोनोंका प्रतिषेध कदापि सम्भव नहीं है।

वैशेषिक—यदि ऐसा है तो फिर आप (जैन-स्याद्वादी) लोग जब सर्वथा सत्ता और असत्ताका प्रतिषेध करते हैं तब आपके यहाँ क्यों विरोध नहीं आवेगा ?

जैन—नहीं हम लोग कथंचित् सत्ता और कथंचित् असत्ताका विधान करते हैं। प्रगट है कि सर्वथा सत्ता और सर्वथा असत्ता कथंचित् सत्ता और कथंचित् असत्ताके व्यवच्छेदरूपसे स्वीकार की जाती हैं। सर्वथा सत्ता कथंचित् सत्ताके व्यवच्छेदरूपसे और सर्वथा असत्ता कथंचित् असत्ताके व्यवच्छेदरूपसे व्यवस्थापित होती हैं। इसलिये सर्वथा सत्ताका प्रतिषेध करनेपर कथंचित् सत्ताका विधान होता है और सर्वथा असत्ताका निषेध करनेपर कथंचित् असत्ताकी विधि होती है। इस तरह सर्वथा सत्ता और सर्वथा असत्ताका प्रतिषेध करनेपर हमलोगों (स्याद्वादियों—कथंचित्की मान्यताको स्वीकार करनेवालों) के अपरिहार्य अथवा दुष्परिहार्य विरोध कैसे आसकता है ? अर्थात् नहीं आसकता है, वह सर्वथा एकान्तवादियोंके ही दुष्परिहार्य है—उनके यहाँ ही उसका परिहार सर्वथा असम्भव है। हम अनेकान्तवादियोंके तो उक्त प्रकारसे उसका परिहार होजाता है। अतः सर्वथा सत्ता और असत्ताके प्रतिषेध करनेमें हमारे यहाँ विरोध नहीं आता।

§ १८०. इस कथनसे द्रव्यपने और अद्रव्यपने, आत्मपने और अनात्मपने तथा तथा चेतनपने और अचेतनपनेका, जो परस्पर व्यवच्छेदरूप हैं, प्रतिषेध करनेमें प्राप्त दुष्परिहार्य विरोधका प्रतिपादन जानना चाहिये, क्योंकि उनमेंसे एकका प्रतिषेध करनेपर दूसरेका विधान अवश्य होगा, दोनोंका प्रतिषेध असम्भव है और वैशेषिकोंने कथंचित् सत्ता और कथंचित् असत्ता एवं कथंचित् द्रव्यत्व और कथंचित् अद्रव्यत्व आदि स्वीकार नहीं किया है।

---

1 मु 'त्सत्त्व'।

[स्वरूपेणासतः सतो वा महेश्वरस्य सत्त्वसमवायस्वीकारे दोषप्रदर्शनम्]

§ १८१. किञ्च, स्वरूपेणासति महेश्वरे सत्त्वसमवाये प्रतिज्ञायमाने खाम्बुजे सत्त्वसमवायः परमार्थतः किन्न भवेत् ? स्वरूपेणासत्त्वाविशेषात् । खाम्बुजस्याभावान्न तत्र सत्त्वसमवायः [1]पारमार्थिके सद्वर्गे द्रव्यगुणकर्मलक्षणे सत्त्वसमवायसिद्धेर्महेश्वर एवात्मद्रव्यविशेषे सत्त्वसमवाय इति च स्वमनोरथमात्रम्, स्वरूपेणासतः कस्यचित्सद्वर्गत्वासिद्धेः । स्वरूपेण सति महेश्वरे सत्त्वसमवायोपगमे सामान्यादावपि सत्त्वसमवायप्रसङ्गः स्वरूपेण सत्त्वाविशेषात् । यथैव हि महेश्वरस्य स्वरूपतः सत्त्वं वृद्धवैशेषिकैरिष्यते तथा पृथिव्यादिद्रव्याणां रूपादिगुणानामुत्क्षेपणादिकर्मणां सामान्यविशेषसमवायानां च प्रागभावादीनामपीष्यत एव तथापि क्वचिदेव सत्त्वसमवायसिद्धौ नियमहेतुर्वक्तव्यः । सत्सदिति ज्ञानमबाधितं नियमहेतुरिति चेत्; न; तस्य सामान्यादिष्वपि भावात् । यथैव हि द्रव्यं सत्, गुणः सन्, कर्म सदिति ज्ञानमबाधितमुत्पद्यते तथा सामान्यमस्ति, विशेषोऽस्ति समवायोऽस्ति, प्रागभावादयः सन्तीति ज्ञानमप्यबाधितमेव [1]सामान्यादिप्रागभावादितत्त्वास्तित्वमन्यथा तद्वादिभिः कथमभ्युपगम्येत ? तत्रास्तित्वधर्मसद्भावादस्तीति ज्ञानं न पुनः सत्तासम्बन्धात्, अनवस्थाप्रसङ्गात् । सामान्ये हि सामान्यान्तरपरिकल्पनायामनवस्था स्यात्परापरसामान्यकल्पनात् । विशेषेषु च सामान्योपगमे सामान्यज्ञानाद्विशेषानुपलम्भादुभयतद्विशेषस्मरणाच्च कस्यचिदवश्यम्भाविनि संशये तद्व्यवच्छेदार्थं विशेषान्तरकल्पनानुषङ्गः । पुनस्तत्रापि सामान्यकल्पनेऽवश्यम्भावी संशयः सति तस्मिंस्तद्व्यवच्छेदाय तद्विशेषान्तरकल्पनायामनवस्थाप्रसङ्गात्परापरविशेषसामान्यकल्पनस्यानिवृत्तेः । सुदूरमपि गत्वा विशेषेषु सामान्यानभ्युपगमे सिद्धाः सामान्यरहिता विशेषाः । समवाये च सामान्यस्यासम्भवः प्रसिद्ध एव, तस्यैकत्वात् । सम्भवे चानवस्थानुषङ्गात्, समवाये सामान्यस्य समवायान्तरकल्पनादिति न सामान्यादिषु सदिति ज्ञानं सत्तानिबन्धनं बाध्यमानत्वात् । तथा प्रागभावादिष्वपि सत्तासमवाये

§ १८१. दूसरे, आप स्वरूपतः असत् महेश्वरमें सत्ताका समवाय मानते हैं अथवा स्वरूपतः सत्में ? यदि स्वरूपतः असत् महेश्वरमें सत्ताका समवाय मानें तो आकाशकमलमें सत्ताका समवाय वास्तविक क्यों नहीं होजाय, क्योंकि स्वरूपसे असत् वह भी है और इसलिये स्वरूपसे असत्की अपेक्षा दोनों समान हैं—कोई विशेषता नहीं है।

वैशेषिक—आकाशकमलका तो अभाव है, इसलिये उसमें सत्ताका समवाय नहीं होसकता। लेकिन पारमार्थिक द्रव्य, गुण और कर्मरूप सद्वर्गमें सत्ताका समवाय होसकता है और इस लिये आत्मद्रव्यविशेषरूप महेश्वरमें ही सत्ताका समवाय सिद्ध है ?

जैन—यह आपका मनोरथमात्र है—आपके अपने मनकी केवल कल्पना है, क्योंकि स्वरूपतः असत् कोई सद्वर्ग सिद्ध नहीं होसकता। तात्पर्य यह कि जब महेश्वरको स्वरूपतः असत् मान लिया तब वह सद्वर्ग सिद्ध नहीं होसकता और जब वह सद्वर्ग नहीं है—सर्वथा असत् है तो उसमें और आकाशकमलमें कोई भेद नहीं है। अतः स्वरूपसे असत् महेश्वरमें सत्ताका समवाय माननेपर आकाशकमलमें भी वह प्रसक्त होता है।

वैशेषिक—हम स्वरूपतः असत् महेश्वरमें सत्ताका समवाय स्वीकार नहीं करते किन्तु स्वरूपसे सत् महेश्वरमें सत्ताका समवाय मानते हैं, अतः उक्त दोष नहीं है ?

जैन—इस तरह तो सामान्यादिकमें भी सत्ताके समवायका प्रसङ्ग आयेगा, क्योंकि स्वरूपसे सत् वे भी हैं। प्रगट है कि जिस प्रकार वृद्ध वैशेषिक महेश्वरको स्वरूपतः सत् स्वीकार करते हैं उसी प्रकार वे पृथिवी आदि द्रव्योंको, रूपादिक गुणोंको और उत्क्षेपणादि कर्मोंको तथा सामान्य, विशेष, समवायको एवं प्रागभावादिकोंको भी स्वरूपसे सत् स्वीकार करते हैं। फिर भी किन्हींमें ही सत्ताका समवाय सिद्ध किया जाय तो उसमें नियामक हेतु बतलाना चाहिये।

वैशेषिक—'सत् सत्' इस प्रकारका निर्बाध ज्ञान नियामक हेतु है, इसलिये उपर्युक्त दोष नहीं है ?

जैन—नहीं, 'सत् सत्' इस प्रकारका निर्बाध ज्ञान तो सामान्यादिकोंमें भी होता है। स्पष्ट है कि जिसप्रकार 'द्रव्य सत्,' 'गुण सत्' 'कर्म सत्' इस प्रकारका अबाधित ज्ञान उत्पन्न होता है उसी प्रकार 'सामान्य है, विशेष है, समवाय है, प्रागभावादिक हैं' इस प्रकारका ज्ञान भी अबाधित ही उत्पन्न होता है। अन्यथा, आप लोग सामान्यादिक तथा प्रागभावादिक तत्त्वोंके अस्तित्वको कैसे स्वीकार कर सकेंगे ?

वैशेषिक—सामान्यादिक तथा प्रागभावादिकमें अस्तित्वधर्मके सद्भावसे 'सत्' का ज्ञान होता है, न कि सत्ताके समवायसे। क्योंकि उनमें सत्ताका समवाय माननेपर अनवस्था आती है। प्रसिद्ध है कि सामान्यमें अन्य दूसरे सामान्यकी कल्पना करनेपर अनवस्था नामक दोष प्राप्त होता है, क्योंकि दूसरे-तीसरे आदि सामान्योंकी कल्पना करनी पड़ती है और जिसका कहीं भी विश्राम नहीं है। तथा विशेषोंमें यदि सामान्य माना जाय तो सामान्यका ज्ञान होने, विशेषका ज्ञान न होने और दोनों वस्तुओंके विशेषोंका स्मरण होनेसे किसीको संशय अवश्य होगा और इसलिये उस संशयको दूर करनेके लिये दूसरे विशेषोंकी कल्पना करना पड़ेगी और फिर उनमें भी सामान्य स्वीकार करनेपर संशय अवश्य होगा और उसके होनेपर उसको दूर करनेके लिये पुनः अन्य विशेष मानना पड़ेगा और उस हालतमें अनवस्थाका प्रसंग आवेगा, क्योंकि अन्य, अन्य विशेष और सामान्यकी कल्पनाकी निवृत्ति नहीं होती। बहुत दूर जाकर भी यदि विशेषोंमें सामान्य न मानें तो प्रारम्भमें भी विशेषोंको सामान्यरहित ही मानना चाहिये। अतः सिद्ध हुआ कि विशेष सामान्यरहित हैं। और समवायमें सामान्यकी असम्भवता प्रसिद्ध ही है, क्योंकि वह एक है और अनेकमें रहनेवालेको सामान्य कहा है। और यदि समवायमें सामान्य सम्भव हो तो अनवस्था प्रसक्त होती है, क्योंकि समवायमें सामान्यके रहनेके लिये अन्य समवायोंकी कल्पना करना पड़ेगी। अतः सामान्यादिकोंमें 'सत्' का ज्ञान सत्ताके निमित्तसे नहीं होता, क्योंकि उसमें बाधाएँ आती हैं। इसी तरह प्रागभावादिकोंमें भी सत्ताका समवाय

1 मु 'पारमार्थिकः'।

1 द 'सामान्यादिषु प्रागभावादिषु चास्तित्व'।

प्रागभावादित्व[1]विरोधान्न सत्तानिबन्धनमस्तीति ज्ञानम् । ततोऽस्तित्वधर्मविशेषणसामर्थ्यादेव तत्रास्तीति ज्ञानमभ्युपगन्तव्यम्, अन्यथाऽस्तीति व्यवहारायोगात्, इति केचिद्वैशेषिकाः समभ्यमंसत[2] ।

§ १८२. तांश्च परे प्रतिक्षिपन्ति । सामान्यादिषूपचरितसत्त्वाभ्युपगमान्मुख्यसत्त्वे बाधकसद्भावान्न पारमार्थिकसत्त्वं सत्तासम्बन्धादिवाऽस्तित्वधर्मविशेषणबलादपि सम्भाव्यते सत्ताव्यतिरेकेणास्तित्वधर्मग्राहकप्रमाणाभावात् । अन्यथाऽस्तित्वधर्मेऽप्यस्तीति प्रत्ययादस्तित्वान्तरपरिकल्पनायामनवस्थानुषङ्गात् । तत्रोपचरितस्यास्तित्वस्य प्रतिज्ञाने सामान्यादिष्वपि तदुपचरितमस्तु मुख्ये बाधकसद्भावात्, सर्वत्रोपचारस्य मुख्ये[3] बाधकसद्भावादेवोपपत्तेः । प्रागभावादिष्वपि मुख्यास्तित्वे[4] बाधकोपपत्तेरुपचारत एवास्तित्वव्यवहारसिद्धेरिति । तेषां द्रव्यादिष्वपि सदिति ज्ञानं सत्तानिबन्धनं कुतः सिद्ध्येत् ? तस्यापि बाधकसद्भावात् । तेषां स्वरूपतोऽसत्त्वे सत्त्वे वा सत्तासम्बन्धानुपपत्तेः । स्वरूपेणासत्सु द्रव्यादिषु सत्तासम्बन्धेऽतिप्रसङ्गस्य बाधकस्य प्रतिपाद-

माननेपर प्रागभावादिपनेका विरोध आता है और इसलिये उनमें जो अस्तित्वका ज्ञान होता है वह सत्ताके निमित्तसे नहीं होता। इसलिये अस्तित्वधर्मरूप विशेषणके सामर्थ्यसे ही उनमें अस्तित्व (सत्) का ज्ञान मानना चाहिये, अन्यथा उनमें अस्तित्वका व्यवहार नहीं बन सकता है।

§ १८२. जैन—आपका यह समस्त प्रतिपादन युक्तिसङ्गत नहीं है, क्योंकि आपने जो यह कहा है कि 'सामान्यादिकोंमें उपचरित सत्ता मानी है, उनमें मुख्य सत्ता माननेमें बाधाएँ होनेसे उनमें पारमार्थिक सत्ता नहीं है' वह सत्तासम्बन्धकी तरह अस्तित्वधर्मरूप विशेषणके सामार्थ्यसे भी सम्भव है। कारण, सत्तासे अतिरिक्त अस्तित्वधर्मका ग्राहक प्रमाण नहीं है। तात्पर्य यह कि ऊपर जो सत्तासम्बन्धको लेकर कथन किया गया है वह अस्तित्वधर्मको लेकर भी किया जासकता है, क्योंकि सत्तासम्बन्ध और अस्तित्वधर्म दोनों एक हैं। अतः उनमें आप भेद नहीं डाल सकते हैं। अन्यथा, अस्तित्वधर्ममें भी 'सत्' का ज्ञान होनेसे दूसरे आदि अस्तित्वोंकी कल्पना होनेपर अनवस्थाका प्रसङ्ग आवेगा।

यदि कहा जाय कि अस्तित्वधर्ममें उपचरित अस्तित्व है तो सामान्यादिकोंमें भी उपचरित अस्त्वि मानिये, क्योंकि वहाँ मुख्य अस्तिवके माननेमें बाधाएँ हैं, सब जगह मुख्यमें बाधा होनेसे ही उपचार उपपन्न होता है। इसी तरह प्रागभावादिकोंमें भी मुख्य अस्तित्वके स्वीकार करनेमें बाधक उपस्थित किये जा सकते हैं और इसलिये उनमें भी उपचारसे ही अस्तित्वका व्यवहार प्रसिद्ध होता है। दूसरे, द्रव्यादिकोंमें भी 'सत्' इसप्रकारका ज्ञान सत्तानिमित्तक आप कैसे सिद्ध कर सकेंगे ? क्योंकि उसमें भी बाधक मौजूद हैं। बतलाइये, स्वरूपसे असत् द्रव्यादिकोंके सत्ताका सम्बन्ध मानते हैं अथवा, स्वरूपसे सत् द्रव्यादिकोंके ? दोनों ही प्रकारसे उनके सत्ताका सम्बन्ध नहीं बनता है। यदि स्वरूपसे असत् द्रव्यादिकोंमें सत्ताका सम्बन्ध स्वीकार

1 द 'वादिविरोधा'। 2 स 'समभ्युसंसतः,' द 'समभ्यसन्त'। 3 मु द ' मुख्यबाधक'। 4 मु 'स्तित्वबाधक'।

नात् । स्वरूपतः सत्सु सत्तासम्बन्धेऽनवस्थानस्य[1] बाधकस्योपनिपातात्, [2]सत्तासम्बन्धोऽपि संश्च पुनः सत्तासम्बन्धत्वपरिकल्पनप्रसङ्गात् । तस्य वैयर्थ्यादकल्पने स्वरूपतः सत्स्वपि तत एव सत्तासम्बन्धपरिकल्पनं मा भूत् । स्वरूपतः सत्त्वादसाधारणात्सत्सदिति अनुवृत्तिप्रत्ययस्यानुपपत्तेर्द्रव्यादिषु तन्निबन्धनस्य साधारणसत्तासम्बन्धस्य परिकल्पनं न व्यर्थमिति चेत्, न, स्वरूपसत्त्वादेव सदृशात्सदसदिति[3] प्रत्ययस्योपपत्तेः सदृशेतरपरिणामसामर्थ्यादेव द्रव्यादीनां साधारणासाधारणसत्त्वनिबन्धनस्य सत्प्रत्ययस्य घटनात् । सर्वथाऽर्थान्तरभूतसत्तासम्बन्धसामर्थ्यात्सदिति प्रत्ययस्य साधारणस्यायोगात् । सत्तावद्द्रव्यम्, सत्तावान् गुणः, सत्तावत्कर्म, इति सत्तासम्बन्धनिबन्धनस्य[4] प्रत्ययस्य प्रसङ्गात् । न पुनः सद्द्रव्यम्, सन् गुणः, सत्कर्मेति प्रत्ययः स्यात् । न हि घण्टासम्बन्धाद् गवि घण्टेति ज्ञानमनुभूयते, घण्टावानिति ज्ञानस्य तत्र प्रतीतेः[5] । यष्टिसम्बन्धात्पुरुषो यष्टिरिति प्रत्ययदर्शनात्तु सत्तासम्बन्धाद् द्रव्यादिषु सत्तेति प्रत्ययः स्यात्, भेदेऽभेदोपचारान्न पुनः सदिति प्रत्ययः । तथा चोपचाराद्द्रव्यादीनां सत्ताव्यपदेशो न पुनः परमार्थतः सिद्ध्येत् ।

किया जाय तो अतिप्रसङ्ग बाधक पहले कह आये हैं। अर्थात् आकाशकमलके भी सत्ताका सम्बन्ध प्रसक्त होगा, क्योंकि असत्की अपेक्षा दोनों समान हैं—कोई विशेषता नहीं है। और अगर स्वरूपसे सतोंमें सत्ताका सम्बन्ध हो तो अनवस्था बाधा आती है, क्योंकि सत्तासम्बन्ध भी सत् है और इसलिये पुनः सत्तासम्बन्धकी कल्पनाका प्रसंग आवेगा।

अगर कहें कि सत्तासम्बन्धमें पुनः सत्तासम्बन्ध नहीं माना जाता, क्योंकि वह व्यर्थ है तो स्वरूपसे सतोंमें भी सत्ताका सम्बन्ध मत मानिये, क्योंकि उनमें भी वह व्यर्थ है। यदि यह माना जाय कि स्वरूपसे सत्त्व असाधारण है, इसलिये उससे 'सत् सत्' इस प्रकारका अनुगत प्रत्यय नहीं बन सकता है। अतः द्रव्यादिकोंमें अनुगत प्रत्ययका कारणभूत साधारण सत्ताके सम्बन्धकी कल्पना व्यर्थ नहीं है, तो यह मान्यता भी ठीक नहीं है, क्योंकि सादृश्यात्मक स्वरूपसत्त्वसे ही 'सत् सत्' इस प्रकारका प्रत्यय बन जाता है। सदृश और विसदृश परिणामोंके सामर्थ्यसे ही द्रव्यादिकोंके साधारण और असाधारण सत्तानिमित्तक सत्प्रत्यय प्रतीत होता है, सर्वथा भिन्नभूत सत्तासम्बन्धके बलसे 'सत्' इस प्रकारका सामान्यप्रत्यय कदापि नहीं बन सकता है। अन्यथा 'सत्तावान् द्रव्य', 'सत्तावान् गुण' और 'सत्तावान् कर्म' इस प्रकारका सत्तासम्बन्धनिमित्तक प्रत्यय प्रसक्त होगा, न कि 'सत् द्रव्य', 'सत् गुण' और 'सत् कर्म' इस तरहका प्रत्यय होगा। प्रकट है कि घण्टाके सम्बन्धसे गायमें 'घण्टा' ऐसा ज्ञान नहीं होता, किन्तु 'घण्टावान्' ऐसा ज्ञान होता है। यदि कहें कि यष्टिके सम्बन्धसे 'पुरुष यष्टि है' ऐसा प्रत्यय देखा जाता है, अतः उक्त दोष नहीं है, तो सत्ताके सम्बन्धसे द्रव्यादिकोंमें 'सत्ता' ऐसा ज्ञान होना चाहिये, न कि 'सत्' ऐसा ज्ञान होना चाहिये, क्योंकि भेदमें अभेदका उपचार मान लिया गया है। ऐसी दशामें द्रव्यादिकोंके सत्ताका व्यपदेश उपचारसे सिद्ध होगा, परमार्थतः नहीं।

1 स मु 'अनवस्था तस्य' । 2 मु स 'सत्तासम्बन्धेनापि सत्सु सत्वं पुनः सत्तासम्बन्धपरिकल्पनप्रसङ्गात्' पाठः। 3 मु स 'सदिति'। 4 मु स 'सत्तासम्बन्धस्य'। 5 द 'प्रतिपत्तिः'।

§ १८३. स्यान्मतम्—सत्तासामान्यवाचकस्य सत्ताशब्दस्येव सच्छब्दस्यापि सद्भावा[1]त्सत्सम्बन्धात्सन्ति द्रव्यगुणकर्माणीति व्यपदिश्यन्ते, भावस्य भाववदभिधायिनापि शब्देनाभिधानप्रसिद्धेः। विषाणी ककुद्मान् प्रान्तेवालधिरिति गोत्वे लिङ्गमित्यादिवत् विषाण्यादिवाचिना शब्देन विषाणित्वादेर्भावस्याभिधानात्, इति; तदप्यनुपपन्नम्;[2] तथोपचारादेव सत्प्रत्ययप्रसङ्गात्, पुरुषे यष्टिसम्बन्धाद्यष्टिरिति प्रत्ययवत्। यदि पुनर्यष्टिपुरुषयोः संयोगात्पुरुषो यष्टिरिति ज्ञानमुपचरितं युक्तं न पुनर्द्रव्यादौ सदिति ज्ञानम्, तत्र सत्त्वस्य समवायात्, इति मतम्; तदाऽवयवेष्ववयविनः समवायादवयविव्यपदेशः स्यात् न पुनरवयवव्यपदेशः। द्रव्ये च गुणस्य समवायाद् गुणव्यपदेशोऽस्तु क्रियासमवायात्क्रियाव्यपदेशस्तथा च न कदाचिदवयवेष्ववयव[3]प्रत्ययः गुणिनि गुणिप्रत्ययः क्रियावति क्रियावत्प्रत्ययश्चोपपद्येतेति महान् व्याघातः पदार्थान्तरभूतसत्तासमवायवादिनामनुषुज्येत।

§ १८४. तदेवं स्वतः सत एवेश्वरस्य सत्त्वसमवायोऽभ्युपगन्तव्यः, कथञ्चित्सदात्मतया परिणतस्यैव सत्त्वसमवायस्योपपत्तेः, अन्यथा प्रमाणेन बाधनात्। स्वयं सतः सत्त्वसमवाये च प्रमाणतः[1] प्रसिद्धे स्वयं द्रव्यात्मना परिणतस्य द्रव्यत्वसमवायः स्वयमात्मरूपतया परिणतस्यात्मत्वसमवायः[2] स्वयं ज्ञानात्मना परिणतस्य महेश्वरस्य ज्ञानसमवाय इति युक्तमुत्पश्यामः, स्वयं नीलात्मनो नीलत्व[3]समवायवत्। न हि कश्चिदतथापरिणतस्तथात्वसमवायभागुपलभ्यतेऽतिप्रसङ्गात्। ततः प्रमाणबलान्महेश्वरस्य सत्त्वद्रव्यत्वात्मत्ववत् स्वयं ज्ञत्वप्रसिद्धेर्ज्ञानस्य समवायात्त[4]स्य ज्ञत्वपरिकल्पनं न कञ्चिदर्थं पुष्णाति। ज्ञव्यवहारं पुष्णातीति चेत्; न; ज्ञे प्रसिद्धे ज्ञव्यवहारस्यापि स्वतः प्रसिद्धेः। यस्य हि योऽर्थः प्रसिद्धः स तत्र तद्व्यवहारं प्रवर्त्तयन्नुपलब्धो यथा प्रसिद्धाकाशात्मा आकाशे तद्व्यवहारम्[5], प्रसिद्धो ज्ञश्च कश्चित्, तस्मात् ज्ञे तद्व्यवहारं प्रवर्त्तयति। यदि तु प्रसिद्धेऽपि ज्ञे ज्ञत्वसमवायपरिकल्पनमज्ञव्यवच्छेदार्थमिष्यते तदा प्रसिद्धेऽप्याकाशेऽनाकाशव्यवच्छेदार्थमाकाशत्वसमवायपरिकल्पनमिष्यताम्, तस्यैकत्वादाकाशत्वासम्भवा-

§ १८३. वैशेषिक—हमारा अभिमत यह है कि जिस प्रकार सत्ताशब्द सत्तासामान्यका वाचक है उसी तरह 'सत्' शब्द भी सत्तासामान्यका वाचक है। अतः सत्के सम्बन्धसे 'द्रव्य, गुण, कर्म सत् हैं' ऐसा व्यपदेश होता है। भाववान् वाची शब्दके द्वारा भी भावका कथन होता है। 'विषाण (सींग) वाली, ककुद्वाली, पूंछवाली (पूंछके अन्तमें विशिष्ट वालोंवाली)' ये गायपनेमें लिङ्ग हैं' इत्यादिकी तरह विषाणी आदि वाची शब्दके द्वारा विषाणित्वादिक भावका कथन होता है। मतलब यह कि यद्यपि 'सत्' शब्द सत्ताविशिष्टों—भाववानोंका बोधक है फिर भी वह सत्ता—भावका भी बोधक है। इसलिये सत्के सम्बन्धसे 'द्रव्यादिक हैं' ऐसा प्रत्यय उपपन्न हो जाता है?

जैन—यह भी आपका अभिमत युक्त नहीं है, क्योंकि इस तरह उपचारसे ही सत्प्रत्ययका प्रसङ्ग आवेगा। जैसे यष्टिके सम्बन्धसे पुरुषमें यष्टिका प्रत्यय होता है।

वैशेषिक—यष्टि और पुरुषमें तो संयोग सम्बन्ध है, इसलिये 'पुरुष यष्टि है' यह ज्ञान उपचरित मानना योग्य है। किन्तु द्रव्यादिकमें जो सत्का ज्ञान होता है उसे उपचरित मानना युक्त नहीं है, क्योंकि द्रव्यादिकमें सत्ताका समवाय है—संयोग नहीं है?

जैन—तो अवयवोंमें अवयवीका समवाय होनेसे 'अवयवी' का व्यपदेश होना चाहिये, न कि 'अवयव' व्यपदेश। इसी तरह द्रव्यमें गुणका समवाय होनेसे 'गुण' व्यपदेश और क्रियाका समवाय होनेसे 'क्रिया' व्यपदेश होना चाहिए। ऐसी दशामें अवयवोंमें अवयवप्रत्यय, गुणीमें गुणीप्रत्यय, क्रियावान्में क्रियावान्प्रत्यय कभी नहीं बन सकेगा, इस प्रकार सत्ता और समवायको सर्वथा भिन्न माननेवालोंके महान् सिद्धान्तविरोध आता है।

§ १८४. अतः स्वयं सत् महेश्वरके ही सत्ताका ससवाय स्वीकार करना चाहिये, क्योंकि जो कथंचित् सत्स्वभावसे परिणत है उसीके सत्ताका समवाय सिद्ध होता है और जो कथंचित् सत्स्वभावसे परिणत नहीं है उसके सत्ताका समवाय माननेमें प्रमाणसे बाधा आती है। और जब स्वयं सत्के सत्ताका समवाय प्रमाणसे सिद्ध होगया तो स्वयं द्रव्यरूपसे परिणतके द्रव्यत्वका समवाय, स्वयं आत्मारूपसे परिणतके आत्मत्वका समवाय और स्वयं ज्ञानरूपसे परिणत महेश्वरके ज्ञानका समवाय मानना भी युक्त है, जैसे नीलरूपसे परणतके नीलत्वका समवाय। वास्तवमें जो उसप्रकारसे परिणत नहीं है वह सत्तासमवायसे युक्त उपलब्ध नहीं होता, अन्यथा जिस किसीके साथ भी सत्ताके समवायका प्रसङ्ग आवेगा। अतः प्रमाणके बलसे महेश्वरके सत्त्व, द्रव्यत्व और आत्मत्वकी तरह स्वयं ज्ञातापन प्रसिद्ध होजाता है और इसलिये ज्ञानके समवायसे उसे ज्ञाता मानना कोई प्रयोजन पुष्ट नहीं होता।

वैशेषिक—ज्ञव्यवहार पुष्ट होता है। तात्पर्य यह कि यद्यपि महेश्वर स्वयं ज्ञाता है फिर भी ज्ञानका समवाय उसमें इसलिये कल्पित किया जाता है कि उससे महेश्वरमें ज्ञाताका व्यवहार पुष्टिको प्राप्त होता है?

जैन—नहीं, जब महेश्वर ज्ञ (ज्ञाता) सिद्ध होजाता है तो उसमें ज्ञव्यवहार भी अपने आप सिद्ध होजाता है। 'जिसका जो अर्थ प्रसिद्ध होता है वह वहाँ उसके व्यवहारको प्रवृत्त करता हुआ उपलब्ध होता है, जैसे प्रसिद्ध आकाशरूप अर्थ आकाशमें आकाशव्यवहारको प्रवृत्त करता हुआ उपलब्ध होता है और कोई ज्ञ अवश्य प्रसिद्ध है, इस कारण वह ज्ञमें ज्ञके व्यवहारको प्रवृत्त करता है।' अगर ज्ञाताके प्रसिद्ध होनेपर भी उसमें ज्ञानका समवाय अज्ञव्यवच्छेदके लिये कल्पित किया जाता है तो आकाशके प्रसिद्ध होजानेपर भी अनाकाशका निराकरण करनेके लिये आकाशत्वसमवायकी भी कल्पना करिये।

वैशेषिक—आकाश एक है और इसलिये उसके आकाशत्व सम्भव नहीं है।

1 द 'सद्भावसम्बन्धा'। 2 द 'तदप्यनुपपत्तेः'। 3 मु 'वयविष्ववयवि'।

1 मु स 'वायेऽस्य च प्रमाणप्रसिद्ध'। 2 'स्वयमात्मेत्यादि' द पाठः। 3 मु 'नीलसमवाय'। 4 द 'स्वयं ज्ञत्वप्रसिद्धेर्ज्ञानस्य समवायात्' इति त्रुटितः। 5 मु 'हारप्रसिद्धो'।

त्स्वरूपनिश्चयादेवाकाशव्यवहारप्रवृत्तौ ज्ञेऽपीश्वरे स्वरूपनिश्चयादेव ज्ञव्यवहारोऽस्तु किं तत्र ज्ञानसमवायपरिकल्पनया ? ज्ञानपरिणामपरिणतो हि ज्ञः प्रतिपादयितुं शक्यो नार्थान्तरभूतज्ञानसमवायेन ततो ज्ञानसमवायवानेवेह सिद्ध्येत् न पुनर्ज्ञाता । [1]न ह्यात्मार्थान्तरभूते ज्ञाने समुत्पन्ने ज्ञाता स्मरणे स्मर्त्ता भोगे च भोक्त्येतत्प्रातीतिकं[2] दर्शनम् , तदात्मना परिणतस्यैव तथाव्यपदेशप्रसिद्धेः । प्रतीतिबलाद्धि तत्त्वं व्यवस्थापयन्तो यद्यथा निर्बाधं प्रतियन्ति[3] तत्तथैव व्यवहरन्तीति[4] प्रेक्षापूर्वकारिणः स्युर्नान्यथा । ततो महेश्वरोऽपि ज्ञाता व्यवहर्त्तव्यो ज्ञातृस्वरूपेण प्रमाणतः प्रतीयमानत्वात् । यद्येन स्वरूपेण प्रमाणतः प्रतीयमानं तत्तथा व्यवहर्त्तव्यम् , यथा सामान्यादिस्वरूपेण प्रमाणतः प्रतीयमानं सामान्यादि, ज्ञातृस्वरूपेण प्रमाणतः प्रतीयमानश्च महेश्वरः, ततो ज्ञातेति व्यवहर्त्तव्य इति तदर्थमर्थान्तरभूतज्ञानसमवायपरिकल्पनमनर्थकमेव ।

§ १८५. तदेवं प्रमाणबलात्स्वार्थव्यवसायात्मके ज्ञाने प्रसिद्धे महेश्वरस्य ततो भेदैकान्तनिराकरणे च कथञ्चित्स्वार्थव्यवसायात्मकज्ञानादभेदोऽभ्युपगन्तव्यः, कथञ्चित्तादात्म्यस्यैव समवायस्य व्यवस्थापनात् । तथा च नाम्नि विवादो नार्थे जिनेश्वरस्यैव महेश्वर इति नामकरणात् , कथञ्चित्स्वार्थव्यवसायात्मक[1]ज्ञानतादात्म्यमृच्छतः पुरुषविशेषस्य जिनेश्वरत्वनिश्चयात् । तथा च स एव हि मोक्षमार्गस्य प्रणेता व्यवतिष्ठते, सदेहत्वे धर्मविशेषवत्त्वे[2] च सति सर्वविनष्टमोहत्वात् । यस्तु न मोक्षमार्गस्य मुख्यः प्रणेता स न सदेहो यथा मुक्तात्मा, धर्मविशेषभाग्वा, यथाऽन्तकृत्केवली । नापि सर्वविनष्टमोहो यथा रथ्यापुरुषः, सदेहत्वे धर्मविशेषवत्वे च सति सर्वविनष्टमोहश्च जिनेश्वरः, तस्मान्मोक्षमार्गस्य प्रणेता व्यवतिष्ठत एव । स्वार्थव्यवसायात्मकज्ञानात्सर्वथाऽर्थान्तरभूतस्तु शिवः सदेहो वा न मोक्षमार्गोपदेशस्य कर्ता युज्यते, [सर्वविनष्टमोहत्वाभावात् । सर्वविनष्टमोहश्चासौ नास्ति] कर्मभूभृतामभेतृत्वात् । यो यः कर्मभूभृतामभेत्ता स स न सर्वविनष्टमोहः, यथाऽऽकाशादिरभव्यो वा संसारी चात्मा, कर्मभूभृतामभेत्ता च शिवः परैरुपेयते, तस्मान्न सर्वविनष्टमोह इति साक्षान्मोक्षमार्गोपदेशस्य कर्त्ता न भवेत् । निरस्तं च पूर्वं विस्तरतस्तस्य शश्वत्कर्म-

---

अतः स्वरूपनिश्चयसे ही आकाशमें आकाशव्यवहार प्रवृत्त होजाता है, इसलिये आकाशमें अनाकाशका निराकरण करनेके लिये आकाशत्वके समवायकी कल्पना नहीं होती ?

जैन—तो ज्ञ-ईश्वरमें भी स्वरूपनिश्चयसे ही ज्ञव्यवहार हो जाय, वहाँ ज्ञानसमवायकी कल्पना करना भी अनावश्यक है। यथार्थमें ज्ञानपरिणामसे परिणतको ही ज्ञ कहा जासकता है, भिन्नभूत ज्ञानके समवायसे परिणतको ज्ञ नहीं, उससे तो 'ज्ञानसमवायवाला' ही सिद्ध होगा, ज्ञाता नहीं। वस्तुतः प्रत्यक्षसे यह प्रतीत नहीं होता कि आत्मा ज्ञानके सर्वथा भिन्न उत्पन्न होनेपर ज्ञाता, स्मरणके भिन्न पैदा होनेपर स्मर्त्ता और भोगके भिन्न होनेपर भोक्ता है, किन्तु उस (ज्ञान आदि)रूपसे परिणत आत्मा को ही ज्ञाता आदि कहा जाता है। निश्चय ही प्रतीतिके आधारपर तत्त्वकी व्यवस्था करनेवालोंको जो पदार्थ जैसा निर्बाध प्रतीत होता है वे उसका वैसा ही व्यवहार करते हैं और ऐसा करनेपर ही उन्हें तत्त्वज्ञ माना जाता है, अन्यथा नहीं। अतः 'महेश्वर' भी ज्ञाताव्यवहारके योग्य है, क्योंकि प्रमाणसे वह ज्ञातास्वरूप प्रतीत होता है, जो जिसरूपसे प्रमाणसे प्रतीत होता है वह उस प्रकारसे व्यवहारके योग्य होता है, जैसे सामान्यादिस्वरूपसे प्रमाणसे प्रतीत हो रहे सामान्यादि। और ज्ञातास्वरूपसे प्रमाणसे प्रतीत है महेश्वर, इसलिये वह ज्ञाताव्यवहारके योग्य है। ऐसी स्थितिमें महेश्वरमें ज्ञाताव्यवहार करनेके लिये भिन्नभूत ज्ञानके समवायकी कल्पना करना सर्वथा निरर्थक है—उससे किसी भी प्रयोजनकी सिद्धि नहीं होती।

[वैशेषिक दर्शनका उपसंहार]

§ १८५. इसप्रकार प्रमाणके बलसे अपने और पदार्थके निश्चायक ज्ञानके प्रसिद्ध होजानेपर तथा महेश्वरका उससे सर्वथा भेद निराकरण कर देनेपर स्वार्थव्यवसायात्मक (अपने और पदार्थके निश्चायक) ज्ञानसे महेश्वरका कथंचित् अभेद स्वीकार करना चाहिये, क्योंकि कथंचित् तादात्म्यरूप ही समवाय व्यवस्थित होता है। अतएव नाममें विवाद है, अर्थमें नहीं, कारण जिनेश्वरका ही महेश्वर नाम किया गया है। क्योंकि कथंचित् स्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञानके तादात्म्यवाले पुरुषविशेषके जिनेश्वरपना निश्चित होता है। तात्पर्य यह कि अब महेश्वर और जिनेश्वरमें कोई अन्तर नहीं रहा। केवल नामभेदका अन्तर है—एकको महेश्वर कहा जाता है और दूसरेको जिनेश्वर। अर्थभेद कुछ नहीं है—दोनों ही स्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञानसे कथंचित् अभिन्न हैं और इसलिये हम कह सकते हैं कि 'स्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञानसे कथंचित् अभिन्नरूपसे माना गया पुरुषविशेष जिनेश्वर ही मोक्षमार्गका प्रणेता व्यवस्थित होता है, क्योंकि वह सदेह और धर्मविशेषवाला होकर सर्वज्ञ-वीतराग है। जो मोक्षमार्गका मुख्य प्रणेता नहीं है वह सदेह नहीं है, जैसे मुक्त जीव (सिद्ध परमेष्ठी) अथवा धर्मविशेषवाला नहीं है, जैसे अन्तकृत्केवली। और सर्वज्ञ-वीतराग नहीं है, जैसे पागल पुरुष। और सदेह तथा धर्मविशेषवाला होकर सर्वज्ञ-वीतराग जिनेश्वर है, इस कारण वह मोक्षमार्गका प्रणेता अवश्य व्यवस्थित होता है। किन्तु स्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञानसे सर्वथा भिन्न माना गया महेश्वर, चाहे सदेह हो या निर्देह, मोक्षमार्गके उपदेशका कर्ता व्यवस्थित नहीं होता, क्योंकि वह [सर्वज्ञ-वीतराग नहीं है तथा सर्वज्ञ-वीतराग इसलिये नहीं है कि वह] कर्मपर्वतोंका अभेदक है। जो जो कर्मपर्वतोंका अभेदक है वह वह सर्वज्ञ-वीतराग नहीं है, जैसे आकाशादि अथवा अभव्य और संसारी आत्मा। और कर्मपर्वतोंका अभेदक महेश्वर वैशेषिकोंद्वारा स्वीकार किया जाता है, इस कारण वह सर्वज्ञ-वीतराग नहीं है। और इसलिये वह साक्षात् मोक्षमार्गके उपदेशका कर्ता नहीं है।' पहले विस्तारसे पुरुषविशेषरूप महेश्वरके सदैव कर्मोंसे

---

1 मु 'नह्यर्थान्तर'। 2 मु 'भोक्तेति तत्प्राती'। 3 स 'प्रतीयन्ति', मु 'प्रतीतियन्ति'। 4 स 'व्यवहारयन्ति'।

1 मु 'सायात्मज्ञान'। 2 मु स 'शेषत्वे'।

भिरस्पृष्टत्वं पुरुषविशेषस्येत्यलं[1] विस्तरेण प्रागुक्तार्थस्यैवात्रोपसंहारात् ।

[वैशेषिकाभिमतं तत्त्वं विस्तरतः समालोच्य तदुपदेष्टुरीश्वरस्य मोक्षमार्गोपदेशत्वाभावं च प्रतिपाद्येदानीं कपिलतमतं दूषयति]

§ १८६. यथा चेश्वरस्य मोक्षमार्गोपदेशित्वं न प्रतिष्ठामियर्ति तथा कपिलस्यापीत्यतिदिश्यते—

एतेनैव प्रतिव्यूढः कपिलोऽप्युपदेशकः ।
ज्ञानादर्थान्तरत्वस्याऽविशेषात्सर्वथा स्वतः ॥७८॥
ज्ञानसंसर्गतो ज्ञत्वमज्ञस्यापि न तत्त्वतः ।
व्योमवच्चेतनस्यापि नोपपद्येत मुक्तवत् ॥७९॥

§ १८७. कपिल एव मोक्षमार्गस्योपदेशकः क्लेशकर्मविपाकाशयानां भेत्ता च[2] रजस्तमसोस्तिरस्करणात् । समस्ततत्त्वज्ञानवैराग्यसम्पन्नो धर्मविशेषैश्वर्ययोगी च प्रकृष्टसत्त्वस्याविर्भावात् विशिष्टदेहत्वाच्च । न पुनरीश्वरस्तस्याकाशस्येवाऽशरीरस्य ज्ञानेच्छाक्रियाशक्त्यसम्भवात्, मुक्तात्मवत् । सदेहस्यापि सदा क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टत्वविरोधात् । धर्मविशेषसद्भावे च तस्य तत्साधनसमाधिविशेषस्यावश्यम्भावात् तन्निमित्तस्यापि ध्यानधारणाप्रत्याहारप्राणायामासनयमनियमलक्षणस्य योगाङ्गस्याभ्युपगमनीयत्वात् । अन्यथा समाधिविशेषासिद्धेर्धर्मविशेषानुत्पत्तेर्ज्ञानाद्यतिशयलक्षणैश्वर्यायोगादनीश्वरत्वप्रसङ्गात् । सत्त्वप्रकर्षयोगित्वे च कस्यचित्सदामुक्तस्यानुपायसिद्धस्य साधकप्रमाणाभावादिति निरीश्वरसांख्यवादिनः प्रचक्षते; तेषां कपिलोऽपि तीर्थकरत्वेनाभिप्रेतः प्रकृतेनैवेश्वरस्य मोक्षमार्गोपदेशित्वनिराकरणेनैव प्रतिव्यूढः प्रतिपत्तव्यः, स्वतस्तस्यापि ज्ञानादर्थान्तरत्वाविशेषात्सर्वज्ञत्वायोगात् । सर्वार्थज्ञानसंसर्गात्तस्य सर्वज्ञत्वपरिकल्पनमपि न युक्तम्[1], आकाशादेरपि सर्वज्ञत्वप्रसङ्गात् । तथाविधज्ञानपरिणामाश्रयप्रधानसंसर्गस्याविशेषात् । तदविशेषेऽपि कपिल एव सर्वज्ञश्चेतनत्वान्न पुनराकाशादिरित्यपि न युज्यते, तेषां[2] [3]मुक्तात्मनश्चेतनत्वेऽपि ज्ञानसंसर्गतः सर्वज्ञत्वानभ्युपगमात् । सबीजसमाधिसम्प्रज्ञातयोग-

रहितपनेका निराकरण किया जाचुका है, इसलिये इस विषयमें और अधिक विवेचन करना अनावश्यक है, विस्तारसे पहले कहे गये अर्थका ही यहाँ यह उपसंहार किया गया है ।

[कपिल-परीक्षा]

§ १८६. जिस प्रकार महेश्वर मोक्षमार्गोपदेशक सिद्ध नहीं होता उसी प्रकार कपिल भी मोक्षमार्गोपदेशक प्रतिष्ठित नहीं होता, इस बातको आगे कहते हैं—

'उपर्युक्त कथनसे ही (महेश्वरके मोक्षमार्गोपदेशित्वका निराकरण कर देनेसे ही) कपिलके भी मोक्षमार्गोपदेशित्वका निराकरण जानना चाहिये, क्योंकि स्वतः वह भी अपने ज्ञानसे सर्वथा भिन्न है और इसलिये वह सर्वज्ञ न हो सकनेसे मोक्षमार्गका प्रणेता नहीं बन सकता है । यदि ज्ञानके संसर्गसे उसे ज्ञाता-सर्वज्ञ कहा जाय तो वह परमार्थतः सर्वज्ञ नहीं होसकता, जैसे आकाश । अगर यह कहा जाय कि कपिल तो चेतन है, आकाश चेतन नहीं है, इसलिये चेतन कपिलके ज्ञानसंसर्गसे सर्वज्ञता बन जाती है, आकाशके नहीं, तो मुक्तात्माकी तरह वह भी नहीं बनती अर्थात् जिस प्रकार मुक्तात्मा चेतन होते हुए भी सर्वज्ञ नहीं माना जाता उसी तरह कपिलके चेतन होनेपर भी वह सर्वज्ञ नही हो सकता, क्योंकि उसमें चेतनपना या अन्य कोई नियामक नहीं है ।'

§ १८७. निरीश्वरसांख्य—कपिल ही मोक्षमार्गका उपदेशक तथा क्लेश, कर्म, विपाक और आशयोंका भेदक है, क्योंकि उसके रज और तमका सर्वथा अभाव है । इसके अतिरिक्त वह समस्त तत्त्वज्ञान और वैराग्यसे युक्त है तथा धर्मविशेष ऐश्वर्यसे सहित है, क्योंकि उत्कृष्ट सत्त्वका उसके आविर्भाव-सद्भाव है और विशिष्ट शरीरवाला है । परन्तु महेश्वर ऐसा नहीं है । वह आकाशकी तरह अशरीरी है और इसलिये उसके ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति और प्रयत्नशक्ति ये तीनों ही शक्तियाँ सम्भव नहीं हैं, जैसे वे मुक्तात्माके असम्भव हैं । यदि उसे सदेह भी माना जाय तो वह सदा क्लेश, कर्म, विपाक और आशयोंसे रहित नहीं होसकता है—सदेह भी हो और सदा क्लेशादिसे रहित भी हो, यह नहीं बन सकता है । इसी प्रकार यदि उसके धर्मविशेषका सद्भाव हो तो उसके साधनभूत समाधिविशेषका मानना भी आवश्यक है और उसके कारण ध्यान, धारणा, प्रत्याहार, प्राणायाम, आसन, यम और नियम इन योगाङ्गोंको भी मानना उचित है । अन्यथा उसके समाधिविशेष सिद्ध नहीं होसकता और उसके सिद्ध न होनेपर धर्मविशेष उत्पन्न नहीं होसकता और उस हालतमें ज्ञानादि अतिशयरूप ऐश्वर्यसे युक्त न होनेसे उसके अनीश्वरपनेका प्रसङ्ग आता है । और सत्त्वप्रकर्षवाला माननेपर सदामुक्त एवं अनुपायसिद्ध नहीं बनता, क्योंकि उसका साधक प्रमाण नहीं है । अतः कपिल ही मोक्षमार्गका उपदेशक है, ईश्वर नहीं ?

जैन—तीर्थंकररूपसे माना गया आपका कपिल भी महेश्वरकी तरह मोक्षमार्गका उपदेशक सिद्ध नहीं होता, क्योंकि स्वयं वह भी ज्ञानसे सर्वथा भिन्न है और इसलिये सर्वज्ञ नहीं है ।

सांख्य—कपिलके सर्वार्थज्ञान (समस्त पदार्थविषयक ज्ञान) का संसर्ग मौजूद है, इसलिये उसके सर्वज्ञता बन जाती है ?

जैन—नहीं, आकाशादिकके भी सर्वज्ञताका प्रसंग आवेगा, क्योंकि सर्वार्थविषयक ज्ञानपरिणामके आश्रयभूत प्रधानका संसर्ग आकाशादिकके साथ भी विद्यमान है ।

सांख्य—यह ठीक है कि सर्वार्थविषयक ज्ञानपरिणामके आश्रयभूत प्रधानका संसर्ग आकाशादिकके साथ भी है तथापि कपिल ही सर्वज्ञ है, क्योंकि वह चेतन है, आकाशादिक नहीं ?

जैन—यह मान्यता भी आपकी युक्त नहीं है, क्योंकि आपके यहाँ मुक्तात्माओंको चेतन होनेपर भी ज्ञानसंसर्गसे सर्वज्ञ स्वीकार नहीं किया है । अन्यथा सबीज

1 द 'त्यलं पुनः' । 2 मु स प्रतिषु 'च' नास्ति ।

1 द 'मप्ययुक्तम्' । 2 मु '(कपिलानां मतं)' इत्यधिकः पाठः । 3 द 'मुक्तवत्' ।

कालेऽपि सर्वज्ञत्वविरोधात् ।

§ १८८. स्यान्मतम्—न मुक्तस्य ज्ञानसंसर्गः सम्भवति, तस्या[1]सम्प्रज्ञातयोगकाल एव विनाशात् । "तदा द्रष्टुः[2] स्वरूपेऽवस्थानम्" [योगदर्श० १-३] इति वचनानात् । [केवलं तदा संस्कारविशेषोऽवशिष्यते], मुक्तस्य तु [3]संस्कारविशेषस्यापि विनाशात्, असम्प्रज्ञातस्यैव[4] संस्कारविशेषतावचनात् । चरितार्थेन ज्ञानादिपरिणामशून्येन प्रधानेन संसर्गमात्रेऽपि तन्मुक्तात्मानं प्रति तस्य नष्टत्वात्संसार्यात्मानमेव प्रत्यनष्टत्ववचनान्न कपिलस्य चैतन्यस्वरूपस्य[5] ज्ञानसंसर्गात्सर्वज्ञत्वाभावसाधने मुक्तात्मोदाहरणम्, तत्र ज्ञानसंसर्गस्यासम्भवादिति; तदप्यसारम्; प्रधानस्य सर्वगतस्यानंशस्य[6] संसर्गविशेषप्रतिनियमानुपपत्तेः[7] । कपिलेन सह तस्य संसर्गे सर्वात्मना संसर्गप्रसङ्गात्कस्यचिन्मुक्तिविरोधात् । मुक्तात्मनो वा प्रधानेनासंसर्गे कपिलस्यापि तेनासंसर्गप्रसक्तेः । अन्यथा विरुद्धधर्माध्यासात्प्रधानभेदापत्तेः[8] ।

समाधिसम्प्रज्ञातयोगकालमें भी सर्वज्ञता नहीं बन सकेगी ।

§ १८८. सांख्य—हमारा मत यह है कि मुक्तजीवके ज्ञानसंसर्ग सम्भव नहीं है, क्योंकि वह असम्प्रज्ञातयोगकाल (निर्बीजसमाधिके समय) में ही नष्ट होजाता है । "उस समय (असम्प्रज्ञातयोगकालमें) द्रष्टा अपने चैतन्य स्वरूपमें अवस्थित रहता है" (योगदर्शन, समाधिपाद, सूत्र तीसरा) ऐसा महर्षि पातञ्जलिका वचन है । [उस समय केवल उसका संस्कार शेष रहता है] मुक्तजीवके तो संस्कारविशेष भी विनष्ट होजाता है, क्योंकि असंप्रज्ञात योगके ही संस्कार शेष रहनेका उपदेश है । तात्पर्य यह कि ज्ञानसंसर्ग असम्प्रज्ञातयोगकालमें—निर्बीजसमाधिके समयमें—ही नष्ट होजाता है वहाँ उसका केवल संस्कार अवशेष रहता है । लेकिन मुक्तजीवके तो न ज्ञानसंसर्ग है और न वह असम्प्रज्ञातयोगीय अवशिष्ट संस्कार । अतः चरितार्थ (कृतकृत्य) हुए ज्ञानादिपरिणामरहित प्रधानके साथ मुक्तात्माका सामान्य संसर्ग होनेपर भी [विशेष संसर्ग न होनेसे] वह मुक्तात्माके प्रति नष्ट माना जाता है, केवल संसारी आत्माके प्रति ही वह अनष्ट (नाश नहीं हुआ) कहा जाता है । अतएव चैतन्यस्वरूप कपिलके ज्ञानसंसर्गसे अभ्युपगत सर्वज्ञताका अभाव सिद्ध करनेमें मुक्तात्माका उदाहरण पेश करना उचित नहीं है, क्योंकि मुक्तात्मामें ज्ञानसंसर्ग असम्भव है और इसलिये उन्हें सर्वज्ञ स्वीकार नहीं किया है ?

जैन—आपका यह मत भी सारहीन है, क्योंकि प्रधान जब व्यापक और निरंश है तो उसके संसर्गविशेषका प्रतिनियम (अमुकके साथ है और अमुकके साथ नहीं है, ऐसा नियम) नहीं बन सकता है, कपिलके साथ उसका संसर्ग होनेपर सबके साथ संसर्गका प्रसङ्ग आवेगा और इस तरह किसीके मुक्ति नहीं बन सकेगी । तथा मुक्तात्माका प्रधानके साथ संसर्ग न होनेपर कपिलका भी प्रधानके साथ संसर्ग नहीं हो सकेगा, अन्यथा विरुद्ध धर्मोंका अध्यास होनेसे प्रधानभेदका

1 मु 'तस्य सम्प्रज्ञा' । 2 मु '(पुरुषस्य)'इत्यधिकः पाठः । 3 द 'शक्तिविशेष' । 4 द 'स्य च संस्कारशेषता' । 5 मु स 'चेतनस्य स्वरूपस्य' । 6 मु स 'स्यानंतस्य' । 7 मु 'विशेषानुपपत्तेः' । 8 मु 'प्रधानभेदोपपत्तेः' ।

§ १८९. ननु च प्रधानमेकं निरवयवं सर्वगतं न केनचिदात्मना संस्पृष्टमपरेणासंस्पृष्टमिति विरुद्धधर्माध्यासीष्यते येन तद्भेदापत्तिः । किं तर्हि ? सर्वदा सर्वात्मसंसर्गि, केवलं मुक्तात्मानं प्रति नष्टमपीतरात्मानं प्रत्यनष्टं निवृत्ताधिकारत्वात् प्रवृत्ताधिकारत्वाच्चेति चेत्; न; विरुद्धधर्माध्यासस्य तदवस्थत्वात्प्रधानस्य भेदानिवृत्तेः । न ह्येकमेव निवृत्ताधिकारत्वप्रवृत्ताधिकारत्वयोर्युगपदधिकरणं युक्तं नष्टत्वानष्टत्वयोरिव विरोधात् । विषयभेदान्न तयोर्विरोधः कश्चित्क्वचित्[1] पितृत्वपुत्रत्वधर्मवत् । तयोरेकविषययोरेव विरोधात् । निवृत्ताधिकारत्वं हि मुक्तपुरुषविषयं प्रवृत्ताधिकारत्वं पुनरमुक्तपुरुषविषयमिति भिन्नपुरुषापेक्षया भिन्नविषयत्वम् । नष्टत्वानष्टत्वधर्मयोरपि मुक्तात्मानमेव प्रति विरोधः स्यादमुक्तात्मानं प्रत्येव वा, न चैवम्, मुक्तात्मापेक्षया प्रधानस्य नष्टत्वधर्मवचनादमुक्तात्मापेक्षया[2] चानष्टत्वप्रतिज्ञानादिति कश्चित्; सोऽपि न विरुद्धधर्माध्यासान्मुच्यते, प्रधानस्यैकरूपत्वात् । येनैव हि रूपेण प्रधानं मुक्तात्मानं प्रति चरिताधिकारं[3] नष्टं च प्रतिज्ञायते

प्रसंग आवेगा । अर्थात् उसे सांश मानना पड़ेगा ।

§ १८९. सांख्य—हम एक, निरंश और व्यापक प्रधानको किसी स्वरूपसे संसर्गयुक्त और अन्य स्वरूपसे असंसर्गयुक्त ऐसा विरुद्ध धर्माध्यासी नहीं कहते हैं, जिससे प्रधानभेदका प्रसङ्ग प्राप्त हो, किन्तु हमारा कहना यह है कि प्रधान सर्वदा सबरूपसे संसर्गयुक्त है, केवल मुक्तात्माके प्रति नष्ट होता हुआ भी अन्य संसारी आत्माके प्रति अनष्ट है, क्योंकि मुक्तात्माके प्रति तो निवृत्ताधिकार है—निवृत्त हो चुका है और संसारी आत्माके प्रति प्रवृत्ताधिकार है—उसके भोगादिके सम्पादनमें प्रवृत्त रहता है ?

जैन—नहीं, क्योंकि विरुद्ध धर्मोंका अध्यास प्रधानके पहले जैसा ही बना हुआ है और इसलिये प्रधानभेदका प्रसंग दूर नहीं होता । प्रकट है कि एक ही प्रधान प्रवृत्ताधिकार और निवृत्ताधिकार दोनोंका एक-साथ अधिकरण नहीं बन सकता है, क्योंकि नष्टत्व और अनष्टत्वकी तरह उनमें विरोध है ।

सांख्य—दोनोंमें विषयभेद होनेसे विरोध नहीं है, जैसे किसीमें पितृत्व और पुत्रत्व दोनों धर्म विषयभेदसे पाये जाते हैं । हाँ, एकविषयक माननेमें ही उनमें विरोध आता है । स्पष्ट है कि निवृत्ताधिकारपना मुक्त पुरुषको विषय करता है और प्रवृत्ताधिकारपना संसारी पुरुषको विषय करता है, इसलिये भिन्न पुरुषकी अपेक्षासे भिन्नविषयता विद्यमान है । यदि नष्टत्व धर्म और अनष्टत्व धर्म दोनों मुक्तात्माके प्रति ही कहे जायें तो विरोध है अथवा दोनों संसारी आत्माके प्रति कहे जायें तो विरोध है लेकिन ऐसा नहीं है, मुक्तात्माकी अपेक्षासे प्रधानके नष्टत्व धर्म कहा गया है और अमुक्तात्माकी अपेक्षासे अनष्टत्व धर्म स्वीकार किया गया है । अतः उपर्युक्त दोष (विरोध) नहीं है ?

जैन—ऐसा कथन करके भी आप विरुद्ध धर्मोंके अध्याससे मुक्त नहीं होते, क्योंकि प्रधान एकरूप है । प्रकट है कि जिस रूपसे प्रधान मुक्तात्माओंके प्रति चरिताधिकार (निवृत्ताधिकार) और नष्ट स्वीकार किया जाता है उसी रूपसे

1 द 'कस्यचित्' । 2 द 'मुक्तापेक्षया' । 3 द 'वसिताधि-' ।

तेनैवानवसिताधिकारमनष्टममुक्तात्मानं प्रतीति कथं न विरोधः प्रसिद्ध्येत् ? यदि पुना रूपान्तरेण तथेष्यते तदा न प्रधानमेकरूपं स्यात् रूपद्वयस्य सिद्धेः । तथा चैकमनेकरूपं प्रधानं सिद्ध्यत् सर्वमनेकान्तात्मकं वस्तु साधयेत् ।

§ १६०. स्यादाकूतम्—न परमार्थतः प्रधानं विरुद्धयोर्धर्मयोरधिकरणं तयोः शब्दज्ञानानुपपातिना वस्तुशून्येन विकल्पेनाध्यारोपितत्वात् पारमार्थिकत्वे धर्मयोरपि धर्मान्तरपरिकल्पनायामनवस्थानात् । सुदूरमपि गत्वा कस्यचिदारोपितधर्माभ्युपगमे प्रधानस्याप्यारोपितावेव नष्टत्वानष्टत्वधर्मौ स्यातामवसितानवसिताधिकारत्वधर्मौ च तदपेक्षानिमित्तं[1] स्वरूपद्वयं च ततो नैकमनेकरूपं प्रधानं सिद्ध्येत्, यतः सर्वं वस्त्वेकानेकरूपं[2] साधयेदिति; तदपि न विचारसहम्; मुक्तामुक्तत्वयोरपि पुंसामपारमार्थिकत्वप्रसङ्गात् ।

[प्रधानस्य मुक्तत्वामुक्तत्वे न पुरुषस्येति कल्पनायामपि दोषमाह]

§ १६१. सत्यमेतत्, न तत्त्वतः पुरुषस्य मुक्तत्वं संसारित्वं वा धर्मोऽस्ति प्रधानस्यैव

अमुक्तात्माके प्रति अनवसिताधिकार (प्रवृत्ताधिकार) और अनष्ट माना जाता है। तब बतलाइये, विरोध कैसे प्रसिद्ध नहीं होगा ? यदि विभिन्नरूपसे वैसा (नष्टानष्टादिरूप) कहें तो प्रधान एकरूप सिद्ध नहीं होता, क्योंकि उसके दो रूप सिद्ध होते हैं। और उस दशामें प्रधान एक और अनेकरूप सिद्ध होता हुआ समस्त वस्तुओंको अनेकान्तात्मक—एक और अनेकरूप सिद्ध करेगा।

§ १६०. सांख्य—हमारा अभिप्राय यह है कि यथार्थमें प्रधान दो विरुद्ध धर्मोंका अधिकरण नहीं है, क्योंकि शब्द और शाब्द ज्ञानको उत्पन्न करनेवाले वस्तुशून्य विकल्पके द्वारा वे उसमें आरोपित होते हैं। यदि प्रधानको उनका वास्तविक अधिकरण माना जाय तो उन धर्मोंमें भी अन्य धर्मकी कल्पना होनेपर अनवस्था आती है। बहुत दूर जाकर भी किसी धर्मको आरोपित धर्म स्वीकार करनेपर प्रधानके भी नष्टत्व धर्म और अनष्टत्व धर्म तथा अवसिताधिकारत्व धर्म और अनवसिताधिकारत्व धर्म आरोपित (अपारमार्थिक) ही होना चाहिये और उनकी अपेक्षाके निमित्तभूत दोनों स्वरूप भी आरोपित स्वीकार करना चाहिये। अतः प्रधान एक और अनेक सिद्ध नहीं होता, जिससे वह समस्त वस्तुओंको एक और अनेक रूप अर्थात् अनेकान्तात्मक सिद्ध करे ?

जैन—आपका यह अभिप्राय भी विचारयोग्य नहीं है, क्योंकि इस तरह मुक्तपना और अमुक्तपना ये दोनों धर्म भी पुरुषोंके अवास्तविक हो जायेंगे। तात्पर्य यह कि यदि प्रधान वास्तवमें दो विरोधी धर्मोंका अधिकरण नहीं है—केवल कल्पनासे वे उसमें अध्यारोपित हैं तो पुरुषोंके मुक्तपना और अमुक्तपना ये दो विरोधी धर्म भी वास्तविक नहीं ठहरेंगे—अवास्तविक मानना पड़ेंगे।

§ १६१. सांख्य—वेशक, आपका कहना ठीक है, यथार्थतः मुक्तपना और अमुक्तपना पुरुषका धर्म नहीं है। प्रधानके ही अमुक्तपना प्रसिद्ध है और उसीके ही

---

1 द 'क्षाविति'। 2 मु स 'वस्त्वेकानेकात्मकं'।

संसारित्वप्रसिद्धेः । तस्यैव च मुक्तिकारणतत्त्वज्ञानवैराग्यपरिणामान्मुक्तत्वोपपत्तेः[1] । तदेव[2] च मुक्तेः पूर्वं निःश्रेयसमार्गस्योपदेशकं प्रधानमिति परमतमनूद्य दूषयन्नाह—

प्रधानं ज्ञत्वतो मोक्षमार्गस्याऽस्तूपदेशकम् ।
तस्यैव विश्ववेदित्वाद्भेतृत्वात्कर्मभूभृताम् ॥८०॥
इत्यसम्भाव्यमेवास्याऽचेतनत्वात्पटादिवत् ।
तदसम्भवतो नूनमन्यथा निष्फलः पुमान् ॥८१॥
भोक्ताऽऽत्मा चेत्स एवाऽस्तु कर्त्ता तदविरोधतः ।
विरोधे तु तयोर्भोक्तुः स्याद्भुजौ कर्तृता कथम् ॥८२॥
प्रधानं मोक्षमार्गस्य प्रणेतृ, स्तूयते पुमान् ।
मुमुक्षुभिरिति, ब्रूयात्कोऽन्योऽकिञ्चित्करात्मनः ॥८३॥

§ १६२. प्रधानमेवास्तु मोक्षमार्गस्योपदेशकं ज्ञत्वात्, यस्तु न मोक्षमार्गस्योपदेशकः स न ज्ञो दृष्टः, यथा घटादिः, मुक्तात्मा च[3], ज्ञं च प्रधानम्, तस्मान्मोक्षमार्गस्योपदेशकम् । न च कपि-

---

मुक्तिके कारणभूत तत्त्वज्ञान तथा वैराग्य परिणाम सिद्ध होनेसे मुक्तपना उपपन्न है। और वही प्रधान मुक्तिके पहले मोक्षमार्गका उपदेशक है ?

आगे सांख्योंके इस मतको दुहराकर उसमें दूषण दिखाते हैं—

'प्रधान मोक्षमार्गका उपदेशक है, क्योंकि वह ज्ञ है और ज्ञ इसलिये है कि वह विश्ववेदी—सर्वज्ञ है तथा सर्वज्ञ भी इसलिये है कि वह कर्मपर्वतोंका भेदक है। किन्तु सांख्योंका यह मत असम्भव है, कारण वह (प्रधान) वस्त्रादिककी तरह अचेतन है, इसलिये उसके कर्मपर्वतोंका भेत्तापन, विश्ववेदिता और ज्ञातृता एवं मोक्षमार्गका उपदेशकपना ये सब असम्भव हैं। अन्यथा निश्चय ही पुरुष निरर्थक हो जायगा। अगर कहें कि पुरुष भोक्ता है, इसलिये वह निरर्थक नहीं है तो वही कर्ता हो, क्योंकि कर्तृत्व और भोक्तृत्वमें विरोध नहीं है—दोनों एक-जगह बन सकते हैं। और यदि उनमें विरोध कहा जाय तो भोक्ताके भुजिक्रिया सम्बन्धी कर्तृता कैसे बन सकेगी, अर्थात् भोक्ता भुजिक्रियाका कर्ता कैसे हो सकेगा ? सबसे अधिक आश्चर्यकी बात तो यह है कि प्रधान मोक्षमार्गका उपदेशक है और स्तुति मुमुक्षु पुरुषकी करते हैं ! इस प्रकारका कथन आत्माको अकिञ्चित्कर मानने या कहनेवाले (सांख्यों) के सिवाय दूसरा कौन कर सकता है ? अर्थात् सांख्योंके सिवाय ऐसा कथन कोई भी नहीं करता है।'

§ १६२. सांख्य—प्रधानको ही हम मोक्षमार्गका उपदेशक मानते हैं, क्योंकि वह ज्ञ है। जो मोक्षमार्गका उपदेशक नहीं है वह ज्ञ नहीं देखा जाता, जैसे घटादिक अथवा मुक्तात्मा। और ज्ञ प्रधान है, इस कारण वह मोक्षमार्गका उपदेशक है। तथा

---

1 द 'णामात्मत्वोपपत्तेः'। 2 मु स 'तदेवं'। 3 द 'वा'।

लादिपुरुषसंसर्गभाजः प्रधानस्य ज्ञत्वमसिद्धं विश्ववेदित्वात् । यस्तु न ज्ञः स न विश्ववेदी, यथा घटादिः, विश्ववेदि च प्रधानम्, ततो ज्ञमेव च । विश्ववेदि च तत्सिद्धं सकलकर्मभूभृद्भेत्तृत्वात् । तथा हि—कपिलात्मना संस्पृष्टं प्रधानं विश्ववेदि कर्मराशिविनाशित्वात् । यत्तु न विश्ववेदि तन्न कर्मराशिविनाशीष्टं दृष्टं वा, यथा व्योमादि । कर्मराशिविनाशि च प्रधानम्, तस्माद्विश्ववेदि । न चास्य कर्मराशिविनाशित्वमसिद्धम्, रजस्तमोविवर्त्ताशुद्धकर्मनिकरस्य सम्प्रज्ञातयोगबलात्प्रध्वंससिद्धेः सत्त्वप्रकर्षाच्च सम्प्रज्ञातयोगघटनात् । तत्र सर्वज्ञवादिनां विवादाभावात् इति सांख्यानां दर्शनम्; तदप्यसम्भाव्यमेव; स्वयमेव प्रधानस्याचेतनत्वाभ्युपगमात् । तथा हि—न प्रधानं कर्मराशिविनाशि स्वयमचेतनत्वात्, यत्स्वयमचेतनं तन्न कर्मराशिविनाशि दृष्टम्, यथा वस्त्रादि । स्वयमचेतनं च प्रधानम्, तस्मान्न कर्मराशिविनाशि । चेतनसंसर्गात्प्रधानस्य चेतनत्वोपगमादसिद्धं साधनमिति चेत्; न; स्वयमिति विशेषणात् । स्वयं हि प्रधानमचेतनमेव चेतनसंसर्गात्तूपचारादेव तच्चेतनमुच्यते स्वरूपतः पुरुषस्यैव चेतनत्वोपगमात् । "चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपम्" [योगभाष्य १–९] इति वचनात् । ततः सिद्धमेवेदं साधनं कर्मराशिविनाशित्वाभावं साधयति । तस्माच्च विश्ववेदित्वाभावः

कपलादिकपुरुषसंसर्गी प्रधानके यह ज्ञपना असिद्ध नहीं है, क्योंकि वह विश्ववेदी—सर्वज्ञ है। जो ज्ञ नहीं है वह विश्ववेदी नहीं है, जैसे घटादिक। और विश्ववेदी प्रधान है, इसलिये वह ज्ञ ही है। और प्रधान विश्ववेदी है, क्योंकि वह समस्त कर्मपर्वतोंका भेत्ता है। वह इस प्रकारसे—कपिलकी आत्मासे संसर्गी प्रधान विश्ववेदी है, क्योंकि कर्मसमूहका नाशक है। जो विश्ववेदी नहीं है वह कर्मसमूहका नाशक इष्ट नहीं है अथवा देखा नहीं जाता है, जैसे आकाशादिक। और कर्मसमूहका नाशक प्रधान है, इस कारण वह विश्ववेदी है। और प्रधानके कर्मसमूहका नाशकपना असिद्ध नहीं है, क्योंकि रज और तमके परिणामरूप अशुद्ध कर्मसमूहका उसके सम्प्रज्ञातयोगके बलसे नाश सिद्ध है और सत्त्वका प्रकर्ष होनेसे सम्प्रज्ञातयोग समुपपन्न है, क्योंकि उसमें सर्वज्ञवादियोंको विवाद नहीं है—जो सर्वज्ञको मानते हैं वे उसके सम्प्रज्ञातयोग (जैन मान्यतानुसार तेरहवें गुणस्थानवर्ती शुक्लध्यान) को अवश्य स्वीकार करते हैं। अतः सिद्ध है कि प्रधान ही ज्ञाता आदि होनेसे मोक्षमार्गका उपदेशक है? यह हमारा दर्शन है?

जैन—आपका यह दर्शन (मत) भी असम्भव है, क्योंकि आपने स्वयं ही प्रधानको अचेतन स्वीकार किया है। अतः हम सिद्ध करेंगे कि 'प्रधान कर्मसमूहका नाशक नहीं है, क्योंकि वह स्वयं अचेतन है। जो स्वयं अचेतन है वह कर्मसमूहका नाशक नहीं देखा जाता, जैसे वस्त्रादिक। और स्वयं अचेतन प्रधान है, इस कारण वह कर्मसमूहका नाशक नहीं है।'

सांख्य—चेतन (आत्मा) के संसर्गसे प्रधानको हमने चेतन माना है, अतः आपका हेतु असिद्ध है?

जैन—नहीं, उक्त हेतुमें 'स्वयं' विशेषण दिया गया है। स्पष्ट है कि स्वयं प्रधान अचेतन ही है। हाँ, चेतनके संसर्गसे उपचारसे ही उसे चेतन कहा जाता है, स्वरूपसे पुरुषको ही चेतन स्वीकार किया है। कहा भी है—"चैतन्य पुरुषका स्वरूप है" [योगभाष्य १–९]। अतः उपर्युक्त हेतु सिद्ध ही है—असिद्ध नहीं और इसलिये वह

कर्मराशिविनाशित्वाभावे कस्यचिद्विश्ववेदित्वविरोधात् । ततश्च न प्रधानस्य ज्ञत्वं स्वयमचेतनस्य ज्ञत्वानुपलब्धेः । न चाज्ञस्य मोक्षमार्गोपदेशकत्वं सम्भाव्यत इति प्रधानस्य सर्वमसम्भाव्यमेव, स्वयमचेतनस्य सम्प्रज्ञातसमाधेरपि दुर्घटत्वात् । बुद्धिसत्त्वप्रकर्षस्यासम्भवाद्रजस्तमोमलावरणविगमस्यापि दुरुपपादत्वात् । यदि पुनरचेतनस्यापि प्रधानस्य विपर्ययाद्बन्धसिद्धेः संसारित्वं तत्त्वज्ञानात्कर्ममलावरणविगमे सति समाधिविशेषाद्विवेकख्यातेः सर्वज्ञत्वं मोक्षमार्गोपदेशित्वं जीवन्मुक्तदशायां विवेकख्यातेरपि निरोधे निर्बीजसमाधेर्मुक्तत्वमिति कापिलाः मन्यन्ते, तदाऽयं पुरुषः परिकल्प्यमानो[1] निष्फल[2] एव स्यात्, प्रधानेनैव संसारमोक्षतत्कारणपरिणामभृता[3] पर्याप्तत्वात् ।

§ १९३. ननु च सिद्धेऽपि प्रधाने संसारादिपरिणामानां कर्तरि भोग्ये भोक्ता पुरुषः कल्पनीय एव, भोग्यस्य भोक्तारमन्तरेणानुपपत्तेरिति न मन्तव्यम्; तस्यैव भोक्तुरात्मनः कर्तृत्वसिद्धेः प्रधानस्य कर्त्तुः परिकल्पनानर्थक्यात् । न हि कर्तृत्वभोक्तृत्वयोः कश्चिद्विरोधोऽस्ति, भोक्तुर्भुजि

प्रधानके कर्मसमूहके नाशकपनेके अभावको साधता है। और उससे विश्ववेदीपनेका अभाव सिद्ध होता है, क्योंकि कर्मसमूहके नाशकपनेके अभावमें कोई विश्ववेदी उपलब्ध नहीं होता। अतः प्रधान ज्ञ नहीं है, क्योंकि जो स्वयं अचेतन होता है वह ज्ञ उपलब्ध नहीं होता। और अज्ञ मोक्षमार्गका उपदेशक सम्भव नहीं है, इस तरह प्रधानके सब असम्भव ही है। इसके अतिरिक्त, स्वयं अचेतनके सम्प्रज्ञात समाधि भी नहीं बन सकती है। बुद्धिसत्त्वका प्रकर्ष (केवलज्ञान जैसा उत्कृष्ट ज्ञान) भी अचेतनके असम्भव है और इसलिये रज तथा तमरूप मलावरणका नाश भी उसके (अचेतन प्रधानके) नहीं बनता है।

सांख्य—यद्यपि प्रधान अचेतन है फिर भी उसके विपर्ययसे बन्ध सिद्ध होनेसे संसारीपना, तत्त्वज्ञानसे कर्मरूप मलावरणके नाश हो जानेपर समाधिविशेषसे विवेकख्याति (प्रकृति-पुरुषका भेदज्ञान) और विवेकख्यातिसे सर्वज्ञता तथा मोक्षमार्गोपदेशिता ये जीवन्मुक्तदशामें और विवेकख्यातिके भी नाश हो जानेपर निर्बीजसमाधिसे मुक्तपना, ये सब ही बातें उपपन्न होजाती हैं और यही हमारा मत है?

जैन—तो आपके द्वारा कल्पना किया गया यह पुरुष व्यर्थ ही ठहरेगा, क्योंकि प्रधानसे ही, जो संसार, मोक्ष और उनके कारणभूत परिणामोंको धारण करनेवाला है, सब कुछ होजाता है और इसलिये उसीको मानना पर्याप्त है।

§ १९३ सांख्य—संसारादिपरिणामोंके कर्ता एवं भोग्य प्रधानके सिद्ध होजाने पर भी भोक्ता पुरुषकी कल्पना करना ही चाहिये, क्योंकि भोग्य भोक्ताके विना नहीं बन सकता है। अतः पुरुषकी कल्पना व्यर्थ नहीं है?

जैन—यह मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि उसी भोक्ता पुरुषके कर्तापन सिद्ध है और इसलिये प्रधानको कर्ता कल्पित करना निरर्थक है। यह नहीं कि कर्तापन और भोक्तापनमें कोई विरोध है, अन्यथा भोक्ताके भुजिक्रियासम्बन्धी कर्तृता भी नहीं बन सकती है

---

1 द स 'कल्पमानो'। 2 द स 'निःफल'। 3 मु 'परिणामतापर्या'।

क्रियायामपि कर्त्तृत्वविरोधानुषङ्गात् । तथा च कर्त्तरि भोक्तृत्वानुपपत्ते[1]र्भोक्तेति न व्यपदिश्यते ।

§ १६४. स्यान्मतम्[2]—भोक्तेति कर्त्तरि शब्दप्रयोगा[3]त्पुरुषस्य न वास्तवं कर्तृत्वम्, शब्द-ज्ञानानुपातिनः कर्तृत्वविकल्पस्य वस्तुशून्यत्वादिति; तदप्यसम्बद्धम्; भोक्तृत्वादिधर्माणामपि पुरुषस्यावास्तवत्वापत्तेः । तथोपगमे[4] चेतनः पुरुषो न वस्तुतः सिद्ध्येत्, चेतनशब्दज्ञानानुपातिनो विकल्पस्य वस्तुशून्यत्वात्, कर्तृत्वभोक्तृत्वादिशब्दज्ञानानुपातिविकल्पवत् । सकलशब्दविकल्प-गोचरातिक्रान्तत्वाच्चितिशक्तेः पुरुषस्यावक्तव्यत्वमिति चेत्;न; तस्यावक्तव्यशब्देनाऽपि वचनविरोधात् । तथाऽप्यवचने कथं परप्रत्यायनमिति सम्प्रधार्यम् । कायप्रज्ञप्तेरपि शब्दाविषयत्वेन[5] प्रवृत्त्ययोगात् । स्वयं च तथाविधं पुरुषं सकलवाग्गोचरातीतमकिञ्चित्करं कुतः प्रतिपद्येत ? स्वसंवेदनादिति चेत्, न, तस्य ज्ञानशून्ये पुंस्यसम्भवात्, स्वरूपस्य च स्वयं संचेतनायां पुरुषेण प्रतिज्ञायमानायां "बुद्ध्य[6]-

और इस प्रकार कर्तामें भोक्तापन न बननेसे 'भोक्ता' यह व्यपदेश नहीं होसकता है ।

§ १६४. सांख्य—हमारा आशय यह है कि 'भोक्ता' यह कर्ता अर्थमें शब्दप्रयोग होनेसे पुरुषके वास्तविक कर्तृता (कर्तापन) नहीं है, क्योंकि शब्द और शाब्द ज्ञानको उत्पन्न करनेवाला कर्तृताविषयक विकल्प वस्तुरहित है—अवस्तु है ?

जैन—आपका यह आशय भी अयुक्त है, क्योंकि भोक्तापन आदि धर्म भी पुरुषके अवास्तविक होजायेंगे । और वैसा माननेपर पुरुष वास्तविक चेतन सिद्ध नहीं होगा, कारण 'चेतन' शब्द और शाब्दज्ञानका जनक चेतनविषयक विकल्प भी वस्तुशून्य है—अवस्तु है । जैसे कर्तृता, भोक्तृता आदि शब्द और शाब्दज्ञानके जनक विकल्प ।

सांख्य—चितिशक्ति समस्त शब्दों और विकल्पोंका विषय नहीं है और इसलिये पुरुष अवक्तव्य है—किसी भी शब्द अथवा विकल्प द्वारा कहने योग्य नहीं है ?

जैन—नहीं, क्योंकि सर्वथा अवक्तव्य होनेकी हालतमें वह अवक्तव्य शब्दके द्वारा भी नहीं कहा जा सकेगा । फिर भी उसे अवक्तव्य कहें तो दूसरोंको उसका ज्ञान कैसे होगा ? यह आपको बतलाना चाहिये, क्योंकि दूसरोंको ज्ञान शब्द-प्रयोग-द्वारा ही होता है । यदि कहें कि कायप्रज्ञप्ति—शरीरज्ञानसे दूसरोंको उसका ज्ञान हो जाता है, तो यह कथन भी आपका युक्त नहीं है, कारण कायप्रज्ञप्तिकी भी शब्दके अविषय पुरुषमें प्रवृत्ति नहीं बन सकती है । तात्पर्य यह कि पुरुष जब किसी भी शब्दका विषय नहीं है तो उसमें शरीरज्ञानरूप कार्यानुमानकी प्रवृत्ति असम्भव है । अतः शब्दव्यवहारके बिना दूसरोंको पुरुषका ज्ञान अशक्य है । तथा स्वयंको भी उस प्रकारके पुरुषका कि वह समस्त शब्दोंका अविषय एवं अकिञ्चित्कर है, ज्ञान कैसे होगा ? अगर कहा जाय कि स्वसंवेदनसे उसका ज्ञान हो जाता है तो यह कथन भी संगत नहीं है क्योंकि वह (स्वसंवेदन) ज्ञानरहित पुरुषमें असम्भव है । और यदि स्वरूपकी पुरुषद्वारा स्वयं संचेतना (अनुभूति) मानी जाय तो "बुद्धिसे अवसित—ज्ञात

1 स प्रतौ 'भोक्तृत्वानुपपत्तेः' इति पाठो नास्ति । 2 द प्रतौ 'स्यान्मतम्' नास्ति । 3 स मु 'शब्दयोगात्' । 4 मु स 'गमाच्चेतयत इति' । 5 स 'षयत्वे प्रवृ' । द 'षये प्रवृ' । 6 मु 'बुद्-ध्यध्यवसित' ।

वसितमर्थं पुरुषश्चेतयते" [ ] इति व्याहन्यते, स्वरूपस्य बुद्ध्याऽनध्यवसितस्यापि[1] तेन संवेदनात् । यथा च [2]बुद्ध्याऽनध्यवसितमात्मानमात्मा संचेतयते तथा बहिरर्थमपि सञ्चेतयताम्, किमनया बुद्ध्या निष्कारणमुपकल्पितया ? स्वार्थसंवेदकेन पुरुषेण तत्कृत्यस्य कृतत्वात् ।

§ १६५. यदि पुनरर्थसंवेदनस्य कादाचित्कत्वाद् बुद्ध्यध्यवसायस्तत्रापेक्ष्यते तस्य स्वकारण-बुद्धिकादाचित्कतया कादाचित्कस्यार्थसंवेदनस्य कादाचित्कताहेतुत्वसिद्धेः । बुद्ध्यध्यवसानपेक्षायां पुंसोऽर्थसंवेदने शश्वदर्थसंवेदनप्रसङ्गादिति मन्यध्वम्[3], तदाऽर्थसंवेदिनः पुरुषस्यापि संचेतना कादा-चित्का किमपेक्षा स्यात् ? अर्थसंवेदनापेक्षैवेति[4] चेत्, किमिदानीमर्थसंवेदनं पुरुषादन्यदभिधीयते ? तथाऽभिधाने स्वरूपसंवेदनमपि पुंसोऽन्यत्प्राप्तम्, तस्य कादाचित्कतया शाश्वतिकत्वाभावात् । तादृशस्वरूपसंवेदनादात्मनोऽनन्यत्वे ज्ञानादेवानन्यत्वमिष्यताम् । ज्ञानस्यानित्यत्वात्ततोऽनन्यत्वे पुरुष-स्यानित्यत्वप्रसङ्ग इति चेत्; न;[5] स्वरूपसंवेदनादप्यनित्यादा[6]त्मनोऽनन्यत्वे कथञ्चिदनित्यत्वप्रसङ्गो

अर्थको पुरुष संचेतन (अनुभव) करता है" [ ] यह मान्यता नहीं रहती है, क्योंकि बुद्धिसे अज्ञात भी स्वरूप उसके द्वारा जाना जाता है । और जिस प्रकार पुरुष बुद्धिसे अज्ञात (अनध्यवसित) अपने स्वरूपको जानता है उसी प्रकार वह बाह्य पदार्थोंको भी जान ले । व्यर्थमें इस बुद्धिको कल्पित करनेसे क्या फायदा ? क्योंकि स्वार्थसंवेदक पुरुषद्वारा उसका कार्य पूरा होजाता है ।

§ १६५. सांख्य—बात यह है कि बाह्य पदार्थोंका ज्ञान कादाचित्क है—कभी होता है और कभी नहीं होता है, इसलिये उसमें बुद्धिके अध्यवसायकी अपेक्षा होती है और चूँकि बुद्धिका अध्यवसाय अपनी कारणभूत बुद्धिके कादाचित्क होनेसे कादाचित्क है । अतः वह बाह्यपदार्थज्ञानकी कादाचित्कताका कारण सिद्ध होजाता है । मतलब यह कि बुद्धिके कादाचित्क होनेसे उसका कार्यरूप बाह्यपदार्थज्ञान भी कादाचित्क है । यदि पुरुषके अर्थसंवेदनमें बुद्धिके अध्यवसायकी अपेक्षा न हो तो सदैव अर्थसंवेदनका प्रसंग आवेगा, लेकिन ऐसा नहीं है —अर्थसंवेदन कादाचित्क है ?

जैन—तो यह बतलाइये कि अर्थसंवेदी पुरुषकी भी कादाचित्क स्वरूपसंचेतना (अनुभूति) किसकी अपेक्षासे होती है अर्थात् उसमें किसकी अपेक्षा होती है ?

सांख्य—अर्थसंवेदनकी ।

जैन—तो क्या आप अर्थसंवेदनसे पुरुषको भिन्न कहते हैं ?

सांख्य—हाँ, उससे पुरुषको भिन्न कहते हैं ।

जैन—तो स्वरूपसंवेदनसे भी पुरुषको भिन्न कहना चाहिए, क्योंकि वह का-दाचित्क होनेसे शाश्वतिक (नित्य—सर्वदा रहनेवाला) नहीं है ।

सांख्य—स्वरूपसंवेदनसे हम पुरुषको अभिन्न कहते हैं ?

जैन—तो ज्ञानसे ही पुरुषको अभिन्न कहिये ।

सांख्य—ज्ञान अनित्य है, इसलिये उससे पुरुषको अभिन्न कहनेपर पुरुषके अनित्यपनाका प्रसंग आता है । अतः ज्ञानसे पुरुष अभिन्न नहीं है ?

1 मु 'बुद्ध्यनवसित' । 2 मु स बुद्ध्यनवषित' । 3 द 'मन्यध्वम्' पाठस्थाने 'अज्ञ-वत्' पाठः । 4 मु 'पेक्षयेति' । 5 स मु प्रतिषु 'न' पाठो नास्ति । 6 मु स 'त्यत्वादात्म' ।

दुःपरिहार एव । स्वरूपसंवेदनस्य नित्यत्वेऽर्थसंवेदनस्यापि नित्यता स्यादेव । परापेक्षातस्तस्यानित्यत्वे स्वरूपसंवेदनस्याऽप्यनित्यत्वमस्तु । न चात्मनः कथञ्चिदनित्यत्वमयुक्तम्, सर्वथा नित्यत्वे प्रमाण-विरोधात् । सोऽयं सांख्यः पुरुषं कादाचित्कार्थसंचेतनात्मकमपि निरतिशयं नित्यमाचक्षाणो ज्ञानात्का-दाचित्कादनन्यत्वमनित्यत्वभयान्न प्रतिपद्यत इति किमपि महाद्भुतम् ? प्रधानस्य चानित्या[1]द्व्यक्ता-दनर्थान्तरभूतस्य नित्यतां प्रतीयन् पुरुषस्यापि ज्ञानादशाश्वतादनर्थान्तरभूतस्य नित्यत्वमुपैतु, सर्वथा विशेषाभावात् । केवलं ज्ञानपरिणामाश्रयस्य प्रधानस्यादृष्टस्यापि परिकल्पनायां ज्ञानात्मकस्य च पुरुषस्य स्वार्थव्यवसायिनो दृष्टस्य हानिः पापीयसी स्यात् । "दृष्टहानिरदृष्टपरिकल्पना च पापीयसी" [ ] इति सकलप्रेक्षावतामभ्युपगमनीयत्वात् । ततस्तां परिजिहीर्षता पुरुष एव

जैन—नहीं, क्योंकि अनित्य स्वरूपसंवेदनसे भी पुरुषको अभिन्न कहनेमें पुरुषके कथंचित् अनित्यता प्रसक्त होती है और जो दुष्परिहार्य है—किसी तरह भी उसका परिहार नहीं किया जासकता है।

सांख्य—स्वरूपसंवेदन नित्य है, अतः उक्त दोष नहीं है ?

जैन—तो अर्थसंवेदन भी नित्य हो और इसलिये पूर्वोक्त दोष उसमें भी नहीं है।

सांख्य—अर्थसंवेदनमें परकी अपेक्षा होती है, इसलिये वह अनित्य है ?

जैन—स्वरूपसंवेदन भी अनित्य है, क्योंकि उसमें भी परकी अपेक्षा संभव है। दूसरे, आत्माके कथंचित् अनित्यपना अयुक्त नहीं है, क्योंकि सर्वथा नित्य माननेमें प्रमाणका विरोध आता है अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाणसे आत्मा सर्वथा नित्य—कूटस्थ प्रतीत नहीं होता। आश्चर्य है कि आप लोग अनित्य स्वरूपसंवेदनात्मक भी पुरुषको निरतिशय नित्य (अपरिणामी नित्य) प्रतिपादन करते हैं, पर अनित्य अर्थसंवेदनसे अभिन्न उसे अनित्यताके भयसे स्वीकार नहीं करते । वास्तवमें जब अनित्य स्वरूपसंवेदनसे पुरुष अभिन्न रह कर भी निरतिशय नित्य बना रह सकता है तो अनित्य ज्ञानसे भी वह अभिन्न रह कर निरतिशय नित्य बना रह सकता है—उसमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये।

अपि च, जब आप अनित्य महदादि व्यक्तसे अभिन्नभूत प्रधानके नित्यता ही घोषित करते हैं—अनित्य महदादि व्यक्तसे अभिन्न होनेपर भी उसके अनित्यताका प्रसंग नहीं आता है तो अनित्य ज्ञानसे अभिन्नभूत पुरुषके भी नित्यता स्वीकार करिये, क्योंकि दोनों जगह कोई विशेषता नहीं है। सिर्फ ज्ञानपरिणामके आश्रयभूत प्रधानकी, जो कि अदृष्ट है—देखनेमें नहीं आता, परिकल्पना और ज्ञानस्वरूप स्वार्थव्यवसायी पुरुषकी, जो दृष्ट है—देखनेमें आता है, हानि प्राप्त होती है और जो दोनों ही पाप हैं—अहितकर हैं । "दृष्ट—देखे गयेको न मानना और अदृष्ट—नहीं देखे गयेको कल्पित करना पाप है—अश्रेयस्कर है" [ ] यह सभी विवेकी चतुर पुरुषोंने स्वीकार किया है। अतः इस प्राप्त अदृष्टपरिकल्पना

1 मु 'चानित्यत्वाद्व्य' ।

ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणः कश्चित् प्रक्षीणकर्मा सकलतत्त्वसाक्षात्कारी मोक्षमार्गस्य प्रणेता पुण्यशरीरः पुण्यातिशयोदये सन्निहितोक्तपरिग्राहकविनेयमुख्यः प्रतिपत्तव्यः, तस्यैव मुमुक्षुभिः प्रेक्षावद्भिः[1] स्तुत्यतोपपत्तेः[2] । प्रधानं तु मोक्षमार्गस्य प्रणेतृ ततोऽर्थान्तरभूत एवात्मा मुमुक्षुभिः स्तूयते इत्यकिञ्चित्करात्मवाद्येव ब्रूयान्न ततोऽन्य इत्यलं प्रसङ्गेन ।

[सुगतस्य मोक्षमार्गप्रणेतृत्वाभावप्रतिपादनम्]

§ १६६. योऽप्याह—माभूत्कपिलो निर्वाणमार्गस्य[3] प्रणेता महेश्वरवत्, तस्य विचार्यमाणस्य तथा व्यवस्थापयितुमशक्तेः । सुगतस्तु निर्वाणमार्गस्योपदेशको[4]ऽस्तु सकलबाधकप्रमाणाभावादिति तमपि निराकर्तुमुपक्रमते—

सुगतोऽपि न निर्वाणमार्गस्य प्रतिपादकः ।
विश्वतत्त्वज्ञताऽपायात्तत्त्वतः कपिलादिवत् ॥ ८४ ॥

§ १६७. यो यस्तत्त्वतो विश्वतत्त्वज्ञताऽपेतः स स न निर्वाणमार्गस्य प्रतिपादकः, यथा कपिलादिः, तथा च सुगत इति । अत्र[5] नासिद्धं साधनम्, तत्त्वतो विश्वतत्त्वज्ञतापेतत्वस्य सुगते

और दृष्टहानिरूप पापको दूर करना चाहते हैं तो ज्ञान और दर्शन उपयोगस्वरूप किसी विशिष्ट पुरुषको ही कर्मोंका नाशक, सर्वज्ञ, मोक्षमार्गका उपदेशक, उत्तम शरीरवाला, विशिष्ट पुण्यकर्मके उदयवाला और निकटवर्ती एवं उनके उपदेशग्राहक गणधरादिविनेयोंमें श्रेष्ठ ऐसा मानना चाहिये, वही विवेकी मुमुक्षुओंद्वारा स्तुति किये जाने योग्य प्रमाणसे सिद्ध होता है। किन्तु जो यह कहते हैं कि 'प्रधान मोक्षमार्गका उपदेशक है और उससे भिन्न आत्माकी मुमुक्षु स्तुति करते हैं' वे आत्माको अकिञ्चित्कर कहनेवालों—कर्ता आदि स्वीकार न करनेवालों (सांख्यों) के सिवाय अन्य कोई नहीं हैं अर्थात् वैसा प्रतिपादन सांख्य ही कर सकते हैं, अन्य नहीं। इसप्रकार सांख्य मतका संक्षिप्त विवेचन करके उसे समाप्त किया जाता है—उसका और विस्तार नहीं किया जाता ।

[सुगत-परीक्षा]

§ १६६. जो कहते हैं कि कपिल मोक्षमार्गका उपदेशक न हो, जैसे महेश्वर; क्योंकि विचार करनेपर उसके मोक्षमार्गोपदेशकपना व्यवस्थित नहीं होता। लेकिन सुगत मोक्षमार्गका उपदेशक हो, कारण उसके कोई भी बाधकप्रमाण नहीं है। उनके भी इस कथनको निराकरण करनेके लिये प्रस्तुत प्रकरण प्रारम्भ किया जाता है—

'सुगत भी मोक्षमार्गका प्रतिपादक नहीं है, क्योंकि उसके परमार्थतः सर्वज्ञताका अभाव है, जैसे कपिलादिक ।'

§ १६७. जो जो परमार्थतः सर्वज्ञतारहित है वह वह मोक्षमार्गका प्रतिपादक नहीं है, जैसे कपिल वगैरह । और परमार्थतः सर्वज्ञतारहित सुगत है। यहाँ साधन असिद्ध नहीं है, कारण परमार्थतः सर्वज्ञताका अभाव सुगतरूप धर्मीमें विद्यमान है। यदि

1 द प्रतौ 'प्रेक्षावद्भिः' नास्ति । 2 द 'स्तुत्योपपत्तेः' । 3 मु स 'निर्वाणस्य' । स चायुक्तः । मूले द प्रतेः पाठो निक्षिप्तः । 4 मु स 'मार्गोपदेश' । 5 मु स 'इत्येवं' ।

धर्मिणि सद्भावात् । स हि विश्वतत्त्वान्यतीतानागतवर्त्तमानानि साक्षात्कुर्वंस्तद्धेतुकोऽभ्युपगन्तव्यः, तेषां सुगतज्ञानहेतुत्वाभावे[1] सुगतज्ञानविषयत्वविरोधात् । "नाकारणं विषयः" [ ] इति स्वयमभिधानात् । तथाऽतीतानां तत्कारणत्वेऽपि न वर्त्तमानानामर्थानां सुगतज्ञानकारणत्वम्, समसमयभाविनां[2] कार्यकारणभावाभावादन्वयव्यतिरेकानुविधानायोगात् । न ह्यननुकृतान्वयव्यतिरेकोऽर्थः कस्यचित्कारणमिति युक्तं वक्तुम्, [3]अनुकृतान्वयव्यतिरेकं कारणमिति प्रतीतेः । तथा भविष्यतां [4]वाऽर्थानां न सुगतज्ञानकारणता युक्ता यतस्तद्विषयं सुगतज्ञानं स्यादिति विश्वतत्त्वज्ञतापेतत्वं सुगतस्य सिद्धमेव । तथा परमार्थतः स्वरूपमात्रावलम्बित्वात्सर्वविज्ञानानां सुगतज्ञानस्यापि स्वरूपमात्रविषयत्वमेवोररीकर्त्तव्यम्, तस्य बहिरर्थविषयत्वे[5] "सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनं प्रत्यक्षम्" [न्यायबिन्दु. पृ. १६] इति वचनं विरोधमध्यासीत्[6], बहिरर्थाकारतयोत्पद्यमानत्वात् । सुगतज्ञानस्य बहिरर्थविषयत्वोपचारकल्पनायां न परमार्थतो बहिरर्थविषयं सुगतज्ञानमतः 'तत्त्वतः' इति विशेषणमपि नासिद्धं साधनस्य । नापि विरुद्धम्, विपक्ष एव वृत्तेरभावात् कपिलादौ सपक्षेऽपि सद्भावात् ।

§ १९८. ननु तत्त्वतो विश्वतत्त्वज्ञतापेतेन मोक्षमार्गस्य प्रतिपादकेन दिग्नागाचार्यादिना साधनस्य व्यभिचार इति चेत्; न; तस्यापि पक्षीकृतत्वात् । सुगतग्रहणा[1]त्सुगतमतानुसारिणां सर्वेषां गृहीतत्वात् । तर्हि स्याद्वादिनाऽनुत्पन्नकेवलज्ञानेन तत्त्वतो विश्वतत्त्वज्ञताऽपेतेन सूत्रकारादिना निर्वाणमार्गस्योपदेशकेनानैकान्तिकं साधनमिति चेत्; न; तस्यापि सर्वज्ञप्रतिपादितनिर्वाणमार्गोपदेशित्वेन [2]तदनुवादकत्वात्प्रतिपादकत्वसिद्धेः । साक्षात्तत्त्वतो विश्वतत्त्वज्ञ एव हि निर्वाणमार्गस्य प्रवक्ता । गणधरदेवादयस्तु सूत्रकारपर्यन्तास्तदनुवक्तार एव गुरुपर्वक्रमा[3]विच्छेदात्, इति स्याद्वादिनां दर्शनम्, ततो न तैरनैकान्तिको हेतुर्यतः सुगतस्य निर्वाणमार्गस्योप[4]देशित्वाभावं न साधयेत् ।

[सौगतानां स्वपक्षसमर्थनम्]

§ १९९. स्यान्मतम्—न सुगतज्ञानं विश्वतत्त्वेभ्यः समुत्पन्नं तदाकारतां चापन्नं[5] तदध्यवसायि च तत्साक्षात्कारि सौगतैरभिधीयते ।

वास्तवमें सुगत समस्त—भूत, भविष्यत् और वर्तमान तत्त्वोंका साक्षात् ज्ञाता हो तो उसके ज्ञानको समस्ततत्त्वकारणक अर्थात् समस्त तत्त्वोंसे जनित स्वीकार करना चाहिये, क्योंकि समस्त तत्त्व यदि सुगतज्ञानके कारण न हों तो वे सुगतज्ञानके विषय नहीं हो सकते हैं। कारण, बौद्धोंने स्वयं कहा है कि "नाकारणं विषयः" [ ] अर्थात् 'जो कारण नहीं है वह विषय नहीं होता'। ऐसी हालतमें यदि किसी प्रकार अतीत पदार्थ सुगतज्ञानमें कारण हो भी जायें, यद्यपि उनमें अव्यवहित पूर्वक्षणके सिवाय अन्य सब अतीत पदार्थ कारण सम्भव नहीं हैं तथापि वर्तमान पदार्थोंके सुगतज्ञानकी कारणता असम्भव है, क्योंकि एक-कालमें होनेवाले पदार्थोंमें कार्यकारणभाव न होनेसे उनमें अन्वय-व्यतिरेक नहीं बनता है। प्रकट है कि जिस पदार्थका अन्वय और व्यतिरेक नहीं है वह किसीका कारण नहीं कहा जासकता, क्योंकि अन्वय-व्यतिरेकवाला ही कारण प्रतीत होता है। तथा भविष्यत् पदार्थोंके भी सुगतज्ञानकी कारणता युक्त नहीं है जिससे सुगतज्ञान उनको विषय करनेवाला हो, क्योंकि कार्यसे पूर्ववर्तीको ही कारण कहा जाता है, उत्तरवर्तीको नहीं और भविष्यत् पदार्थ कार्यके उत्तरकालीन हैं तब वे सुगतज्ञानके कारण कैसे हो सकते हैं? तथा कारण न होनेकी हालतमें वे सुगतज्ञानके विषय भी कैसे हो सकते हैं? अर्थात् नहीं हो सकते हैं। अतः सर्वज्ञताका अभाव सुगतके सिद्ध ही है। दूसरी बात यह है कि समस्त ज्ञानोंको परमार्थतः स्वरूपमात्रविषयक होनेसे सुगतज्ञानको भी स्वरूपमात्रविषयक ही स्वीकार करना चाहिये। और इस तरह उसके विश्वतत्त्वज्ञताका अभाव सिद्ध है। यदि उसे बहिरर्थविषयक (बाह्य पदार्थोंको विषय करनेवाला) कहा जाय तो "समस्त चित्तों और चैत्तों—अर्थमात्रग्राही विज्ञानों और विशेष अवस्थाग्राही सुखादिकोंका स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होता है" [न्यायबिंदु पृ० १६] इस वचनका विरोध प्राप्त होता है, क्योंकि बाह्य पदार्थाकाररूपसे वह उत्पन्न होगा। तात्पर्य यह कि सुगतज्ञानको बहिरर्थविषयक माननेपर उसका स्वसंवेदन नहीं हो सकता है और इसलिये उक्त न्यायबिन्दुकारके वचनके साथ विरोध आता है। अगर कहा जाय कि उपचारसे सुगतज्ञानको बहिरर्थविषयक मानते हैं तो सुगतज्ञान परमार्थतः बहिरर्थविषयक सिद्ध नहीं होता। अतः 'तत्त्वतः' यह हेतुगत विशेषण भी असिद्ध नहीं है। तथा हेतु विरुद्ध भी नहीं है क्योंकि विपक्षमें वह नहीं रहता है और कपिलादिक सपक्षमें रहता है।

१९८. बौद्ध—परमार्थतः सर्वज्ञतासे रहित एवं मोक्षमार्गके प्रतिपादक दिग्नागाचार्यादिके साथ आपका हेतु व्यभिचारी है?

जैन—नहीं, दिग्नाचार्यादिकको भी पक्षान्तर्गत कर लिया है, क्योंकि सुगतके ग्रहणसे सुगतमतानुसारी सबोंका ग्रहण विवक्षित है।

बौद्ध—यदि ऐसा है तो जिन्हें केवलज्ञान प्राप्त नहीं है और इसलिये परमार्थतः जो सर्वज्ञतासे रहित हैं किन्तु मोक्षमार्गके प्रतिपादक हैं, ऐसे स्याद्वादी सूत्रकारादिकोंके साथ साधन व्यभिचारी है?

जैन—नहीं, वे भी सर्वज्ञोक्त मोक्षमार्गके परम्परा उपदेशक होनेसे अनुवादक अथवा अनुप्रतिपादक हैं और इसलिये प्रतिपादक सिद्ध है। मोक्षमार्गका साक्षात् प्रवक्ता (प्रधान प्रतिपादक) निस्सन्देह परमार्थतः सर्वज्ञ ही है। गणधरदेवसे लेकर सूत्रकार तक तो सब उनके अनुवक्ता हैं, क्योंकि गुरुपरम्पराका क्रम अविच्छिन्न चलता रहता है, यह हमारा दर्शन है—सिद्धान्त है। अतः उनके साथ हेतु व्यभिचारी नहीं है जिससे वह सुगतके मोक्षमार्गोपदेशकताका अभाव सिद्ध न करे। अपितु सिद्ध करेगा ही।

§ १९९. बौद्ध—हमारा अभिप्राय यह है कि हम सुगतके ज्ञानको विश्वतत्त्वोंसे उत्पन्न, तदाकारताको प्राप्त और तदध्यवसायी होता हुआ उनका साक्षात्कारी नहीं कहते हैं। क्योंकि—

1 द प्रतौ पाठोऽयं नास्ति। 2 द प्रतौ त्रुटितोऽयं पाठः। 3 मु स 'नाननुकृता'। 4 मु स 'चा'। 5 द बहिरर्थसंवेदकत्वात्'। मु स 'बहिरर्थविषयत्वे स्वार्थसंवेदकत्वात्'। 6 द मु 'सीत'।

1 स मु 'प्रग्रहणेन'। 2 द 'तदनुप्रतिपादकत्वात्'। 3 द 'क्रियावि'। 4 द 'मार्गोपदेशि'। 5 द 'तदाकारतापन्न' वा'।

"भिन्नकालं कथं ग्राह्यमिति चेद्[1] ग्राह्यतां विदुः।
हेतुत्वमेव युक्तिज्ञास्तदाकारार्पणक्षमम् ॥" [प्रमाणवा. ६-२४७] इति।

§ २००. अनेन तदुत्पत्तिताद्रूप्ययोर्ग्राह्यत्वलक्षणत्वेन व्यवहारिणः प्रत्यभिधानात्।

"यत्रैव जनयेदेनां तत्रैवास्य प्रमाणता।" [ ] इति।

§ २०१. अनेन च तदध्यवसायित्वस्य प्रत्यक्षलक्षणत्वेन वचनमपि न सुगतप्रत्यक्षापेक्षया, व्यवहारिजनापेक्षयैव[2] तस्य व्याख्यानात्, सुगतप्रत्यक्षे स्वसंवेदनप्रत्यक्ष इव तल्लक्षणस्यासम्भवात्। यथैव हि स्वसंवेदनप्रत्यक्षं स्वस्मादनुत्पद्यमानमपि स्वाकारमननुकुर्वाणं स्वस्मिन् व्यवसायमजनयत् प्रत्यक्षमिष्यते कल्पनापोढाभ्रान्तत्वलक्षणसद्भावात्, तथा योगिप्रत्यक्षमपि वर्त्तमानातीतानागततत्त्वेभ्यः

'प्रत्यक्षज्ञान भिन्नसमयवर्तीको कैसे ग्रहण कर सकता है, यदि यह पूछा जाय तो युक्तिज्ञ पुरुष तदाकारके अर्पणमें समर्थ हेतुताको ही ग्राह्यता कहते हैं। तात्पर्य यह कि यद्यपि अर्थके समय ज्ञान नहीं है और ज्ञानके समय अर्थ नहीं है—अर्थके नाश हो जानेके बाद ही ज्ञान उत्पन्न होता है—अर्थके सद्भावमें नहीं होता है और इसलिये पूर्वक्षण, पूर्वक्षणज्ञानसे भिन्नकालीन है और जब वह भिन्नकालीन है तो वह ग्राह्य कैसे होसकता है? तथापि युक्तिके जानकारोंका कहना है कि पूर्वक्षण अपना आकार छोड़ जाता है और ज्ञान उसको ग्रहण कर लेता है, यह आकारार्पण-रूप हेतुता—युक्ति ही उसकी ग्राह्यतामें प्रमाण है।' [ ]।

§ २००. इस पद्यद्वारा तदुत्पत्ति और ताद्रूप्यको ग्राह्यता (प्रत्यक्ष) के लक्षणरूपसे व्यवहारियोंके प्रति कहा है—सुगतके प्रति नहीं। अर्थात् हम व्यवहारियोंके प्रत्यक्षज्ञानके ही तदुत्पत्ति और ताद्रूप्य लक्षणरूपसे अभिहित हैं, सुगतप्रत्यक्षके नहीं। तथा 'जहाँ ही निर्विकल्पक प्रत्यक्ष सविकल्पक बुद्धिको उत्पन्न करता है वहाँ ही वह प्रमाण है' [ ]

§ २०१. इस पद्यांशद्वारा तदध्यवसायिताको प्रत्यक्षके लक्षणरूपसे कथन करना भी सुगतज्ञानकी अपेक्षासे नहीं है, व्यवहारीजनोंकी अपेक्षासे ही है, ऐसा व्याख्यान करना चाहिये, क्योंकि सुगतप्रत्यक्षमें स्वसंवेदन प्रत्यक्षकी तरह उक्त प्रत्यक्षलक्षण (तदुत्पत्ति, तदाकारता और तदध्यवसायिता) असम्भव है। स्पष्ट है कि जिसप्रकार स्वसंवेदन प्रत्यक्ष अपनेसे उत्पन्न न होता हुआ, अपने आकारका अनुकरण न करता हुआ और अपनेमें व्यवसाय (निश्चय) को पैदा न करता हुआ भी प्रत्यक्ष कहा जाता है क्योंकि उसमें कल्पनापोढपना और अभ्रान्तपनारूप प्रत्यक्षलक्षण मौजूद है उसी प्रकार योगिप्रत्यक्ष भी वर्तमान, अतीत और अनागत तत्त्वोंसे उत्पन्न न होता हुआ, उनके आकारका अनुकरण न करता हुआ और उनके अध्यवसायको पैदा न करता हुआ प्रत्यक्ष माना जाता है क्योंकि कल्पनापोढपना और अभ्रान्तपनारूप लक्षण उसमें विद्यमान है। यदि ऐसा न हो—विश्व तत्त्वोंसे

1 द प्रतौ 'भिन्नेत्यादि' पंक्तिर्नास्ति। 2 स 'व्यवहारजननापेक्ष', मु 'व्यवहारजनापेक्ष'।

स्वयमनुत्पद्यमानं तदाकारमननुकुर्वत् तदध्यवसाय[1]मजनयत् प्रत्यक्षं तल्लक्षणयोगित्वात्प्रतिपद्यते[2]। कथमन्यथा सकलार्थविषयं विधूतकल्पनाजालं च सुगतप्रत्यक्षं सिद्ध्येत्? तस्य भावनाप्रकर्षपर्यन्तजत्वाच्च न समस्तार्थजत्वं युक्तम्, "भावनाप्रकर्षपर्यन्तजं योगिज्ञानम्" [न्यायबिन्दु पृ० २०] इति वचनात्। भावना हि द्विविधा श्रुतमयी चिन्तामयी च। तत्र[3]श्रुतमयी श्रूयमाणेभ्यः परार्थानुमानवाक्येभ्यः समुत्पद्यमानज्ञानेन[4] श्रुतशब्दवाच्यतामास्कन्दता निर्वृत्ता[5] परं प्रकर्षं प्रतिपद्यमाना स्वार्थानुमानज्ञान[6]लक्षणया चिन्तया निर्वृत्तां[7] चिन्तामयीं भावनामारभते। सा च प्रकृष्यमाणा परं प्रकर्षपर्यन्तं सम्प्राप्ता योगिप्रत्यक्षं जनयति, ततस्तत्त्वतो विश्वतत्त्वज्ञतासिद्धेः सुगतस्य न तदपेतत्वं सिद्ध्यति यतो निर्वाणमार्गस्य प्रतिपादकः सुगतो न भवेदिति।

[सुगतमतनिराकरणम्]

§ २०२. तदपि न विचारक्षमम्; भावनाया विकल्पात्मिकायाः श्रुतमय्याश्चिन्तामय्याश्चावस्तुविषयाया वस्तुविषयस्य योगिज्ञानस्य जन्मविरोधात्। कुतश्चिदतत्त्वविषयाद्

उत्पन्नादिरूप हो तो सुगतप्रत्यक्ष समस्तार्थविषयक और कल्पनाजालरहित कैसे सिद्ध हो सकेगा? फलितार्थ यह कि सुगतप्रत्यक्षमें विश्वतत्त्वोंको हम कारण नहीं मानते हैं, क्योंकि कारण माननेकी हालतमें सुगतप्रत्यक्ष उनसे उत्पन्न न हो सकनेसे समस्त पदार्थोंका ज्ञाता सिद्ध नहीं होता। अतएव तदुत्पत्ति, ताद्रूप्य और तदध्यवसायिताका जो प्रतिपादन है वह हम लोगोंके प्रत्यक्षज्ञानकी अपेक्षा है, सुगतप्रत्यक्षकी अपेक्षा नहीं। दूसरे, सुगतप्रत्यक्ष भावनाके परमप्रकर्षसे उत्पन्न होता है—विश्वतत्त्वोंसे नहीं, इसलिये भी वह समस्त पदार्थजन्य नहीं माना जा-सकता है क्योंकि "भावनाके चरम प्रकर्षसे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानको योगिज्ञान अथवा योगिप्रत्यक्ष कहते हैं।" [न्यायबिन्दु पृ० २०] ऐसा न्यायबिन्दुकार आचार्य धर्मकीर्तिका उपदेश है। प्रकट है कि भावना दो प्रकारकी कही गई है—एक श्रुतमयी और दूसरी चिन्तामयी। जो सुने जानेवाले परार्थानुमानवाक्योंसे उत्पन्न एवं श्रुत शब्दसे कहे जानेवाले श्रुतज्ञानसे उत्पन्न होती है वह श्रुतमयी भावना है। यह श्रुतमयी भावना परमप्रकर्षको प्राप्त होती हुई स्वार्थानुमानात्मक चिन्ताद्वारा जनित चिन्तामयी भावनाको आरम्भ करती है और वह चिन्तामयी भावना बढ़ते-बढ़ते अन्तिम प्रकर्षको प्राप्त होकर योगिप्रत्यक्षको उत्पन्न करती है। अतः सुगतके परमार्थतः सर्वज्ञता सिद्ध है और इसलिये उसके सर्वज्ञताका अभाव सिद्ध नहीं होता, जिससे सुगत मोक्षमार्गका प्रतिपादक न हो, अपितु वह है ही।

§ २०२. जैन—यह कथन भी विचारसह नहीं है—विचारद्वारा उसका खण्डन होजाता है, क्योंकि श्रुतमयी और चिन्तामयी भावनाएँ विकल्पात्मक हैं और इसलिये वे अवस्तुको विषय करनेवाली हैं, अतः उनसे वस्तुविषयक योगिज्ञान उत्पन्न नहीं होसकता है। दूसरे, अवस्तुको विषय करनेवाले किसी विकल्पज्ञानसे वस्तुको

1 मु 'तदध्यवसाय'। 2 स 'प्रतिपाद्यते'। 3 द 'तथा हि', स 'तर्हि तत्र'। 4, 6 मु 'ज्ञान' नास्ति। 5 द 'निवृंता'। 7 द स 'निर्वृतां'।

विकल्पज्ञानात्तत्त्वविषयस्य ज्ञानस्यानुपलब्धेः । कामशोकभयोन्मादच्चौर[1]स्वप्नाद्युपप्लुतज्ञानेभ्यः कामिनीमृतेष्टजनशत्रुसंघातानियतार्थगोचराणां पुरतोऽवस्थितानामिव दर्शनस्याऽप्यभूतार्थविषयतया तत्त्वविषयतया तत्त्वविषयत्वाभावात् । तथा चाभ्यधायि—

"काम-शोक-भयोन्माद-चौर[2]-स्वप्नाद्युपप्लुताः ।
अभूतानपि पश्यन्ति पुरतोऽवस्थितानिव ॥" [प्रमाणवा० ३-२८२] इति ।

[सौत्रान्तिकानां पूर्वपक्षः]

§ २०३. ननु च कामादिभावनाज्ञानादभूतानामपि कामिन्यादीनां पुरतोऽवस्थितानामिव स्पष्टं साक्षाद्दर्शनमुपलभ्यते किमङ्ग पुनः श्रुतानुमानभावनाज्ञानात्परमप्रकर्षप्राप्ताच्चतुरार्यसत्यानां परमार्थसतां दुःख-समुदय-निरोध-मार्गाणां योगिनः साक्षाद्दर्शनं न भवतीत्ययमर्थोऽस्य श्लोकस्य सौगतैर्विवक्षितः, स्पष्टज्ञानस्य भावनाप्रकर्षाद्युत्पत्तौ[3] कामिन्यादिषु भावनाप्रकर्षस्य [4]स्पष्टज्ञानजनकस्य दृष्टान्ततया प्रतिपादनात् । न च श्रुतानुमानभावनाज्ञानमतत्त्वविषयं ततस्तत्त्वस्य प्राप्यत्वात् । श्रुतं हि परार्थानुमानं त्रिरूपलिङ्गप्रकाशकं वचनम्, चिन्ता च स्वार्थानुमानं साध्याविनाभावित्रिरूपलिङ्गज्ञानम्, तस्य विषयो

विषय करनेवाला ज्ञान उपलब्ध नहीं होता । यही कारण है कि काम, शोक, भय, उन्माद, चोर और स्वप्नादि युक्त ज्ञानोंसे उत्पन्न हुए कामिनी, मृत प्रियजन, शत्रुसमूह, और अनियत पदार्थोंको विषय करनेवाले ज्ञान भी, जिनसे वे कामिनी आदि पदार्थ सामने खड़े हुएकी तरह दिखते हैं, अपरमार्थभूत पदार्थोंको विषय करनेसे वस्तुविषयक नहीं हैं । तात्पर्य यह कि जिनका ज्ञान कामादियुक्त है उन्हें कामिनी आदि पदार्थ सामने स्थितकी तरह दिखते हैं और इसलिये उनके ज्ञान अतत्त्वको विषय करनेसे तत्त्वविषयक नहीं हैं । अतएव कहा है—

'काम, शोक, भय, उन्माद, चोर और स्वप्नादिसे युक्त पुरुष असत्य अर्थोंको भी सामने स्थितकी तरह देखते हैं ।' [प्रमाणवार्तिक ३–२८२]

§ २०३. बौद्ध—जब कामादिकके भावनाज्ञानसे असत्यभूत भी कामिनी आदिकोंका सामने स्थितोंकी तरह स्पष्ट साक्षात् प्रत्यक्षज्ञान उपलब्ध होता है तब क्या कारण है कि श्रुतमयी और चिन्तामयी भावनाज्ञानसे, जो परमप्रकर्षको प्राप्त है, दुःख, समुदय (दुःखके कारण), निरोध (दुःखनिवृत्ति) और मार्ग (दुःखनिवृत्तिके उपाय) इन चार परमार्थभूत आर्यसत्योंका योगीको साक्षात् प्रत्यक्षज्ञान नहीं होता ? यह अर्थ उपरोक्त पद्यका हमें विवक्षित है, क्योंकि भावनाके प्रकर्षसे स्पष्ट ज्ञानकी उत्पत्ति सिद्ध करनेमें स्पष्ट ज्ञानके जनक, कामिनी आदिमें होनेवाले भावनाप्रकर्षको हम दृष्टान्तरूपसे प्रतिपादन करते हैं । दूसरी बात यह है कि श्रुतमयी और चिन्तामयी भावनाज्ञान अवस्तुको विषय करनेवाला नहीं है, क्योंकि उससे तत्त्व प्राप्य है । प्रकट है कि परमार्थानुमानरूप त्रिरूपलिङ्गप्रकाशक वचनको श्रुत कहते हैं और स्वार्थानुमानरूप साध्यके अविनाभावी (साध्यके होनेपर होनेवाला और साध्यके अभावमें न होनेवाला) त्रिरूपलिङ्गके ज्ञानको चिन्ता कहते हैं । इन दोनों

1, 2 द मु स प्रतिषु 'चोर' । 3 मु स 'प्रकर्षोत्पत्तौ' । 4 मु स 'तद्विषयस्पष्टज्ञान' ।

द्वेधा प्राप्यश्चालम्बनीयश्च । तत्रालम्ब्यमानस्य साध्यसामान्यस्य तद्विषयस्यावस्तुत्वादतत्त्व[1]विषयत्वेऽपि प्राप्यस्वलक्षणापेक्षया तत्त्वविषयत्वं व्यवस्थाप्यते, "वस्तुविषयं प्रामाण्यं द्वयोरपि प्रत्यक्षानुमानयोः" [ ] इति वचनात् । यथैव हि प्रत्यक्षादर्थं परिच्छिद्य प्रवर्त्तमानोऽर्थक्रियायां न विसंवाद्यत इत्यर्थक्रियाकारि स्वलक्षणवस्तुविषयं प्रत्यक्षं प्रतीयते तथा परार्थानुमानात्स्वार्थानुमानाच्चार्थं परिच्छिद्य प्रवर्त्तमानोऽर्थक्रियायां न विसंवाद्यत इत्यर्थक्रियाकारि चतुरार्यसत्यवस्तुविषयमनुमानमास्थीयत इत्युभयोः प्राप्यवस्तुविषयं प्रामाण्यं सिद्धम्, प्रत्यक्षस्येवानुमानस्यार्थासम्भवे सम्भवाभावसाधनात् । तदुक्तम्—

"अर्थस्यासम्भवेऽभावात्प्रत्यक्षेऽपि प्रमाणता ।
प्रतिबद्धस्वभावस्य तद्धेतुत्वे समं द्वयम् ॥" [ ] इति ।

§ २०४. तदेवं [2]श्रुतानुमानभावनाज्ञानात्प्रकर्षपर्यन्तप्राप्ताच्चतुरार्यसत्यज्ञानस्य स्पष्टतमस्योत्प-

---

भावनाज्ञानोंका विषय दो प्रकारका है—एक प्राप्य और दूसरा आलम्बनीय । उनमें जो आलम्बन होनेवाला उसका विषयभूत साध्यसामान्य है—वह अवस्तु है, इस लिये आलम्बनीय विषयकी अपेक्षासे वह अतत्त्वविषयक होनेपर भी प्राप्यस्वलक्षणकी अपेक्षासे वस्तुविषयक व्यवस्थापित किया जाता है, क्योंकि "प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों ही में वस्तुविषयक प्रमाण्य है अर्थात् प्रत्यक्षकी तरह अनुमानमें भी वस्तुविषयक प्रमाणता है ।" [ ] ऐसा कहा गया है । निःसन्देह जिसप्रकार प्रत्यक्षसे अर्थको जानकर प्रवृत्त हुए पुरुषको अर्थक्रियामें कोई विसंवाद नहीं होता और इसलिये उसका वह प्रत्यक्षज्ञान अर्थक्रियाकारी एवं स्वलक्षणरूप वस्तुको विषय करनेवाला प्रतीत होता है उसीप्रकार परार्थानुमान और स्वार्थानुमानसे अर्थको जानकर प्रवृत्त होनेवाले पुरुषको अर्थक्रियामें कोई विसंवाद नहीं होता और इसलिये उसका वह अनुमानज्ञान अर्थक्रियाकारी एवं चार आर्यसत्य (दुःख, समुदय, निरोध और मार्ग) रूप वस्तुको विषय करनेवाला माना जाता है । इसप्रकार प्रत्यक्ष और अनुमान दोनोंमें प्राप्य वस्तुकी अपेक्षा प्रामाण्य सिद्ध है, क्योंकि प्रत्यक्षकी तरह अनुमान भी अर्थके अभावमें नहीं होता है । कहा भी है—

"अर्थके अभावमें न होनेसे प्रत्यक्षमें भी प्रमाणता है और साध्यके सद्भावमें होनेवाला तथा साध्यके असद्भावमें न होनेवाला अर्थात् साध्याविनाभावी त्रिरूपलिङ्ग—प्रतिबद्धस्वभाववाला साधन अनुमानमें कारण है—उसके होनेपर ही अनुमान उत्पन्न होता है और उसके न होनेपर अनुमान उत्पन्न नहीं होता है और इसलिये उसमें भी प्रमाणता है । अतएव प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों समान हैं । तात्पर्य यह कि प्रत्यक्षकी तरह अनुमान भी त्रिरूप लिङ्गात्मक अर्थसे उत्पन्न होता है—उसके अभावमें नहीं होता है ।" [ ]

§ २०४. इसप्रकार चरम प्रकर्षको प्राप्त—श्रुतमयी और चिन्तामयी भावनाज्ञानसे स्पष्टतम—अत्यन्त विशद चार आर्यसत्योंका ज्ञान उत्पन्न होनेमें कोई विरोध नहीं

---

1 द 'वस्तुत्वादेकत्वविषय' । 2 द 'श्रुतानुमानभावनाप्रकर्षे पर्यन्तप्राप्ते' ।

त्तेरविरोधात्सुगतस्य विश्वतत्त्वज्ञता प्रसिद्धैव, परमवैतृष्ण्यवत् । सम्पूर्णं गतः सुगत इति निर्वचनात्, सुपूर्ण[1]कलशवत्, सुशब्दस्य सम्पूर्णवाचित्वात् । सम्पूर्णं हि साक्षाच्चतुरार्यसत्यज्ञानं सम्प्राप्तः सुगत इष्यते । तथा शोभनं गतः सुगत इति सुशब्दस्य शोभनार्थत्वात्सुरूपकन्यावत् निरुच्यते । शोभनो ह्यविद्यातृष्णाशून्यो ज्ञानसन्तानः, तस्याशोभनाभ्यामविद्यातृष्णाभ्यां व्यावृत्तत्वात्, [तं] सम्प्राप्तः सुगत इति, निरास्रवचित्तसन्तानस्य सुगतत्ववर्णनात् । तथा सुष्ठु गतः सुगत इति पुनरनावृत्त्यागत इत्युच्यते, सुशब्दस्य पुनरनावृत्त्यर्थत्वात्, सुनष्टज्वरवत् । पुनरविद्यातृष्णाक्रान्तचित्तसन्तानावृत्तेरभावात्, निरास्रवचित्तसन्तानसद्भावाच्च । "तिष्ठन्त्येव पराधीना येषां तु महती कृपा ।" [प्रमाणवा० २-१९९] इति वचनात् । कृपा हि त्रिविधा—सत्त्वालम्बना पुत्रकलत्रादिषु, धर्मालम्बना सङ्घादिषु, निरालम्बना [2]शिलासम्पुटसन्दष्टमण्डूकोद्धरणादिषु । तत्र महती निरालम्बना कृपा सुगतानां सत्त्वधर्मानपेक्षत्वादिति ते तिष्ठन्त्येव न कदाचिन्निर्वान्ति धर्मदेशनया जगदुपकारनिरतत्वाज्जगतश्चानन्तत्वात् । "बुद्धो भवेयं जगते हिताय" [अद्वयवज्रसं० पृ० ५] इति भावनया बुद्धत्वसंवर्त्तकस्य धर्मविशेषस्योत्पत्तेर्धर्मदेशनाविरोधाभावाद्विवक्षामन्तरेणाऽपि विधूतकल्पनाजालस्य बुद्धस्य मोक्षमार्गोपदेशिन्या वाचो धर्मविशेषादेव प्रवृत्तेः । स एव निर्वाणमार्गस्य प्रतिपादकः समवतिष्ठते विश्वतत्त्वज्ञत्वात् कार्त्स्न्यतो वितृष्णत्वाच्चेति केचिदाचक्षते सौत्रान्तिकमतानुसारिणः सौगताः ।

[सौत्रान्तिकमतनिराकरणे जैनानामुत्तरपक्षः]

§ २०५. तेषां तत्त्वव्यवस्थामेव न सम्भावयामः । किं पुनर्विश्वतत्त्वज्ञः सुगतः ? स च निर्वाणमार्गस्य प्रतिपादक इत्यसम्भाव्यमानं प्रमाणविरुद्धं प्रतिपद्येमहि ।

§ २०६. तथा हि—प्रतिक्षणविनश्वरा बहिरर्थाः परमाणवः प्रत्यक्षतो नानुभूता नानुभूयन्ते, स्थिरस्थूलधारणाकारस्य प्रत्यक्षबुद्धौ घटादेरर्थस्य प्रतिभासनात् । यदि पुनरत्यासन्नाऽसंसृष्टरूपाः परमाणवः प्रत्यक्षबुद्धौ प्रतिभासन्ते, प्रत्यक्षपृष्ठभाविनी तु कल्पना संवृत्तिः स्थिरस्थूलसाधारणाकारमात्मन्यविद्यमानमारोपयतीति सांवृत्तालम्बनाः पञ्च विज्ञानकाया इति निगद्यते, तदा निरंशानां क्षणिकपरमाणूनां का नामाऽत्यासन्नता ? इति विचार्यम् । व्यवधानाभाव इति चेत्, तर्हि सजातीयस्य

है और इसलिये सुगतके सर्वज्ञता प्रसिद्ध ही है, जैसे परम वैतृष्ण्य भाव अर्थात् तृष्णाका सर्वथा अभाव । क्योंकि जो सम्यक् प्रकारसे पूर्णताको प्राप्त है वह सुगत है, ऐसी सुगत शब्दकी व्युत्पत्ति है, जैसे सुपूर्ण कलश । यहाँ 'सु' शब्द सम्पूर्ण अर्थका वाची है । स्पष्ट है कि जो सम्पूर्ण चार आर्यसत्योंके साक्षात् ज्ञानको प्राप्त होजाता है उसे सुगत कहा जाता है । तथा जो शोभन—शोभाको प्राप्त है उसे सुगत कहते हैं, ऐसी भी सुगत शब्दकी व्युत्पत्ति है, क्योंकि सुरूप कन्या (शोभायुक रूपवाली बालिका) की तरह 'सु' शब्द यहाँ शोभनार्थक है । यथार्थमें अविद्या और तृष्णासे रहित ज्ञानसन्तानको शोभन कहा जाता है और सुगत अशोभन अविद्या तथा तृष्णासे रहित है, इसलिये उस शोभन ज्ञानसन्तानको जो प्राप्त है वह सुगत है, क्योंकि निरास्रव चित्तसन्तानको सुगत वर्णित किया गया है । तथा, जो अच्छी तरह चला गया (सुष्ठु गतः इति)—फिर लौटकर नहीं आता उसे सुगत कहते हैं । यहाँ 'सु' शब्दका अनावृत्ति—लौटकर न आना—अर्थ है, जैसे सुनष्ट ज्वर अर्थात् अच्छी तरह चला गया-फिर लौटकर न आनेवाला ज्वर । चूँकि जो सुगतत्वको प्राप्त हो चुके हैं उन्हें पुनः अविद्या और तृष्णासे व्याप्त चित्तसन्तान प्राप्त नहीं होता और सदैव निरास्रव चित्तसन्तान प्राप्त रहता है । कहा भी है—" सुगतों की महान् कृपाएँ दूसरोंके लिये बनी ही रहती हैं—सदैव ठहरी रहती हैं ।" [प्रमाणवार्तिक २ । ११९] । विदित है कि कृपाएँ तीन प्रकारकी हैं—एक तो सत्त्वालम्बना—जीवमात्रको लेकर होनेवाली, जो पुत्र, स्त्री वगैरहमें की जाती है, दूसरी धर्मालम्बना—धर्मकी अपेक्षासे होनेवाली, जो श्रमणसंघ आदिमें की जाती है और तीसरी निरालम्बना—सत्त्व-धर्मादि किसीकी भी अपेक्षासे न होनेवाली अर्थात् रागनिरपेक्ष, जो पत्थरके टुकड़ेसे दबे या सांपसे डसे मेढकका उद्धार करने आदिमें की जाती है । इनमें सबसे बड़ी कृपा सुगतोंकी निरालम्बना कृपा है क्योंकि उसमें सत्त्व और धर्म दोनों ही की अपेक्षा नहीं होती है । और इसलिये वे सदैव स्थिर रहती हैं । कभी उनका नाश नहीं होता, क्योंकि सभी सुगत धर्मोपदेशद्वारा जगतका उपकार करनेमें सतत तत्पर रहते हैं और जगत (लोक) अनन्त है—संसारी प्राणी अनन्त संख्यक हैं । अत एव " मैं जगतका हित करनेके लिये बुद्ध होऊँ" [ ] इस भावनासे सुगतोंको बुद्धत्व (तीर्थ) प्रवर्त्तक धर्मविशेषका लाभ होता है और इसलिये उनके विवक्षाके अभावमें भी धर्मोपदेशका कोई विरोध नहीं है—वह बन जाता है । यही कारण है कि समस्त कल्पनाओंसे रहित बुद्धके मोक्षमार्गका उपदेश करनेवाली वाणीकी धर्मविशेषसे ही प्रवृत्ति होती है । अतः सुगत ही मोक्षमार्गका प्रतिपादक सम्यक् प्रकारसे व्यवस्थित होता है क्योंकि वह विश्वतत्त्वज्ञ है और सम्पूर्णतः वितृष्ण्य—तृष्णारहित है । इस प्रकार हम सौत्रान्तिकोंका कथन है ?

§ २०५. जैन—आपकी तत्त्वव्यवस्थाको ही हम सम्भव नहीं मानते हैं, फिर सुगत विश्वतत्त्वज्ञ कैसे हो सकता है ? और ऐसी दशामें 'वह मोक्षमार्गका प्रतिपादक है' इस असम्भव बातको भी हम प्रमाणविरुद्ध समझते हैं । तात्पर्य यह कि 'मूलाभावे कुतो शाखा' इस न्यायानुसार जब आपके तत्त्वोंकी व्यवस्था ही नहीं बनती है तो उन तत्त्वोंका ज्ञाता और मोक्षमार्गका प्रतिपादक सुगत है, यह कहना सर्वथा असंगत और प्रमाणविरुद्ध है । वह इस प्रकारसे है—

§ २०६. आपके द्वारा माने गये प्रतिक्षणविनाशी बहिरर्थपरमाणु प्रत्यक्षसे न तो कभी अनुभूत हुए हैं और न अनुभवमें आते हैं, स्थिर, स्थूल और साधारण आकारवाले घटादिक पदार्थोंका ही प्रत्यक्षज्ञानमें प्रतिभास होता है ।

सौत्रान्तिक — अत्यन्त निकटवर्ती और परस्पर संसर्गसे रहित परमाणु प्रत्यक्षज्ञानमें प्रतिभासित होते हैं । लेकिन प्रत्यक्षके पीछे उत्पन्न होनेवाली कल्पना, जो कि संवृति है—अवास्तविक है, स्थिर, स्थूल और सामान्य आकारको, जो वास्तवमें अविद्यमान है—उसमें नहीं है, अपनेमें आरोपित करती है और इसीसे 'पाँच विज्ञानकाय सांवृतालम्बी—काल्पनिक कहे जाते हैं ?

जैन—यदि ऐसा है तो यह विचारिये कि निरन्तर क्षणिक परमाणुओंकी अत्यन्त निकटवर्तिता क्या है ?

---

1 मु 'सुकलशवत्', स 'संपूर्णकलशवत्' । 2 मु स 'शिला' नास्ति ।

विजातीयस्य च व्यवधायकस्याभावात्तेषां व्यवधानाभावः संसर्ग एवोक्तः स्यात्। स च सर्वात्मना न सम्भवत्येवैकपरमाणुमात्रप्रचयप्रसङ्गात्। नाऽप्येकदेशेन दिग्भागभेदेन षड्भिः परमाणुभिरेकस्य परमाणोः [1]संसृज्यमानस्य षडंशतापत्ते। तत एवासंसृष्टाः परमाणवः प्रत्यक्षेणालम्ब्यन्त इति चेत्, कथमत्यासन्नास्ते विरोधात्, दविष्टदेशव्यवधानाभवादत्यासन्नास्ते इति चेत्; न; समीपदेशव्यवधानोपगमप्रसङ्गात्। तथा च समीपदेशव्यवधायकं वस्तु व्यवधीयमानपरमाणुभ्यां संसृष्टं व्यवहितं वा स्यात्?, गत्यन्तराभावात्। न तावत्संसृष्टं तत्संसर्गस्य सर्वात्मनैकदेशेन वा विरोधात्। नाऽपि व्यवहितम्, व्यवधायकान्तरपरिकल्पनानुऽषङ्गात्। व्यवधायकान्तरमपि व्यवधीयमानाभ्यां संसृष्टं व्यवहितं चेति पुनः पर्यनुयोगेऽनवस्थानादिति क्वात्या-

सौत्रा०—परमाणुओंके मध्यमें व्यवधान न होना, यह उनकी अत्यन्त निकटवर्तिता है।

जैन—तो आपने सजातीय और विजातीय व्यवधायकके न होनेसे उनके व्यवधानाभावको संसर्ग ही बतलाया जान पड़ता है। सो वह संसर्ग सम्पूर्णपनेसे सम्भव नहीं है, क्योंकि एकपरमाणुमात्रके प्रचयका प्रसंग आता है अर्थात् एकपरमाणुसे दूसरे परमाणुओंका सर्वात्मना संसर्ग माननेपर केवल एकपरमाणुका ही प्रचय होगा, क्योंकि दूसरे सब परमाणु उसी एक परमाणुके पेटमें समा जायेंगे। एकदेशसे भी वह संसर्ग सम्भव नहीं है, क्योंकि छह दिशाओंसे छह परमाणुओंद्वारा एकपरमाणुके साथ सम्बन्ध होनेपर उस परमाणुके षडंशताकी प्राप्ति होती है अर्थात् छह (पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊपर और नीचेकी) ओरसे छह परमाणु आकर जब एक परमाणुसे एक देशसे सम्बन्ध करेंगे तो उस एक परमाणुके छह अंश प्रसक्त होंगे और इस तरह वह निरंश नहीं बन सकेगा।

सौत्रा०—इसीसे परमाणु असम्बद्ध—सम्बन्धरहित प्रत्यक्षसे उपलब्ध होते हैं?

जैन—फिर उन्हें आप अत्यन्त निकटवर्ती कैसे कहते हैं? क्योंकि परस्पर विरोध है—जो असम्बद्ध हैं वे अत्यन्त निकटवर्ती कैसे? और जो अत्यन्त निकटवर्ती हैं वे असम्बद्ध कैसे?

सौत्रा०—बात यह है कि दूर देशका व्यवधान न होनेसे उन्हें अत्यन्त निकटवर्ती कहा जाता है?

जैन—तो इसका मतलब यह हुआ कि आप उनके समीपदेशका व्यवधान स्वीकार करते हैं और उस दशामें आपको यह बतलाना पड़ेगा कि समीपदेशरूप व्यवधायक वस्तु व्यवधीयमान परमाणुओंसे सम्बद्ध है या व्यवहित? अन्य विकल्पका अभाव है। सम्बद्ध तो कहा नहीं जासकता, क्योंकि वह सम्बन्ध सम्पूर्णपने और एकदेश दोनों तरहसे भी नहीं बनता है। व्यवहित भी वह नहीं है, क्योंकि अन्य व्यवधायककी कल्पनाका प्रसंग आता है, कारण वह अन्य व्यवधायक भी व्यवधीयमान परमाणुओंसे सम्बद्ध है या व्यवहित? इस तरह पुनः प्रश्न होनेपर अनवस्था प्राप्त

1 मु स प 'संसृष्ट'।

सन्ना[1]ऽसंसृष्टरूपाः परमाणवो बहिः सम्भवेयुः ये प्रत्यक्षविषयाः स्युस्तेषां प्रत्यक्षा[2]विषयत्वे च[3] न कार्यलिङ्गं स्वभावलिङ्गं वा परमाण्वात्मकं प्रत्यक्षतः सिद्ध्येत्, परमाण्वात्मकसाध्यवत्। क्वचित्तदसिद्धौ च न कार्यकारणयोर्व्याप्यव्यापकयोर्वा तद्भावः सिद्ध्येत्, प्रत्यक्षानुपलम्भव्यतिरेकेण तत्साधनासम्भवात्। तदसिद्धौ च न स्वार्थानुमानमुदयात्[4], तस्य लिङ्गदर्शनसम्बन्धस्मरणाभ्यामेवोदयप्रसिद्धेः, तदभावे तदनुपपत्तेः। स्वार्थानुमानानुपपत्तौ च न परार्थानुमानरूपं श्रुतमिति क्व श्रुतमयी चिन्तामयी च भावना स्यात्? यतस्तत्प्रकर्षपर्यन्तजं योगिप्रत्यक्षमुररीक्रियते। ततो न विश्वतत्त्वज्ञता सुगतस्य तत्त्वतोऽस्ति, येन सम्पूर्णं गतः सुगतः, शोभनं गतः सुगतः, सुष्ठु गतः सुगत[5] इति सुशब्दस्य सम्पूर्णाद्यर्थत्रयमुदाहृत्य सुगतशब्दस्य निर्वचनत्रयमुपवर्ण्यते सकलाविद्यातृष्णाप्रहाणाच्च सर्वार्थज्ञानवैतृष्ण्यसिद्धेः सुगतस्य जगद्धितैषिणः प्रमाणभूतस्य सन्तानेन[6] सर्वदाऽवस्थितस्य विधूतकल्पनाजालस्यापि धर्मविशेषाद्विनेयजनसतत[7]तत्त्वोपदेशप्रणयनं सम्भाव्यते[8], सौत्रान्तिकस्य[9] मते विचार्यमाणस्य परमार्थतोऽर्थस्य व्यवस्थापनायोगादिति सूक्तं 'सुगतोऽपि निर्वाणमार्गस्य न प्रतिपाद-

होती है। ऐसी स्थितिमें अत्यन्त निकटवर्ती और असम्बद्धरूप बाह्य परमाणु कहाँ सम्भव हैं, जो प्रत्यक्षके विषय हों? और जब वे प्रत्यक्षके विषय नही हैं तब परमाणुरूप कार्यलिङ्ग हेतु अथवा स्वभावलिङ्ग हेतु भी प्रत्यक्षसे सिद्ध नहीं होता, जैसे परमाणुरूप साध्य। और जब वे परमाणुरूप साध्य तथा साधन दोनों असिद्ध हैं तो कार्य-कारणमें कार्य-कारणभाव और व्याप्य-व्यापकमें व्याप्य-व्यापकभावरूप सम्बन्ध सिद्ध नहीं हो सकता है, क्योंकि प्रत्यक्ष—अन्वय और अनुपलम्भ—व्यतिरेकके बिना उसकी सिद्धि सम्भव नहीं है और उसकी सिद्धि न होनेपर स्वार्थानुमान उत्पन्न नहीं होसकता है, क्योंकि वह लिङ्गदर्शन—लिङ्गके देखने और साध्यसाधनसम्बन्धके स्मरण होनेसे ही उत्पन्न होता है, यह प्रसिद्ध है। अतः उनके अभावमें वह नहीं बन सकता है। और स्वार्थानुमानके न बननेपर परार्थानुमानरूप श्रुत भी नहीं बन सकता है। इसप्रकार श्रुतमयी और चिन्तामयी भावनाएँ कहाँ बनती हैं, जिससे उनके चरम प्रकर्षसे उत्पन्न होनेवाला योगिप्रत्यक्ष स्वीकार किया जाती है? तात्पर्य यह कि उक्त भावनाओंके सिद्ध न होनेसे उनसे योगिप्रत्यक्षकी उत्पत्ति मानना असम्भव और असङ्गत है। अतः सुगतके परमार्थतः सर्वज्ञता नहीं है, जिससे कि 'सम्पूर्णं गतः सुगतः, शोभनं गतः सुगतः, सुष्ठु गतः सुगतः'—जो सम्पूर्णताको प्राप्त है वह सुगत है, जो शोभनको प्राप्त है वह सुगत है, जो अच्छी तरह चला गया है—लौटकर आनेवाला नहीं है वह सुगत है, इसप्रकार सुशब्दके सम्पूर्णादि तीन अर्थोंको उदाहरणद्वारा बतलाकर 'सुगत' शब्दकी तीन निष्पत्तियाँ वर्णित करते हैं तथा समस्त अविद्या और तृष्णाके नाशसे समस्त पदार्थोंका ज्ञान एवं वितृष्णताके सिद्ध होनेसे उसे जगतहितैषी, प्रमाणभूत, सन्तानरूपसे सर्वदा स्थित और कल्पनाजालसे रहित बतलाते हुए उसके धर्मविशेषसे शिष्यजनोंके लिये निरन्तर तत्त्वोपदेश करनेकी सम्भावना करते हैं, क्योंकि आप (सौत्रान्तिकों) के मतमें विचारणीय वास्तविक अर्थकी व्यवस्था नहीं

1 द स 'क्वात्यासन्नाः संसृष्ट–'। 2 द 'प्रत्यक्षविषयत्वे'। 3 मु 'च' नास्ति। 4 मु:'मुदियात्'। 5 मु 'सुगत' नास्ति। 6 मु स 'सन्तानेन' नास्ति। 7 मु स 'सम्मत'। 8 मु 'न सम्भाव्यते'। 9 मु 'सौत्रान्तिकमते'।

कस्तत्त्वतो विश्वतत्त्वज्ञताऽपायात्, कपिलादिवत्' इति ।

[योगाचारमतं प्रदर्श्य तन्निराकरणम्]

§ २०७. येऽपि ज्ञानपरमाणव एव प्रतिक्षणविसरारवः[1] परमार्थसन्तो न बहिरर्थपरमाणवः, प्रमाणाभावात्, अवयव्यादिवदिति योगाचारमतानुसारिणः प्रतिपद्यन्ते, तेषामपि न संवित्परमाणवः स्वसंवेदनप्रत्यक्षतः प्रसिद्धाः, तत्र तेषामनवभासनादन्तरात्मन एव सुखदुःखाद्यनेकविवर्तव्यापिनः प्रतिभासनात् । तथाप्रतिभासोऽनाद्यविद्यावासनाबलात्समुपजायमानो भ्रान्त एवेति चेन्न, बाधकप्रमाणाभावात् ।

§ २०८. नन्वेकः पुरुषः क्रमभुवः सुखादिपर्यायान् सहभुवश्च गुणान् किमेकेन स्वभावेन व्याप्नोत्यनेकेन वा ? न तावदेकेन तेषामेकरूपतापत्तेः । नाप्यनेकेन तस्याप्यनेकस्वभावत्वात् भेदप्रसङ्गादेकत्वविरोधात्; इत्यपि न बाधकम् ; वेद्यवेदकाकारैकज्ञानेन तस्यापसारितत्वात् । संवेदनं ह्येकं वेद्यवेदकाकारौ स्वसंवित्स्वभावेनैकेन व्याप्नोति, न च तयोरेकरूपता, संविद्रूपेणैकरूपतेवेति चेत्, तर्ह्यात्मा [1]सुखज्ञानादीन् स्वभावेनैकेनात्मत्वेन [2]व्याप्नोत्येव तेषामात्मरूपतयैकत्वाविरोधात् । कथमेवं सुखादिभिन्नाकार[3]प्रतिभासः ? इति चेत्, वेद्यादिभिन्नाकारप्रतिभासः कथमेकत्र संवेदने स्यात् ? इति समः पर्यनुयोगः । वेद्यादिवासना-भेदादिति चेत्, सुखादिपर्यायपरिणामभेदादेकत्रात्मनि सुखादिभिन्नाकारप्रतिभासः किं न भवेत् ? वेद्याद्याकारप्रतिभासभेदेऽप्येकं संवेदनमशक्यविवेचनत्वादिति वदन्नपि सुखाद्यनेकाकारप्रतिभासेऽप्येक एवात्मा शश्वदशक्यविवेचनत्वादिति वदन्तं कथं प्रत्याचक्षीत ? यथैव हि संवेदनस्यैकस्य वेद्याद्याकाराः संवेदनान्तरं [4]नेतुमशक्यत्वादशक्यविवेचनाः संवेदनमेकं तथाऽऽत्मनः सुखाद्याकारा शश्वदात्मान्तरं [5]नेतुमशक्यत्वादशक्यविवेचनाः कथमेक एवात्मा[6] न भवेत् ? यद्यथा प्रतिभासते तत्तथैव व्यवहर्त्तव्यम्, यथा वेद्याद्याकारात्मकैकसंवेदनरूपतया प्रतिभासमानं संवेदनम्, तथा च सुखज्ञानाद्यनेकाकारैकात्मरूपतया प्रतिभासमानश्चात्मा,

होती है । अतएव यह ठीक ही कहा गया है कि 'सुगत भी मोक्षमार्गका प्रतिपादक नहीं है क्योंकि उसके परमार्थतः सर्वज्ञताका अभाव है, जैसे कपिलादिक' ।

§ २०७. योगाचार—प्रतिक्षण नाशशील ज्ञानपरमाणु ही वास्तविक हैं, बाह्य-परमाणु नहीं, क्योंकि उनका साधक कोई प्रमाण नहीं है, जैसे अवयवी आदि । अतः सुगत ज्ञानपरमाणुओंका ज्ञाता और उनका प्रतिपादक सिद्ध होता है ?

जैन—आपके भी ज्ञानपरमाणु स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे सिद्ध नहीं हैं, क्योंकि उसमें उनका प्रतिभास नहीं होता है, केवल सुखदुःखादि अनेक पर्यायोंमें व्याप्त अन्तरात्माका ही उसमें प्रतिभास होता है ।

योगाचार—उक्त प्रकारका प्रतिभास अनादिकालीन अविद्याकी वासनाके बलसे उत्पन्न होता है और इसलिये वह भ्रान्त है–सच्चा नहीं है ?

जैन—नहीं, क्योंकि उसमें कोई बाधक प्रमाण नहीं है । तात्पर्य यह कि भ्रान्त वह प्रतिभास होता है जो प्रमाणसे बाधित होता है, किन्तु सुखदुःखादि पर्यायोंमें व्याप्त आत्माका जो स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे प्रतिभास होता है वह अबाधित है—बाधित नहीं है ।

§ २०८. योगाचार—एक आत्मा क्रमवर्ती अनेक सुखादि पर्यायों और सहभावी गुणोंको क्या एकस्वभावसे व्याप्त करता है अथवा अनेकस्वभावसे ? एकस्वभावसे तो वह व्याप्त कर नहीं सकता, क्योंकि उन सबके एकपनेका प्रसङ्ग आता है । अनेकस्वभावसे भी वह व्याप्त नहीं कर सकता, कारण उसके भी अनेक स्वभाव होनेसे अनेकपनेका प्रसङ्ग प्राप्त होता है और इसलिये वह एक नहीं होसकता है, यह बाधक मौजूद है, तब उसे आप अबाधित कैसे कहते हैं ?

जैन—यह भी बाधक नहीं है, क्योंकि वह वेद्याकार और वेदकाकाररूप एक ज्ञानके द्वारा निराकृत होजाता है । प्रकट है कि एक ज्ञान वेद्याकार और वेदकाकार इन दो आकारोंको अपने एकज्ञानस्वभावसे व्याप्त करता है, लेकिन उनके एकता नहीं होती—वे अनेक ही रहते हैं ।

योगाचार—ज्ञानरूपसे उन (वेद्याकार और वेदकाकार दोनों) के एकरूपता है ही ?

जैन—तो आत्मा सुख, ज्ञान आदिको एक आत्मत्वरूप स्वभावसे व्याप्त करता ही है, क्योंकि वे आत्माके रूप होनेसे उनके एकपनेका कोई विरोध नहीं है ।

योगाचार—यदि ऐसा है तो सुखादि-भिन्नाकारोंका प्रतिभास कैसे होता है ?

जैन—एक संवदेनमें वेद्यादि भिन्नाकारोंका प्रतिभास कैसे होता है ? यह प्रश्न दोनों जगह समान है— अर्थात् हमारा भी यह प्रश्न आपसे है ।

योगाचार—वेद्याकार और वेदकाकारकी वासनाएँ भिन्न हैं, अतः उनकी वासनाओंके भेदसे एक संवेदनमें वेद्यादि भिन्नाकारोंका प्रतिभास होता है ।

जैन—सुखादिपर्यायोंके परिणमन भिन्न हैं, अतः उनके परिणमनोंके भेदसे एक आत्मामें सुखादि भिन्नाकारोंका प्रतिभास क्यों न होवे ?

योगाचार—हमारा कहना यह है कि वेद्यादि आकारोंके प्रतिभास भिन्न होनेपर भी संवेदन एक ही है क्योंकि उन आकारोंका उससे विवेचन—विश्लेषण करना अशक्य है ?

जैन—तो हमारे भी इस कथनका कि 'सुखादि अनेक आकारोंका प्रतिभास होनेपर भी आत्मा एक ही है क्योंकि उन आकारोंका उससे विवेचन करना सदा अशक्य है' आप कैसे निराकरण कर सकते हैं ? स्पष्ट है कि जिस प्रकार एक संवेदनके वेद्यादि आकार दूसरे संवेदनको प्राप्त करनेमें अशक्य हैं, अतः वे अशक्यविवेचन हैं और इसलिये संवेदन एक है उसी प्रकार आत्माके सुखादिक आकार दूसरी आत्माको प्राप्त करनेमें सदा अशक्य हैं, इसलिये वे अशक्यविवेचन हैं, इस तरह एक ही आत्मा कैसे नहीं होसकता है ? जो जैसा प्रतिभासित होता है उसका वैसा ही व्यवहार करना चाहिये, जैसे वेद्यादि आकारात्मक एक संवेदनरूपसे प्रतिभासित होनेवाला संवेदन । और सुख, ज्ञान आदि अनेक आकारोंमें एक आत्मारूपसे प्रतिभासित होनेवाला

1 मु 'विशारारवः' ।

1 मु 'सुखदुःखज्ञाना' । 2 मु 'व्याप्नोति' । 3 मु 'कारः प्रतिभासः' । 4, 5 द 'नेतुमशक्यविवेचनाः' । 6 द स 'कथमेक एवात्मनः कथमेक एवात्मना' ।

तस्मात्तथा व्यवहर्त्तव्य इति नान्तः[1]सुखाद्यनेकारात्मा प्रतिभासमानो निराकर्त्तुं शक्यते। यदि तु वेद्यवेदकाकारयोर्भ्रान्तत्वात्तद्विविक्तमेव संवेदनमात्रं परमार्थसत्, इति निगद्यते, तदा तत्प्रचयरूप-मेकपरमाणुरूपं वा? न तावत्प्रचयरूपम्, बहिरर्थपरमाणूनामिव संवेदनपरमाणूनामपि प्रचयस्य विचार्यमाणस्यासम्भवात्। नाऽप्येकपरमाणुरूपम्, सकृदपि तस्य प्रतिभासाभावाद्बहिरर्थैकपरमाणु-वत्। ततो[2] न सवित्परमाणुरूपोऽपि सुगतः सकलसन्तानसंवित्परमाणुरूपाणि चतुरार्यसत्यानि दुःखादीनि परमार्थतः संवेद्यते वेद्यवेदकभावप्रसङ्गादिति न तत्त्वतो विश्वतत्त्वज्ञः स्यात्, [3]यतोऽसौ निर्वाणमार्गस्य प्रतिपादकः समनुमन्यते।

[सुगतस्य संवृत्या विश्वतत्त्वज्ञत्वं मोक्षमार्गोपदेशकत्वं चेति प्रतिपादने दोषमाह]

§ २०९. स्यान्मतम्—संवृत्त्या वेद्यवेदकभावस्य सद्भावात्सुगतो विश्वतत्त्वानां ज्ञाता श्रेयो-मार्गस्य चोपदेष्टा स्तूयते, तत्त्वतस्तदसम्भवादिति, तदप्यज्ञचेष्टितमिति निवेदयति—

संवृत्त्या विश्वतत्त्वज्ञः श्रेयोमार्गोपदेश्यपि।
बुद्धो वन्द्यो न तु स्वप्नस्तादृगित्यज्ञचेष्टितम् ॥८५॥

§ २१०. ननु च सांवृतत्वाविशेषेऽपि[4] सुगतस्वप्नयोः सुगत एव वन्द्यः, तस्य भूतस्वभाव-त्वाद्विपर्ययैरबाध्यमानत्वादर्थक्रियाहेतुत्वाच्च। न तु स्वप्नसंवेदनं वन्द्यम्[1], तस्य संवृत्त्याऽपि बाध्यमानत्वादभूतार्थत्वादर्थक्रियाहेतुत्वाभावाच्चेति चेत्[2]; न; भूतत्वसांवृतत्वयोर्विप्रतिषेधात्। भूतं हि सत्यं सांवृतमसत्यं तयोः कथमेकत्र सकृत्सम्भवः? संवृत्तिसत्यं[3] भूतमिति चेत्, न, तस्य विप-र्ययैरबाध्यमानत्वायोगात् स्वप्नसंवेदनादविशेषात्।

§ २११. ननु च संवृत्तिरपि द्वेधा सादिरनादिश्च। सादिः स्वप्नसंवेदनादिः, सा बाध्यते। सुगतसंवेदनादि[4]रनादिः, सा न बाध्यते संवृतित्वाविशेषेऽपीति चेत्; न; संसारस्याबाध्यत्वप्रसङ्गात्। स ह्यनादिरेव, अनाद्यविद्यावासनाहेतुत्वात्, प्रबाध्यते च[5] मुक्तिकारणसामर्थ्यात्। अन्यथा कस्य-चित्संसाराभावाप्रसिद्धिः[6]।

[संवेदनाद्वैताभ्युपगमे दूषणप्रदर्शनम्]

§ २१२. संवृत्त्या सुगतस्य वन्द्यत्वे च परमार्थतः किं नाम वन्द्यं स्यात्? संवेदनाद्वैतमिति

आत्मा है, इस कारण (वैसा उनमें एक आत्माका) व्यवहार करना चाहिये। इसतरह सुखादि अनेक आकार रूपसे प्रतिभासित होनेवाले अन्तः—आत्माका निराकरण नहीं किया जासकता है।

जैन—तो आप यह बतलाइये कि वह संवेदनप्रचय (अनेक परमाणुओंका समुदाय) रूप है या एकपरमाणुरूप है? प्रचयरूप तो हो नहीं सकता है क्योंकि बाह्य अर्थपरमाणुओंकी तरह संवेदनपरमाणुओंका भी प्रचय विचार करनेपर सम्भव नहीं होता। एक परमाणुरूप भी वह नहीं है क्योंकि एकबार भी उसका प्रतिभास नहीं होता, जैसे बाह्यार्थ एकपरमाणु। अतः ज्ञानपरमाणुरूप भी सुगत समस्त सन्तानोंके ज्ञान-परमाणुरूप दुःख आदि चार आर्य-सत्योंको तत्त्वतः नहीं जानता है, क्योंकि वेद्य-वेदक-भावका प्रसंग आता है। इस कारण वह परमार्थतः सर्वज्ञ नहीं है, जिससे आप उसे मोक्षमार्गका प्रतिपादक मानते हैं।

§ २०९. योगाचार—हम सुगतके वेद्य-वेदकभाव संवृत्तिसे मानते हैं, इस लिये सुगत विश्वतत्त्वोंका ज्ञाता और मोक्षमार्गका प्रतिपादक कहा जाता है, वास्तवमें तो उसके न वेद्य-वेदकभाव है, न वह सर्वज्ञ है और न मोक्षमार्गका प्रतिपादक है?

जैन—यह भी आपकी अज्ञतापूर्ण मान्यता है, यह आगे कारिकाद्वारा कहते हैं—

'बुद्ध संवृत्तिसे सर्वज्ञ है और मोक्षमार्गका उपदेशक भी है, अतएव बुद्ध वन्दनीय है, किन्तु स्वप्न वन्दनीय नहीं है क्योंकि वह संवृत्तिसे भी सर्वज्ञ और मोक्षमार्गोपदेशक नहीं है, यह कथन भी अज्ञतापूर्ण है—अज्ञताका परिचायक है।'

§ २१०. योगाचार—यद्यपि सुगत और स्वप्न दोनों सांवृत—काल्पनिक हैं तथापि उनमें सुगत ही वन्दनीय है क्योंकि वह भूतस्वभाव है, विपरीतोंसे अबाध्यमान है और अर्थक्रियामें हेतु है। किन्तु स्वप्नसंवेदन वन्दनीय नहीं है, क्योंकि वह संवृत्तिसे भी बाध्यमान है, अभूतार्थ है और अर्थक्रियामें हेतु नहीं है?

जैन—नहीं, क्योंकि भूतत्व और सांवृतत्वमें विरोध है। प्रकट है कि भूत सत्यको कहते हैं और सांवृत असत्यको। तब वे एक जगह एक-साथ कैसे सम्भव हैं? तात्पर्य यह कि सुगतको जब आपने सांवृत स्वीकार कर लिया तब वह भूतस्वभाव कैसे? और यदि वह भूतस्वभाव है तो सांवृत कैसे? क्योंकि भूत सत्यको कहते हैं और सांवृत मिथ्याको। और सत्य तथा मिथ्या दोनों विरुद्ध हैं।

योगाचार—संवृत्तिसत्यको भूत कहते हैं, अतः उक्त दोष नहीं है?

जैन—नहीं, क्योंकि सुगत विपरीतोंसे अबाध्यमान नहीं है—बाध्यमान है और इसलिये स्वप्नसंवेदनसे उसमें कुछ विशेषता नहीं है। अतः संवृत्तिसत्यको भूत कहना एक नई और विलक्षण परिभाषा है जो युक्तिबाधित है और असंगत है।

§ २११. योगाचार—बात यह है कि संवृत्ति दो प्रकारकी है—एक सादि और दूसरी अनादि। स्वप्नसंवेदनादि तो सादि संवृत्ति है, वह बाधित होती है और सुगत-संवेदनादि अनादि संवृत्ति है, वह बाधित नहीं होती। यद्यपि संवृत्ति दोनों हैं फिर भी उनमें उक्त (सादि-अनादिका) भेद स्पष्ट है?

जैन—नहीं, इस तरह संसारकी अबाध्यताका प्रसंग आवेगा। स्पष्ट है कि संसार अनादि है, क्योंकि अनादि अविद्याकी वासनाका वह कारण है किन्तु मुक्तिकारण—सम्यग्दर्शनादिकके सामर्थ्यसे बाधित—नाशित होता है। अन्यथा (यदि संसारका उच्छेद न हो तो) किसीके संसारका अभाव प्रसिद्ध नहीं हो सकेगा।

§ २१२. दूसरे, यदि सुगत संवृत्तिसे वन्दनीय माना जाय तो परमार्थतः कौन वन्दनीय है? यह आपको बतलाना चाहिये।

योगाचार—परमार्थत. संवेदनाद्वैत वन्दनीय है।

---

1 मु 'नातः'। 2 मु स 'ततोऽपि'। 3 मु स 'येनासौ'। 4 द 'सांवृतत्त्वाविशेषित सुगत', मु स 'सवृत्त्वा'।

1 द 'वंद्यमिति चेन्न', स वंद्य मिति चेन्न पुस्तकान्तरे'। 2 द 'हेतुत्वापायाच्चेतिभूतत्वसांवृत'। 3 मु 'संवृतिः सत्यं'। 4 मु स 'संवेदनाऽनादि'। 5 मु स 'च' नास्ति। 6 मु स 'द्धेः'।

चेत्; न; तस्य स्वतोऽन्यतो वा प्रतिपत्त्यभावादित्याह—

यत्तु संवेदनाद्वैतं पुरुषाद्वैतवन्न तत् ।
सिद्ध्येत्स्वतोऽन्यतो वाऽपि प्रमाणात्स्वेष्ट-हानितः ॥८६॥

§ २१३. तद्धि संवेदनाद्वैतं न तावत्स्वतः सिद्ध्यति पुरुषाद्वैतवत्, स्वरूपस्य स्वतो गतेरभावात् । अन्यथा कस्यचित्तत्र विप्रतिपत्तेरयोगात्, पुरुषाद्वैतस्यापि प्रसिद्धेरिष्टहानिप्रसङ्गाच्च ।

§ २१४. ननु च पुरुषाद्वैतं न स्वतोऽवसीयते, तस्य नित्यस्य सकलकालकलापव्यापितया सर्वगतस्य च सकलदेशप्रतिष्ठिततया वाऽनुभवाभावादिति चेत्; न; संवेदनाद्वैतस्यापि क्षणिकस्यैकक्षणस्थायितया निरंशस्यैकपरमाणुरूपतया सकृदप्यनुभवाभावाविशेषात् ।

§ २१५. यदि पुनरन्यतः प्रमाणात्संवेदनाद्वैतसिद्धिः स्यात्, तदाऽपि स्वेष्टहानिरवश्यम्भाविनी, साध्यसाधनयोरभ्युपगमे द्वैतसिद्धिप्रसङ्गात् । यथा चानुमानात्संवेदनाद्वैतं साध्यते—यत्संवेद्यते

जैन—नहीं, क्योंकि उसकी न तो स्वयं प्रतिपत्ति होती है और न किसी अन्य प्रमाणादिसे होती है । इस बातको आगे कारिकाद्वारा कहते हैं—

'जो संवेदनाद्वैत (एक विज्ञानमात्र तत्त्व) है वह पुरुषाद्वैतकी तरह स्वतः सिद्ध नहीं होता और न अन्य प्रमाणसे भी सिद्ध होता है, क्योंकि अन्य प्रमाणसे उसकी सिद्धि माननेमें स्वेष्ट—अद्वैत संवेदनकी हानिका प्रसंग आता है ।'

§ २१३. वह संवेदनाद्वैत पुरुषाद्वैतकी तरह स्वयं सिद्ध नहीं होता, क्योंकि स्वरूपका स्वयं ज्ञान नहीं होता है, अन्यथा किसीको उसमें विवाद नहीं होना चाहिये । दूसरे, पुरुषाद्वैतकी भी सिद्धि होजायगी और इस तरह इष्ट-संवेदनाद्वैतकी हानिका प्रसंग अनिवार्य है ।

§ २१४. योगाचार—हमारा अभिप्राय यह है कि पुरुषाद्वैत स्वतः नहीं जाना जाता, क्योंकि वह सम्पूर्ण कालोंमें व्याप्तरूपसे नित्य और समस्त देशोंमें वृत्तिरूपसे सर्वगत अनुभवमें नहीं आता है । अतः पुरुषाद्वैत कैसे सिद्ध हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता है ?

जैन—नहीं, क्योंकि संवेदनाद्वैत भी एकक्षणवृत्तिरूपसे क्षणिक और एकपरमाणुरूपसे निरंश एक बार भी अनुभवमें नहीं आता है । अतः वह भी कैसे सिद्ध हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता ।

§ २१५. योगाचार—हम संवेदनाद्वैतकी सिद्धि स्वतः नहीं करते हैं, किन्तु अन्य-प्रमाणसे करते हैं, अतः पुरुषाद्वैतका प्रसंग नहीं आता ?

जैन—इस तरह भी स्वेष्टहानि अवश्य होती है क्योंकि साध्य-साधनको स्वीकार करनेपर द्वैतसिद्धिका प्रसङ्ग आता है । तात्पर्य यह कि संवेदनाद्वैतकी जिस अन्य प्रमाणसे आप सिद्धि करेंगे हैं वह साधन और संवेदनाद्वैत साध्य होगा और उस हालतमें साध्य-साधनरूप द्वैतका प्रसङ्ग अवश्यंभावी है । और जिस प्रकार अनुमानसे संवेदनाद्वैत सिद्ध किया जाता है कि—'जो संविदित होता है वह संवेदन है,

तत्संवेदनमेव, यथा संवेदनस्वरूपम्, संवेद्यते[1] च नीलसुखादि[2], तथा पुरुषाद्वैतमपि वेदान्तवादिभिः साध्यते—प्रतिभास एवेदं सर्वं प्रतिभासमानत्वात्, यद्यत्प्रतिभासमानं तत्तत्प्रतिभास एव, यथा प्रतिभासस्वरूपम्, प्रतिभासमानं चेदं जगत्, तस्मात्प्रतिभास एवेत्यनुमानात् । न ह्यत्र जगतः प्रतिभासमानत्वमसिद्धम्, साक्षादसाक्षाच्च तस्याप्रतिभासमानत्वे सकलशब्दविकल्पवाग्गोचरातिक्रान्ततया[3] वक्तुमशक्तेः । प्रतिभासश्च चिद्रूप[4] एव, अचिद्रूपस्य प्रतिभासत्वविरोधात् । चिन्मात्रं च पुरुषाद्वैतम्, तस्य च देशकालाकारतो विच्छेदानुपलक्षणत्वात् नित्यत्वं सर्वगतत्वं साकारत्वं[5] च व्यवतिष्ठते । न हि स कश्चित्कालोऽस्ति यश्चिन्मात्रप्रतिभासशून्यः प्रतिभासविशेषस्यैव विच्छेदात्, नीलसुखादिप्रतिभासविशेषवत् । स ह्येकदा प्रतिभासमानोऽन्यदा न प्रतिभासते प्रतिभासान्तरेण विच्छेदात्, प्रतिभासमात्रं तु सकलप्रतिभासविशेषकालेऽप्यस्तीति न कालतो विच्छिन्नम् । नापि देशतः, क्वचिद्देशे प्रतिभासविशेषस्य देशान्तरप्रतिभासविशेषेण विच्छेदेऽपि प्रतिभासमात्रस्याविच्छेदादिति न देशविच्छिन्नं प्रतिभासमात्रम् । नाप्याकारविच्छिन्नम्, केनचिदाकारेण प्रतिभासविशेषस्यैवाकारान्तरप्रतिभासविशेषेण विच्छेदोपलब्धेः प्रतिभासमात्रस्य सर्वाकारप्रतिभा-

---

जैसे संवेदनका स्वरूप । और संविदित होते हैं नीलसुखादिक । उसी प्रकार पुरुषाद्वैत भी वेदान्तवादियोंद्वारा सिद्ध किया जाता है कि—'यह सब प्रतिभास ही है क्योंकि प्रतिभासमान होता है, जो जो प्रतिभासमान होता है वह वह प्रतिभास ही है, जैसे प्रतिभासका स्वरूप । और प्रतिभासमान यह जगत है, इस कारण वह प्रतिभास ही है ।' यह उनका अनुमान है । स्पष्ट है कि यहाँ (अनुमानमें) जगतके प्रतिभासमानपना असिद्ध नहीं है, क्योंकि साक्षात् अथवा परम्परासे उसके प्रतिभासमान न होनेपर समस्त शब्दों, समस्त विकल्पों और वचनोंका विषय न होनेसे उसका कथन नहीं किया जासकता है । और प्रतिभास चिद्रूप—आत्मरूप ही है क्योंकि अचिद्रूपके प्रतिभासपना नहीं बन सकता है तथा चित्सामान्य पुरुषाद्वैत है । कारण, उसका देश, काल और आकारसे कभी भी नाश नहीं देखा जाता । अत एव उसके नित्यपना, सर्वगतपना और साकारपना व्यवस्थित होता है । निःसन्देह ऐसा कोई काल नहीं है जो चित्सामान्यके प्रतिभाससे रहित हो, प्रतिभासविशेषका ही किसी कालमें नाश देखा जाता है, जैसे नील, सुख आदि प्रतिभासविशेष । प्रकट है कि प्रतिभासविशेष कहीं प्रतिभासमान होता हुआ भी दूसरे कालमें प्रतिभासित नहीं होता है क्योंकि अन्य प्रतिभासविशेषके द्वारा उसका नाश हो जाता है । किन्तु प्रतिभाससामान्य समस्त प्रतिभासविशेषोंके समयमें भी रहता है, इसलिये कालसे उसका विच्छेद नहीं है । और न देशसे भी विच्छेद है क्योंकि किसी देशमें प्रतिभासविशेषका अन्यदेशीय प्रतिभासविशेषसे विच्छेद होनेपर भी प्रतिभाससामान्यका विच्छेद नहीं होता, इसतरह प्रतिभाससामान्य देशकी अपेक्षा भी विच्छिन्न नहीं है तथा न आकारसे भी वह विच्छिन्न है क्योंकि किसी आकारसे होनेवाले प्रतिभासविशेषका ही अन्य आकारीय प्रतिभासविशेषसे विच्छेद उपलब्ध होता है, प्रतिभाससामान्य तो समस्त

---

1 'संवेद्यन्ते' । 2 मु 'नीलसुखादीनि' । 3 द 'सकलशब्दविकल्पगोचरातिक्रान्तत्वेन' । 4 द 'स्वचिद्रूप' । 5 स द मु 'निराकारत्वं' ।

सविशेषु सद्भावादाकारेणाऽप्यविच्छिन्नं तत् । प्रतिभासविशेषाश्च देशकालाकारैर्विच्छिद्यमानाः यदि न प्रतिभासन्ते, तदा न तद्व्यवस्थाऽतिप्रसङ्गात् । प्रतिभासन्ते चेत्, प्रतिभासमात्रान्तःप्रविष्टाः प्रतिभासस्वरूपवत् । न हि प्रतिभासमानं किञ्चित्प्रतिभासमात्रान्तःप्रविष्टं नोपलब्धम्, येनानैकान्तिकं प्रतिभासमानत्वं स्यात् । तथा देशकालाकारभेदाश्च परैरभ्युपगम्यमाना यदि न प्रतिभासन्ते, कथमभ्युपगमार्हाः ? स्वयमप्रतिभासमानस्यापि कस्यचिदभ्युपगमेऽतिप्रसङ्गानिवृत्तेः । प्रतिभासमानास्तु तेऽपि प्रतिभासमात्रान्तःप्रविष्टा एवेति कथं तैः प्रतिभासमात्रस्य विच्छेदः स्वरूपेण[1] स्वस्य विच्छेदानुपपत्तेः । सन्नपि देशकालाकारैर्विच्छेदः प्रतिभासमात्रस्य प्रतिभासते न वा ? प्रतिभासते चेत्, प्रतिभासस्वरूपमेव तस्य च विच्छेद इति नामकरणे न किञ्चिदनिष्टम् । न प्रतिभासते चेत्, कथमस्ति ? न प्रतिभासते चास्ति वेति विप्रतिषेधात् ।

§ २१६. ननु च देशकालस्वभावविप्रकृष्टाः कथञ्चिदप्रतिभासमाना अपि सन्तः सद्भिर्बाधकाभावादिष्यन्त एवेति चेत्; न; तेषामपि शब्दज्ञानेनानुमानज्ञानेन वा प्रतिभासमानत्वात् । तत्राप्यप्रतिभासमानानां सर्वथाऽस्तित्वव्यवस्थानुपपत्तेः ।

आकारीय प्रतिभासविशेषोंमें विद्यमान रहता है । अत एव आकारकी अपेक्षा भी प्रतिभाससामान्य अविच्छिन्न है । इसके अतिरिक्त, जो प्रतिभासविशेष देश, काल और आकारसे विच्छिन्न हैं वे भी यदि प्रतिभासमान नहीं होते हैं तो उनकी व्यवस्था—सत्ता नहीं बन सकती है, अन्यथा अतिप्रसङ्ग आवेगा । यदि वे प्रतिभासमान होते हैं तो प्रतिभाससामान्यके अन्तर्गत ही हैं, जैसे प्रतिभासका स्वरूप । ऐसा कोई उपलब्ध नहीं होता कि वह प्रतिभासमान हो और प्रतिभाससामान्यके अन्तर्गत न हो, जिससे प्रतिभासमानपना अनैकान्तिक हो । तथा दूसरोंके द्वारा माने गये जो देशभेद, कालभेद और आकारभेद हैं वे यदि प्रतिभासमान नहीं होते हैं तो वे स्वीकार कैसे किये जासकते हैं ? यदि स्वयं अप्रतिभासमान भी किसी पदार्थको स्वीकार किया जाय तो अतिप्रसंग अनिवार्य है । और अगर वे प्रतिभासमान हैं तो वे भी प्रतिभाससामान्यके अन्तर्गत ही हैं । तब कैसे उनसे प्रतिभाससामान्यका विच्छेद है ? क्योंकि स्वरूपसे स्वका विच्छेद नहीं होसकता है अर्थात् अपने स्वरूपसे अपनेका अभाव नहीं होता । और किसी प्रकार प्रतिभाससामान्यका देश, काल और आकारसे विच्छेद हो भी तो वह प्रतिभासित होता है या नहीं ? यदि प्रतिभासित होता है तो प्रतिभासस्वरूप ही है, उसका 'विच्छेद' नाम धरनेमें कोई नुकसान नहीं है । यदि प्रतिभासित नहीं होता है तो कैसे है ? क्योंकि 'प्रतिभासित नहीं होता और है' दोनोंमें परस्पर विरोध है ।

§ २१६. योगाचार—देश, काल और स्वभावसे दूरवर्ती पदार्थ किसी तरह अप्रतिभासमान होते हुए भी आस्तिकों द्वारा सत् कहे ही जाते हैं, क्योंकि बाधक नहीं है । अतः आपका उपर्युक्त कथन ठीक नहीं है ?

वेदान्ती—नहीं, वे भी शब्दज्ञानसे अथवा अनुमानज्ञानसे प्रतिभासित होते हैं । यदि शब्दज्ञान अथवा अनुमानज्ञानमें भी वे प्रतिभासित न हों तो उनके अस्तित्वकी व्यवस्था सर्वथा बन ही नहीं सकती है । अतः उपर्युक्त दोष ज्यों-का-त्यों अवस्थित है ।

---

1 मु स 'स्वरूपेणास्वरूपेण' ।

§ २१७. नन्वेवं शब्दविकल्पज्ञाने प्रतिभासमानाः परस्परविरुद्धार्थप्रवादाः शशविषाणादयश्च नष्टानुत्पन्नाश्च रावणशङ्खचक्रवर्त्यादयः कथमपाक्रियन्ते ? तेषामनपाकरणे कथं पुरुषाद्वैतसिद्धिरिति चेत्; न; तेषामपि प्रतिभासमात्रान्तःप्रविष्टत्वसाधनात् ।

§ २१८. एतेन यदुच्यते कैश्चित्—

"अद्वैतैकान्तपक्षेऽपि दृष्टो भेदो विरुद्ध्यते ।
कारकाणां क्रियायाश्च नैकं स्वस्मात्प्रजायते ॥
कर्म-द्वैतं फल-द्वैतं लोक-द्वैतं च नो भवेत् ।
विद्याऽविद्या-द्वयं न स्याद्बन्धमोक्ष-द्वयं तथा ॥"
[आप्तमी० का० २४,२५] इति ।

§ २१६ तदपि प्रत्याख्यातम्; क्रियाणां कारकाणां च दृष्टस्य भेदस्य प्रतिभासमानस्य पुण्य-पापकर्मद्वैतस्य तत्फलद्वैतस्य च सुख-दुःखलक्षणस्य लोकद्वैतस्येह-परलोकविकल्पस्य विद्या-ऽविद्याद्वैतस्य च सत्येतरज्ञानभेदस्य बन्ध-मोक्षद्वयस्य च पारतन्त्र्य-स्वातन्त्र्य[1] स्वभावस्य प्रतिभासमात्रान्तःप्रविष्टत्वाद्विरोधकत्वासिद्धेः । स्वयमप्रतिभासमानस्य च विरोधकत्वं दुरुपपादम्, स्वेष्टतत्त्वस्यापि सर्वेषामप्रतिभा-

---

§ २१७. योगाचार—इस प्रकार फिर शब्द और विकल्पज्ञानमें प्रतिभासमान परस्पर विरुद्ध अर्थके प्रतिपादक मत-मतान्तरों और शशविषाणादिकों एवं नष्ट (नाश हुए) रावणादिकों और अनुत्पन्न (आगे होनेवाले) शंखचक्रवर्ती आदिकोंका आप कैसे निराकरण (अभाव) कर सकते हैं ? और उनका निराकरण न कर सकनेपर पुरुषाद्वैतकी सिद्धि कैसे हो सकती है ? अर्थात् नहीं हो सकती है ?

वेदान्ती—नहीं, उनको भी हम प्रतिभाससामान्यके अन्तर्गत ही सिद्ध करते हैं । इसलिये कोई दोष नहीं है ।

§ २१८. इस कथनसे जो किन्हींने कहा है कि—

'अद्वैत एकान्त-पक्षमें क्रिया और कारकोंका दृष्ट (देखा गया) भेद विरोधको प्राप्त होता है अर्थात् अद्वैत-एकान्तमें प्रत्यक्ष-दृष्ट क्रियाभेद व कारकभेद नहीं बन सकता है, क्योंकि जो एक है वह अपनेसे उत्पन्न नहीं होता । इसके अलावा, अद्वैत-एकान्तमें पुण्य और पाप ये दो कर्म, सुख और दुःख ये उनके दो फल, इहलोक और परलोक ये ये दो लोक तथा विद्या और अविद्या ये दो ज्ञान एवं बन्ध और मोक्ष ये दो तत्त्व नहीं बन सकते हैं ।'

§ २१६. वह भी निराकृत हो जाता है, क्योंकि क्रियाओं और कारकोंका दृष्ट भेद, पुण्य-पापरूप दो कर्म, सुख-दुःखरूप उनके दो फल, इहलोक-परलोकरूप दो लोक विद्या-अविद्यारूप दो ज्ञान और परतंत्रता-स्वतंत्रतारूप दो बन्ध-मोक्षतत्त्व प्रतिभासमान होते हैं, इसलिये प्रतिभाससामान्यके अन्तर्गत हो जानेसे वे विरोधक—विरोधको करनेवाले नहीं हैं अर्थात् विरोधको प्राप्त नहीं होते । और अगर वे स्वयं अप्रतिभासमान हैं तो उनके विरोधकपनेका उपपादन करना दुःशक्य है । तात्पर्य यह कि जो प्रतिभासमान नहीं

---

1 मु स 'स्वातन्त्र्य' इति नास्ति ।

समानेन विरोधकेन विरोधापत्तेर्न किञ्चित्तत्त्वमविरुद्धं स्यात् ।

§ २२०. यदप्यभ्यधायि—

"हेतोरद्वैतसिद्धिश्चेद् द्वैतं स्याद्धेतुसाध्ययोः ।
हेतुना चेद्विना सिद्धिर्द्वैतं वाङ्मात्रतो न किम् ॥" [आप्तमी० का० २६] इति ।

§ २२१. तदपि न पुरुषाद्वैतवादिनः प्रतिक्षेपकम्, प्रतिभासमानत्वस्य हेतोः सर्वस्य प्रतिभासमात्रान्तःप्रविष्टत्वसाधनस्य स्वयं [1]प्रतिभासमानस्य प्रतिभासमात्रान्तःप्रविष्टत्वसिद्धेर्द्वैतसिद्धिनिबन्धनत्वाभावात् । हेतुना विना चोपनिषद्वाक्यमात्रात्पुरुषाद्वैतसिद्धे[2]र्न वाङ्मात्राद्द्वैतसिद्धिः प्रसज्यते[3] । न चोपनिषद्वाक्यमपि परमपुरुषादन्यदेव तस्य प्रतिभासमानस्य परमपुरुषस्वभावत्वसिद्धेः ।

§ २२२. यदपि कैश्चिन्निगद्यते—पुरुषाद्वैतस्यानुमानात्प्रसिद्धौ पक्षहेतुदृष्टान्तानामवश्यम्भावात् तैर्विनाऽनुमानस्यानुदयात्कुतः पुरुषाद्वैतं सिद्ध्येत् ?, पक्षादिभेदस्य सिद्धेरिति, तदपि न युक्तिमत्; पक्षादीनामपि प्रतिभासमानानां प्रतिभासान्तःप्रविष्टानां प्रतिभासमात्राबाधकत्वादनुमानवत् । तेषामप्रतिभासमानानां तु सद्भावाप्रसिद्धेः कुतः पुरुषाद्वैतविरोधित्वम् ?

है उसे विरोधक—विरोधको प्राप्त होनेवाला नहीं बतलाया जासकता है, अन्यथा सबका अपना इष्ट तत्त्व भी अप्रतिभासमान विरोधकके साथ विरोधको प्राप्त होगा और इस तरह कोई तत्त्व अविरुद्ध—विरोधरहित नहीं बन सकेगा ।

§ २२०. जो और भी कहा है कि—

'यदि हेतुसे अद्वैतकी सिद्धि की जाय तो हेतु और साध्यके द्वैतका प्रसंग आता है और अगर हेतुके बिना ही अद्वैतकी सिद्धि करें तो कहनेमात्रसे द्वैत क्यों सिद्ध न हो जाय ?'

§ २२१. वह भी पुरुषाद्वैतवादीका निराकरण करनेवाला नहीं है, क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थोंको प्रतिभाससामान्यके अन्तर्गत सिद्ध करनेवाला प्रतिभासमानपना हेतु स्वयं प्रतिभासमान है, अतः वह भी प्रतिभाससामान्यके अन्तर्गत सिद्ध हो जाता है और इसलिये वह द्वैतसिद्धिका कारण नहीं होसकता है । तथा हेतुके बिना केवल उपनिषद् वाक्यसे भी पुरुषाद्वैतकी सिद्धि स्वीकार करते हैं, इसलिये वचनमात्र-कहने मात्रसे द्वैतसिद्धिका प्रसंग नहीं आता । और उपनिषद् वाक्य भी परमपुरुषसे भिन्न नहीं है, क्योंकि वह प्रतिभासमान होनेसे परमपुरुषका स्वभाव सिद्ध होता है ।

§ २२२. जो और भी किन्हींने कहा है कि—

'पुरुषाद्वैतकी अनुमानसे सिद्धि करनेपर पक्ष, हेतु, और दृष्टान्त अवश्य मानना पड़ेंगे, क्योंकि उनके बिना अनुमानकी उत्पत्ति नहीं हो सकती, तब पुरुषाद्वैत कैसे सिद्ध हो सकता है ? कारण, पक्षादिभेद सिद्ध है' वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि पक्षादिक भी यदि प्रतिभासमान हैं तो वे प्रतिभाससामान्यके अन्तर्गत हैं, अतः वे प्रतिभाससामान्यके बाधक नहीं हैं, जैसे अनुमान । और अगर वे प्रतिभासमान नहीं हैं तो उनका सद्भाव

---

1 मु 'प्रतिभासप्रतिभासमात्रा' । 2 मु स 'सिद्धौ' । 3 द 'प्रज्येत' ।

§ २२३. यदप्युच्यते कैश्चित्—पुरुषाद्वैतं तत्त्वं परेण प्रमाणेन [1]प्रतीयमानं प्रमेयं[2] तत्परिच्छित्तिश्च प्रमितिः प्रमाता च यदि विद्यते, तदा कथं पुरुषाद्वैतम् ?, प्रमाणप्रमेयप्रमातृप्रमितीनां तात्त्विकीनां सद्भावात्तत्त्वचतुष्टयप्रसिद्धे[3]रिति; तदपि न विचारक्षमम्; प्रमाणादिचतुष्टयस्यापि प्रतिभासमानस्य प्रतिभासमात्रात्मनः परमब्रह्मणो बहिर्भावाभावात् । तदबहिर्भूतस्य द्वितीयत्वायोगात् ।

§ २२४. एतेन षोडशपदार्थप्रतीत्या प्रागभावादिप्रतीत्या च पुरुषाद्वैतं बाध्यत इति वदन्निवारितः, तैरपि प्रतिभासमानैर्द्रव्यादिपदार्थैरिव प्रतिभासमात्रादबहिर्भूतैः पुरुषाद्वैतस्य बाधनायोगात् । स्वयमप्रतिभासमानैस्तु सद्भावव्यवस्थामप्रतिपद्यमानैस्तस्य बाधने शशविषाणादिभिरपि स्वेष्टपदार्थनियमस्य बाधनप्रसङ्गात् ।

§ २२५. एतेन सांख्यादिपरिकल्पितैरपि प्रकृत्यादितत्त्वैः पुरुषाद्वैतं न बाध्यत इति निगदितं बोद्धव्यम् । न चात्र पुरुषाद्वैते यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टौ

असिद्ध है और ऐसी दशामें वे पुरुषाद्वैतके विरोधी कैसे हो सकते हैं ?

§ २२३. जो और भी किन्हींने कहा है कि—

'पुरुषाद्वैत तत्त्व अन्य प्रमाणसे प्रतीत होता हुआ प्रमेय और उसकी परिच्छित्तिरूप प्रमिति तथा प्रमाता यदि हैं तो पुरुषाद्वैत कैसे बन सकता है ? क्योंकि प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता और प्रमिति इन चारका वास्तविक सद्भाव होनेसे चार तत्त्व प्रसिद्ध होते हैं ।' वह भी विचारसह नहीं है, क्योंकि प्रमाणादि चारों भी यदि प्रतिभासमान हैं तो वे प्रतिभाससामान्यरूप ही हैं, परमब्रह्मसे बाह्य नहीं हैं और जो उससे बाह्य नहीं है वह द्वितीय (दूसरा) नहीं है—उससे अभिन्न है ।

§ २२४. इसी कथनसे 'सोलह पदार्थों और प्रागभावदिकोंकी प्रतीति होनेसे पुरुषाद्वैत बाधित होता है' ऐसा कहनेवालेका भी निराकरण हो जाता है, क्योंकि वे भी द्रव्यादिपदार्थोंकी तरह यदि प्रतिभासमान हैं तो प्रतिभाससामान्यके बाहर नहीं हैं—उसके अन्तर्गत ही हैं और इसलिये उनसे पुरुषाद्वैतका बाधन नहीं हो सकता है । यदि वे प्रतिभासमान नहीं हैं तो उनका सद्भाव ही व्यवस्थित नहीं होता और उस हालतमें उनसे पुरुद्वैतकी बाधा माननेपर शशविषाण आदिसे भी अपने इष्ट पदार्थके नियममें बाधा प्रसक्त होगी । तात्पर्य यह कि यदि अप्रतिभासमान भी पदार्थ किसीका बाधक हो तो खरविषाणादिसे भी सभी मतानुयायिओंके इष्ट तत्त्व बाधित हो जायेंगे और इस तरह किसीके भी तत्त्वोंकी व्यवस्था नहीं हो सकेगी ।

§ २२५. इसी विवेचनसे सांख्यादिकोंद्वारा माने गये प्रकृति आदि तत्त्वोंसे भी पुरुषाद्वैत बाधित नहीं होता, यह कथन समझ लेना चाहिये ।

तथा इस पुरुषाद्वैतमें यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान

---

1 स 'प्रमी' । 2 मु स 'प्रमेयं तत्त्वं' । 3 मु 'द्धि' ।

योगाङ्गानि योगो वा सम्प्रज्ञातोऽसम्प्रज्ञातश्च योगफलं च विभूतिकैवल्यलक्षणं विरुद्ध्यते, प्रतिभासमात्रात्तद्बहिर्भावाभावात् प्रतिभासमानत्वेन तथाभावप्रसिद्धेः।

§ २२६. येऽप्याहुः[1]—प्रतिभासमानस्यापि वस्तुनः प्रतिभासाद्भेदप्रसिद्धेर्न प्रतिभासान्तःप्रविष्टत्वम्। प्रतिभासो हि ज्ञानं स्वयं न प्रतिभासते, स्वात्मनि क्रियाविरोधात्, तस्य ज्ञानान्तरवेद्यत्वसिद्धेः। नापि तद्विषयभूतं वस्तु स्वयं प्रतिभासमानम्, तस्य ज्ञेयत्वात् ज्ञानेनैव प्रतिभासत्वसिद्धेरिति स्वयं प्रतिभासनत्वं साधनमसिद्धं न कस्यचित्प्रतिभासान्तःप्रविष्टत्वं साधयेत्। परतः प्रतिभासमानत्वं तु विरुद्धम्, प्रतिभासबहिर्भावसाधनत्वादिति।

§ २२७. तेऽपि स्वदर्शनपक्षपातिन एव; ज्ञानस्य स्वयमप्रतिभासने ज्ञानान्तरादपि प्रतिभासनविरोधात्, 'प्रतिभासते' इति प्रतिभासैकतया स्वातन्त्र्येण प्रतीतिविरोधात्। 'प्रतिभास्यते' इत्येवं प्रत्ययप्रसङ्गात्, तस्य परेण ज्ञानेन प्रतिभास्यमानत्वात्[2]। परस्य ज्ञानस्य च

और समाधि ये आठ योगके अंग और सम्प्रज्ञात एवं असम्प्रज्ञात ये दो योग तथा विभूति (ऐश्वर्य) और कैवल्यरूप ये दो योगके फल विरोधको प्राप्त नहीं होते—वे बन जाते हैं, क्योंकि वे प्रतिभासामान्यसे बाह्य नहीं हैं, अतएव प्रतिभासमान होनेसे प्रतिभासरूप प्रसिद्ध हैं।

§ २२६. जो और भी कहते हैं कि—

'यद्यपि वस्तु प्रतिभासमान है तथापि वह प्रतिभाससे भिन्न प्रसिद्ध होती है और इसलिये वह प्रतिभासके अन्तर्गत नहीं होसकती है। प्रकट है कि प्रतिभास ज्ञान है वह स्वयं प्रतिभासित नहीं होता, क्योंकि अपने आपमें क्रियाका विरोध है—अपनेमें अपनी क्रिया नहीं होती है, इसलिये प्रतिभास (ज्ञान) अन्य ज्ञानद्वारा जानने योग्य सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त, प्रतिभासकी विषयभूत वस्तु भी स्वयं प्रतिभासमान नहीं है, क्योंकि वह ज्ञेय है—ज्ञानद्वारा जाननेयोग्य है अतः वस्तुके ज्ञानद्वारा ही प्रतिभासपना सिद्ध है—स्वयं नहीं और इसलिये 'स्वयं प्रतिभासमानपना' हेतु असिद्ध है। ऐसी हालतमें वह किसी पदार्थको प्रतिभाससामान्यके अन्तर्गत नहीं साध सकता है। परसे प्रतिभासमानपना तो स्पष्टतः विरुद्ध है क्योंकि वह प्रतिभाससे बाह्यको सिद्ध करता है। यथार्थतः परसे प्रतिभासमानपना परके बिना नहीं बन सकता है।'

§ २२७. वे भी अपने दर्शनके पक्षपाती ही हैं—तटस्थभावसे विचार करनेवाले नहीं हैं, क्योंकि यदि ज्ञान स्वयं प्रतिभासमान न हो—स्वयं अपना प्रतिभास न करता हो तो अन्य ज्ञानसे भी उसका प्रतिभास नहीं होसकता है। इसके अतिरिक्त, 'प्रतिभासते' अर्थात् 'ज्ञान प्रतिभासित होता है' इस प्रकारकी प्रतिभासकी एकतासे स्वतंत्रतापूर्वक जो प्रतीति होती है उसका विरोध आता है और 'प्रतिभास्यते' अर्थात् 'ज्ञान प्रतिभासित किया जाता है।' इस प्रकारके प्रत्ययका प्रसंग प्राप्त होता है क्योंकि वह दूसरे ज्ञानद्वारा प्रतिभास्य है—ज्ञेय है। तथा दूसरे ज्ञानका भी अन्य तीसरे ज्ञानसे प्रतिभासन माननेपर 'ज्ञान

1 द 'योऽप्याह'। 2 मु स 'प्रतिभासमान'।

[1]ज्ञानान्तरात्प्रतिभासने ['ज्ञानं] प्रतिभासते' इति सम्प्रत्ययो न स्यात्, संवेदनान्तरेण प्रतिभास्यत्वात्। तथा चानवस्थानान्न किञ्चित्संवेदनं व्यवतिष्ठते। न च 'ज्ञानं प्रतिभासते' इति प्रतीतिर्भ्रान्ता, बाधकाभावात्। स्वात्मनि क्रियाविरोधो बाधक इति चेत्, का पुनः स्वात्मनि क्रिया विरुद्ध्यते? ज्ञप्तिरुत्पत्तिर्वा? न तावत्प्रथमकल्पना, स्वात्मनि ज्ञप्तेर्विरोधाभावात्। स्वयं प्रकाशनं हि ज्ञप्तिः, तच्च सूर्यालोकादौ[2] स्वात्मनि प्रतीयत एव, 'सूर्यालोकः प्रकाशते', 'प्रदीपः प्रकाशते' इति प्रतीतेः। द्वितीयकल्पना तु न बाधकारिणी, स्वात्मन्युत्पत्तिलक्षणायाः क्रियायाः परैरनभ्युपगमात्। न हि 'किञ्चित्स्वस्मादुत्पद्यते' इति प्रेक्षावन्तोऽनुमन्यन्ते। 'संवेदनं स्वस्मादुत्पद्यते' इति तु दूरोत्सारितमेव। ततः कथं स्वात्मनि क्रियाविरोधो बाधकः स्यात्? न च [धात्वर्थलक्षणा क्रिया[3]] स्वात्मनि विरुद्ध्यत इति प्रतीतिरस्ति, तिष्ठत्यास्तेभवतीति धात्वर्थलक्षणाया क्रियायाः स्वात्मन्येव प्रतीतेः। तिष्ठत्यादेर्धातोरकर्मकत्वात्कर्मणि क्रियाऽनुत्पत्तेः, स्वात्मन्येव कर्त्तरि स्थानादिक्रि-

प्रतिभासित होता है' यह प्रत्यय नहीं बन सकता है क्योंकि वह भी अन्य ज्ञानसे प्रतिभास्य है—स्वयं प्रतिभासित नहीं है और इसलिये 'ज्ञान प्रतिभासित किया जाता है' ऐसा प्रत्यय होनेका प्रसंग आवेगा। और ऐसी दशामें अनवस्था प्राप्त होनेसे कोई ज्ञान व्यवस्थित नहीं होसकेगा।

अपिच, 'ज्ञान प्रतिभासित होता है' यह जो प्रतीति होती है वह भ्रमात्मक नहीं है, कारण उसमें कोई बाधक नहीं है। यदि कहा जाय कि अपने आपमें क्रियाका विरोध है और इसलिये यह क्रिया-विरोध उक्त प्रतीतिमें बाधक है तो हम पूछते हैं कि अपने आपमें कौनसी क्रियाका विरोध है? ज्ञप्तिक्रियाका अथवा उत्पत्तिक्रियाका? अर्थात् ज्ञान अपने आपको नहीं जानता है अथवा अपनेसे उत्पन्न नहीं होता? प्रथम कल्पना तो ठीक नहीं है, क्योंकि अपने आपमें ज्ञप्ति (जानने) क्रियाका विरोध नहीं है। स्पष्ट है कि स्वयं प्रकाशनका नाम ज्ञप्ति है और वह सूर्यालोक आदि स्वात्मामें प्रतीत होता ही है—'सूर्यालोक प्रकाशित होता है', 'प्रदीप प्रकाशित होता है' यह प्रतीति स्पष्टतः देखी जाती है। दूसरी कल्पना तो बाधक ही नहीं है क्योंकि वेदान्ती और स्याद्वादी ज्ञानकी स्वयंसे उत्पत्ति स्वीकार नहीं करते हैं। प्रकट है कि विद्वज्जन 'कोई स्वयंसे उत्पन्न होता है' यह स्वीकार नहीं करते हैं फिर 'ज्ञान स्वयंसे उत्पन्न होता है' यह तो दूरसे त्यक्त ही समझना चाहिये अर्थात् वह बहुत दूरकी बात है। तात्पर्य यह कि हम यह मानते ही नहीं कि 'ज्ञान अपनेसे उत्पन्न होता है' क्योंकि उसके उत्पादक तो इन्द्रियादि कारण हैं और इसलिये ज्ञानमें उत्पत्तिक्रियाका विरोध बाधक नहीं बतलाया जासकता है। अतः ज्ञानके अपने स्वरूपको जाननेमें क्रियाका विरोध कैसे बाधक होसकता है? अर्थात् नहीं होसकता है। और 'धात्वर्थरूप क्रिया स्वात्मामें विरुद्ध है' यह प्रतीति नहीं है, क्योंकि 'ठहरता है', 'विद्यमान है', 'होता है' इत्यादि धात्वर्थरूप क्रियाओंकी स्वात्मा (अपने स्वरूप) में ही प्रतीति होती है। अगर कहें कि 'ठहरता है' इत्यादि धातु-

1 मुक 'ज्ञानान्तराप्रतिभास', मुब 'ज्ञानान्तरप्रतिभास'। 2 मु स 'सूर्यालोकनादौ'।
3 प्राप्तमुद्रितामुद्रितसर्वप्रतिषु 'सर्वा क्रिया वस्तुनः' इति पाठ उपलभ्यते स च सम्यक् न प्रतिभाति, उत्तरग्रन्थेन सह तस्य सङ्गत्यनुपपत्तेः। —सम्पादक।

येति चेत्, तर्हि [1]भासतेधातोरकर्मकत्वात्कर्मणि क्रियाविरोधात्कर्त्तर्येव प्रतिभासनक्रियाऽस्तु, 'ज्ञानं प्रतिभासते' इति प्रतीतेः। सिद्धे च ज्ञानस्य स्वयं प्रतिभासमानत्वे सकलस्य वस्तुनः स्वतः प्रतिभासमानत्वं सिद्धमेव। 'सुखं प्रतिभासते', 'रूपं प्रतिभासते' इत्यन्तर्बहिर्वस्तुनः स्वातन्त्र्येण कर्त्तृतामनुभवतः प्रतिभासनक्रियाधिकरणस्य प्रतिभासमानस्य निराकर्त्तुमशक्तेः। ततो नासिद्धं साधनम्, यतः पुरुषाद्वैतं न साधयेत्। नापि विरुद्धम्, परतः प्रतिभासमानत्वाप्रतीतेः, कस्यचित्प्रतिभासाद्बहिर्भावासाधनात्[2]।

§ २२८. एतेन परोक्षज्ञानवादिनः संवेदनस्य स्वयं प्रतिभासमानत्वमसिद्धमाचक्षाणाः सकलज्ञेयस्य ज्ञानस्य च ज्ञानान्तरप्रतिभासमानत्वात्साधनस्य विरुद्धतामभिदधानाः प्रतिध्वस्ताः, 'ज्ञानं प्रकाशते', 'बहिर्वस्तु प्रकाशते' इति प्रतीत्या स्वयं प्रतिभासमानत्वस्य साधनस्य व्यवस्थापनात्।

§ २२९. ये त्वात्मा स्वयं प्रकाशते फलज्ञानं चेत्यावेदयन्ति, तेषामात्मनि फलज्ञाने वा स्वयं प्रतिभासमानत्वं सिद्धं सर्वस्य वस्तुनः प्रतिभासमानत्वं साधयत्येव। तथा हि—विवादाध्या-

---

ओंको अकर्मक होनेसे कर्ममें क्रिया उत्पन्न नहीं होती, किन्तु स्वात्मा कर्तामें ही 'ठहरना' आदि क्रिया होती है तो 'भासित होता है' धातुको भी अकर्मक होनेसे कर्ममें क्रिया नहीं बनती है और इसलिये कर्त्तामें ही प्रतिभासन क्रिया हो, क्योंकि 'ज्ञान प्रतिभासित होता है' ऐसी प्रतीति होती है। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार 'ठहरता है' आदि धातुओंको अकर्मक होनेसे कर्ममें क्रिया नहीं बनती है और इसलिये कर्तामें ही स्थानादि क्रिया स्वीकार की जाती है उसीप्रकार 'भासित होता है' यह धातु भी अकर्मक है और इस कारण कर्ममें क्रियाका विरोध है अतः प्रतिभासन क्रिया कर्तामें ही मानना चाहिये। इस प्रकार ज्ञानके स्वयं प्रतिभासमानपना सिद्ध हो जानेपर समस्त वस्तुसमूहके स्वतः प्रतिभासमानपना सिद्ध ही है। अत एव 'सुख प्रतिभासित होता है', 'रूप प्रतिभासित होता है' इस तरह प्रतिभासमान अन्तरंग (ज्ञान) और बहिरंग (रूपादि) वस्तुका, जो प्रतिभासन क्रियाका आश्रय है तथा स्वतंत्रताके साथ कर्त्तापनेका अनुभव करनेवाली है, निराकरण नहीं किया जासकता है। अतः स्वतः प्रतिभासमानपना हेतु असिद्ध नहीं है, जिससे वह पुरुषाद्वैतको सिद्ध न करे। तथा विरुद्ध भी नहीं है, क्योंकि वह परसे प्रतिभासमान प्रतीत नहीं होता और कोई प्रतिभाससे बाहर सिद्ध नहीं होता।

§ २२८. इस कथनसे संवेदनके स्वयं प्रतिभासमानपना असिद्ध बतलानेवाले तथा समस्त ज्ञेय और ज्ञान अन्य ज्ञानसे प्रतिभासमान होनेसे हेतुको विरुद्ध कहनेवाले परोक्षज्ञानवादी मीमांसक निराकृत होजाते हैं, 'क्योंकि ज्ञान प्रकाशित होता है', 'बाह्य वस्तु प्रकाशित होती है' इस प्रकारकी प्रतीति होनेसे स्वयं प्रतिभासमानपना हेतु व्यवस्थित होता है। अतएव वह न असिद्ध है और न विरुद्ध।

§ २२९. जो कहते हैं कि 'आत्मा स्वयं प्रकाशित होता है और फलज्ञान भी स्वयं प्रकाशित होता है' उनके आत्मा अथवा फलज्ञानमें स्वयं प्रतिभासमानपना सिद्ध है। अतएव वह सम्पूर्ण वस्तुओंके भी स्वयं प्रतिभासमानपना अवश्य सिद्ध करता है।

---

1 मु स 'भासते तद्धातो'। 2 द 'बहिर्भावाभावसाधनात्'। 3 द 'प्रतिभासते'।

सितं वस्तु स्वयं प्रतिभासते, प्रतिभासमानत्वात्। यद्यत्प्रतिभासमानं तत्तत्स्वयं प्रतिभासते, यथा भट्टमतानुसारिणामात्मा, प्रभाकरमतानुसारिणां[1] वा फलज्ञानम्। प्रतिभासमानं चान्तर्बहिर्वस्तु ज्ञानज्ञेयरूपं विवादाध्यासितम्, तस्मात्स्वयं प्रतिभासते। न तावदत्र प्रतिभासमानत्वमसिद्धम्, सर्वस्य वस्तुनः सर्वथाऽप्यप्रतिभासमानस्य सद्भावविरोधात्। साक्षादसाक्षाच्च प्रतिभासमानस्य तु सिद्धं प्रतिभासमानत्वं ततो भवत्येव साध्यसिद्धिः साध्याविनाभावनियमनिश्चयादिति निरवद्यं पुरुषाद्वैतसाधनं संवेदनाद्वैतवादिनोऽभीष्टहानये भवत्येव। न हि कार्यकारण-ग्राह्यग्राहक-वाच्यवाचक-साध्यसाधक-बाध्यबाधक-विशेषणविशेष्यभावनिराकरणात्संवेदनाद्वैतं व्यवस्थापयितुं शक्यम्, कार्यकारणभावादीनां प्रतिभासमानत्वात्प्रतिभासमात्रान्तःप्रविष्टानांनिराकर्त्तुमशक्तेः। स्वयमप्रतिभासमानानां तु सम्भवाभावात्संवृत्याऽपि व्यवहारविरोधात् सकलविकल्पवाग्गोचरातिक्रान्ततापत्तेः। संवेदनमात्रं चैकक्षणस्थायि यदि किञ्चित्कार्यं न कुर्यात्, तदा वस्त्वेव न स्यात्, वस्तुनोऽर्थक्रियाकारित्वलक्षणत्वात्।

वह इस प्रकार से है—

'विचारकोटिमें स्थित वस्तु स्वयं प्रतिभासित होती है क्योंकि वह प्रतिभासमान है। जो जो प्रतिभासमान है वह वह स्वयं प्रतिभासित है जैसे भाट्टोंका आत्मा अथवा प्राभाकरोंका फलज्ञान। और प्रतिभासमान विचारकोटिमें स्थित ज्ञान और ज्ञेयरूप अन्तरंग और बहिरंग वस्तु है, इस कारण वह स्वयं प्रतिभासित होती है।' यहाँ अनुमानमें प्रयुक्त किया गया प्रतिभासमानपना हेतु असिद्ध नहीं है क्योंकि सर्व वस्तु अप्रतिभासमान हो तो उसका सद्भाव ही नहीं बन सकता है। और यदि साक्षात् या परम्परासे उसे प्रतिभासमान कहा जाय तो प्रतिभासमानपना हेतु सिद्ध है और उससे, जो साध्यका अविनाभावी है, साध्यकी सिद्धि अवश्य होती है। इस तरह यह निर्दोष पुरुषाद्वैतका साधन संवेदनाद्वैतवादीके इष्ट—संवेदनाद्वैतका हानिकारक ही है अर्थात् उससे संवेदनाद्वैतका अवश्य निराकरण हो जाता है। प्रकट है कि कार्य-कारण, ग्राह्य-ग्राहक, वाच्य-वाचक, साध्य-साधक, बाध्य-बाधक और विशेषण-विशेष्यभावका निराकरण होनेसे संवेदनाद्वैतकी व्यवस्था नहीं होसकती है। तात्पर्य यह कि अद्वैत संवेदनमें कार्यकारणभाव, ग्राह्य-ग्राहकभाव आदि नहीं बनता है अन्यथा द्वैतका प्रसंग प्राप्त होता है और उनको स्वीकार करे बिना संवेदनाद्वैत व्यवस्थित नहीं होता, क्योंकि व्यवस्थाके लिये व्यवस्थाप्य और व्यवस्थापक, जो साध्य-साधक आदिरूप हैं, मानना पड़ते हैं किन्तु कार्यकारणभाव आदि प्रतिभासमान होनेसे प्रतिभाससामान्यके अन्तर्गत आ जाते हैं और इसलिये उनका निराकरण (खण्डन) नहीं किया जासकता है। यदि वे स्वयं प्रतिभासमान न हों तो उनका सद्भाव न होनेसे कल्पनासे भी व्यवहार नहीं बन सकता और उस हालतमें समस्त विकल्प और वचनोंके वे विषय नहीं होसकेंगे। अर्थात् किसी भी शब्दादिद्वारा उनका कथन नहीं किया जासकता है। दूसरी बात यह है कि एक क्षण ठहरनेवाला संवेदन यदि कुछ कार्य न करे तो वह वस्तु ही नहीं होसकता,

---

1 स द 'आत्मा, प्रभाकरमतानुसारिणां' पाठो नास्ति।

करोति चेत्, कार्यकारणभावः सिद्ध्येत् । तस्य हेतुमत्वे च स एव कार्यकारणभावः । कारणरहितत्वे तु नित्यतापत्तिः संवेदनस्य, सतोऽकारणवतो नित्यत्वप्रसिद्धेरिति प्रतिभासमात्रात्मनः[1] पुरुषतत्त्वस्यैव सिद्धिः स्यात् ।

§ २३०. किञ्च, क्षणिकसंवेदनमात्रस्य ग्राह्यग्राहकवैधुर्यं यदि केनचित्प्रमाणेन गृह्यते, तदा ग्राह्यग्राहकभावः कथं निराक्रियते[2] ? न गृह्यते चेत्, कुतो ग्राह्यग्राहकवैधुर्यसिद्धिः ? स्वरूपसंवेदनादेवेति चेत्, तर्हि संवेदनाद्वैतस्य स्वरूपसंवेदनं ग्राहकं ग्राह्यग्राहकवैधुर्यं तु ग्राह्यमिति स एव ग्राह्यग्राहकभावः ।

§ २३१. स्यान्मतम् —

"नान्योऽनुभाव्यो बुद्ध्याऽस्ति तस्या नानुभवोऽपरः ।
ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात्स्वयं सैव प्रकाशते ॥" [प्रमाणवा. ३।३२७]

§ २३२. इति वचनान्न बुद्धेः किञ्चिद् ग्राह्यमस्ति, नापि बुद्धिः कस्यचिद् ग्राह्या स्वरूपेऽपि[3] ग्राह्यग्राहकभावाभावात् । "स्वरूपस्य स्वतो गतिः" [प्रमाणवा० १—६] इत्येतस्यापि संवृत्त्याऽभिधानात् । परमार्थतस्तु बुद्धिः स्वयं प्रकाशते चकास्तीत्येवोच्यते न पुनः स्वरूपं गृह्णाति

क्योंकि अर्थक्रिया करना वस्तुका लक्षण है । यदि करता है तो कार्यकारणभाव सिद्ध होजाता है । इसी प्रकार संवेदन यदि हेतुमान्—कारणवाला है तो वही कार्यकारणभाव सिद्ध होजाता है और अगर कारणरहित है तो संवेदनके नित्यपनेका प्रसंग आता है क्योंकि जो विद्यमान है और कारणरहित है वह नित्य माना गया है । इस तरह प्रतिभाससामान्यरूप पुरुषतत्त्वकी ही सिद्धि होती है ।

§ २३०. अपि च, यदि क्षणिक संवेदनके ग्राह्य-ग्राहकका अभाव किसी प्रमाणसे गृहीत होता है तो ग्राह्य-ग्राहकभावका कैसे निराकरण करते हैं ? यदि गृहीत नहीं होता है तो ग्राह्य-ग्राहकके अभावकी सिद्धि किससे करेंगे ? यदि कहा जाय कि स्वरूपसंवेदनसे ही ग्राह्य-ग्राहकके अभावकी सिद्धि होती है तो संवेदनाद्वैतका स्वरूपसंवेदन तो ग्राहक और ग्राह्य-ग्राहकका अभाव ग्राह्य इस तरह वही ग्राह्य-ग्राहकभाव पुनः सिद्ध हो जाता है ।

§ २३१. योगाचार-हमारा अभिप्राय यह है कि—

'बुद्धिसे अनुभाव्य—अनुभव किया जानेवाला अन्य दूसरा नहीं है और बुद्धिसे अलग कोई अनुभव नहीं है क्योंकि ग्राह्य-ग्राहकका अभाव है और इसलिये बुद्धि ही स्वयं प्रकाशमान होती है ।' [प्रमाणवा० ३-३२७]

§ २३२. ऐसा प्रमाणवार्तिककार धर्मकीर्तिका वचन है । अत एव न बुद्धिसे कोई ग्राह्य है और न स्वयं बुद्धि भी किसीकी ग्राह्य है क्योंकि स्वरूपमें भी ग्राह्य-ग्राहकभावका अभाव है । "स्वरूपका अपनेसे ज्ञान होता है" [प्रमाणवा० १-६] यह प्रतिपादन भी संवृत्तिसे है । वास्तवमें तो 'बुद्धि स्वयं प्रकाशित होती है' यही कहा जाता है न कि स्वरूपको

---

1 मुक 'प्रतिभासमानात्मनः' । मुब 'प्रतिभासमात्मनः' । 2 द 'निराक्रियेत' । 3 द 'ग्राह्यस्वरूपेति' ।

ग्राह्यग्राहकवैधुर्यं च स्वरूपादव्यतिरिक्तं गृह्णाति जानातीत्यभिधीयते, निरंशसंवेदनाद्वैते तथाऽभिधानविरोधादिति, तदपि न पुरुषाद्वैतवादिनः प्रतिकूलम्, स्वयं प्रकाशमानस्य संवेदनस्यैव परमपुरुषत्वात् । न हि तत्संवेदनं पूर्वापरकालव्यवच्छिन्नं सन्तानान्तरबहिरर्थव्यावृत्तं च प्रतिभासते, यतः पूर्वापरक्षणसन्तानान्तरबहिरर्थानामभावः सिद्ध्येत् । तेषां संवेदनेनाग्रहणादभाव इति चेत्, स्वसंवेदनस्यापि संवेदनान्तरेणाग्रहणादभावोऽस्तु । तस्य स्वयं प्रकाशनान्नाभाव इति चेत्, पूर्वोत्तरस्वसंवित्क्षणानां सन्तानान्तरसंवेदनानां च बहिरर्थानामिव स्वयं प्रकाशमानानां कथमभावः साध्यते ? कथं तेषां स्वयं प्रकाशमानत्वं ज्ञायते ? इति चेत्, स्वयमप्रकाशमानत्वं तेषां कथं साध्यते ? इति समानः पर्यनुयोगः । स्वसंवेदनस्वरूपस्य प्रकाशमानत्वमेव तेषामप्रकाशमानत्वमिति चेत्, तर्हि तेषां प्रकाशमानत्वमेव स्वसंवेदनस्यैवाप्रकाशमानत्वं किं न स्यात् ? स्वसंवेदनस्य स्वयमप्रकाशमानत्वे परैः प्रकाशमानत्वाभावः साधयितुमशक्यः, प्रतिषेधस्य विधिविषयत्वात्[1] ।

ग्रहण करती है और स्वरूपसे अभिन्न ग्राह्य-ग्राहकके अभावको ग्रहण करती है अर्थात् जानती है, यह कहा जाता है क्योंकि निरंश अद्वैत संवेदनमें वैसा कथन नहीं होसकता है ?

वेदान्ती—आपका यह अभिप्राय भी हमारे लिये विरुद्ध नहीं है, क्योंकि स्वयं प्रकाशमान संवेदनको ही हम परमपुरुष कहते हैं । स्पष्ट है कि वह संवेदन पूर्व और उत्तरकालसे व्यवच्छिन्न तथा अन्य सन्तान एवं बाह्य पदार्थसे व्यावृत्त प्रतिभासित नहीं होता, जिससे कि पूर्व और उत्तर क्षणों, अन्य सन्तानों तथा बाह्य पदार्थोंका अभाव सिद्ध हो ।

योगाचार—पूर्वोत्तरक्षणों आदिका संवेदनसे ग्रहण नहीं होता, इसलिये उनका अभाव है ?

वेदान्ती—स्वसंवेदनका भी अन्य संवेदनसे ग्रहण नहीं होता, इसलिये उसका भी अभाव हो ।

योगाचार—स्वसंवेदन स्वयं प्रकाशमान है, इसलिये उसका अभाव नहीं है ?

वेदान्ती—तो पूर्वोत्तरवर्ती स्वसंवेदनक्षणों, अन्यसन्तानीय ज्ञानों और बाह्य पदार्थोंका, जो स्वयं प्रकाशमान हैं, कैसे अभाव सिद्ध करते हैं ?

योगाचार—वे स्वयं प्रकाशमान हैं, यह कैसे जानते हैं ?

वेदान्ती—वे स्वयं अप्रकाशमान हैं, यह कैसे सिद्ध करते हैं ? इस प्रकार यह प्रश्न एक-सा है ।

योगाचार—स्वसंवेदनका स्वरूप स्वयं प्रकाशमान ही है, अत एव वे अप्रकाशमान हैं ?

वेदान्ती—तो वे पूर्वोत्तरक्षणादि प्रकाशमान ही हैं और इसलिये स्वसंवेदन ही अप्रकाशमान क्यों न हो ?

योगाचार—यदि स्वसंवेदन स्वयं अप्रकाशमान हो तो आप उसके प्रकाशमानताका अभाव सिद्ध नहीं कर सकते हैं क्योंकि निषेध विधिपूर्वक होता है । जो सब जगह

---

1 स मु 'विधेर्विषयत्वाद्' ।

सर्वत्र सर्वदा सर्वथाऽप्यसतः प्रतिषेधविरोधात् इति चेत्, तर्हि स्वसंवेदनात्परेषां प्रकाशमानत्वाभावे कथं तत्प्रतिषेधः साध्यत इति समानश्चर्चः। विकल्पप्रतिभासिनां तेषां स्वसंवेदनावभासित्वं प्रतिषिध्यत इति चेत्, न, विकल्पावभासित्वादेव स्वयं प्रकाशमानत्वसिद्धेः।

§ २३३. तथा हि– यद्यद्विकल्पप्रतिभासि तत्तत्स्वयं प्रकाशते, यथा विकल्पस्वरूपम्, तथा च स्वसंवेदनपूर्वोत्तरक्षणाः सन्तानान्तरसंवेदनानि बहिरर्थाश्चेति स्वयं प्रकाशमानत्वसिद्धिः। शशविषाणादिभिर्विनष्टानुत्पन्नैश्च भावैर्विकल्पावभासिभिर्व्यभिचार इति चेत्; न, तेषामपि प्रतिभासमात्रान्तर्भूतानां स्वयं प्रकाशमानत्वसिद्धेरन्यथा विकल्पावभासित्वायोगात्। सोऽयं सौगतः सकलदेशकालस्वभाव[1] विप्रकृष्टानप्यर्थान् विकल्पबुद्धौ प्रतिभासमानान् स्वयमभ्युपगमयन् स्वयं प्रकाशमानत्वं नाभ्युपैतीति किमपि महाद्भुतम्? तथाभ्युपगमे च सर्वस्य प्रतिभासमात्रान्तःप्रविष्टत्वसिद्धेः पुरुषाद्वैतसिद्धिरेव स्यात् न पुनस्तद्बहिर्भूतसंवेदनाद्वैतसिद्धिः।

[चित्राद्वैतस्य निराकरणम्]

§ २३४. माभून्निरंशसंवेदनाद्वैतम्, चित्राद्वैतं तु स्यात्,[2] चित्राद्वैतस्य व्यवस्थापनात्। कालत्रयत्रिलोकवर्तिपदार्थाकारा संविच्चित्राऽप्येका शश्वदशक्यविवेचनत्वात्[1], सर्वस्य वादिनस्तत एव क्वचिदेकत्वव्यवस्थापनात्[2]। अन्यथा कस्यचिदेकत्वेनाभिमतस्याप्येकत्वासिद्धिरिति चेत्; न, एवमपि परमब्रह्मण एव प्रसिद्धेः सकलदेशकालाकारव्यापिनः संविन्मात्रस्यैव परमब्रह्मत्ववचनात्। न चैकक्षणस्थायिनी चित्रा संवित् चित्राद्वैतमिति साधयितुं शक्यते, तस्याः कार्यकारणभूतचित्रसंविन्नान्तरीयकत्वाच्चित्रा-द्वैतप्रसङ्गात्[3]। तत्कार्यकारणचित्रसंविदोरनभ्युपगमे सद्हेतुकत्वान्नित्यत्वसिद्धेः कथं न चित्राद्वैतमेव ब्रह्माद्वैतमिति न संवेदनाद्वैतवच्चित्राद्वैतमपि सौगतस्य व्यवतिष्ठते। सर्वथा शून्यं तु तत्त्वमसंवेद्यमानं न व्यवतिष्ठते। संवेद्यमानं तु सर्वत्र सर्वदा सर्वथा[4] परमब्रह्मणो नातिरिच्यते, तत्राक्षेपसमाधानानां परमब्रह्मसाधनानुकूलत्वात्। ततो न सुगतस्तत्त्वतः संवृत्त्या वा विश्वतत्त्वज्ञः सम्भवति यतो[5] निर्वाणमार्गस्य प्रतिपादकः स्यात्।

[परमपुरुषस्यापि विश्वतत्त्वज्ञत्वं मोक्षमार्गोपदेशकत्वं च नोपपद्यत इति कथनम्]

§ २३५. परमपुरुष एव विश्वतत्त्वज्ञः श्रेयोमार्गस्य प्रणेता च[6] व्यवतिष्ठताम्, तस्योक्तन्या-

---

सब कालमें किसी भी प्रकार सत् नहीं है उसका प्रतिषेध नहीं होसकता है। तात्पर्य यह कि जिसकी विधि (सद्भाव) नहीं उसका निषेध कैसा?

वेदान्ती—तो स्वसंवेदनसे भिन्न जो पूर्वोत्तरक्षणादि हैं वे यदि प्रकाशमान नहीं हैं तो उनके प्रकाशमानताका अभाव कैसे सिद्ध करते हैं? इस तरह यह चर्चा समान है।

योगाचार—वे विकल्पसे प्रतिभासित होते हैं स्वसंवेदनसे नहीं, इसलिये स्वसंवेदनसे प्रकाशमानताका प्रतिषेध करते हैं।

वेदान्ती—नहीं, क्योंकि विकल्पके द्वारा प्रतिभास होनेसे ही उन्हें स्वयं प्रकाशमान मानते हैं।

२३३. वह इस तरहसे है—'जो जो विकल्पके द्वारा प्रतिभासित होता है वह वह स्वयं प्रकाशित होता है, जैसे विकल्पका स्वरूप। और विकल्पद्वारा प्रतिभासित होते हैं स्वसंवेदनके पूर्वोत्तरक्षण, अन्य सन्तानीय ज्ञान और बाह्य पदार्थ, इस कारण वे स्वयं प्रकाशमान हैं' इसप्रकार पूर्वोत्तरक्षणादिके स्वयं प्रकाशमानता सिद्ध होती है।

योगाचार—विकल्पद्वारा प्रतिभासित होनेवाले खरविषाणादिकों और नष्ट हुए तथा उत्पन्न न हुए पदार्थोंके साथ व्यभिचार है?

वेदान्ती—नहीं, वे भी प्रतिभाससामान्यके अन्तर्गत हैं और इसलिये उनके स्वयं प्रकाशमानता सिद्ध है। नहीं तो उनका विकल्पद्वारा भी प्रतिभास नहीं होसकता है। आश्चर्य है कि आप सम्पूर्ण देश, काल और स्वभावसे दूरवर्ती भी पदर्थोंको विकल्पबुद्धिमें स्वयं प्रतिभासमान तो स्वीकार करते हैं लेकिन स्वयं प्रकाशमान नहीं मानते हैं? और यदि मानते हैं तो सबको प्रतिभाससामान्यके अन्तर्गत सिद्ध होनेसे पुरुषाद्वैतकी ही सिद्धि होती है उससे बाहर (भिन्न) संवेदनाद्वैतकी नहीं।

§ २३४. चित्राद्वैतवादी—ठीक है, निरंश संवेदनाद्वैत न हो, किन्तु चित्राद्वैत हो, क्योंकि चित्राद्वैतकी व्यवस्था होती है:—तीनों कालों और तीनों लोकोंमें रहने वाले पदार्थोंके आकार होनेवाली चित्र (अनेकरूप) भी संवित् (बुद्धि) एक है क्योंकि सदैव अशक्यविवेचन है—कभी भी उसका विश्लेषण नहीं होसकता है। जिसका विश्लेषण नहीं होसकता वह एक है। सभी दार्शनिक इसी अशक्यविवेचनसे ही किसीमें एकताकी व्यवस्था करते हैं। नहीं तो जिसे एक माना जाता है उसके भी एकताकी सिद्धि नहीं होसकती है।

वेदान्ती—नहीं, क्योंकि इसप्रकार भी परमब्रह्मकी ही प्रसिद्धि होती है। कारण, सम्पूर्ण देशों, कालों और आकारोंमें व्याप्त संवित्सामान्यको ही परमब्रह्म कहा जाता है। और यह सिद्ध नहीं किया जासकता कि एक क्षण ठहरनेवाली चित्रा संवित् चित्राद्वैत है क्योंकि वह कार्य-कारणरूप चित्रसंवित्की अविनाभाविनी है और इसलिये दो चित्राबुद्धियोंका प्रसङ्ग प्राप्त होता है। यदि चित्राबुद्धिकी कार्य और कारणरूप दो चित्राबुद्धियोंको स्वीकार न किया जाय तो सत् और अहेतुक होनेसे वह नित्य सिद्ध होती है और ऐसी हालतमें चित्राद्वैत ही ब्रह्माद्वैत क्यों नहीं होजाय? अतएव संवेदनाद्वैतकी तरह चित्राद्वैत भी बौद्धोंका व्यवस्थित नहीं होता। सर्वथा शून्य तत्त्व तो अनुभवमें ही नहीं आता और इसलिये उसकी भी व्यवस्था नहीं होती। यदि अनुभवमें आता है तो वह सब जगह, सब काल और सब प्रकारसे परमब्रह्मसे भिन्न नहीं है। उसमें जो आक्षेप और समाधान किये जायेंगे वे परमब्रह्मकी सिद्धिके अनुकूल हैं—उसके बाधक नहीं हैं। अतः सुगत वास्तवमें अथवा संवृत्ति से सर्वज्ञ नहीं है और इस कारण वह मोक्षमार्गका प्रतिपादक सिद्ध नहीं होता।

[परमपुरुष-परीक्षा]

§ २३५. वेदान्ती—ठीक है, परमपुरुष (ब्रह्म) ही सर्वज्ञ और मोक्षमार्गका

---

1 मु स प्रतिषु 'स्वभाव' नास्ति। 2 द 'चित्राद्वैतं तु स्यात्' इति पाठो नास्ति।

1 द 'विवेचनात्'। 2 द स 'व्यस्थानात्'। 3 द 'चित्राद्वैतप्रसंगात्' नास्ति। 4 मु स 'सर्वथा सर्वदा'। 5 मु स प 'सम्भवतीति न' इति पाठः। 6 मु स 'च' नास्ति।

येन साधनादित्यपरः; सोऽपि न विचारसहः; पुरुषोत्तमस्यापि यथाप्रतिपादनं विचार्यमाणस्यायोगात्। प्रतिभासमात्रं हि चिद्रूपं परमब्रह्मोक्तम्, तच्च[1] यथा पारमार्थिकं देशकालाकाराणां भेदेऽपि व्यभिचाराभावात्। तत्प्रतिभासविशेषाणामेव व्यभिचारादव्यभिचारित्वलक्षणत्वात्तस्येति। तच्च[2] विचार्यते—

§ २३६. यदेतत्प्रतिभासमात्रं तत् सकलप्रतिभासविशेषरहितं तत्सहितं वा स्यात्? प्रथमपक्षे तदसिद्धमेव, सकलप्रतिभासविशेषरहितस्य प्रतिभासमात्रस्यानुभवाभावात्, केनचित्प्रतिभासविशेषेण सहितस्यैव तस्य प्रतिभासनात्। क्वचित्प्रतिभासविशेषस्याभावेऽपि पुनरन्यत्र भावात्, कदाचिदभावेऽपि चान्यदा सद्भावात्, केनचिदाकारविशेषेण तदसम्भवेऽपि चाकारान्तरेण सम्भवात्, देशकालाकारविशेषापेक्षत्वात्तत्प्रतिभासविशेषाणाम्, तथाऽव्यभिचाराभावादव्यभिचारित्वसिद्धेस्तत्त्वलक्षणानतिक्रमान्न तत्त्वबहिर्भावो युक्तः। तथा हि—यद्यथैवाऽव्यभिचारि तत्तथैव तत्त्वम्, यथा प्रतिभासमात्रं प्रतिभासमात्रतयैवाऽव्यभिचारि तथैव तत्त्वम्, अनियतदेशकालाकारतयैवाऽव्यभिचारी च प्रतिभासविशेष इति प्रतिभासमात्रवत्प्रतिभासविशेषस्यापि वस्तुत्वसिद्धिः[1]। न हि यो यद्देशतया प्रतिभासविशेषः स तद्देशतां व्यभिचरति, अन्यथा[2] भ्रान्तत्वप्रसङ्गात्, शाखादेशतया चन्द्रप्रतिभासवत्। नापि यो यत्कालतया प्रतिभासविशेषः स तत्कालतां व्यभिचरति, तद्व्यभिचारिणोऽसत्यत्वव्यवस्थानात्, निशि मध्यंदिनतया स्वप्नप्रतिभासविशेषवत्। नापि यो यदाकारतया प्रतिभासविशेषः स तदाकारतां विसंवदति, तद्विसंवादिनो मिथ्याज्ञानत्वसिद्धेः, कामलाद्युपहतचक्षुषः शुक्ले शङ्खे पीताकारताप्रतिभासविशेषवत्। न च वितथैर्देशकालाकारव्यभिचारिभिः प्रतिभासविशेषैः सदृशा एव देशकालाकाराव्यभिचारिणः प्रतिभासविशेषाः प्रतिलक्षयितुं युज्यन्ते, यत इदं वेदान्तवादिनां वचनं शोभेत—

"आदावन्ते च यन्नास्ति वर्त्तमानेऽपि तत्तथा।
वितथैः सदृशाः सन्तोऽवितथा एव लक्षिताः॥"
[गौडपा. का.६. पृ० ७० वैतथ्याख्यप्र०] इति।

§ २३७. तेषामवितथानामादावन्ते चासत्त्वेऽपि वर्त्तमाने सत्त्वप्रसिद्धेर्बाधकप्रमाणाभावात्। न हि यथा स्वप्नादिभ्रान्तप्रतिभासविशेषेषु तत्कालेऽपि बाधकं प्रमाणमुदेति तथा जाग्रद्दशायामभ्रान्तप्रतिभासविशेषेषु, तत्र साधकप्रमाणस्यैव सद्भावात्। सम्यङ् मया तदा

प्रतिपादक व्यवस्थित हो; क्योंकि वह उपर्युक्त न्यायसे सिद्ध होता है?

जैन—आपका भी यह कथन विचारपूर्ण नहीं है; क्योंकि परमपुरुषका जैसा वर्णन किया जाता है वह विचार करनेपर बनता नहीं है। प्रकट है कि आप लोग प्रतिभाससामान्य चैतन्यरूप परमब्रह्मको कहते हैं और उसे पारमार्थिक मानते हैं, क्योंकि देश, काल और आकारका भेद होनेपर भी व्यभिचार अर्थात् प्रतिभाससामान्यका अभाव नहीं होता। केवल उसके प्रतिभासविशेषोंका ही व्यभिचार (अभाव) होता है। अतएव व्यभिचार न होना पारमार्थिकका लक्षण है, इसपर हमारा निम्न प्रकार विचार है—

§ २३६. बतलाइये, जो यह प्रतिभाससामान्य है वह समस्त प्रतिभासविशेषोंसे रहित है अथवा उनसे सहित है? पहला पक्ष तो असिद्ध है, क्योंकि समस्त प्रतिभासविशेषोंसे रहित प्रतिभाससामान्यका अनुभव नहीं होता, किसी प्रतिभासविशेषसे सहित ही प्रतिभाससामान्यका अनुभव होता है। कहीं प्रतिभासविशेषका अभाव होनेपर भी दूसरी जगह उसका सद्भाव होता है और किसी कालमें अभाव होनेपर भी अन्य कालमें वह मौजूद रहता है तथा किसी आकारविशेषसे उसका अभाव रहनेपर भी अन्य दूसरे आकारसे वह विद्यमान रहता है। आशय यह कि प्रतिभाससामान्यके जो प्रतिभासविशेष हैं वे देशविशेष, कालविशेष और आकारविशेषकी अपेक्षासे होते हैं और इसलिये वे देशविशेषादिके व्यभिचारी न होनेसे अव्यभिचारी सिद्ध हैं। अतः उनके तत्त्व (पारमार्थिकत्व) का लक्षण (अव्यभिचारित्व) पाया जानेसे उनको तत्त्वसे बाहर करना युक्त नहीं है। हम प्रमाणित करते हैं कि—जो जिस रूपसे अव्यभिचारी है वह उसी रूपसे तत्त्व-पारमार्थिक है, जैसे प्रतिभाससामान्य प्रतिभासमानरूपसे ही अव्यभिचारी है और इसलिये वह उसीरूपसे तत्त्व है और अनियत देश, अनियत काल तथा अनियत आकाररूपसे अव्यभिचारी प्रतिभासविशेष है, इस कारण वह उसीरूपसे तत्त्व है' इस तरह प्रतिभाससामान्यकी तरह प्रतिभासविशेष भी वस्तु (पारमार्थिक) सिद्ध है। स्पष्ट है कि जो जिस देशकी अपेक्षा प्रतिभासविशेष है वह उस देशसे व्यभिचारी नहीं होता, अन्यथा वह भ्रान्त कहा जायगा, जैसे शाखादेशसे होनेवाला चन्द्रमाका प्रतिभास। तथा जो जिस कालसे प्रतिभासविशेष है वह उस कालसे व्यभिचारी नहीं होता, क्योंकि जो उससे व्यभिचारी होता है वह असत्य व्यवस्थापित किया गया है। जैसे रात्रिमें मध्यदिन—दोपहररूपसे होनेवाला स्वप्नप्रतिभास। तथा जो जिस आकारसे प्रतिभासविशेष है वह उस आकारसे विसंवादी नहीं होता, क्योंकि जो उससे विसंवादी होता है उसे मिथ्याज्ञान सिद्ध किया गया है। जैसे पीलियारोगविशिष्ट आँखोंवालेको सफेद शंखमें पीताकार (पीले आकार) रूपसे होनेवाला प्रतिभासविशेष। और इसलिये देश, काल और आकारसे व्यभिचारी मिथ्याप्रतिभासविशेषोंके समान ही देश, काल और आकारसे अव्यभिचारी सत्य प्रतिभासविशेषोंको समझना युक्त नहीं है, जिससे वेदान्तियोंका यह कहना शोभा देता-सङ्गत प्रतीत होता—

"जो आदिमें और अन्तमें नहीं है वह वर्त्तमानमें भी नहीं है। अत एव मिथ्या प्रतिभासविशेषोंके समान ही सत्य और सद्भावात्मक प्रतिभासविशेष जानना चाहिये।" [गौडपा०का०६,पृ० ७०]।

§ २३७. जो प्रतिभासविशेष अमिथ्या हैं वे आदिमें और अन्तमें भले ही असत् हों—अविद्यमान हों, पर वर्त्तमानमें उनका सत्त्व प्रसिद्ध है, क्योंकि कोई बाधकप्रमाण नहीं है। स्पष्ट है कि जिस प्रकार स्वप्नादि मिथ्याप्रतिभासविशेषोंमें उस समयमें भी बाधक प्रमाण उत्पन्न होता है उस प्रकार जागृत अवस्थामें होनेवाले सत्य प्रतिभासविशेषोंमें वह उत्पन्न नहीं होता है, क्योंकि वहाँ साधक प्रमाण ही रहते हैं। वहाँ यह स्पष्ट-

---

1 द 'विश्वरूपं परमब्रह्मान्तस्तत्त्वं'। 2 द 'तद्'।

1 मु 'द्धेः'। 2 द 'अन्यथा' इति पाठो नास्ति।

दृष्टोऽर्थोऽर्थक्रियाकारित्वात्, तस्य मिथ्यात्वेऽर्थक्रियाकारित्वविरोधात्, इन्द्रजालादिपरिदृष्टार्थवदिति। न च भ्रान्तेतरव्यवस्थायां चाण्डालादयोऽपि विप्रतिपद्यन्ते। तथा चोक्तमकलङ्कदेवैः—

"इन्द्रजालादिषु भ्रान्तमीरयन्ति न चापरम्।
अपि चाण्डाल-गोपाल-बाल-लोलविलोचनाः।" [न्यायविनि० का० ५१] इति।

§ २३८. किञ्च, तत् प्रतिभासमात्रं सामान्यरूपं द्रव्यरूपं[1] वा? प्रथमपक्षे सत्तामात्रमेव स्यात्, तस्यैव परसामान्यरूपतया प्रतिष्ठानात्। तस्य स्वयं प्रतिभासमानत्वे प्रतिभासमात्रमेव तत्त्वम्, अन्यथा तदव्यवस्थितेरिति चेत्, न, सत्सदित्यन्वयज्ञानविषयत्वात्सत्तासामान्यस्य व्यवस्थितेः स्वयं प्रतिभासमानत्वासिद्धेः। 'सत्ता प्रतिभासते' इति तु विषये विषयिधर्मस्योपचारात्। प्रतिभासनं हि विषयिणो ज्ञानस्य धर्मः स विषये सत्तासामान्येऽध्यारोप्यते। तदध्यारोपनिमित्तं तु प्रतिभासनक्रियाधिकरणत्वम्। यथैव हि 'संवित् प्रतिभासते' इति कर्तृस्था प्रतिभासनक्रिया

तया प्रतीति होती है कि 'मैंने उस समय पदार्थ अच्छी तरह देखा, क्योंकि वह अर्थक्रियाकारी है। यदि वह मिथ्या हो तो उससे अर्थक्रिया नहीं होसकती, जैसे इन्द्रजाल आदिमें देखा गया पदार्थ।' दूसरे, अमुक भ्रान्त (मिथ्या) है और अमुक अभ्रान्त (सत्य) है इस प्रकारकी व्यवस्थामें तो चाण्डालादिकोंको भी विवाद नहीं है—वे भी स्वप्नादि प्रतिभासविशेषोंको मिथ्या और जागरणदशामें होनेवाले प्रतिभासविशेषोंको सच स्वीकार करते हैं। अत एव अकलङ्कदेवने कहा है—

"विद्वानोंको जाने दीजिये, जो विद्वान् नहीं हैं ऐसे चाण्डाल, ग्वाल, बच्चे और स्त्रियाँ भी इन्द्रजालादिकोंमें देखे गये अर्थको भ्रान्त बतलाते हैं, अभ्रान्त नहीं।" [न्यायविनिश्चय का० ५१]।

और भी हम पूछते हैं कि प्रतिभाससामान्य सामान्यरूप है अथवा द्रव्यरूप? यदि पहला पक्ष स्वीकार करें तो वह सत्तारूप ही है, क्योंकि प्रतिभाससामान्य ही परसामान्यरूपसे व्यवस्थित है। तात्पर्य यह प्रतिभाससामान्य ही सत्ता या परसामान्यरूप है और सामान्य विना विशेषोंके बन नहीं सकता। अत एव द्वैतका प्रसङ्ग प्राप्त होता है।

वेदान्ती—यदि वह सत्तासामान्य स्वयं प्रतिभासमान है तो प्रतिभासमात्र ही तत्त्व है। और अगर स्वयं प्रतिभासमान नहीं है तो उसकी व्यवस्था नहीं हो सकती है?

जैन—नहीं, 'सत् सत्' इस प्रकारके अन्वयज्ञानका जो विषय है वह सत्तासामान्य है। अत एव सत्तासामान्यकी अन्वयज्ञानसे व्यवस्था होनेसे वह स्वयं प्रतिभासमान असिद्ध है। 'सत्ता प्रतिभासित होती है' ऐसा ज्ञान तो विषयमें विषयीधर्मका उपचार होनेसे होता है। स्पष्ट है कि विषयी ज्ञान है और उसका धर्म प्रतिभासन है वह विषय-सत्तासामान्यमें अध्यारोपित किया जाता है। और उस अध्यारोपमें निमित्तकारण प्रतिभासनक्रियाका अधिकरणपना है। तात्पर्य यह कि चूँकि प्रतिभासनक्रियाका अधिकरण सत्तासामान्य है, इसलिये उसमें ज्ञानके धर्म प्रतिभासनका अध्यारोप होता है। प्रकट है कि जिस प्रकार 'ज्ञान प्रतिभासित होता है' यहाँ प्रतिभासन क्रिया कर्तृस्थ

1 द 'विशेषरूपम्'।

तथा तद्विषयस्थाऽप्युपचर्य्यते सकर्मकस्य धातोः कर्तृकर्मस्थक्रियार्थत्वात्, यथौदनं पचतीति पचनक्रिया पाचकस्था पच्यमानस्था[1] च प्रतीयते। तद्वदकर्मकस्य धातोः कर्तृस्थक्रियामात्रार्थत्वात्, परमार्थतः कर्मस्थक्रियाऽसम्भवात्कर्तृस्था क्रिया कर्मण्युपचर्य्यते।

§ २३९. ननु च सति मुख्ये स्वयं प्रतिभासने[2] कस्यचित्प्रमाणतः सिद्धे परत्र तद्विषये तदुपचारकल्पना युक्ता, यथाऽग्नौ दाहपाकाद्यर्थक्रियाकारिणि तद्धर्मदर्शनान्माणवके तदुपचारकल्पना 'अग्निर्माणवकः' इति। न च किञ्चित्संवेदनं स्वयं प्रतिभासमानं सिद्धम्, संवेदनान्तरसंवेद्यत्वात्संवेदनस्य क्वचिदवस्थानाभावात्। सुदूरमपि गत्वा कस्यचित्संवेदनस्य स्वयं प्रतिभासमानस्यानभ्युपगमात् कथं तद्धर्मस्योपचारस्तद्विषये घटेतेति कश्चित्; सोऽपि ज्ञानान्तरवेद्यज्ञानवादिनमुपालभतां परोक्षज्ञानवादिनं वा।

§ २४०. ननु च परोक्षज्ञानवादो भट्टस्तावन्नोपलम्भार्हः स्वयं प्रतिभासमानस्यात्मनस्तेनाभ्युपगमात्, तद्धर्मस्य प्रतिभासनस्य[3] विषयेषूपचारघटनात्। घटः प्रतिभासते, पटादयः प्रतिभासन्त इति घटपटादिप्रतिभासनान्यथानुपपत्त्या च करणभूतस्य परोक्षस्यापि ज्ञानस्य प्रतिपत्तेरविरोधात्, रूपप्र-

(कर्तामें स्थित) है उसी प्रकार वह उपचारसे ज्ञानके विषयभूत पदार्थमें स्थित भी मानी जाती है, क्योंकि सकर्मक धातुका कर्ता और कर्म दोनोंमें स्थित क्रिया अर्थ होता है। जैसे, 'भात पकता (बनता) है' यहाँ पकना-क्रिया पकानेवाले और पकनेवाले दोनोंमें स्थित प्रतीत होती है। इसी प्रकार अकर्मक धातुका कर्तामें स्थित क्रियामात्र ही अर्थ है। वास्तवमें वहाँ कर्मस्थ क्रियाका अभाव है और इसलिये कर्तामें स्थित क्रिया कर्ममें उपचारसे मानी जाती है।

§ २३९. वेदान्ती—किसी ज्ञानके प्रमाणसे मुख्य स्वयं प्रतिभासन सिद्ध होनेपर ही अन्यत्र ज्ञानके विषयभूत पदार्थमें प्रतिभासनके उपचारकी कल्पना करना युक्त है। जैसे, जलाना, पकाना आदि अर्थक्रिया करनेवाली अग्निमें अग्निके जलाना आदि धर्मको देखकर बच्चेमें उस धर्मके उपचारकी कल्पना की जाती है कि 'बच्चा अग्नि है अर्थात् अग्नि हो रहा है'। लेकिन कोई ज्ञान स्वयं प्रतिभासमान सिद्ध नहीं है, क्योंकि दूसरे ज्ञानसे ज्ञान जाना जाता है और इसलिये कहीं अवस्थान नहीं है। बहुत दूर जाकरके भी किसी ज्ञानको आपने स्वयं प्रतिभासमान स्वीकार नहीं किया है। ऐसी हालतमें ज्ञानके धर्मका उसके विषयमें कैसे उपचार बन सकता है?

जैन—आप यह दोष तो उन्हें दें जो ज्ञानका दूसरे ज्ञानसे वेदन मानते हैं अथवा ज्ञानको परोक्ष मानते हैं। अर्थात् ज्ञानान्तरवेद्यज्ञानवादी नैयायिक तथा वैशेषिक और परोक्षज्ञानवादी भाट्ट तथा प्रभाकर ही दोषयोग्य हैं। हम नहीं, क्योंकि ज्ञानको हम स्वसंवेदी ही मानते हैं, अस्वसंवेदी नहीं।

भाट्ट—हम परोक्षज्ञानवादी तो दोषयोग्य नहीं हैं, क्योंकि हमने स्वयं प्रतिभासमान आत्माको स्वीकार किया है। अतः उसके धर्म प्रतिभासनका विषयोंमें उपचार बन जाता है। और 'घट प्रतिभासित होता है, पटादिक प्रतिभासमान होते हैं' यह घटपटादिकका प्रतिभासन ज्ञानके बिना नहीं हो सकता है, अतएव करणभूत परोक्ष भी ज्ञानको प्रति-

1 मु स 'पाच्यमानस्था'। 2 मु स 'प्रतिभासमाने'। 3 मुक स 'प्रतिभासमानस्य', द प्रतौ च त्रुटितो पाठो विद्यते।

तिभासनाच्चक्षुःप्रतिपत्तिवत् । तथा करणज्ञानमात्मानं चाप्रत्यक्षं वदन् [1]प्रभाकरोऽपि नोपालम्भमर्हति फलज्ञानस्य स्वयं प्रतिभासमानस्य तेन प्रतिज्ञानात् तद्धर्मस्य विषयेषूपचारस्य सिद्धेः । फलज्ञानं च कर्तृकरणाभ्यां विना नोपपद्यत इति तदेव कर्त्तारं करणज्ञानं चाप्रत्यक्षमपि व्यवस्थापयति, यथा रूपप्रतिभासनक्रिया फलरूपा चक्षुष्मन्तं चक्षुश्च प्रत्यापयतीति केचिन्मन्यन्ते, तेषामपि भट्टमतानुसारिणामात्मनः स्वरूपपरिच्छेदेऽर्थपरिच्छेदस्यापि सिद्धेः स्वार्थपरिच्छेदकपुरुषप्रसिद्धौ ततोऽन्यस्य परोक्षज्ञानस्य कल्पना न किञ्चिदर्थं पुष्णाति । प्रभाकरमतानुसारिणां फलज्ञानस्य स्वार्थपरिच्छित्तिरूपस्य प्रसिद्धौ करणज्ञानकल्पनावत् । कर्त्तुः करणमन्तरेण क्रियायां व्यापारानुपपत्तेः परोक्षज्ञानस्य करणस्य कल्पना नानर्थिकेति चेत्, न, मनसश्चक्षुरादेश्चान्तर्बहिः करणस्य परिच्छित्तौ[2] सद्भावात्ततो बहिर्भूतस्य करणान्तरस्य कल्पनायामनवस्थाप्रसङ्गात् । ततः स्वार्थपरिच्छेदकस्य पुंसः फलज्ञानस्य वा स्वार्थपरिच्छित्तिस्वभावस्य प्रसिद्धौ स्याद्वादिदर्शनस्यैव प्रसिद्धेः । स्वयं प्रतिभासमानस्यात्मनो ज्ञानस्य वा धर्मः क्वचित्तद्विषये कथञ्चिदुपचर्य्यत इति । सत्तासामान्यं

पत्ति विरुद्ध नहीं है—वह हो जाती है, जैसे रूपज्ञानसे चक्षुका ज्ञान ।

प्राभाकर—हम भी दोषयोग्य नहीं हैं क्योंकि यद्यपि हम करणज्ञानको और आत्माको परोक्ष मानते हैं लेकिन स्वयं प्रतिभासमान फलज्ञान हमने स्वीकार किया है और इसलिये उसके धर्मप्रतिभासनका उपचार उपपन्न हो जाता है । और चूँकि फलज्ञान कर्ता तथा करणज्ञानके बिना बन नहीं सकता है इसलिये वह फलज्ञान ही परोक्ष कर्ता और करणज्ञानको व्यवस्थापित करता है, जैसे रूपकी प्रतिभासनक्रिया, जो कि फलरूप है, चक्षुवालेका और चक्षुका ज्ञान कराती है ।

जैन—आप दोनोंकी मान्यताएँ भी ठीक नहीं हैं, क्योंकि आप भाट्ट लोग जब आत्माको स्वरूपपरिच्छेदक स्वीकार करते हैं तो वही अर्थपरिच्छेदक भी सिद्ध होजाता है और इस तरह आत्माके स्वार्थपरिच्छेदक सिद्ध हो जानेपर उससे भिन्न परोक्षज्ञानकी मान्यता कोई प्रयोजन पुष्ट नहीं करती अर्थात् उससे कोई मतलब सिद्ध नहीं होता । इसी प्रकार प्राभाकरोंका फलज्ञान जब स्वार्थपरिच्छेदक प्रसिद्ध है तो उससे भिन्न परोक्ष करणज्ञानकी कल्पना करना निरर्थक है ।

भाट्ट और प्राभाकर—बात यह है कि कर्ताका करणके बिना क्रियामें व्यापार नहीं होसकता है, इसलिये करणरूप परोक्षज्ञानकी कल्पना निरर्थक नहीं है ।

जैन—नहीं, क्योंकि जब मन और चक्षुरादिक इन्द्रियां भीतरी और बाहिरी करण-ज्ञान करनेमें मौजूद हैं तो उनसे भिन्न अन्य करणकी कल्पना करनेमें अनवस्था आती है । तात्पर्य यह कि सुखदुःखादिका ज्ञान अन्तरंग करण मनसे हो जाता है और बाह्य पदार्थोंका ज्ञान बाह्य करण चक्षुरादिक इन्द्रियोंसे हो जाता है । अतः स्वार्थपरिच्छित्तिमें ये दो ही करण पर्याप्त हैं, अन्य नहीं । अतः स्वर्थपरिच्छेदक आत्मा अथवा स्वार्थपरिच्छेदक फलज्ञानके प्रसिद्ध हो जानेपर हमारे स्याद्वाददर्शनकी ही सिद्धि होती है और इसलिये स्वयं प्रतिभासमान आत्मा अथवा ज्ञानके धर्मका किसी ज्ञानके विषयमें कथंचित् उपचार बन जाता है । अतएव 'सत्तासामान्य प्रतिभासित होता है' अर्थात् 'प्रतिभासका

1 मु । 2 प्राप्तप्रतिषु 'बहिःपरिच्छित्तौ करणस्य इति पाठः ।

प्रतिभासते प्रतिभासविषयो भवतीति उच्यते । न चैवं प्रतिभासमात्रे तस्यानुप्रवेशः सिद्ध्येत्, परमार्थतः संवेदनस्यैव स्वयं प्रतिभासमानत्वात् ।

§ १४१. स्यान्मतम्— न सत्तासामान्यं प्रतिभासमात्रम्, तस्य द्रव्यादिमात्रव्यापकत्वात्सामान्यादिषु प्रागभावादिषु चाभावात् । किं तर्हि ? सकलभावाभावव्यापकप्रतिभाससामान्यं प्रतिभासमात्रमभिधीयते इति; तदपि न सम्यक्; प्रतिभाससामान्यस्य प्रतिभासविशेषनान्तरीयकत्वात्प्रतिभासाद्वैतविरोधात्, सन्तोऽपि प्रतिभासविशेषाः सत्यतां न प्रतिपद्यन्ते, संवादकत्वाभावात्, स्वप्नादिप्रतिभासविशेषवत्, इति चेत्; न; प्रतिभाससामान्यस्याप्यसत्यत्वप्रसङ्गात् । शक्यं हि वक्तुं प्रतिभाससामान्यमसत्यम्, विसंवादकत्वात्, स्वप्नादिप्रतिभाससामान्यवदिति । न हि स्वप्नादिप्रतिभासविशेषा एव विसंवादिनो न पुनः प्रतिभाससामान्यं तद्व्यापकमिति वक्तुं युक्तम्, शशविषाण-गगनकुसुम-कूर्मरोमादीनामसत्त्वेऽपि तद्व्यापकसामान्यस्य सत्त्वप्रसङ्गात् । कथमसतां व्यापकं किञ्चित्स[1]त्स्यादिति चेत्, कथमसत्यानां प्रतिभासविशेषाणां व्यापकं प्रतिभाससामान्यं

विषय होता है' यह कहा जाता है । और इससे उसका प्रतिभासमात्रमें प्रवेश सिद्ध नहीं होता, क्योंकि परमार्थत संवेदन (ज्ञान) ही स्वयं प्रतिभासमान है ।

§ २४१. वेदान्ती—सत्तासामान्यरूप प्रतिभासमात्र नहीं है, क्योंकि वह केवल द्रव्यादिकोंमें रहता है, सामान्यादिकों और प्रागभावादिकोंमें नहीं रहता है । फिर वह किसरूप है ? यह प्रश्न किया जाय तो उसका उत्तर यह है कि समस्त भाव और अभावमें रहनेवाले प्रतिभाससामान्यको हम प्रतिभासमात्र कहते हैं अर्थात् प्रतिभासमात्र प्रतिभाससामान्यरूप है ।

जैन—आपका यह कथन भी सम्यक् नहीं है, क्योंकि प्रतिभाससामान्य प्रतिभासविशेषोंका अविनाभावी है—वह उनके बिना नहीं होसकता है और इसलिये प्रतिभाससामान्य और प्रतिभासविशेष इन दोके सिद्ध होनेसे आपका प्रतिभासाद्वैत (प्रतिभाससामान्याद्वैत) नहीं बन सकता है—उसके विरोधका प्रसंग आता है ।

वेदान्ती—प्रतिभासविशेष हैं तो, पर वे सत्य नहीं हैं क्योंकि उनमें संवादकता—प्रमाणता नहीं है, जैसे स्वप्नादिप्रतिभासविशेष ?

जैन—नहीं, क्योंकि इस तरह तो प्रतिभाससामान्य भी सत्य नहीं ठहरेगा । हम कह सकते हैं कि प्रतिभाससामान्य असत्य है क्योंकि विसंवादी है—अप्रमाण है, जैसे स्वप्नादिप्रतिभाससामान्य । यह नहीं कहा जासकता कि स्वप्नादिप्रतिभासविशेष ही विसंवादी हैं, उनमें व्याप्त होनेवाला प्रतिभाससामान्य नहीं, अन्यथा खरविषाण, आकाशफूल, कछुएके रोम आदिका अभाव होनेपर भी उनमें व्यापक सामान्यके सद्भावका प्रसंग आवेगा ।

वेदान्ती—खरविषाण आदि असत् हैं, अतः उनका व्यापक कोई सत् कैसे होसकता है ? अर्थात् खरविषाणादिक अविद्यमान होनेसे उनके व्यापक सामान्यके सद्भावका प्रसंग नहीं आता ?

जैन—तो असत्य प्रतिभासविशेषोंमें व्यापक (रहनेवाला) प्रतिभाससामान्य

1 द 'सत्यं' ।

सत्यम् ? इति समो वितर्कः । तस्य सर्वत्र सर्वदा सर्वथा चाऽविच्छेदात्सत्यं तदिति चेत्, नैवम्, देशकालाकारविशिष्टस्यैव तस्य सत्यत्वसिद्धेः सर्वदेशविशेषरहितस्य सर्वकालविशेषरहितस्य सर्वाकारविशेषरहितस्य च सर्वत्र सर्वदा सर्वथेति विशेषयितुमशक्तेः । तथा च प्रतिभाससामान्यं सकलदेशकालाकारविशेषविशिष्टमभ्युपगच्छन्नेव वेदान्तवादी स्वयमेकद्रव्यमनन्तपर्यायं पारमार्थिकमिति प्रतिपत्तुमर्हति प्रमाणबलायातत्वात् । तदेवास्तु परमपुरुषस्यैव बोधमयप्रकाशविशदस्य मोहान्धकारापहस्यान्तर्यामिनः सुनिर्णीतत्वात् । तत्र संशयानां प्रतिघातात्सकललोकोद्योतनसमर्थस्य तेजोनिधेरंशुमालिनोऽपि तस्मिन्सत्येव प्रतिभासनात्, असति चाप्रतिभासनादिति कश्चित् । तदुक्तम्—

"यो लोकान् ज्वलयत्यनल्पमहिमा सोऽप्येष तेजोनिधि-
र्यस्मिन्सत्यवभाति नासति पुनर्देवोंऽशुमाली स्वयम् ।
तस्मिन्बोधमयप्रकाशविशदे मोहान्धकारापहे-
येऽन्तर्यामिनि पूरुषे प्रतिहताः संशेरते ते हताः ॥" [ ] इति ।

सत्य कैसे है ? यह प्रश्न तो दोनोंके लिये समान है । तात्पर्य यह कि जब प्रतिभासविशेष असत्य हैं तो उनमें रहनेवाला प्रतिभाससामान्य भी असत्य ठहरेगा—वह भी सत्य नहीं होसकता ।

वेदान्ती—बात यह है कि प्रतिभाससामान्यका सब जगह, सब कालमें और सब आकारोंमें अविच्छेद है—विच्छेद नहीं है । अतएव वह सत्य है ?

जैन—नहीं, क्योंकि देश, काल और आकारसे विशिष्ट ही प्रतिभाससामान्य सत्य सिद्ध होता है, इसलिये यदि वह समस्त देशविशेषोंसे रहित है, समस्त कालविशेषोंसे रहित है और समस्त आकारविशेषोंसे रहित है तो उसके साथ 'सब जगह, सब कालोंमें और सब आकारोंमें' ये विशेषण नहीं लगाये जासकते हैं । तात्पर्य यह कि यदि वास्तवमें प्रतिभाससामान्य देशादिविशेषोंसे रहित है तो वह 'सब जगह अविच्छिन्न है, सब कालोंमें अविच्छिन्न है और सब आकारोंमें अविच्छिन्न है' ऐसा नहीं कहा जासकता है । और चूँकि आप लोग उसे समस्त देश, काल और आकारविशेषोंसे विशिष्ट स्वीकार करते हैं, इसलिये स्वयं एकद्रव्य और अनन्तपर्यायरूप वास्तविक प्रतिभाससामान्य स्वीकार करना उचित है क्योंकि वह प्रमाणसे वैसा सिद्ध होता है ।

वेदान्ती—ठीक है, एकद्रव्य और अनन्तपर्यायरूप प्रतिभाससामान्य हमें स्वीकार है क्योंकि परमपुरुष ही ज्ञानात्मक प्रकाशसे निर्मल, मोहरूपी अन्धकारसे रहित और अन्तर्यामी (सर्वज्ञ) निर्णीत होता है । उसमें सन्देहोंका अभाव है । जो लोकका प्रकाश करनेमें समर्थ एवं तेजोनिधि सूर्य है वह भी परमपुरुषके होनेपर ही पदार्थोंका प्रकाशन करता है और उसके अभावमें प्रकाशन नहीं करता है । कहा भी है—

"जो लोकोंका प्रकाश करनेवाला सूर्य है वह भी यही महामहिमाशाली एवं प्रकाशपुञ्ज परमपुरुष है क्योंकि प्रसिद्ध अंशुमालीदेव—सूर्य परमपुरुषके होनेपर ही लोकोंको प्रकाशित करता है और उसके न होनेपर वह स्वयं प्रकाशित नहीं करता है । अतः जो व्यक्ति ऐसे उस ज्ञानमय प्रकाशसे निर्मल, मोहान्धकारसे रहित, अन्तर्यामी परमपुरुषमें सन्दिग्ध होते हैं वे नाशको प्राप्त होते हैं ।" [ ] ।

§ २४२. तदेतदपि[1] न पुरुषाद्वैतव्यवस्थापनपरमाभासते, तस्यान्तर्यामिनः पुरुषस्य बोधमयप्रकाशविशदस्यैव बोध्यमयप्रकाश्यस्यासम्भवाऽनुपपत्तेः । यदि पुनः सर्वं बोध्यं बोधमयमेव प्रकाशमानत्वात्, बोधस्वात्मवदिति मन्यते, तदा बोधस्यापि बोध्यमयत्वापत्तिरिति पुरुषाद्वैतमिच्छतो बोध्याद्वैतसिद्धिः । बोधाभावे कथं बोध्यसिद्धिरिति चेत्, बोध्याभावेऽपि[2] बोधसिद्धिः कथम् ? बोध्यनान्तरीयकत्वाद्बोधस्य । स्वप्नेन्द्रजालादिषु बोध्याभावेऽपि बोधसिद्धेर्न बोध्यनान्तरीयको बोध इति चेत्, न, तत्रापि बोध्यसामान्यसद्भाव एव बोधोपपत्तेः । न हि संशयस्वप्नादिबोधोऽपि बोध्यसामान्यं व्यभिचरति, बोध्यविशेषेष्वेव तस्य व्यभिचाराद्भ्रान्तत्वसिद्धेः । न च सर्वस्य बोध्यस्य स्वयं प्रकाशमानत्वं[3] सिद्धम्, स्वयं प्रकाशमानबोधविषयतया तस्य तथोपचारात्, स्वयं प्रकाशमानांशुमालिप्रभाभारविषयभूतानां लोकानां प्रकाशमानतोपचारवत्[4] । ततो यथा लोकानां प्रकाश्या-

§ २४२. जैन—आपका यह कथन भी पुरुषाद्वैतका व्यवस्थापक प्रतीत नहीं होता, क्योंकि ज्ञानमय प्रकाशसे निर्मल, सर्वज्ञ, परमपुरुष ही ज्ञेयमय प्रकाश्य सम्भव नहीं है—ज्ञानरूप प्रकाशसे प्रकाशित होनेवाला ज्ञेयरूप प्रकाश्य भिन्न ही होता है और इसलिये केवल अद्वैत परमपुरुष सिद्ध नहीं होता, प्रकाश और प्रकाश्य ये दो सिद्ध होते हैं ।

वेदान्ती—समस्त बोध्य (ज्ञेय) को हम ज्ञानरूप ही मानते हैं क्योंकि वह प्रकाशमान है, जैसे ज्ञानका अपना स्वरूप ?

जैन—तो ज्ञान भी ज्ञेयरूप प्राप्त होगा और उस हालतमें पुरुषाद्वैतको चाहनेवाले आपके यहाँ ज्ञेयाद्वैत सिद्ध हो जायगा ।

वेदान्ती—ज्ञानके अभावमें ज्ञेय कैसे सिद्ध होसकता है ?

जैन—ज्ञेयके अभावमें भी ज्ञान कैसे सिद्ध होसकता है ? क्योंकि ज्ञान ज्ञेयका अविनाभावी है—उसके बिना नहीं होसकता है ।

वेदान्ती—स्वप्न, इन्द्रजाल आदिमें ज्ञेयके बिना भी ज्ञान देखा जाता है । अतः ज्ञान ज्ञेयका अविनाभावी नहीं है ?

जैन—नहीं, वहाँ भी ज्ञेयसामान्यके सद्भावमें ही ज्ञान होता है । प्रकट है कि संशयज्ञान, स्वप्नादिज्ञान भी ज्ञेयसामान्यके व्यभिचारी (उसके बिना होनेवाले) नहीं हैं, ज्ञेयविशेषोंमें ही उनका व्यभिचार होनेसे वे भ्रान्त (अप्रमाण) कहे जाते हैं । तात्पर्य यह कि चाहे यथार्थ ज्ञान हो, या चाहे अयथार्थ, सब ही ज्ञान ज्ञेयको लेकर ही होते हैं—ज्ञेयके बिना कोई भी ज्ञान नहीं होता । अतः सिद्ध है कि स्वप्नादिज्ञान भी ज्ञेयके अविनाभावी हैं ।

दूसरे, समस्त ज्ञेय स्वयं प्रकाशमान सिद्ध नहीं हैं, स्वयं प्रकाशमान ज्ञानके विषय होनेसे ही उन्हें उपचारसे प्रकाशमान कह दिया जाता है । जैसे स्वयं प्रकाशमान सूर्यके प्रकाशपुञ्जसे प्रकाशित लोकोंको उपचारसे प्रकाशमान कहा जाता है । अर्थात् सूर्यके प्रकाशमानताधर्मका लोकोंमें उपचार किया जाता है । अतः जिस प्रकार प्रकाशनके

1 मु 'तदपि' । 2 द 'वे' । 3 मु स 'प्रकाशमात्रं' । 4 द 'चारात्' ।

नामभावे न तानंशुमाली ज्वलयितुमलं तथा बोध्यानां नीलसुखादीनामभावे न बोधमयप्रकाशविशदोऽन्तर्यामी तान् प्रकाशयितुमीशः इति प्रतिपत्तव्यम्। तथा चान्तःप्रकाशमानानन्तपर्यायैकपुरुषद्रव्यवत् बहिः प्रकाश्यानन्तपर्यायैकाचेतनद्रव्यमपि प्रतिज्ञातव्यमिति चेतनाचेतनद्रव्यद्वैतसिद्धिः[1] न पुरुषाद्वैतसिद्धिः, संवेदनाद्वैतसिद्धिवत्। चेतनद्रव्यस्य च सामान्यादेशादेकत्वेऽपि विशेषादनेकत्वम्, संसारिमुक्तविकल्पात्। सर्वथैकत्वे सकृत्तद्विरोधात्। अचेतनद्रव्यस्य सर्वथैकत्वे मूर्त्तामूर्त्तद्रव्यविरोधवत्[2]। मूर्त्तिमदचेतनद्रव्यं[3] हि पुद्गलद्रव्यमनेकभेदं परमाणुस्कन्धविकल्पात् पृथिव्यादिविकल्पाच्च। धर्माधर्माकाशकालविकल्पममूर्त्तिमद्द्रव्यं चतुर्धा चतुर्विधकार्यविशेषानुमेयमिति द्रव्यस्य षड्विधस्य प्रमाणबलात्तत्त्वार्थालङ्कारे[4] समर्थनात्। तत्पर्यायाणां चातीतानागतवर्त्तमानानन्तार्थव्यञ्जनविकल्पानां सामान्यतः सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणात्परमागमात्प्रसिद्धेः साक्षात्केवलज्ञानविषयत्वाच्च न द्रव्यैकान्तसिद्धिः पर्यायैकान्तसिद्धिर्वा। न चैतेषां सर्वद्रव्यपर्यायाणां केवलज्ञाने प्रतिभासमानानामपि प्रतिभासमात्रान्तःप्रवेशः सिद्ध्येत् विषयविषयिभेदाऽभावे सर्वाभावप्रसङ्गात्, निर्विषयस्य प्रतिभासस्यासम्भवान्निःप्रतिभासस्य विषयस्य चा[5]व्यवस्थानात्। तत-

योग्य लोकों (पदार्थों) के अभावमें सूर्य उनको प्रकाशित नहीं कर सकता है उसी प्रकार बोध्यों—जाने जानेवाले नीलसुखादि ज्ञेय पदार्थोंके अभावमें बोधस्वरूप प्रकाशसे निर्मल एवं सर्वज्ञ परमपुरुष उनको प्रकाशित करनेमें समर्थ नहीं है, यह समझना चाहिये। और इसलिये भीतरी प्रकाशमान अनन्त पर्यायवाले एक पुरुषद्रव्यकी तरह बाहिरी प्रकाशित होनेवाला अनन्तपर्यायविशिष्ट एक अचेतन द्रव्य भी स्वीकार करना चाहिये, और इस तरह चेतन तथा अचेतन दो द्रव्योंकी सिद्धि प्राप्त होती है, केवल अद्वैत पुरुष सिद्ध नहीं होता, जैसे संवेदनाद्वैत सिद्ध नहीं होता। तथा चेतनद्रव्य सामान्यकी अपेक्षासे एक होनेपर भी वह विशेषकी अपेक्षासे संसारी और मुक्त इन दो भेदोंको लेकर अनेक है; क्योंकि सर्वथा एक माननेपर एक-साथ संसारी और मुक्त ये भेद नहीं बन सकते हैं। इसी प्रकार अचेतन द्रव्य भी यदि सर्वथा एक हो तो मर्त्तिकद्रव्य और अमूर्त्तिकद्रव्य ये भेद नहीं होसकते हैं। प्रकट है कि मूर्त्तिमान् अचेतनद्रव्य पुद्गलद्रव्य है और वह परमाणु तथा स्कन्ध एवं पृथिवी आदिके भेदसे अनेक प्रकारका है। और अमूर्तिक अचेतनद्रव्य धर्म, अधर्म, आकाश और कालके भेदसे चार तरहका है, जो चार प्रकारके गति-स्थिति-अवकाश-परिणामादि कार्योंसे अनुमानित किया जाता है। इन छहों द्रव्योंका सप्रमाण समर्थन तत्त्वार्थालङ्कार (तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक) में किया गया है। तथा इन द्रव्योंकी भूत, भावी और अनन्त अर्थ तथा व्यञ्जन-पर्यायें सामान्यतः निर्बाध आगमप्रमाणसे प्रसिद्ध हैं और प्रत्यक्षतः केवलज्ञानसे गम्य हैं। अत एव न तो सर्वथा द्रव्यैकान्त सिद्ध होता है और न सर्वथा पर्यायैकान्त। और ये समस्त द्रव्यें तथा पर्यायें केवलज्ञानमें प्रतिभासमान होनेपर भी प्रतिभासमात्रके अन्तर्गत सिद्ध नहीं होसकती हैं; क्योंकि विषय-विषयीका भेद न होनेपर समस्तके अभावका प्रसंग आवेगा। कारण, बिना विषयका कोई प्रतिभास सम्भव नहीं है और बिना प्रतिभासका कोई विषय व्यवस्थित नहीं होता। तात्पर्य

1 द 'द्वैः'। 2 द 'विरोधात्'। 3 द 'दचेतनं', स 'दचेतनं द्रव्यं'। 4 मु 'लंकारैः'। 5 मु 'वा'।

श्चाद्वैतैकान्ते कारकाणां कर्मादीनां क्रियाणां परिस्पन्दलक्षणानां धात्वर्थलक्षणानां च दृष्टो भेदो विरुद्ध्यत एव, तस्य प्रतिभासमानस्यापि प्रतिभासमात्रान्तःप्रवेशाभावात्, स्वयंप्रतिभासमानज्ञानविषयतया प्रतिभासमानतोपचारात् स्वयंप्रतिभास्यमानत्वेन व्यवस्थानात्। न च प्रतिभासमात्रमेव तद्भेदं प्रतिभासं जनयति, तस्य तदन्तःप्रविष्टस्य जन्यत्वविरोधात् प्रतिभासमात्रस्य च जनकत्वायोगात्। "नैकं स्वस्मात्प्रजायते" [आप्तमी.का. २४] इत्यपि सूक्तम्। तथा कर्मद्वैतस्य फलद्वैतस्य लोकद्वैतस्य च विद्याऽविद्याद्वयवद्बन्धमोक्षद्वयवच्च प्रतिभासमानप्रमाणविषयतया[1]प्रतिभासमानस्यापि प्रमेयतया व्यवस्थितेः प्रतिभासमात्रान्तःप्रवेशानुपपत्तेरभावापादनं वेदान्तवादिनामनिष्टं सूक्तमेव समन्तभद्रस्वामिभिः। तथा हेतोरद्वैतसिद्धिर्यदि प्रतिभासमात्रव्यतिरेकिणः प्रतिभासमानादपि [2]यदेष्यते, तदा हेतुसाध्ययोर्द्वैतं स्यादित्यपि सूक्तमेव, पक्षहेतुदृष्टान्तानां कुतश्चित्प्रतिभासमानानामपि प्रतिभासमात्रानुप्रवेशासम्भवात्। एतेन हेतुना विनोपनिषद्वाक्यविशेषात्पुरुषाद्वैतसिद्धौ वाङ्मात्रात्कर्मकाण्डादि[3]प्रतिपादकवाक्यात् द्वैतसिद्धिरपि किं न भवेत्? तस्योपनिषद्वाक्यस्य परमब्रह्मणोऽन्तःप्रवेशासिद्धेः।

यह कि प्रतिभास और विषय दोनों परस्पर सापेक्ष सिद्ध होते हैं। और इसलिये 'सर्वथा अद्वैत एकान्तमें कर्मादिक कारकों और परिस्पन्दात्मक तथा धात्वर्थात्मक क्रियाओंका जो भेद देखनेमें आता है वह विरोधको प्राप्त होता ही है; क्योंकि वह प्रतिभासमान होनेपर भी प्रतिभासमात्रके अन्तर्गत नहीं आसकता है, कारण स्वयं प्रतिभासमान ज्ञानका विषय होनेसे उसमें प्रतिभासमानताका उपचार किया जाता है अर्थात् उपचारसे उसे प्रतिभासमान कह दिया जाता है, स्वयं तो वह प्रतिभास्यरूपसे ही व्यवस्थित होता है। दूसरे, प्रतिभासमात्र ही क्रिया-कारकादिके भेदप्रतिभासको उत्पन्न नहीं कर सकता; क्योंकि क्रिया-कारकादिका भेदप्रतिभास प्रतिभासमात्रके अन्तर्गत होनेसे जन्य नहीं होसकता है और प्रतिभासमात्र उसका जनक नहीं होसकता है। कारण, "जो एक है वह अपनेसे उत्पन्न नहीं होता अर्थात् एक स्वयं ही जन्य और स्वयं ही जनक दोनों नहीं होसकता है" [आप्तमी० का० २४]' यह भी ठीक ही कहा है। तथा दो कर्म, दो फल और दो लोक, विद्या, अविद्या इन दोकी तरह और बन्ध, मोक्ष इन दोकी तरह स्वयं प्रतिभासमान प्रमाणके विषयरूपसे प्रतिभासमान होनेपर भी उनकी प्रमेयरूपसे व्यवस्था है और इसलिये वे प्रतिभासमात्रके अन्तर्गत नहीं आसकते। अतः कर्मादि द्वैतके अभावका प्रसङ्ग, जो वेदान्तियोंके लिये अनिष्ट है—इष्ट नहीं है, समन्तभद्रस्वामीने ठीक ही कहा है। तथा 'यदि प्रतिभासमात्रसे भिन्न प्रतिभासमान हेतुसे भी अद्वैतकी सिद्धि कहें तो हेतु और साध्यकी अपेक्षासे द्वैत प्राप्त होता है।' यह भी ठीक ही कहा गया है; क्योंकि पक्ष, हेतु और दृष्टान्त किसी प्रमाणसे प्रतिभासमान होते हुए भी प्रतिभासमात्रके भीतर प्रविष्ट नहीं होसकते हैं। इसी तरह हेतुके बिना केवल उपनिषद्वाक्यविशेषसे पुरुषाद्वैतकी सिद्धि माननेपर वचनमात्रसे अर्थात् कर्मकाण्डादिके प्रतिपादक वाक्यसे द्वैतकी सिद्धि भी क्यों न हो जाय? क्योंकि वह उपनिषद्वाक्य परमब्रह्मके अन्तर्गत सिद्ध नहीं होता।

1 मु स 'व्यवस्थितेः' इति पाठोऽधिकः। 2 मु स 'यदी'। 3 मु 'कर्मकाण्डप्रति'

§ २४३. एतेन वैशेषिकादिभिः प्रतिज्ञातपदार्थभेदप्रतीत्या पुरुषाद्वैतं बाध्यत एव तद्भेदस्य प्रत्ययविशेषात्प्रतिभासमानस्यापि प्रतिभासमात्रात्मकत्वासिद्धेः कुतः परमपुरुष एव विश्वतत्त्वानां ज्ञाता मोक्षमार्गस्य प्रणेता व्यवतिष्ठते ?

[ईश्वरकपिलसुगतब्रह्मणामाप्तत्वं निराकृत्यार्हतः तत्साधनम्]

§ २४४. तदेवमीश्वर-कपिल-सुगत-ब्रह्मणां विश्वतत्त्वज्ञताऽपायान्निर्वाणमार्गप्रणयनानुपपत्तेः। यस्य विश्वतत्त्वज्ञता कर्मभूभृतां भेतृता मोक्षमार्गप्रणेतृता च प्रमाणबलात्सिद्धा—

सोऽर्हन्नेव मुनीन्द्राणां वन्द्यः समवतिष्ठते ।
तत्सद्भावे प्रमाणस्य निर्बाधस्य विनिश्चयात् ॥८७॥

§ २४५. किं पुनस्तत्प्रमाणमित्याह—

ततोऽन्तरिततत्त्वानि प्रत्यक्षाण्यर्हतोऽञ्जसा ।
प्रमेयत्वाद्यथाऽस्मादृक्प्रत्यक्षार्थाः सुनिश्चिताः ॥ ८८ ॥

§ २४६. कानि पुनरन्तरिततत्त्वानि ? देशाद्यन्तरिततत्त्वानां सत्त्वे प्रमाणाभावात् । न ह्यस्मदादिप्रत्यक्षं तत्र प्रमाणम्, देशकालस्वभावाव्यवहितवस्तुविषयत्वात् । "सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां यद्बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षम्" [मीमांसाद० १-१-४] इति वचनात् । नाप्यनुमानं तत्र प्रमाणम्, तदविनाभाविनो लिङ्गस्याभावात् । नाप्यागमस्तदस्तित्वे प्रमाणम्, तस्यापौरुषेयस्य स्वरूपे एव प्रामाण्यसम्भवात्[1] । पौरुषेयस्यासर्वज्ञप्रणीतस्य प्रामाण्यासम्भवात् । पौरुषेयस्य सर्वज्ञप्रणीतस्य तु सर्वज्ञसाधनात्पूर्वमसिद्धेः । नाप्यर्थापत्तिः देशाद्यन्तरिततत्त्वैर्विनाऽनुपपद्यमानस्य कस्यचिदर्थस्य प्रमाणषट्कप्रसिद्धस्यासम्भवात् । न चोपमानमन्तरिततत्त्वास्तित्वे प्रमाणम्, तत्सदृशस्य कस्यचिदुपमानभूतस्यासिद्धेरुपमेयभूतान्तरिततत्त्ववत् । [2]सदुपलम्भकप्रमाणपञ्चकाभावे च कुतोऽन्तरिततत्त्वानि सिद्ध्येयुः ? यतो धर्म्यसिद्धिर्न भवेत् । धर्मिणश्चासिद्धौ हेतुराश्रयासिद्ध इति केचित्; तेऽत्र न परीक्षकाः; केषाञ्चित्स्फटिकाद्यन्तरितार्थानामस्मदादिप्रत्यक्षतोऽस्तित्वप्रसिद्धेः[3] । परेषां कुड्यादिदेशव्यवहितानामग्न्यादीनां तदविनाभाविनो धूमादिलिङ्गादनुमानात् । कालान्तरितानामपि भविष्यतां वृष्ट्यादीनां विशिष्टमेघोन्नतिदर्शनादस्तित्वसिद्धेः, अतीतानां पावकादीनां भस्मादिविशेषदर्शनात्प्रसिद्धेः । स्वभावान्तरितानां तु करणशक्त्यादीनामर्थापत्त्याऽस्तित्वसिद्धेः । धर्मिणामन्तरिततत्त्वानां प्रसिद्धत्वाद्धेतोश्चाश्रयासिद्धत्वानुपपत्तेः ।

---

§ २४३. इसी प्रकार वैशेषिकों आदिके द्वारा स्वीकार किये गये अनेक पदार्थोंकी प्रतीतिसे पुरुषाद्वैत बाधित होता है, क्योंकि उनके वे पदार्थ ज्ञानविशेषसे प्रतिभासमान होते हुए भी प्रतिभाससमात्ररूप सिद्ध नहीं होते। ऐसी हालतमें परमपुरुष ही सर्वज्ञ और मोक्षमार्गका प्रणेता कैसे व्यवस्थित होता है ? अर्थात् नहीं होता ।

§ २४४. इस प्रकार महेश्वर, कपिल, सुगत और ब्रह्म इनके सर्वज्ञताका अभाव होनेसे मोक्षमार्गका प्रणयन नहीं बनता है। जिसके सर्वज्ञता, कर्मपर्वतोंकी भेतृता और मोक्षमार्गकी प्रतिपादकता प्रमाणसे सिद्ध है—

[अर्हत्सर्वज्ञसिद्धि]

'वह अर्हन्त ही हैं और इसलिये वही मुनीश्वरोंके वन्दनीय प्रसिद्ध होते हैं; क्योंकि अर्हन्तके सद्भावमें निर्बाध प्रमाणका विशिष्ट निश्चय है—अर्थात् उनके सद्भावमें अबाधित और निश्चित प्रमाण हैं।'

§ २४५. वह कौन-सा प्रमाण है ? इस प्रश्नका आगे कारिकाद्वारा उत्तर देते हैं—

'वह प्रमाण अनुमान प्रमाण है वह इस प्रकार है—चूँकि ईश्वरादिक सर्वज्ञ नहीं हैं इसलिये अन्तरित पदार्थ अर्हन्तके परमार्थतः प्रत्यक्ष हैं; क्योंकि प्रमेय हैं। जैसे हमारे सुनिश्चित प्रत्यक्ष पदार्थ। अर्थात् जिस प्रकार हमें अपने प्रत्यक्ष पदार्थोंका निश्चितरूपसे प्रत्यक्ष ज्ञान है उसी प्रकार अर्हन्तको भी अन्तरित पदार्थोंका निश्चितरूपसे प्रत्यक्षज्ञान है।'

§ २४६. शंका—वे अन्तरित पदार्थ कौन हैं ? क्योंकि देशादिसे अन्तरित पदार्थोंके सद्भावमें कोई प्रमाण नहीं हैं। प्रकट है कि हम लोगोंका प्रत्यक्ष तो उसमें प्रमाण नहीं है; क्योंकि वह देश, काल और स्वभावसे व्यवधानरहित वस्तुको विषय करता है। जैसा कि कहा है—"आत्माका इन्द्रियोंके साथ समीचीन सम्बन्ध होनेपर जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष है।" [मी. द. १।१।४]। अनुमान भी उसमें प्रमाण नहीं है, क्योंकि उनका अविनाभावी लिङ्ग नहीं है। आगम भी उनके सद्भावमें प्रमाण नहीं है, क्योंकि जो अपौरुषेय आगम है वह स्वरूपविषयमें ही प्रमाण है। और जो असर्वज्ञ-रचित पौरुषेय आगम है उसके प्रमाणता सम्भव नहीं है। तथा जो सर्वज्ञप्रणीत पौरुषेय आगम है वह सर्वज्ञसिद्धिके पहले सिद्ध नहीं है। अर्थापत्ति भी उनके सद्भावमें प्रमाण नहीं है, क्योंकि देशादिसे अन्तरित पदार्थोंके बिना न होनेवाला छह प्रमाण-सिद्ध कोई पदार्थ नहीं है। उपमान भी अन्तरित पदार्थोंके अस्तित्वमें प्रमाण नहीं है; क्योंकि उनके समान कोई उपमानभूत पदार्थ नहीं है, जैसे उपमेयभूत अन्तरित पदार्थ। इस तरह सत्ता-साधक पाँचों प्रमाणोंके अभावमें अन्तरित पदार्थ कैसे सिद्ध हो सकते हैं ? जिससे धर्मी असिद्ध न हो और चूँकि धर्मी उक्त प्रकारसे असिद्ध है इसलिये हेतु आश्रयासिद्ध है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि स्फटिक आदिसे अन्तरित कितने ही पदार्थोंका सद्भाव हम लोगोंके प्रत्यक्षसे सिद्ध है और दीवाल आदि देशसे व्यवहित अग्नि आदि पदार्थ उनके अविनाभावी धूमादि लिङ्गरूप अनुमानसे सिद्ध हैं। तथा कालसे व्यवहित भावी वर्षा आदि अनेक पदार्थोंका अस्तित्व विशिष्ट मेघोंकी आकाशमें वृद्धिको देखने आदिसे होता है। और जो हो चुके हैं, ऐसे अतीत अग्नि आदि पदार्थ राख वगैरहके देखनेसे प्रसिद्ध हैं तथा स्वभावसे व्यवहित इन्द्रियशक्ति आदि कितने ही पदार्थ अर्थापत्तिसे सिद्ध हैं। इसप्रकार अन्तरित पदार्थरूप धर्मी प्रसिद्ध है और उसके प्रसिद्ध होनेसे हेतु आश्रयासिद्ध नहीं है।

---

1 द 'स्वरूपे प्रामाण्याभावात्', स 'स्वरूपे प्रामाण्यासम्भवात्'। 2 मु 'तदुप'। 3 मु 'सिद्धेः'।

§ २४७. नन्वेवं धर्मिसिद्धावपि हेतोश्चाश्रयासिद्धत्वाभावेऽपि पक्षोऽप्रसिद्धविशेषणः स्यात्, अर्हत्प्रत्यक्षत्वस्य साध्यधर्मस्य क्वचिदप्रसिद्धेरिति न मन्तव्यम्, पुरुषविशेषस्यार्हतः सम्बद्धवर्तमानार्थेषु प्रत्यक्षत्वप्रवृत्तेरविरोधादर्हत्प्रत्यक्ष[त्व]स्य[1] विशेषणस्य सिद्धौ विरोधाभावात्। तद्विरोधे क्वचिज्जैमिन्यादिप्रत्यक्ष[त्व][2] विरोधापत्तेः।

§ २४८. ननु च संवृत्त्याऽन्तरिततत्त्वान्यर्हतः प्रत्यक्षाणीति साधने सिद्धसाधनमेव निपुणप्रज्ञे तथोपचारप्रवृत्तेरनिवारणादित्यपि नाशङ्कनीयम्, अञ्जसेति वचनात्। परमार्थतो ह्यन्तरिततत्त्वानि प्रत्यक्षाण्यर्हतः साध्यन्ते न पुनरुपचारतो यतः सिद्धसाधनमनुमन्यते। तथापि हेतोर्विपक्षेऽपि[3] वृत्तेरनैकान्तिकत्वमित्याशङ्कायामिदमाह—

[हेतोरनैकान्तिकत्वं परिहरति]

हेतोर्न व्यभिचारोऽत्र दूरार्थैर्मन्दरादिभिः।
सूक्ष्मैर्वा परमाण्वाद्यैस्तेषां पक्षीकृतत्वतः ॥८९॥

§ २४७. शंका—उक्त प्रकारसे धर्मी सिद्ध हो भी जाय और हेतु आश्रयासिद्ध भी न हो तथापि पक्ष अप्रसिद्धविशेषण है—पक्षगत विशेषण असिद्ध है क्योंकि 'अर्हन्तकी प्रत्यक्षता' रूप साध्य धर्म कहीं सिद्ध नहीं है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि योग्य पुरुषविशेषका नाम अर्हन्त है और उसके सम्बद्ध एवं वर्तमान पदार्थोंमें प्रत्यक्षताकी प्रवृत्ति विरुद्ध नहीं है अर्थात् कोई योग्य पुरुषविशेष सम्बद्धादि पदार्थोंको प्रत्यक्षसे जानता हुआ सुप्रतीत होता है। और इसलिये 'अर्हन्तकी प्रत्यक्षता' रूप विशेषणके सिद्ध होनेमें कोई विरोध नहीं है। यदि सम्बद्धादि पदार्थोंमें अर्हन्तकी प्रत्यक्षताका विरोध हो तो किसी विषयमें जैमिनि आदिकी प्रत्यक्षताका भी विरोध प्राप्त होगा।

§ २४८. शंका—'अन्तरित पदार्थ अर्हन्तके प्रत्यक्ष हैं' यह यदि उपचारसे सिद्ध करते हैं तो सिद्धसाधन ही है क्योंकि किसी विशेष बुद्धिमान्में वैसी उपचारतः प्रवृत्ति हो तो उसे रोका नहीं जासकता है ?

समाधान—यह शंका भी ठीक नहीं है; क्योंकि 'अञ्जसा'— 'परमार्थतः' ऐसा कहा गया है। स्पष्ट है कि अन्तरित पदार्थ अर्हन्तके परमार्थतः प्रत्यक्ष सिद्ध किये जाते हैं, उपचारसे नहीं, जिससे हेतुको सिद्धसाधन माना जाय।

शंका—पक्ष अप्रसिद्धविशेषण न भी हो तथापि हेतु विपक्षमें रहनेसे अनैकान्तिक (व्यभिचारी) है ?

समाधान—इस शंकाका उत्तर निम्न कारिकाद्वारा कहते हैं—

'मेरु आदि दूरवर्ती पदार्थोंके साथ अथवा परमाणु आदि सूक्ष्म पदार्थोंके साथ हेतु अनैकान्तिक नहीं है; क्योंकि उन्हें भी यहाँ पक्ष बनाया है।'

1, 2 प्राप्तमुद्रितामुद्रितप्रतिषु 'प्रत्यक्षस्य'। 3 मु 'विपक्षवृत्तेः', स 'विपक्षेऽपि प्रवृत्तेः'।

§ २४९. न हि कानिचिद्देशान्तरितानि स्वभावान्तरितानि[1] कालान्तरितानि वा तत्त्वानि पक्षबहिर्भूतानि सन्ति, यतस्तत्र वर्तमानः प्रमेयत्वादिति हेतुर्व्यभिचारी स्यात्, तादृशां सर्वेषां पक्षीकरणात्। तथा हि—

तत्त्वान्यन्तरितानीह देश-काल-स्वभावतः।
धर्मादीनि हि साध्यन्ते प्रत्यक्षाणि जिनेशिनः ॥९०॥

§ २५०. यथैव हि धर्माधर्मतत्त्वानि कानिचिद्देशान्तरितानि देशान्तरितपुरुषाश्रयत्वात्[2], कानिचित्कालान्तरितानि कालान्तरितप्राणिगणाधिकरणत्वात्, कानिचित्स्वभावान्तरितानि देशकालाव्यवहितानामपि तेषां स्वभावतोऽतीन्द्रियत्वात्। तथा हिमवन्मन्दरमकराकरादीन्यपि देशान्तरितानि, नष्टानुत्पन्नानन्तपर्यायतत्त्वानि च कालान्तरितानि, स्वभावान्तरितानि च परमाण्वादीनि, जिनेश्वरस्य प्रत्यक्षाणि साध्यन्ते। न च पक्षीकृतैरेव व्यभिचारोद्भावनं युक्तम्, सर्वस्यानुमानस्य व्यभिचारित्वप्रसङ्गात्।

[दृष्टान्तस्य साध्यसाधनवैकल्यं निराकरोति]

§ २५१. ननु माभूद् व्यभिचारी हेतुः दृष्टान्तस्तु साध्यविकल इत्याशङ्कामपहर्तुमाह—

§ २४९. प्रकट है कि कोई देशव्यवहित, स्वभावव्यवहित या कालव्यवहित पदार्थ पक्षसे बाहर नहीं हैं, जिससे वहाँ प्रवृत्त होता हुआ प्रमेयत्व हेतु अनैकान्तिक होता; क्योंकि उन जैसे सभी पदार्थोंको पक्ष बनाया गया है। यही अगली कारिकामें कहते हैं—

'इस अनुमानमें देश, काल और स्वभावसे अन्तरित धर्मादिक पदार्थ जिनेन्द्रके प्रत्यक्ष सिद्ध किये जाते हैं।'

§ २५०. स्पष्ट है कि जिस प्रकार कोई धर्म और अधर्म आदि तत्त्व देशसे अन्तरित हैं; क्योंकि देशसे अन्तरित पुरुषोंमें वे रहनेवाले हैं। कोई कालसे अन्तरित हैं, क्योंकि कालसे अन्तरित प्राणियोंमें रहनेवाले हैं और कोई स्वभावसे अन्तरित हैं, क्योंकि देश और कालसे अव्यवहित (समीप) होते हुए भी वे स्वभावसे अतीन्द्रिय (इन्द्रियागोचर) हैं। उसी प्रकार हिमवान्, मेरु, समुद्र आदि रूप देशान्तरित और नाश हुईं एवं उत्पन्न न हुईं अनन्त पर्यायें रूप कालान्तरित तथा परमाणु वगैरह स्वभावान्तरित पदार्थ जिनेश्वरके प्रत्यक्ष सिद्ध किये जाते हैं और इसलिये उन (पक्ष किये गयों) से ही हेतुको व्यभिचारी बतलाना युक्त नहीं है। अन्यथा सभी अनुमान व्यभिचारी हो जायेंगे। अर्थात् सभी अनुमानोंके हेतु व्यभिचारी प्राप्त होंगे और इस तरह कोई भी अनुमान नहीं बन सकेगा।

शंका—हेतु व्यभिचारी न हो; लेकिन दृष्टान्त तो साध्यविकल है—दृष्टान्तमें साध्य नहीं रहता है ?

§ २५१. समाधान—इस शंकाका भी समाधान इस प्रकार है—

1 मु 'स्वभावान्तरितानि' नास्ति। 2 द 'पुरुषाप्रत्यक्षत्वात्'।

न चास्मादृक्समक्षाणामेवमर्हत्समक्षता ।
न सिद्ध्येदिति मन्तव्यमविवादाद् द्वयोरपि ॥६१॥

§ २५२. ये ह्यस्मदृशां प्रत्यक्षाः सम्बद्धा वर्त्तमानाश्चार्थाः ते कथमर्हतः पुरुषविशेषस्य प्रत्यक्षा न स्युः, तद्देशकालवर्तिनः पुरुषान्तरस्यापि तदप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात् । ततो स्याद्वादिन इव सर्वज्ञाभाववादिनोऽप्यत्र विवदन्ते । वादिप्रतिवादिनोरविवादाच्च साध्यसाधनधर्मयोर्दृष्टान्ते[1] न साध्यवैकल्यं साधनवैकल्यं वा यतोऽनन्वयो[2] हेतुः स्यात् ।

[पूर्वपक्षपुरस्सरं पक्षस्याप्रसिद्धविशेषणत्वपरिहारः]

§ २५३. नन्वतीन्द्रियप्रत्यक्षतोऽन्तरिततत्त्वानि प्रत्यक्षाण्यर्हतः साध्यन्ते किञ्चेन्द्रियप्रत्यक्षत इति सम्प्रधार्यम् ? प्रथमपक्षे साध्यविकलो दृष्टान्तः स्यात्, अस्मादृक्प्रत्यक्षाणामर्थानामतीन्द्रियप्रत्यक्षतोऽर्हत्प्रत्यक्षत्वासिद्धेः । द्वितीयपक्षे प्रमाणबाधितः पक्षः, इन्द्रियप्रत्यक्षता धर्माधर्मादीनामन्तरिततत्त्वानामर्हत्प्रत्यक्षत्वस्य प्रमाणबाधितत्वात् । तथा हि—'नार्हदिन्द्रियप्रत्यक्षं धर्मादीन्यन्तरिततत्त्वानि साक्षात्कर्त्तुं समर्थम्, इन्द्रियप्रत्यक्षत्वात्, अस्मदादीन्द्रियप्रत्यक्षवत्' इत्यनुमानं पक्षस्य बाधकम् ।

'इस प्रकार हम लोगोंके प्रत्यक्ष अर्थ अर्हन्तके प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं होंगे, यह नहीं समझना चाहिये, क्योंकि उसमें दोनोंको भी विवाद नहीं हैं ।'

§ २५२. स्पष्ट है कि जो पदार्थ हम जैसोंके प्रत्यक्ष हैं, सम्बद्ध हैं और वर्त्तमान हैं वे अर्हन्तके, जो पुरुषविशेष है, प्रत्यक्ष क्यों नहीं होंगे ? अन्यथा उस देश और कालमें रहनेवाले दूसरे पुरुषको भी उनका प्रत्यक्ष नहीं होगा । मतलब यह कि जिन पदार्थोंको हम जैसे साधारण पुरुष भी प्रत्यक्षसे जानते हैं और जो सम्बद्ध तथा मौजूद भी हैं उन पदार्थोंको तो अर्हन्त जानता ही है—वे उसके प्रत्यक्ष हैं ही उसमें किसीको भी विवाद नहीं है, क्योंकि अर्हन्त हम लोगोंकी अपेक्षा विशिष्ट पुरुष है । अतः स्याद्वादियोंकी तरह सर्वज्ञाभाववादी भी उसमें विवाद नहीं करते हैं और और जब वादी तथा प्रतिवादी दोनोंको विवाद नहीं है तो दृष्टान्तमें न साध्यधर्मकी विकलता (अभाव) है और न साधनधर्मकी विकलता है, जिससे हेतु अनन्वय—अन्वयशून्य हो ।

§ २५३. शंका—आप अतीन्द्रियप्रत्यक्षसे अन्तरिततत्त्वोंको अर्हन्तके प्रत्यक्ष सिद्ध करते हैं या इन्द्रियप्रत्यक्षसे ? यह आपको बतलाना चाहिये । यदि पहला पक्ष स्वीकार किया जाय तो दृष्टान्त साध्यविकल है, क्योंकि हम लोगोंके प्रत्यक्षपदार्थोंमें अतीन्द्रियप्रत्यक्षसे अर्हन्तकी प्रत्यक्षता नहीं है । अगर दूसरा पक्ष माना जाय तो पक्ष प्रमाणबाधित है, क्योंकि इन्द्रियप्रत्यक्षसे धर्म और अधर्म आदिक अन्तरित पदार्थोंमें अर्हन्तकी प्रत्यक्षता प्रमाणबाधित है । वह इस तरह है—

'अर्हन्तका इन्द्रियप्रत्यक्ष धर्मादिक अन्तरित पदार्थोंको साक्षात्कार करने (स्पष्ट जानने) में समर्थ नहीं है क्योंकि वह इन्द्रियप्रत्यक्ष है, जैसे हमारा इन्द्रियप्रत्यक्ष' यह अनुमान प्रमाण आपके उक्त पक्षका बाधक है । इस अनुमानमें हमारा हेतु अञ्जन-

1 मुब ' दृष्टान्ते च न' । मुक 'दृष्टान्तेन च न' । 2 मु 'न्वयहेतुः' ।

न चात्र हेतोः साञ्जनचक्षुःप्रत्यक्षेणानैकान्तिकत्वम्, तस्याऽपि धर्माधर्मादिसाक्षात्कारित्वाभावात् । नापीश्वरेन्द्रियप्रत्यक्षेण, तस्यासिद्धत्वात्, स्याद्वादिनामिव मीमांसकानामपि तदप्रसिद्धेरिति च न चोद्यम्, प्रत्यक्षसामान्यतोऽर्हत्प्रत्यक्षत्वसाधनात् । सिद्धे चान्तरिततत्त्वानां सामान्यतोऽर्हत्प्रत्यक्षत्वे धर्मादिसाक्षात्कारिणः प्रत्यक्षस्य सामर्थ्यादतीन्द्रियप्रत्यक्षत्वसिद्धेः । तथा दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्यदोषानवकाशात् । कथमन्यथाऽभिप्रेतानुमानेऽप्ययं दोषो न भवेत् ?

§ २५४. तथा हि—नित्यः शब्दः प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्, पुरुषवदिति । अत्र कूटस्थनित्यत्वं साध्यते कालान्तरस्थायिनित्यत्वं वा ? प्रथमकल्पनायामप्रसिद्धविशेषणः पक्षः, कूटस्थनित्यत्वस्य क्वचिदन्यत्राप्रसिद्धेः, तत्र प्रत्यभिज्ञानस्यैवासम्भवात्पूर्वापरपरिणामशून्यत्वात्प्रत्यभिज्ञानस्य पूर्वोत्तरपरिणामव्यापिन्येकत्र वस्तुनि सद्भावात् । पुरुषे च कूटस्थनित्यत्वस्य साध्यस्याभावात्तस्य सातिशयत्वात्साध्यशून्यो दृष्टान्तः । द्वितीयकल्पनायां तु स्वमतविरोधः, शब्दे कालान्तरस्थायिनित्यत्वस्यानभ्युपगमात् ।

§ २५५. यदि पुनर्नित्यत्वसामान्यं साध्यते सातिशयेतरनित्यत्वविशेषस्य साधयितुमनुपक्रान्त-

युक्त चक्षुःप्रत्यक्षके साथ व्यभिचारी नहीं है, क्योंकि वह भी धर्म-अधर्म आदिको साक्षात्कार नहीं करता है । ईश्वरके इन्द्रियप्रत्यक्षके साथ भी व्यभिचारी नहीं है क्योंकि वह असिद्ध है । स्याद्वादियोंकी तरह मीमांसकोंके यहाँ भी ईश्वरका इन्द्रियप्रत्यक्ष असिद्ध है—वे उसे नहीं मानते हैं ?

समाधान—यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि हम प्रत्यक्षसामान्यसे अन्तरित पदार्थोंको अर्हन्तके प्रत्यक्ष सिद्ध करते हैं और उनके सामान्यसे अर्हन्तकी प्रत्यक्षता सिद्ध हो जानेपर उस (धर्मादिका साक्षात्कार करनेवाले) प्रत्यक्षको सामर्थ्य (अर्थापत्ति-प्रमाण) से अतीन्द्रियप्रत्यक्ष प्रमाणित करते हैं । तथा दृष्टान्तमें साध्यविकलताका दोष भी नहीं आता । अन्यथा आपके इष्ट अनुमानमें भी यह दोष क्यों नहीं आवेगा ? उसमें भी यह दोष आये बिना नहीं रह सकता । सो ही देखिये—

§ २५४. 'शब्द नित्य है क्योंकि वह प्रत्यभिज्ञाका विषय है, जैसे पुरुष (आत्मा) ।' यह शब्दको नित्य सिद्ध करनेके लिये आप (मीमांसकों)का प्रसिद्ध अनुमान है । हम आपसे पूछते हैं कि यहाँ शब्दको कूटस्थ नित्य सिद्ध किया जाता है ? अथवा दूसरे कालतक ठहरनेवाला नित्य ? पहली कल्पना यदि स्वीकार की जाय तो पक्ष अप्रसिद्धविशेषण है, क्योंकि कूटस्थनित्यता किसी दूसरी जगह प्रसिद्ध नहीं है, उसमें प्रत्यभिज्ञान ही सम्भव नहीं है । कारण, कूटस्थनित्य पूर्व और उत्तर परिणामोंसे रहित है और प्रत्यभिज्ञान पूर्व तथा उत्तर परिणामोंमें व्याप्त एक वस्तुमें होता है । तथा पुरुषमें कूटस्थनित्यतारूप साध्यका अभाव है क्योंकि वह सातिशयपरिणामी नित्य है और इसलिये दृष्टान्त साध्यविकल है । अगर दूसरी कल्पना मानी जाय तो आपके मतका विरोध आता है, क्योंकि आप लोगोंने शब्दको दूसरे कालतक ठहरनेवालारूप नित्य स्वीकार नहीं किया है ।

§ २५५. यदि कहा जाय कि शब्दमें नित्यतासामान्य सिद्ध करते हैं, क्योंकि सातिशय-निरतिशय नित्यताविशेषको सिद्ध करना प्रस्तुत नहीं है, तो अन्तरितपदार्थोंमें प्रत्यक्ष-

त्वादिति मतम्, तदाऽन्तरिततत्त्वानां प्रत्यक्षसामान्यतोऽर्हत्प्रत्यक्षतायां साध्यायां न किञ्चिद्दोषमुत्पश्याम इति नाप्रसिद्धविशेषणः पक्षः साध्यशून्यो वा दृष्टान्तः प्रसज्यते ।

[हेतोः स्वरूपासिद्धत्वमुत्सारयति]

§ २५६. साम्प्रतं हेतोः स्वरूपासिद्धत्वं प्रतिषेधयन्नाह—

> न चासिद्धं प्रमेयत्वं कात्स्न्र्यतो भागतोऽपि वा ।
> सर्वथाऽप्यप्रमेयस्य पदार्थस्याव्यवस्थितेः ॥६२॥
> यदि षड्भिः प्रमाणैः स्यात्सर्वज्ञः केन वार्यते ।
> इति ब्रुवन्नशेषार्थप्रमेयत्वमिहेच्छति ॥६३॥
> चोदनातश्च निःशेषपदार्थज्ञानसम्भवे ।
> सिद्धमन्तरितार्थानां प्रमेयत्वं समक्षवत् ॥६४॥

§ २५७. सोऽयं मीमांसकः प्रमाणबलात्सर्वस्यार्थस्य व्यवस्थामभ्युपयन् [1]षड्भिः प्रमाणैः समस्तार्थज्ञानं वाऽनिवारयन् "चोदना[2] हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टमित्येवंजातीयकमर्थमवगमयितुमलम्" [शावरभा० १ । १ । २] इति स्वयं प्रतिपद्यमानः सूक्ष्मान्तरितदूरार्थानां प्रमेयत्वमस्मत्प्रत्यक्षार्थानामिव कथमपह्नुवीत, यतः साकल्येन प्रमेयत्वं पक्षाव्यापकमसिद्धं ब्रूयात् ।

§ २५८. ननु च प्रमातर्यात्मनि करणे च [1]ज्ञाने फले च प्रमितिक्रियालक्षणे प्रमेयत्वासम्भवात्, कर्मतामापन्नेष्वेवार्थेषु प्रमेयेषु भावाद्भागासिद्धं साधनम्, पक्षाव्यापकत्वादिति चेत्; नैतदेवम्; प्रमातुरात्मनः सर्वथाऽप्यप्रमेयत्वे प्रत्यक्षत इवानुमानादपि प्रमीयमाणत्वाभावप्रसङ्गात् । प्रत्यक्षेण हि कर्मतयाऽऽत्मा न प्रतीयते, इति प्रभाकरदर्शनं न पुनः सर्वेणापि प्रमाणेन, तद्व्यवस्थापनविरोधात् । करणज्ञानं च प्रत्यक्षतः कर्मत्वेनाप्रतीयमानमपि घटाद्यर्थपरिच्छित्त्यन्यथानुपपत्त्याऽनुमीयमानं[2] न सर्वथाऽप्यप्रमेयम्; "ज्ञाते त्वनुमानादवगच्छति बुद्धिम्" [शावरभाष्य १–१–५] इति भाष्यकारशावरवचनविरोधात् । फलज्ञानं च प्रमितिलक्षणं स्वसंवेदनप्रत्यक्षमिच्छतः कार्यानुमेयं च कथमप्रमेयं सिद्ध्येत् ।

§ २५९. एतेन करणज्ञानस्य फलज्ञानस्य च परोक्षत्वमिच्छतोऽपि भट्टस्यानुमेयत्वं सिद्धं

सामान्यसे अर्हन्तकी प्रत्यक्षता सिद्ध करनेमें भी हम कोई दोष नहीं पाते हैं और इसलिये पक्ष अप्रसिद्धविशेषण तथा दृष्टान्त साध्यविकल प्रसक्त नहीं होता ।

§ २५६. अब हेतुके स्वरूपासिद्ध दोषका प्रतिषेध करते हुए आचार्य कहते हैं—

'प्रमेयपना हेतु न सम्पूर्णरूपसे असिद्ध है और न एकदेशरूपसे भी असिद्ध है, क्योंकि सर्वथा अप्रमेय कोई भी पदार्थ नहीं है—सभी पदार्थ किसी-न-किसी प्रमाणके विषय होनेसे प्रमेय हैं । "यदि छह प्रमाणोंसे सर्वज्ञ सिद्ध हो तो उसे कौन रोकता है" ऐसा कहनेवाला अशेष पदार्थोंको प्रमेय अवश्य स्वीकार करता है । और वेदसे अशेष पदार्थोंका ज्ञान सम्भव होनेपर अन्तरित पदार्थोंके हमारे प्रत्यक्षपदार्थोंकी तरह प्रमेयपना सिद्ध हो जाता है ।'

§ २५७. मीमांसक प्रमाणसे समस्त अर्थकी व्यवस्था स्वीकार करते हैं, छह प्रमाणोंसे सम्पूर्ण पदार्थोंके ज्ञानको अनिषिद्ध बतलाते हैं, 'वेद निश्चय ही हो गये, हो रहे और आगे होनेवाले, सूक्ष्म, व्यवहित तथा दूरवर्ती इत्यादि तरहके अर्थको जाननेमें समर्थ है' [शावर भा. १।१।२] यह भी मानते हैं फिर वे सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थोंके हमारे प्रत्यक्ष पदार्थोंकी तरह प्रमेयपनाका प्रतिषेध कैसे करते हैं ? जिससे प्रमेयपना हेतुको सम्पूर्णपनेसे पक्षमें अव्यापक बतलाकर असिद्ध कहें । तात्पर्य यह कि मीमांसक जब यह स्वीकार करते हैं कि समस्त पदार्थ प्रमाणसे व्यवस्थित हैं और उनका वेदके द्वारा ज्ञान होता है तो वे यह नहीं कह सकते कि सूक्ष्मादि पदार्थोंमें प्रमेयपना हेतु असिद्ध है—प्रमाणसे उनको व्यवस्था करनेपर अथवा वेदद्वारा उनका ज्ञान माननेपर उनमें प्रमेयपना स्वतः सिद्ध होजाता है, अतः प्रमेयपनाहेतु पक्षाव्यापकरूप असिद्ध नहीं है ।

§ २५८. शंका—प्रमाता—आत्मामें, करण—ज्ञानमें और फल—ज्ञानमें, जो प्रमितिक्रिया रूप है, प्रमेयपना सम्भव नहीं है; क्योंकि कर्मरूप प्रमेयपदार्थोंमें ही प्रमेयपना है—वे ही प्रमाणके विषय हैं और इसलिये प्रमेयपना हेतु भागासिद्ध है, क्योंकि वह पूरे पक्षमें नहीं रहता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि प्रमाता—आत्मा यदि सर्वथा अप्रमेय हो—किसी भी तरहसे वह प्रमेय न हो तो प्रत्यक्षकी तरह अनुमानसे भी वह प्रमित नहीं होसकेगा अर्थात् जाना नहीं जासकेगा । प्रकट है कि प्रत्यक्षद्वारा कर्मरूपसे आत्मा प्रतीत नहीं होता, यह प्रभाकरका दर्शन है, न कि सब प्रमाणोंसे भी वह प्रतीत नहीं होता, यह उसका दर्शन है, अन्यथा आत्माकी व्यवस्था नहीं बन सकेगी । इसी तरह करणज्ञान प्रत्यक्षसे कर्मरूपसे प्रतीत न होनेपर भी 'घटादि पदार्थोंकी ज्ञप्ति उसके बिना नहीं होसकती है' इस अनुमानसे वह अनुमित (ज्ञात) होता है और इसलिये सर्वथा वह भी अप्रमेय नहीं है, अन्यथा "[1]ज्ञात होकर प्रमाता ज्ञातता-अनुमानसे बुद्धि (करणज्ञान) को जानता है' [शावरभा. १।१।५] इस भाष्यकार शबरके वचनका विरोध आवेगा तथा प्रमितिरूप फलज्ञानको प्रभाकर स्वसंवेदन प्रत्यक्ष और अर्थक्रियारूप अनुमानसे गम्य मानते हैं और इस लिये वह भी अप्रमेय कैसे रह सकता है ? तात्पर्य यह कि प्रमाता-आत्मा, प्रमिति-फलज्ञान और करणज्ञान ये तीनों भी प्रमाणके विषय होनेसे प्रमेय हैं । अतः उनमें प्रमेयपना हेतु भागासिद्ध नहीं है—वह उनमें भी रहता है ।

§ २५९. इस कथनसे करणज्ञान और फलज्ञानको परोक्ष माननेवाले भट्टके भी

---

1 'षड्भिः प्रमाणैः समस्तार्थज्ञानं वाऽनिवारयन्' इति द प्रतौ नास्ति । 2 मु प स 'चोदनातो' ।

1 'ज्ञाने फले च' इति द प्रतौ नास्ति । 2 द 'मानेन सर्वथाऽस्य प्रमेयत्वं ज्ञानत्वे' इति पाठः ।

१ भाट्ट और प्रभाकर करणरूप ज्ञानको परोक्ष मानते हैं और उससे उत्पन्न प्रत्यक्षात्मक ज्ञाततासे उसका अनुमान करते हैं ।

बोद्धव्यम्, घटाद्यर्थप्राकट्ये नानुमीयमानस्य सर्वस्य ज्ञानस्य कथञ्चित्प्रमेयत्वसिद्धेः। ततो नान्तरिततत्त्वेषु धर्मिषु प्रमेयत्वं साधनमसिद्धम्, वादिन इव प्रतिवादिनोऽपि कथञ्चित्तत्र प्रमेयत्वसिद्धेः सन्दिग्धव्यतिरेकमप्येतन्न भवतीत्याह—

यन्नार्हतः समक्षं तन्न प्रमेयं बहिर्गतः।
मिथ्यैकान्तो यथेत्येवं व्यतिरेकोऽपि निश्चितः॥ ९५॥

§ २६०. मिथ्यैकान्तज्ञानानि हि निःशेषाण्यपि परमागमानुमानाभ्यामस्मदादीनां प्रमेयाणि च प्रत्यक्षाणि चार्हत इति न विपक्षतां भजन्ते तद्विषयास्तु परैरभिमन्यमानाः सर्वथैकान्ता निरन्वयक्षणिकत्वादयो नार्हत्प्रत्यक्षा इति ते विपक्षा एव। न च[1] ते कुतश्चित्प्रमाणात्प्रमीयन्त इति न प्रमेयाः, तेषामसत्त्वात्। ततो ये नार्हतः प्रत्यक्षास्ते न प्रमेयाः, यथा सर्वथैकान्तज्ञानविषया इति साध्यव्यावृत्तौ साधनव्यावृत्तिनिश्चयान्निश्चितव्यतिरेकं प्रमेयत्वं साधनं निश्चितान्वयं च समर्थितम्। ततो भवत्येव साध्यसिद्धिरित्याह—

सुनिश्चितान्वयाद्धेतोः प्रसिद्धव्यतिरेकतः।
ज्ञाताऽर्हन् विश्वतत्त्वानामेवं सिद्ध्येदबाधितः॥९६॥

अनुमेयपना हेतु सिद्ध समझना चाहिये; क्योंकि घटादि पदार्थोंकी प्रकटतासे सभी ज्ञान अनुमित होनेसे उनमें कथंचित् प्रमेयपना सिद्ध है। अतः धर्मीरूप अन्तरित पदार्थोंमें प्रमेयपना हेतु असिद्ध नहीं है क्योंकि वादीकी तरह प्रतिवादीके भी कथंचित् प्रमेयपना उनमें सिद्ध है।

अब आगे यह बतलाते हैं कि प्रमेयपना हेतु सन्दिग्धव्यतिरेक भी नहीं है—

'जो अर्हन्तके प्रत्यक्ष नहीं है वह प्रमेय नहीं है, जैसे प्रत्यक्षबहिर्भूत मिथ्या एकान्त, इस प्रकार व्यतिरेक भी निश्चित है अर्थात् प्रमेयपना हेतु सन्दिग्धव्यतिरेक नहीं है।'

§ २६०. प्रकट है कि जो मिथ्या एकान्तज्ञान हैं वे सभी परमागम और अनुमानसे हम लोगोंके प्रमेय हैं और अर्हन्तके प्रत्यक्ष हैं अतः वे विपक्ष नहीं हैं। किन्तु उन ज्ञानोंके विषयभूत एकान्तवादियोंद्वारा स्वीकृत निरन्वयक्षणिकता आदि सर्वथा एकान्त अर्हन्तके प्रत्यक्ष नहीं हैं और इस लिये वे विपक्ष हैं। वे किसी प्रमाणसे प्रमित नहीं होते, अतएव वे प्रमेय नहीं हैं, क्योंकि उनका अभाव है—उनकी सत्ता ही नहीं है। अतः 'जो अर्हन्तके प्रत्यक्ष नहीं हैं वे प्रमेय नहीं हैं, जैसे सर्वथा एकान्तज्ञानके विषय' इस प्रकार साध्यके अभावमें साधनके अभावका निश्चय अर्थात् व्यतिरेकका निर्णय होनेसे प्रमेयपना हेतु निश्चितव्यतिरेक है और निश्चितअन्वय पहलेसे ही सिद्ध है। अतः अन्वय-व्यतिरेकविशिष्ट इस हेतुसे साध्यकी सिद्धि अवश्य होती है, इसी बात को आगे अन्य कारिकाद्वारा पुष्ट करते हैं—

'प्रमेयपना हेतुका अन्वय अच्छी तरह निश्चित है और व्यतिरेक भी उसका प्रसिद्ध है। अतः उससे निर्बाधरूपसे अर्हन्त समस्त पदार्थोंका ज्ञाता सिद्ध होता है।'

---

1 द प्रतौ 'च' नास्ति।

§ २६१. ननु च सूक्ष्मान्तरितदूरार्थानां विश्वतत्त्वानां साक्षात्कर्ताऽर्हन्न सिद्ध्यत्येवास्मादनुमानात्, पक्षस्य प्रमाणबाधितत्वाद्धेतोश्च बाधितविषयत्वात्। तथा हि—देशकालस्वभावान्तरितार्थो धर्माधर्मादयो[1]ऽर्हतः प्रत्यक्षा इति पक्षः, स चानुमानेन बाध्यते—धर्मादयो न कस्यचित्प्रत्यक्षाः शश्वदत्यन्तपरोक्षत्वात्, ये [2]तु कस्यचित्प्रत्यक्षास्ते नात्यन्तपरोक्षाः, यथा घटादयोऽर्थाः, अत्यन्तपरोक्षाश्च धर्मादयः, तस्मान्न कस्यचित्प्रत्यक्षा इति। न तावदत्यन्तपरोक्षत्वं धर्मादीनामसिद्धम्, कदाचित्कचित्कथञ्चित्कस्यचित्प्रत्यक्षत्वासिद्धेः, सर्वस्य प्रत्यक्षस्य तद्विषयत्वाभावात्। तथा हि—विवादाध्यासितं प्रत्यक्षं न धर्माद्यर्थविषयम्, प्रत्यक्षशब्दवाच्यत्वात्। यदित्थं तदित्थम्, यथाऽस्मदादिप्रत्यक्षम्। प्रत्यक्षशब्दवाच्यं च विवादाध्यासितं प्रत्यक्षम्[3]। तस्मान्न धर्माद्यर्थविषयमित्यनुमानेन धर्माद्यर्थविषयस्य प्रत्यक्षस्य निराकरणात्। न चेदमस्मदादिप्रत्यक्षागोचरविप्रकृष्टार्थग्राहिगृद्ध-वराह-पिपीलिकादिचक्षुःश्रोत्रघ्राणप्रत्यक्षैर्व्यभिचारि साधनम्, तेषामपि धर्मादिसूक्ष्माद्यर्थाविषयत्वात्, अस्मदादिप्रत्यक्षविषयसजातीयार्थग्रहणानतिक्रमात्स्वविषयस्यैवेन्द्रियेण ग्रहणादिन्द्रियान्तरविषयस्यापरिच्छित्तेः।

---

§ २६१. शङ्का—सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थोंका साक्षात्कर्ता अरहन्त इस अनुमानसे सिद्ध नहीं होता; क्योंकि पक्ष प्रमाणबाधित है और हेतु बाधितविषय (कालात्ययापदिष्ट) हेत्वाभास है। वह इस तरह है—'देश, काल और स्वभावसे अन्तरित धर्म-अधर्म आदिक पदार्थ अर्हन्तके प्रत्यक्ष हैं' यह पक्ष है। सो वह अनुमानसे बाधित है। वह अनुमान यह है—'धर्मादिक पदार्थ किसीके प्रत्यक्ष नहीं हैं, क्योंकि सदैव अत्यन्त परोक्ष हैं। जो किसीके प्रत्यक्ष हैं वे सदैव अत्यन्त परोक्ष नहीं हैं, जैसे घटादिक पदार्थ, और अत्यन्त परोक्ष धर्मादिक पदार्थ हैं, इस कारण वे किसीके प्रत्यक्ष नहीं हैं।' इस अनुमानमें धर्मादिकोंके अत्यन्त परोक्षपना असिद्ध नहीं है; क्योंकि वे कभी, कहीं, किसी प्रकार, किसीके प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं हैं और इसलिये समस्त प्रत्यक्ष उनको विषय नहीं करते हैं। हम सिद्ध करते हैं कि 'विचारकोटिमें स्थित प्रत्यक्ष धर्मादिक पदार्थोंको विषय नहीं करता है क्योंकि वह 'प्रत्यक्ष' शब्दद्वारा कहा जाता है। जो प्रत्यक्षशब्दद्वारा कहा जाता है वह धर्मादि पदार्थोंको विषय नहीं करता, जैसे हम लोगों आदिका प्रत्यक्ष, और प्रत्यक्षशब्दद्वारा कहा जाता है विचारस्थ प्रत्यक्ष (अर्हन्तप्रत्यक्ष), इस कारण वह धर्मादिक पदार्थोंको विषय नहीं करता।' इस अनुमानसे धर्मादि पदार्थोंको विषय करनेवाले प्रत्यक्षका अभाव सिद्ध होता है।

यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि हम लोगों आदिके प्रत्यक्षके अविषयभूत पदार्थोंको ग्रहण करनेवाले गृद्ध, सुअर, चिंवटी आदिके चक्षु, श्रोत्र और नासिका प्रत्यक्षोंके साथ हेतु व्यभिचारी है, क्योंकि वे भी धर्मादि अतीन्द्रिय पदार्थोंको विषय नहीं करते हैं और इस लिये वे हम लोगों आदिके प्रत्यक्षके विषयभूत पदार्थोंके सदृश ही पदार्थोंको ग्रहण करनेसे अपने विषयको ही इन्द्रियद्वारा ग्रहण करते हैं, अन्य इन्द्रियविषयको वे नहीं जानते हैं।

---

1 द स 'धर्मादयो' पाठः। 2 द प्रतौ 'तु' नास्ति। 3 मु 'तत्प्रत्यक्षं'।

[सर्वज्ञाभाववादिनो भट्टस्य पूर्वपक्षप्रदर्शनम्]

§ २६२. ननु च प्रज्ञा-मेधा-स्मृति-श्रुत्यूहापोह-प्रबोध[1]शक्तीनां प्रतिपुरुषमतिशयदर्शनात्कस्यचि[2]त्सातिशयं प्रत्यक्षं सिद्ध्यत्परां काष्ठामापद्यमानं धर्मादिसूक्ष्माद्यर्थसाक्षात्कारि सम्भाव्यत एव, इत्यपि न मन्तव्यम्, प्रज्ञामेधादिभिः पुरुषाणां स्तोकस्तोकान्तरत्वेन सातिशयत्वदर्शनात्कस्यचिदतीन्द्रियार्थदर्शनानुपलब्धेः। [3]तदुक्तं भट्टेन—

"येऽपि सातिशया दृष्टाः प्रज्ञामेधादिभिर्नराः।
स्तोकस्तोकान्तरत्वेन न त्वतीन्द्रियदर्शनात् ॥"

[तत्त्वसं० द्वि० भा० ३१६० उ०] इति।

§ २६३. ननु च कश्चित्प्रज्ञावान्पुरुषः शास्त्रविषयान् सूक्ष्मानत्यर्थानुपलब्धुं प्रभुरुपलभ्यते, तद्वत्प्रत्यक्षतोऽपि धर्मादिसूक्ष्मानर्थान् साक्षात्कर्त्तुं क्षमः किमिति न सम्भाव्यते? ज्ञानातिशयानां नियमयितुमशक्तेः; इत्यपि न चेतसि विधेयम्; तस्य स्वजात्यनतिक्रमेणैव नरान्तरातिशयोपपत्तेः[4]। न हि सातिशयं व्याकरणमतिदूरमपि जानानो[5] नक्षत्रग्रहचक्राभिचारादि[6]निर्णयेन ज्योतिःशास्त्रविदो[7]ऽतिशेते, तद्बुद्धेः शब्दापशब्दयोरेव प्रकर्षोपपत्तेः वैयाकरणान्तरातिशायनस्यैव सम्भवात्।

§ २६२. यदि माना जाय कि 'बुद्धि, प्रतिभा, स्मरण, श्रुति, तर्क और प्रबोध (समझने की योग्यता) इन शक्तियोंका प्रत्येक पुरुषमें अतिशय (न्यूनाधिकपना) देखा जाता है। अतः किसीका प्रत्यक्ष विशिष्ट अतिशयवान् सिद्ध होता है और वह परमप्रकर्षको प्राप्त होता हुआ धर्मादिक सूक्ष्मादि अतीन्द्रिय पदार्थोंका साक्षात्कार करनेवाला सम्भव है, तो यह मान्यता भी ठीक नहीं है; क्योंकि बुद्धि, प्रतिभा आदिसे पुरुषोंके जो विशिष्ट अतिशय देखा जाता है वह न्यूनाधिकतारूपसे ही देखा जाता है और इसलिये किसीके अतीन्द्रिय पदार्थोंका प्रत्यक्षज्ञान उपलब्ध नही होता। जैसा कि कुमारिलभट्टने कहा है:—

"बुद्धि, प्रतिभा आदिसे जो भी पुरुष अतिशयवान् देखे गये हैं वे कमतो-बढ़तीरूपसे ही अतिशयवान् दृष्टिगोचर हुये हैं न कि अतीन्द्रिय पदार्थोंको देखने रूपसे।" [त० सं० द्वि० भा० ३१६० उ०]।

§ २६३. अगर यह कहें कि 'कोई बुद्धिमान् पुरुष जिस प्रकार अत्यन्त सूक्ष्म शास्त्रीय विषयोंको उपलब्ध करने (जानने)में समर्थ देखा जाता है उसी प्रकार प्रत्यक्षसे भी कोई धर्मादि सूक्ष्म पदार्थोंको साक्षात्कार करनेमें समर्थ क्यों सम्भव नहीं है? क्योंकि ज्ञानके अतिशयोंका नियमन नहीं किया जासकता है—अर्थात यह नहीं कहा जासकता कि ज्ञान इतना ही होता है इससे अधिक हो ही नहीं सकता!' तो यह विचार भी चित्तमें नहीं लाना चाहिये; क्योंकि उसके अपनी जातिका उल्लंघन न करके ही दूसरे पुरुषकी अपेक्षासे अतिशय पाया जाता है। स्पष्ट है कि व्याकरणका बहुत अधिक प्रकृष्ट ज्ञान रखता हुआ भी वैयाकरण नक्षत्र और ग्रहसमूहकी गति आदिके निर्णयसे ज्योतिषशास्त्रके वेत्ताओंको प्रभावित नहीं करता, क्योंकि उसकी बुद्धि साधु शब्द और असाधु शब्दोंमें

1 द 'प्रतिबोध'। 2 द 'क्वचित्'। 3 द 'यदुक्तम्'। 4 मुक 'निरतिशयोपपत्तेः', मुब 'सातिशयोपपत्तेः'। 5 द 'विजानानो'। 6 मु 'चक्रातिचारादि' स 'चक्रचारादि'। 7 द 'विदामति'।

ज्योतिर्विदोऽपि चन्द्रार्कग्रहणादिषु निर्णयेन प्रकर्षं प्रतिपद्यमानस्यापि न भवत्यादिशब्दसाधुत्वज्ञानातिशयेन वैयाकरणातिशायित्वमुत्प्रेक्षते तथा वेदेतिहासादिज्ञानातिशयवतोऽपि कस्यचिन्न स्वर्गदेवताधर्माधर्मसाक्षात्करण[1]मुपपद्यते। एतदप्यभ्यधायि—

"एकशास्त्रपरिज्ञाने दृश्यतेऽतिशयो महान्।
न तु शास्त्रान्तरज्ञानं तन्मात्रेणैव लभ्यते ॥ [ ]
ज्ञात्वा व्याकरणं दूरं बुद्धिः शब्दापशब्दयोः।
प्रकृष्यते न नक्षत्रतिथिग्रहणनिर्णये ॥

[तत्त्वसं० द्वि० भा० ३१६५ उद्धृत]

ज्योतिर्विच्च प्रकृष्टोऽपि चन्द्रार्कग्रहणादिषु।
न भवत्यादिशब्दानां साधुत्वं ज्ञातुमर्हति ॥

[तत्त्वसं० द्वि० भा० ३१६६ उद्धृत]

तथा वेदेतिहासादिज्ञानातिशयवानपि।
न स्वर्ग-देवताऽपूर्व-प्रत्यक्षीकरणे क्षमः ॥"

[तत्त्वसं० द्वि० भा० ३१६७ उद्धृत]

§ २६४. एतेन यदुक्तं सर्वज्ञवादिना—'ज्ञानं क्वचित्परां काष्ठां प्रतिपद्यते, प्रकृष्यमाणत्वात्, यद्यत्प्रकृष्यमाणं तत्तत्क्वचित्परां काष्ठां प्रतिपद्यमानं दृष्टम्, यथा परिमाणमापरमाणोः प्रकृष्यमाणं

ही प्रकर्षको प्राप्त होती है और इस लिये वह दूसरे वैयाकरणोंको ही प्रभावित कर सकता है। तथा ज्योतिषशास्त्रके वेत्ता भी चन्द्र, सूर्यके ग्रहण आदिमें निर्णयद्वारा प्रकर्षको प्राप्त होते हुए भी 'भवति' (होता है) आदि शब्दोंके साधुपने और असाधुपनेके प्रकृष्ट ज्ञानसे वैयाकरणको चमत्कारित (प्रभावित) नहीं करते। तथा वेद, इतिहास आदिके चमत्कृत ज्ञानवाला भी कोई स्वर्ग, देवता, धर्म, अधर्मका साक्षात्करण नही कर सकता है। इस बातको भी भट्टने कहा है:—

"एक शास्त्रके ज्ञानमें ही बड़ा अतिशय देखा जाता है पर दूसरे शास्त्रका ज्ञान उससे ही प्राप्त नहीं होता।" [ ]

"बहुत अधिक व्याकरणको जानकर भी बुद्धि साधु और असाधु शब्दोंमें ही प्रकर्षको प्राप्त होती है, नक्षत्र, तिथि और ग्रहणके बतलाने अथवा निश्चय करनेमें नहीं।" [त० सं० ६१६५ उ०]

"और ज्योतिषशास्त्रका विद्वान् चन्द्र, सूर्यके ग्रहण आदिमें प्रकर्षको प्राप्त होता हुआ भी 'भवति' आदि शब्दोंकी साधुताको नहीं जान सकता।" [त० सं० ३१६६ उ०]

"तथा वेद, इतिहास आदिका विशिष्ट ज्ञान रखनेवाला भी स्वर्ग, देवता, अपूर्व (धर्म-अधर्म) के प्रत्यक्ष करनेमें समर्थ नहीं है।" [त० सं १३६७ उ०]

§ २६४. इस विवेचनसे, जो सर्वज्ञवादीने कहा है कि-'ज्ञान किसी आत्मविशेषमें चरम सीमाको प्राप्त होता है, क्योंकि वढ़नेवाला है। जो जो वढ़नेवाला होता है वह वह चरम-

1 द 'साक्षात्करणसामर्थ्यमुप'।

नभसि, प्रकृष्यमाणं च ज्ञानम्, तस्मात्क्वचित्परां[1] काष्ठां प्रतिपद्यत इति, तदपि प्रत्याख्यातम्, ज्ञानं हि धर्मित्वेनोपादीयमानं प्रत्यक्षज्ञानं [2]शास्त्रार्थज्ञानमनुमानादिज्ञानं वा भवेत्, गत्यन्तराभावात्। तत्रेन्द्रियप्रत्यक्षं प्रतिप्राणिविशेषं प्रकृष्यमाणमपि स्वविषयानतिक्रमेणैव परां काष्ठां प्रतिपद्यते[3] गृद्धवराहादीन्द्रियप्रत्यक्षज्ञानवत्, न पुनरतीन्द्रियार्थविषयत्वेनेति प्रतिपादनात्। शास्त्रार्थज्ञानमपि व्याकरणादिविषयं प्रकृष्यमाणं परां काष्ठामुपव्रजन्न शास्त्रान्तर[ार्थ]विषयतया धर्मादिसाक्षात्कारितया वा तामास्तिघ्नुते। तथाऽनुमानादिज्ञानमपि प्रकृष्यमाणमनुमेयादिविषयतया परां काष्ठामास्कन्देत्[4] न पुनस्तद्विषयसाक्षात्कारितया।

§ २६५. एतेन ज्ञानसामान्यं धर्मि क्वचित्परमप्रकर्षमियर्ति, प्रकृष्यमाणत्वात्, परिमाणवत्[5], इति वदन्नपि निरस्तः, प्रत्यक्षादिज्ञानव्यक्तिष्वन्यतमज्ञानव्यक्तेरेव परमप्रकर्षगमनसिद्धेः, तद्व्यतिरेकेण ज्ञानसामान्यस्य प्रकर्षगमनानुपपत्तेस्तस्य निरतिशयत्वात्।

सीमाको प्राप्त देखा गया है, जैसे परिमाण परमाणुसे लेकर बढ़ता हुआ आकाशमें चरमसीमाको प्राप्त है और बढ़नेवाला ज्ञान है, इस कारण वह किसी आत्मविशेषमें चरमसीमाको प्राप्त होता है' वह भी निराकृत हो जाता है। हम पूछते हैं कि यहाँ जो ज्ञानको धर्मी बनाया है वह प्रत्यक्षज्ञान है या शास्त्रार्थज्ञान अथवा अनुमानादिज्ञान ? अन्य विकल्प सम्भव नहीं है। यदि इन्द्रिजन्य प्रत्यक्षज्ञान धर्मी है तो वह प्रत्येक जीवविशेषमें बढ़ता हुआ भी अपने विषयका उलंघन न करके ही चरमसीमाको प्राप्त होता है, न कि अतीन्द्रिय अर्थको विषय करनेरूपसे, जैसे गृद्ध, सुअर आदिका इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षज्ञान। और यदि शास्त्रार्थज्ञान धर्मी है तो वह भी, जो कि व्याकरणादिविषयक है, बढ़ता हुआ अपने व्याकरणादिविषयमें ही चरमसीमाको प्राप्त होता है, दूसरे शास्त्रके अर्थको विषय करने अथवा धर्मादिको साक्षात्कार करनेरूपसे वह उक्त सीमाको उलंघन नहीं करता। तथा अनुमानादि ज्ञान भी प्रकर्षको प्राप्त होता हुआ अनुमेय आदिको विषय करनेरूपसे उत्कृष्ट सीमाको प्राप्त होता है, धर्मादिक अतीन्द्रिय अर्थोंको साक्षात्कार करनेरूपसे नहीं।

§ २६५. इसी कथनसे 'ज्ञानसामान्य (धर्मी) कहीं परमप्रकर्षको प्राप्त होता है, क्योंकि वह बढ़नेवाला है, जैसे परिमाण, यह कहनेवाला भी निराकृत हो जाता है, क्योंकि प्रत्यक्षादिज्ञानविशेषोंमें कोई एक ज्ञानविशेषके ही परमप्रकर्षकी प्राप्ति सिद्ध होती है और इसलिये ज्ञानविशेषको छोड़कर ज्ञानसामान्यके प्रकर्षकी प्राप्ति अनुपपन्न है। कारण, वह निरतिशय है। तात्पर्य यह कि यदि यह कहा जाय कि ज्ञानसामान्यको धर्मी किया जाता है, ज्ञानविशेषको नहीं और इसलिये उक्त दोष नहीं है तो यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि ज्ञानविशेषोंमेंसे किसी ज्ञानविशेषकी ही प्रकर्षप्राप्ति होती है, सभीकी नहीं। अतः ज्ञानसामान्यके प्रकर्षकी बात कहना असंगत है, क्योंकि उसमें अतिशय नहीं होता।

---

1 द 'तस्मात्परां'। 2 द 'शास्त्रज्ञान'। 3 द 'प्रतिपद्येत'। 4 द 'स्कन्दन्'। 5 मु 'परमाणुवत्'।

§ २६६. यदपि केनचिदभिधीयते—श्रुतज्ञानमनुमानज्ञानं वाऽभ्यस्यमानमभ्याससात्मीभावे तदर्थसाक्षात्कारितया[1] परां [2]काष्ठामासादयति, तदपि स्वकीयमनोरथमात्रम्, क्वचिदभ्याससहस्रेणापि ज्ञानस्य स्वविषयपरिच्छित्तौ विषयान्तरपरिच्छित्तेरनुपपत्तेः। न हि गगनतलोत्प्लवनमभ्यस्यतोऽपि कस्यचित्पुरुषस्य योजनशतसहस्रोत्प्लवनं लोकान्तोत्प्लवनं वा सम्भाव्यते, तस्य दशहस्तान्तरोत्प्लवनमात्रदर्शनात्। तदप्युक्तम्—

"दशहस्तान्तरं व्योम्नि यो नामोत्प्लुत्य गच्छति।
न योजनमसौ गन्तुं शक्तोऽभ्यासशतैरपि॥"

[तत्त्वसं० द्वि० भा० ३१६८ उद्धृ०] इति।

[सर्वज्ञाभाववादिनो भट्टस्य निराकरणम्]

§ २६७. अत्राभिधीयते—यत्तावदुक्तम् 'विवादाध्यासितं च प्रत्यक्षं न धर्मादिसूक्ष्माद्यर्थविषयम्, प्रत्यक्षशब्दवाच्यत्वात्, अस्मदादिप्रत्यक्षवत्' इति। तत्र किमिदं प्रत्यक्षम्? "सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म प्रत्यक्षम्" [मीमांसाद० १।१।४] इति चेत्, तर्हि विवादाध्यासितस्य प्रत्यक्षस्यैतत्प्रत्यक्षशब्दवाच्यत्वेऽपि न धर्मादिसूक्ष्माद्यर्थविषयत्वाभावः सिद्ध्यति। यादृशं हीन्द्रियप्रत्यक्षं प्रत्यक्षशब्दवाच्यं [3]धर्माद्यर्थासाक्षात्कारि दृष्टं तादृशमेव देशान्तरे कालान्तरे

---

§ २६६. और भी जो किसीने कहा है कि-'श्रुतज्ञान अथवा अनुमानज्ञान अभ्यास करते-करते जब पूर्ण अभ्यासको प्राप्त होजाते हैं तब वे धर्मादि अर्थको साक्षात्कार करने रूपसे चरम सीमाको प्राप्त होते हैं।' वह भी अपने मनकी कल्पना अथवा मनके लड्डू खाना मात्र है, क्योंकि कोई ज्ञान अपने विषयको जान भी ले, लेकिन हजार अभ्यासोंसे भी वह अन्यविषयक नहीं होसकता है। स्पष्ट है कि यदि कोई आकाशमें ऊपर कूँदनेका अभ्यास करे तो वह भी एक लाख योजन अथवा लोकके अन्त तक नहीं कूँद सकता है, क्योंकि उसके ज्यादा-से-ज्यादा दश हाथ तक ही कूँदना देखा जाता है। इस बातको भी भट्टने कहा है:—

"जो व्यक्ति आकाशमें अभ्यासद्वारा दश हाथ ऊपर कूँदकर जाता है वह सौ अभ्यासोंसे भी एक योजन जानेमें समर्थ नहीं है।" [त० सं० ३१६८ उ०]

§ २६७. समाधान—आपकी इस शंकाका उत्तर निम्न प्रकार है:—जो पहले यह कहा गया है कि "विचारकोटिमें स्थित प्रत्यक्ष धर्मादिक पदार्थोंको विषय नहीं करता है, क्योंकि वह प्रत्यक्षशब्दद्वारा कहा जाता है, जैसे हम लोगों आदिका प्रत्यक्ष।" उसमें हमारा प्रश्न है कि यह प्रत्यक्ष कौन-सा है ? यदि कहें कि "आत्मा और इन्द्रियोंके सम्यक् सम्बन्ध होनेपर जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष है" [मी. द. १।१।४] ऐसा प्रत्यक्ष वहाँ विवक्षित है तो विचारकोटिमें स्थित प्रत्यक्ष (अर्हन्त प्रत्यक्ष) इस प्रत्यक्षसे भिन्न है और इसलिये प्रत्यक्षशब्दद्वारा कहा जानेपर भी उसके धर्मादिक सूक्ष्मादि पदार्थोंकी विषयताका अभाव सिद्ध नहीं होता। प्रकट है कि जैसा इन्द्रियप्रत्यक्ष प्रत्यक्षशब्दद्वारा कहा जाता है और धर्मादि पदार्थोंका असाक्षात्कारी देखा जाता है

---

1 द 'साक्षात्कारतया'। 2 मु स 'दशा'। 3 स 'धर्माद्यसाक्षा', द 'धर्माद्यर्थसाक्षा'।

च विवादाध्यासितं प्रत्यक्षं तथा साधयितुं युक्तम्, तथाविधप्रत्यक्षस्यैव धर्माद्यविषयत्वस्य साधने प्रत्यक्षशब्दवाच्यत्वस्य[1] हेतोर्गमकत्वोपपत्तेस्तस्य तेनाविनाभावनियमनिश्चयात्, न पुनस्तद्विलक्षणस्यार्हत्प्रत्यक्षस्य धर्मादिसूक्ष्माद्यर्थविषयत्वाभावः साधयितुं शक्यः, तस्य तदगमकत्वादविनाभावनियमनिश्चयानुपपत्तेः। शब्दसाम्येऽप्यर्थभेदात्। कथमन्यथा 'विषाणिनी वाग् गोशब्दवाच्यत्वात्, पशुवत्' इत्यनुमानं गमकं न स्यात् ? यदि पुनर्गोशब्दवाच्यत्वस्याविशेषेऽपि पशोरेव विषाणित्वं ततः सिद्ध्यति तत्रैव तत्साधने तस्य गमकत्वान्न पुनर्वागादौ तस्य तद्विलक्षणत्वादिति मतम्, तदा प्रत्यक्षशब्दवाच्यत्वाविशेषेऽपि नार्हत्प्रत्यक्षस्य सूक्ष्माद्यर्थविषयत्वासिद्धिः, अर्थभेदात्। अक्ष्णोति व्याप्नोति जानातीत्यक्ष आत्मा तमेव प्रतिगतं[2] प्रत्यक्षमिति हि भिन्नार्थमेवेन्द्रियप्रत्यक्षात्, तस्याशेषार्थगोचरत्वान्मुख्यप्रत्यक्षत्वसिद्धेः। तथा हि—विवादाध्यासितमर्हत्प्रत्यक्षं मुख्यम्,

वैसा ही दूसरे क्षेत्र और दूसरे कालमें विचारस्थ प्रत्यक्ष प्रत्यक्षशब्दका वाच्य और धर्मादि पदार्थोंका असाक्षात्कारी सिद्ध करना युक्त है, क्योंकि वैसे प्रत्यक्षके ही धर्मादि पदार्थोंकी अविषयता सिद्ध करनेमें 'प्रत्यक्षशब्दद्वारा कहा जाना' हेतु गमक (साधक) सिद्ध होता है। कारण, उसकी उसके साथ अविनाभावरूप व्याप्ति निर्णीत है। किन्तु उससे सर्वथा भिन्न अर्हन्तप्रत्यक्षके धर्मादिक सूक्ष्मादि पदार्थोंकी विषयताका अभाव सिद्ध नहीं किया जासकता है, क्योंकि वह उसका अगमक है—साधक नहीं है और साधक इस लिये नहीं है कि उसकी उसके साथ अविनाभावरूप व्याप्तिका निश्चय उपपन्न नहीं होता। दोनोंमें शब्दसाम्य होनेपर भी अर्थभेद है। अन्यथा 'वाणी सींगवाली है, क्योंकि 'गो' शब्दद्वारा कही जाती है, जैसे पशु' यह अनुमान क्यों गमक नहीं हो जायगा ? तात्पर्य यह कि यद्यपि इन्द्रियप्रत्यक्ष और अर्हन्तप्रत्यक्ष ये दोनों प्रत्यक्षशब्दद्वारा कहे जाते हैं तथापि दोनोंमें अर्थदृष्टिसे आकाश-पाताल जैसा अन्तर है। यदि केवल प्रत्यक्षशब्दद्वारा कहे जानेसे वे एक हों और उक्त अनुमान गमक हो तो वाणी और पशु ये दोनों भी एक हो जायेंगे, क्योंकि दोनों गोशब्दद्वारा अभिहित होते हैं और इस लिये उक्त अनुमान भी गमक हो जायगा। यदि कहा जाय कि यद्यपि वाणी और पशु दोनों गोशब्दद्वारा अभिहित होते हैं तथापि पशुके ही उससे विषाण सिद्ध होता है, क्योंकि पशुमें ही विषाण सिद्ध करनेमें 'गो' शब्दद्वारा कहा जाना' हेतु गमक है, वाणी आदिमें नहीं। कारण, वह उससे भिन्न है, तो इन्द्रियप्रत्यक्ष और अर्हन्तप्रत्यक्षमें प्रत्यक्षशब्दद्वारा कहे जाने' की समानता रहनेपर भी अर्हन्तप्रत्यक्षके सूक्ष्मादि पदार्थोंकी विषयता असिद्ध नहीं है, क्योंकि अर्थभेद है। प्रकट है कि 'अक्ष्णोति व्याप्नोति जानातीति अक्ष आत्मा' अर्थात् जो व्याप्त करे—जाने उसे अक्ष कहते हैं और अक्ष आत्माका नाम है अतः आत्माको ही लेकर जो ज्ञान हो उसे प्रत्यक्ष कहते हैं, इस तरह अर्हन्तप्रत्यक्ष इन्द्रियप्रत्यक्षसे भिन्न अर्थवाला है और समस्त पदार्थोंको विषय करनेसे वह मुख्य प्रत्यक्ष सिद्ध होता है। वह इस प्रकार है:—विचारकोटिमें स्थित

1 मु स 'वाच्यस्य'। 2 द 'प्रतिगन्तृ'।

निःशेषद्रव्यपर्यायविषयत्वात्। यन्न[1] मुख्यं तन्न तथा, यथाऽस्मदादिप्रत्यक्षम्, सर्वद्रव्यपर्यायविषयं चार्हत्प्रत्यक्षम्, तस्मान्मुख्यम्। न चेदमसिद्धं साधनम्। तथा हि—सर्वद्रव्यपर्यायविषयमर्हत्प्रत्यक्षम्, क्रमातिक्रान्तत्वात्। क्रमातिक्रान्तं तत्, मनोऽक्षानपेक्षत्वात्। मनोऽक्षानपेक्षं तत्, सकलकलङ्कविकलत्वात्। सकलाप्रशमाज्ञानादर्शनावीर्यलक्षणकलङ्कविकलं तत्, प्रक्षीणत[2]त्कारणमोह-ज्ञानदर्शनावरण-वीर्यान्तरायत्वात्। यन्नेत्थं तन्नेत्थम्[3], यथाऽस्मदादिप्रत्यक्षम्, इत्थं च तत्, तस्मादेवमिति हेतुसिद्धिः।

§ २६८. ननु च प्रक्षीणमोहादिचतुष्टयत्वं कुतोऽर्हतः सिद्धम् ? तत्कारणप्रतिपक्षप्रकर्षदर्शनात्। तथा हि—मोहादिचतुष्टयं क्वचिदत्यन्तं प्रक्षीयते, तत्कारणप्रतिपक्षप्रकर्षसद्भावात्। यत्र यत्कारणप्रतिपक्षप्रकर्षसद्भावस्तत्र तदत्यन्तं प्रक्षीयमाणं दृष्टम्, यथा चक्षुषि तिमिरम्, तथा च केवलिनि मोहादिचतुष्टयस्य कारणप्रतिपक्षप्रकर्षसद्भावः, तस्मादत्यन्तं प्रक्षीयते।

अर्हन्तप्रत्यक्ष मुख्य प्रत्यक्ष है, क्योंकि वह अशेष द्रव्य और पर्यायोंको विषय करता है। जो मुख्य प्रत्यक्ष नहीं है वह अशेष द्रव्य और पर्यायोंको विषय नहीं करता, जैसे हम लोगों आदिका प्रत्यक्ष और अशेष द्रव्य और पर्यायोंको विषय करनेवाला अर्हन्तप्रत्यक्ष है, इस कारण वह मुख्य प्रत्यक्ष है। यहाँ जो 'अशेषद्रव्य और पर्यायोंको विषय करनेवाला' रूप हेतु दिया गया है वह असिद्ध नहीं है। वह भी इस प्रकारसे है—अर्हन्तप्रत्यक्ष अशेष द्रव्य और पर्यायोंको विषय करनेवाला है, क्योंकि वह क्रमरहित है। और वह क्रमरहित इस लिये है कि उसमें मन तथा इन्द्रियोंकी अपेक्षा नहीं है। तथा मन और इन्द्रियोंकी अपेक्षा भी इस लिये नहीं है कि वह समस्त दोषरहित है। और समस्त मिथ्यात्व, अज्ञान, अदर्शन और अवीर्यरूप दोषोंसे रहित भी वह इस लिये है कि उसके मिथ्यात्व आदिके कारणभूत मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अन्तराय इन चार कर्मोंका नाश हो चुका है। जो ऐसा (मिथ्यात्वादिदोष रहित) नहीं है वह वैसा (मोहादिकर्मरहित) नहीं है, जैसे हम लोगों आदिका प्रत्यक्ष। और मोहादिकर्मरहित विचारस्थ अर्हन्तप्रत्यक्ष है, इस कारण वह समस्त दोषरहित है, इस तरह उक्त हेतु सिद्ध है।

§ २६८. शंका—अर्हन्तके मोहादि चार कर्मोंका नाश कैसे सिद्ध है ?

समाधान—इसका उत्तर यह है कि अर्हन्तके मोहादि चार कर्मोंके कारणभूत मिथ्यात्वादिके प्रतिपक्षियोंका प्रकर्ष देखा जाता है। वह इस तरहसे है—मोहादि चार कर्म किसी आत्मविशेषमें सर्वथा नाश हो जाते हैं, क्योंकि उनके कारणोंके प्रतिपक्षियोंका प्रकर्ष पाया जाता है, जहाँ जिसके कारणोंके प्रतिपक्षीका प्रकर्ष पाया जाता है वहाँ उसका सर्वथा नाश हो जाता है, जैसे आँखमें अन्धकार। और मोहादि चार कर्मोंके कारणोंके प्रतिपक्षियोंका प्रकर्ष केवलीमें पाया जाता है, इस कारण वहाँ उनका सर्वथा नाश हो जाता है।

1 मु स 'यत्तु न'। 2 मु स 'तत्' पाठो नास्ति। 3 मु स 'तन्नैवम्'।

§ २६९. किं पुनः कारणं मोहादिचतुष्टयस्य ? इति चेत्; उच्यते; मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान-मिथ्याचारित्रत्रयम्, तस्य तद्भाव एव भावात्। यस्य यद्भाव एव भावस्तस्य तत् कारणम्, यथा श्लेष्मविशेषस्तिमिरस्य, मिथ्यादर्शनादित्रयसद्भाव एव भावश्च मोहादिचतुष्टयस्य, तस्मात्तत्कारणम्।

§ २७०. कः पुनस्तस्य प्रतिपक्षः ? इति चेत्, सम्यग्दर्शनादित्रयम्, तत्प्रकर्षे तदपकर्षदर्शनात्। यस्य प्रकर्षे यदपकर्षस्तस्य स प्रतिपक्षः, यथा शीतस्याग्निः। सम्यग्दर्शनादित्रयप्रकर्षेऽपकर्षश्च मिथ्यादर्शनादित्रयस्य, तस्मात्तत्तस्य[1] प्रतिपक्षः।

§ २७१. कुतः पुनस्तत्प्रतिपक्षस्य सम्यग्दर्शनादित्रयस्य प्रकर्षपर्यन्तगमनम् ? प्रकृष्यमाणत्वात्। यत्प्रकृष्यमाणं तत्क्वचित्प्रकर्षपर्यन्तं गच्छति, यथा परिमाणमापरमाणोः प्रकृष्यमाणं नभसि। प्रकृष्यमाणं च सम्यग्दर्शनादित्रयम्, तस्मात्क्वचित्प्रकर्षपर्यन्तं गच्छति। यत्र यत्प्रकर्षपर्यन्त[2]गमनं तत्र तत्प्रतिपक्षमिथ्यादर्शनादित्रयमत्यन्तं प्रक्षीयते। यत्र तत्प्रक्षयः[3] तत्र तत्कार्यस्य

---

§ २६९. शंका— मोहादि चार कर्मोंका कारण क्या है ?

समाधान— सुनिये, मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र ये तीन मोहादि चार कर्मोंके कारण हैं, क्योंकि वे उनके होनेपर ही होते हैं। जो जिसके होनेपर ही होता है उसका वह कारण है, जैसे आंखके अन्धकारका कारण कीचड़। और मिथ्यादर्शनादि तीनके होनेपर ही मोहादि चार कर्मोंका सद्भाव होता है, इस कारण मिथ्यादर्शनादि मोहादि चार कर्मोंके कारण हैं।

§ २७०. शंका—मिथ्यादर्शनादिका प्रतिपक्ष क्या है ?

समाधान—सम्यग्दर्शनादि तीन मिथ्यादर्शनादि तीनके प्रतिपक्ष हैं, क्योंकि उनके प्रकर्ष होनेपर उन (मिथ्यादर्शनादि) का अपकर्ष अर्थात् हानि देखी जाती है। जिसके प्रकर्ष होने (बढ़ने) पर जिसकी हानि देखी जाती है उसका वह प्रतिपक्ष है, जैसे ठण्डका प्रतिपक्ष अग्नि है। और सम्यग्दर्शनादि तीनके प्रकर्ष होनेपर मिथ्यादर्शनादि तीनकी हानि होती है, इस कारण सम्यग्दर्शनादि तीन मिथ्यादर्शनादि तीनके प्रतिपक्ष हैं।

§ २७१. शंका—मिथ्यादर्शनादिके प्रतिपक्ष सम्यग्दर्शनादि तीनके परमप्रकर्षकी प्राप्ति कैसे सिद्ध है ?

समाधान— सम्यग्दर्शनादि तीन बढ़नेवाले हैं। जो बढ़नेवाला है वह कहीं प्रकर्षके अन्तको प्राप्त होता है, जैसे परिमाण परमाणुसे लेकर बढ़ता हुआ आकाशमें चरम सीमाको प्राप्त है। और बढ़नेवाले सम्यग्दर्शनादि तीन हैं, इसलिये कहीं वे प्रकर्षके अन्तको प्राप्त होते हैं। जहाँ जो प्रकर्षके अन्तको प्राप्त होता है वहाँ उसके प्रतिपक्ष मिथ्यादर्शनादि तीन अत्यन्त नाश हो जाते हैं। जहाँ उनका नाश है वहाँ उनके कार्य

---

1 मु स 'तस्मात्तस्य'। 2 मु स 'पर्यन्त' इति पाठो नास्ति। 3 मु 'यत्प्रक्षयः'।

मोहादिकर्मचतुष्टयस्यात्यन्तिकः[1] क्षय इति तत्कार्यप्रशमादिकलङ्कचतुष्टयवैकल्यात्सिद्धं सकलकलङ्कविकलत्वमर्हत्प्रत्यक्षस्य मनोऽक्षनिरपेक्षत्वं साधयति। तच्चाक्रमत्वम्[2], तदपि सर्वद्रव्यपर्यायविषयत्वम्, ततो मुख्यं तत्प्रत्यक्षं प्रसिद्धम्। सांव्यवहारिकं तु मनोऽक्षापेक्षं वैशद्यस्य देशतः सद्भावात्, इति न प्रत्यक्षशब्दवाच्यत्वसाधर्म्यमात्रात् धर्मादिसूक्ष्माद्यर्थाविषयत्वं विवादाध्यासितस्य प्रत्यक्षस्य सिद्ध्यति यतः पक्षस्यानुमानबाधितत्त्वात्कालात्ययापदिष्टो हेतुः स्यात्।

[अर्हत एव सार्वज्ञ्यमिति बाधकप्रमाणाभावद्वारा द्रढयति]

§ २७२. तदेवं निरवद्याद्धेतोर्विश्वतत्त्वानां ज्ञाताऽर्हन्नेवावतिष्ठते। सकलबाधकप्रमाणरहितत्वाच्च। तथा हि—

प्रत्यक्षमपरिच्छिन्दत् त्रिकालं भुवनत्रयम्।
रहितं विश्वतत्त्वज्ञैर्न हि तद्बाधकं भवेत् ॥९७॥

मोहादि चार कर्मोंका अत्यन्त क्षय है और जहाँ मोहादि चार कर्मोंका क्षय है वहाँ उनके कार्य मिथ्यात्वादि चार दोषोंका अभाव होनेसे समस्त दोषरहितपना सिद्ध होता हुआ अर्हन्तप्रत्यक्षके मन और इन्द्रियोंकी निरपेक्षताको सिद्ध करता है और वह निरपेक्षता क्रमरहितताको सिद्ध करती है। तथा वह भी अशेष द्रव्य और पर्यायोंकी विषयताको साधती है और उससे अर्हन्तप्रत्यक्ष मुख्य प्रसिद्ध होता है। लेकिन सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष मन और इन्द्रियसापेक्ष है, क्योंकि वह एकदेशसे स्पष्ट है। तात्पर्य यह कि प्रत्यक्ष दो प्रकारका है—एक मुख्य प्रत्यक्ष और दूसरा सांव्यवहारिक। जो इन्द्रियों और मनकी अपेक्षाके बिना केवल आत्मामात्रकी अपेक्षासे होता है वह मुख्य प्रत्यक्ष है। यह मुख्य प्रत्यक्ष भी तीन प्रकारका है—१ अवधिज्ञान, २ मनःपर्ययज्ञान और ३ केवलज्ञान। इनमें अवधि और मनःपर्यय ये दो ज्ञान विशिष्ट योगियोंके होते हैं और केवलज्ञान अर्हन्त परमेष्ठीके होता है। यहाँ इसी केवलज्ञानरूप अर्हन्तप्रत्यक्षका विवेचन किया गया है और उसका साधन किया है। प्रत्यक्षका जो दूसरा भेद सांव्यवहारिक है वह इन्द्रियों तथा मनकी अपेक्षा लेकर उत्पन्न होता है और इस लिये वह पूर्ण निर्मल—स्पष्ट नहीं होता—केवल एकदेशसे स्पष्ट है। यही प्रत्यक्ष हम लोगोंके होता है और अन्य प्राणियोंके होता है। अतः केवल 'प्रत्यक्ष' शब्दद्वारा कहा जाना' रूप सादृश्यसे विचारणीय प्रत्यक्ष (अर्हन्तप्रत्यक्ष) के धर्मादिक सूक्ष्मादि पदार्थोंकी विषयताका अभाव सिद्ध नहीं होता, जिससे पक्ष अनुमानबाधित हो और हेतु कालात्ययापदिष्ट हो।

§ २७२. इस तरह प्रस्तुत निर्दोष हेतुसे विश्वतत्त्वोंका ज्ञाता—सर्वज्ञ अर्हन्त ही व्यवस्थित होता है, क्योंकि उपर्युक्त प्रकारसे उसके साधक प्रमाण मौजूद हैं। इसके अतिरिक्त, उसके समस्त बाधक प्रमाणोंका अभाव भी है। सो ही आगे चउदह कारिकाओं द्वारा विस्तारसे कहते हैं:—

'प्रत्यक्ष सर्वज्ञसे रहित तीनों कालों और तीनों लोकोंको नहीं जानता है, इस लिये निश्चय ही वह सर्वज्ञका बाधक नहीं है। तात्पर्य यह कि जो प्रत्यक्ष तीनों

---

1 मु 'चतुष्टयान्तिकः'। 2 मु 'तच्चाक्रमवत्वं'।

नानुमानोपमानार्थापत्त्याऽऽगमबलादपि ।
विश्वज्ञाभावसंसिद्धिस्तेषां सद्विषयत्वतः ॥९८॥
नार्हन्निःशेषतत्त्वज्ञो वक्तृत्व-पुरुषत्वतः ।
ब्रह्मादिवदिति प्रोक्तमनुमानं न बाधकम् ॥९९॥
हेतोरस्य विपक्षेण विरोधाभावनिश्चयात् ।
वक्तृत्वादेः [1]प्रकर्षेऽपि ज्ञानानिर्ह्रासिसिद्धितः ॥१००॥
नोपमानमशेषाणां नृणामनुपलम्भतः ।
उपमानोपमेयानां तद्बाधकमसम्भवात् ॥१०१॥
नार्थापत्तिरसर्वज्ञं जगत्साधयितुं क्षमा ।
क्षीणत्वादन्यथाभावाभावात्तत्तद्बाधिका ॥१०२॥
नागमोऽपौरुषेयोऽस्ति सर्वज्ञाभावसाधनः ।
तस्य कार्ये प्रमाणत्वादन्यथाऽनिष्टसिद्धितः ॥१०३॥

कालों और तीनों लोकोंको जानता है वही यह कह सकता है कि तीनों कालों और तीनों लोकोंमें सर्वज्ञ नहीं है। पर प्रत्यक्ष वैसा नहीं जानता है, अन्यथा वही सर्वज्ञ हो जायगा। इसतरह प्रत्यक्ष दोनों ही हालतोंमें सर्वज्ञका बाधक नहीं है।'

'अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति और आगम इन प्रमाणोंसे भी सर्वज्ञका अभाव सिद्ध नहीं होता, क्योंकि वे सब सत्ताको हो विषय करते हैं—असत्ताको नहीं, इसलिये ये प्रमाण भी सर्वज्ञके बाधक नहीं हैं।'

'अर्हन्त अशेष तत्त्वोंका ज्ञाता नहीं है, क्योंकि वह वक्ता है और पुरुष है। जो वक्ता है और पुरुष है वह अशेष तत्त्वोंका ज्ञाता नहीं है, जैसे ब्रह्मा वगैरह' यह आपके द्वारा कहा गया अनुमान सर्वज्ञका बाधक नहीं है।'

'क्योंकि वक्तापन और पुरुषपन हेतुओंका विपक्ष (सर्वज्ञता) के साथ विरोधका अभाव निश्चित है—अर्थात् उक्त हेतु विपक्षमें रहते हैं और इसलिये वे अनैकान्तिक हैं। कारण, वक्तापन आदिका प्रकर्ष होनेपर भी ज्ञानकी हानि नहीं होती।'

'उपमान भी सर्वज्ञका बाधक नहीं है, क्योंकि अशेष उपमान और उपमेयभूत मनुष्योंकी उपलब्धि नहीं होती। करण, वह असम्भव है—सम्भव नहीं है।'

'अर्थापत्ति भी जगतको सर्वज्ञशून्य सिद्ध करनेमें समर्थ नहीं है, क्योंकि वह क्षीण है— अशक्त है और अशक्त इसलिये है कि उसका साध्यके साथ अन्यथाभाव (साध्यके बिना साधनका अभाव) रूप अविनाभाव निश्चित नहीं है और इस लिये अर्थापत्ति भी सर्वज्ञकी बाधक नहीं है।'

'जो अपौरुषेय आगम है वह भी सर्वज्ञके अभावका साधक नहीं है; क्योंकि वह

1 द 'प्रकर्षोऽपि'।

पौरुषेयोऽप्यसर्वज्ञप्रणीतो नास्य बाधकः ।
तत्र तस्याप्रमाणत्वाद्धर्मादाविव तत्त्वतः ॥१०४॥
अभावोऽपि प्रमाणं ते निषेध्याधारवेदने ।
निषेध्यस्मरणे च स्यान्नास्तिताज्ञानमञ्जसा ॥१०५॥
न चाशेषजगज्ज्ञानं कुतश्चिदुपपद्यते ।
नापि सर्वज्ञसंवित्तिः पूर्वं तत्स्मरणं कुतः ॥१०६॥
येनाशेषजगत्यस्य सर्वज्ञस्य निषेधनम् ।
परोपगमतस्तस्य निषेधे स्वेष्टबाधनम्[1] ॥१०७॥
मिथ्यैकान्तनिषेधस्तु युक्तोऽनेकान्तसिद्धितः ।
नासर्वज्ञजगत्सिद्धेः सर्वज्ञप्रतिषेधनम् ॥१०८॥

वह यज्ञादि कार्यमें ही प्रमाण है और यही मीमांसकोंको इष्ट है, अन्यथा अनिष्टसिद्धिका प्रसङ्ग आवेगा।'

'और जो पौरुषेय आगम है वह भी यदि असर्वज्ञपुरुषरचित है तो वह सर्वज्ञका बाधक नहीं है, क्योंकि सर्वज्ञसिद्धिमें वह अप्रमाण है, जैसे धर्मादिमें वह अप्रमाण माना जाता है। और सर्वज्ञपुरुषरचित आगम तो मीमांसकोंको न मान्य है और न वह सर्वज्ञका बाधक कहा जासकता है प्रत्युत वह उसका साधक ही है।'

'अभाव प्रमाण भी सर्वज्ञका बाधक नहीं है, क्योंकि जहाँ निषेध्यका निषेध (अभाव) करना होता है उसका ज्ञान होनेपर और जिसका निषेध करना होता है उसका स्मरण होनेपर ही नियमसे 'नहीं है' ऐसा ज्ञान अर्थात् अभावप्रमाण प्रवृत्त होता है।'

'लेकिन न तो किसी प्रमाणादिसे समस्त संसारका ज्ञान सम्भव है जहाँ सर्वज्ञका निषेध करना है और न ही सर्वज्ञका पहले ज्ञान है—अनुभव है तब उसका स्मरण कैसे हो सकता है? क्योंकि अनुभवपूर्वक ही स्मरण होता है और सर्वज्ञाभाववादीको सर्वज्ञका पहले कभी भी अनुभव नहीं है, अतः सर्वज्ञका स्मरण भी नहीं बनता है।'

'जिससे सम्पूर्ण संसारमें प्रस्तुत सर्वज्ञका अभाव किया जाय। यदि कहा जाय कि सर्वज्ञवादी सर्वज्ञको स्वीकार करते हैं अतः उनके स्वीकारसे हम सर्वज्ञका अभाव करते हैं तो इसमें आपके इष्टकी बाधा आती है।'

'मिथ्या एकान्तोंका अभाव तो अनेकान्तकी सिद्धिसे युक्त है। तात्पर्य यह कि यद्यपि हम (जैन) सर्वथा एकान्तोंका निषेध करते हैं पर वह दूसरोंके स्वीकारसे नहीं करते हैं। किन्तु वस्तु अनेकान्तरूप सिद्ध होनेसे सर्वथा एकान्त निषिद्ध हो जाते हैं और इस लिये उनको स्वीकार न करनेपर भी उनका अभाव बन जाता है। लेकिन सर्वज्ञाभाववादी

1 द 'साधनम्'।

एवं सिद्धः सुनिर्णीतासम्भवद्बाधकत्वतः ।
सुखवद्विश्वतत्त्वज्ञः सोऽर्हन्नेव भवानिह ॥१०९॥
स कर्मभूभृतां भेत्ता तद्विपक्षप्रकर्षतः ।
यथा शीतस्य भेत्तेह कश्चिदुष्णप्रकर्षतः ॥११०॥

[प्रत्यक्षस्य सर्वज्ञाबाधकत्वं प्रदर्शयति]

§ २७३. यस्य धर्मादिसूक्ष्माद्यर्थाः प्रत्यक्षा भगवतोऽर्हतः सर्वज्ञस्यानुमानसामर्थ्यात्तस्य बाधकं प्रमाणं प्रत्यक्षादीनामन्यतमं भवेत्, गत्यन्तराभावात् । तत्र न तावदस्मदादिप्रत्यक्षं सर्वत्र सर्वदा सर्वज्ञस्य बाधकम्, तेन त्रिकालभुवनत्रयस्य सर्वज्ञरहितस्यापरिच्छेदात् । तत्परिच्छेदे तस्यास्मदादिप्रत्यक्षत्वविरोधात् । नापि योगिप्रत्यक्षं तद्बाधकम्, तस्य तत्साधकत्वात्, सर्वज्ञाभाववादिनां तदनभ्युपगमाच्च । नाप्यनुमानोपमानार्थापत्त्यागमानां सामर्थ्यात्सर्वज्ञस्याभावसिद्धिः, तेषां सद्विषयत्वात्, प्रत्यक्षवत् ।

असर्वज्ञ जगतकी सिद्धि बतलाकर सर्वज्ञका निषेध नहीं कर सकते हैं अर्थात् वे यह नहीं कह सकते कि 'चूंकि जगत असर्वज्ञ सिद्ध है, इसलिये सर्वज्ञ निषिद्ध हो जाता है' क्योंकि असर्वज्ञ जगत अर्थात् जगतमें कहीं भी सर्वज्ञ नहीं है यह बात किसी भी प्रमाणसे सिद्ध नहीं है। पर वस्तु सभी प्रमाणोंसे अनेकान्तात्मक सिद्ध है।'

'इस प्रकार बाधकप्रमाणोंका अभाव अच्छी तरह निश्चित होनेसे सुखकी तरह विश्वतत्त्वोंका ज्ञाता—सर्वज्ञ सिद्ध होता है और वह सर्वज्ञ इस समस्त लोकमें हे जिनेन्द्र ! आप अर्हन्त ही हैं।'

'और जो सर्वज्ञ है वही कर्मपर्वतोंका भेदन करनेवाला है, क्योंकि उसके कर्मपर्वतोंके विपक्षियोंका प्रकर्ष पाया जाता है, जैसे कोई उष्णके प्रकर्षसे ठण्डका भेदक है।'

§ २७३. जिस सर्वज्ञ भगवान् अर्हन्तके धर्मादिक सूक्ष्मादि पदार्थ अनुमानके बलसे प्रत्यक्ष सिद्ध हैं उसका बाधकप्रमाण प्रत्यक्षादिमेंसे ही कोई होना चाहिये, क्योंकि और तो कोई बाधक हो नहीं होसकता। सो उनमें हम लोगों आदिका प्रत्यक्ष सब जगह और सब कालमें सर्वज्ञका बाधक (सर्वज्ञका अभाव सिद्ध करनेवाला) नहीं है, क्योंकि वह तीनों कालों और तीनों जगतोंको सर्वज्ञरहित नहीं जानता है। कारण, हमारा प्रत्यक्ष परिमित क्षेत्र और परिमित काल अर्थात् सम्बद्ध और वर्तमान अर्थको ही जानता है तब वह यह कैसे जान सकता है कि सर्वज्ञ तीनों कालों और तीनों लोकोंमें कहीं नहीं है ? अर्थात् नहीं जान सकता है। यदि उनको जानता है तो वह हम लोगों आदिका प्रत्यक्ष नहीं होसकता। योगीप्रत्यक्ष भी सर्वज्ञका बाधक नहीं है, क्योंकि वह उसका साधक है। दूसरे, सर्वज्ञाभाववादी उसे मानते भी नहीं हैं, इस लिये भी वह बाधक नहीं हो सकता। अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति और आगम इनसे भी सर्वज्ञका अभाव सिद्ध नहीं होता, क्योंकि ये सभी सद्भावको विषय करते हैं, जैसे प्रत्यक्ष।

[अनुमानस्य सर्वज्ञाबाधकत्वप्रदर्शनम्]

§ २७४. स्यान्मतम्—नार्हन्निःशेषतत्त्ववेदी वक्तृत्वात्पुरुषत्वात्, ब्रह्मादिवत्, [1]इत्यनुमानात्सर्वज्ञत्वनिराकृतिः सिद्ध्यत्येव । सर्वज्ञविरुद्धस्यासर्वज्ञस्य कार्यं वचनं हि तदभ्युपगम्यमानं स्वकार्यं किञ्चिज्ज्ञत्वं[2] साधयति । तच्च सिद्ध्यत्स्वविरुद्धं निःशेषज्ञत्वं[3] निवर्त्तयतीति विरुद्धकार्योपलब्धिः, शीताभावे साध्ये धूमवत् । विरुद्धव्याप्तोपलब्धिर्वा । सर्वज्ञत्वेन हि विरुद्धमसर्वज्ञत्वम्, तेन च व्याप्तं वक्तृत्वमिति । एतेन पुरुषत्वोपलब्धिर्विरुद्धव्याप्तोपलब्धिरुक्ता । सर्वज्ञत्वेन हि विरुद्धमसर्वज्ञत्वम्, तेन च व्याप्तं पुरुषत्वमिति । तथा च सर्वज्ञो यदि वक्ताऽभ्युपगम्यते पुरुषो वा तदाऽपि[4] वक्तृत्वपुरुषत्वाभ्यां तदभावः सिद्ध्यतीति केचिदाचक्षते ।

§ २७५. तदेतदप्यनुमानद्वितयं त्रितयं वा परैः प्रोक्तं न सर्वज्ञस्य बाधकम्, अविनाभावनियमनिश्चयस्यासम्भवात् । हेतोर्विपक्षे बाधकप्रमाणाभावात् । असर्वज्ञे हि साध्ये तद्विपक्षः सर्वज्ञ एव तत्र च प्रकृतस्य हेतोर्न बाधकमस्ति । विरोधो बाधक इति चेत्, न, सर्वज्ञ[त्व]स्य वक्तृत्वेन विरोधासिद्धेः । तस्य तेन विरोधो हि सामान्यतो विशेषतो वा स्यात् ? न तावत्सामान्यतो वक्तृत्वेन सर्वज्ञत्वं विरुद्ध्यते, ज्ञानप्रकर्षे वक्तृत्वस्यापकर्षप्रसङ्गात् । यद्धि येन विरुद्धं

---

§ २७४. शंका—'अरहन्त सर्वज्ञ नहीं है, क्योंकि वह वक्ता है, पुरुष है, जैसे ब्रह्मा वगैरह।' इस अनुमानसे सर्वज्ञका अभाव सिद्ध होता है। प्रकट है कि सर्वज्ञसे विरुद्ध अल्पज्ञका कार्य वचन है। सो उसे स्वीकार करनेपर वह अपने कार्य अल्पज्ञताको सिद्ध करता है और वह (अल्पज्ञता) सिद्ध होती हुई अपनेसे विरुद्ध सम्पूर्णज्ञानरूप सर्वज्ञताका अभाव करती है। इस तरह यह विरुद्धकार्योपलब्धि हेतु है, जैसे शीतका अभाव सिद्ध करनेमें धूम। अथवा, विरुद्धव्याप्तोपलब्धि हेतु है। निःसन्देह सर्वज्ञतासे विरुद्ध असर्वज्ञता है और उसके साथ वक्तापना व्याप्त है। इसी तरह पुरुषपनाकी उपलब्धि भी विरुद्धव्याप्तोपलब्धि हेतु है। स्पष्ट है कि सर्वज्ञतासे विरुद्ध असर्वज्ञता है और उससे व्याप्त पुरुषपना है। अतएव यदि सर्वज्ञको वक्ता अथवा पुरुष स्वीकार करते हैं तो वक्तापना और पुरुषपनाद्वारा उसका अभाव सिद्ध होता है ?

§ २७५. समाधान—ये दोनों अथवा तीनों अनुमान भी, जो सर्वज्ञका अभाव करनेके लिये दूसरोंद्वारा कहे गये हैं, सर्वज्ञके बाधक नहीं हैं, क्योंकि उनमें अविनाभावरूप व्याप्तिका निश्चय असम्भव है। कारण, विपक्षमें हेतुका कोई बाधक प्रमाण नहीं है अर्थात् उपर्युक्त हेतु विपक्षव्यावृत्त नहीं हैं। स्पष्ट है कि यदि असर्वज्ञ साध्य हो तो उसका विपक्ष सर्वज्ञ ही है और वहाँ प्रकृत हेतुका कोई बाधक नहीं है। यदि कहा जाय कि सर्वज्ञता और वक्तापनका विरोध है और इस लिये वह बाधक है तो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि सर्वज्ञताका वक्तापनके साथ विरोध असिद्ध है। बतलाइये, उसका (सर्वज्ञताका) उसके (वक्तापनके) साथ जो विरोध है वह सामान्यसे है अथवा विशेषसे ? सामान्यसे तो सर्वज्ञताका वक्तापनके साथ विरोध नहीं है, क्योंकि ज्ञानके बढ़नेपर वक्तापनकी हानिका प्रसङ्ग आयेगा। प्रकट है कि जिसका जिसके साथ

---

1 मु 'इत्याद्यनु'। 2 मु स 'किञ्चिज्ज्ञत्वं'। 3 मु स 'निःशेषज्ञानं'। 4 मु स 'यदि वा पुरुषस्तथापि'।

तत्प्रकर्षे तस्यापकर्षो दृष्टः, यथा पावकस्य प्रकर्षे तद्विरोधिनो हिमस्य। न च ज्ञानप्रकर्षे वक्तृत्वस्यापकर्षो दृष्टस्तस्मान्न तत् तद्विरुद्धं वक्ता च स्यात्सर्वज्ञश्च स्यादिति सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिको हेतुर्न सर्वज्ञभावं साधयेत्। यदि पुनर्वक्तृत्वविशेषेण सर्वज्ञ[त्व]स्य विरोधोऽभिधीयते, तदा हेतुरसिद्ध एव। न हि परमात्मनो युक्तिशास्त्रविरुद्धो वक्तृत्वविशेषः सम्भवति। यः[१] सर्वज्ञविरोधी[1] तस्य युक्तिशास्त्राविरुद्धार्थवक्तृत्वानिश्चयात्[2]। न च युक्तिशास्त्राविरोधि वक्तृत्वं ज्ञानातिशयमन्तरेण दृष्टम्। ततः सकलार्थविषयं वक्तृत्वं युक्तिशास्त्राविरोधि सिद्धयत् सकलार्थवेदित्वमेव साधयेदिति वक्तृत्वविशेषो विरुद्धो हेतुः साध्यविपरीतसाधनात्।

§ २७६. तथा पुरुषत्वमपि सामान्यतः सर्वज्ञाभावसाधनायोपादीयमानं सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकमेव साध्यं न साधयेत्, विपक्षेण विरोधासिद्धेः, पुरुषश्च स्यात्कश्चित् सर्वज्ञश्चेति। न हि ज्ञानातिशयेन पुरुषत्वं[3] विरुद्धयते, कस्यचित्सातिशयज्ञानस्य महापुरुषत्वसिद्धेः। पुरुषत्वविशेषो हेतुश्चेत्, स यद्यज्ञानादिदोषदूषितपुरुषत्वमुच्यते, तदा हेतुरसिद्धः, परमेष्ठिनि तथाविधपुरुषत्वासम्भवात्। अथ निर्दोषपुरुषत्वविशेषो हेतुः, तदा विरुद्धः साध्यविपर्ययसाधनात्।

विरोध है उसके प्रकर्ष होने (बढ़ने) पर उसकी हानि देखी गई है, जैसे अग्निके बढ़नेपर उसके विरोधी ठण्डकी हानि देखी जाती है। लेकिन ज्ञानके बढ़नेपर वक्तापनकी हानि नहीं देखी जाती। इस कारण वक्तापन सर्वज्ञताका विरोधी नहीं है। अतएव वक्ता भी हो और सर्वज्ञ भी हो, कोई विरोध नहीं है और इस लिये यह वक्तापन हेतु सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिक है— विपक्षसे उसकी व्यावृत्ति सन्दिग्ध है। अतः वह सर्वज्ञका अभाव सिद्ध नहीं करता। यदि वक्तापनविशेषके साथ सर्वज्ञताका विरोध कहें तो हेतु असिद्ध है। स्पष्ट है कि सर्वज्ञके युक्ति-शास्त्रविरोधी वक्तापनविशेष सम्भव नहीं है। जो वक्तापनविशेष सर्वज्ञताका विरोधी है वह युक्ति-शास्त्राविरोधी वक्तापन नहीं है। और युक्ति-शास्त्राविरोधी वक्तापन विशिष्ट ज्ञानके बिना देखा नहीं गया। अतः सर्वज्ञका जो समस्त पदार्थोंको विषय करनेवाला वक्तापन है वह युक्ति-शास्त्राविरोधी सिद्ध होता हुआ उसकी सर्वज्ञताको ही सिद्ध करता है और इस लिये ऐसा वक्तापनविशेष यदि हेतु हो तो वह विरुद्ध हेत्वाभास है, क्योंकि वह साध्य—असर्वज्ञतासे विपरीत—सर्वज्ञताको सिद्ध करता है।

§ २७६. तथा पुरुषपना भी यदि सामान्यसे सर्वज्ञका अभाव सिद्ध करनेके लिये कहा जाय तो वह भी सन्दिग्धविपक्षव्यात्तिक हेतु है और इसलिये वह साध्य (असर्वज्ञता)को सिद्ध नहीं कर सकता, क्योंकि उसका विपक्षके साथ रहनेमें विरोध नहीं है, कोई पुरुष भी हो और सर्वज्ञ भी हो, दोनों बन सकता है। प्रकट है कि सातिशय ज्ञानके साथ पुरुषपनाका विरोध नहीं है, कोई सातिशय ज्ञानी महापुरुष प्रसिद्ध है। यदि पुरुषपनाविशेष हेतु हो तो वह यदि अज्ञानादिदोषदूषित पुरुषपनारूप कहें तो हेतु असिद्ध है, क्योंकि परमेष्ठी (सर्वज्ञ) में उस प्रकारका पुरुषपना सम्भव नहीं है। अगर निर्दोष पुरुषपनाविशेष हेतु हो तो वह विरुद्ध हेत्वाभास है, क्योंकि वह साध्य—असर्वज्ञतासे

---

१ वक्तृत्वविशेषः। 1 द 'यस्य सर्वज्ञविरोधि'। 2 मु प स 'युक्तिशास्त्राविरुद्धार्थवक्तृत्वनिश्चयात्' इति पाठः। स चासङ्गतः। मूले द प्रतेः पाठो निक्षिप्तः। 3 मु प स 'तत्पुरुषत्वं'।

सकलाज्ञानादिदोषविकलपुरुषत्वं हि परमात्मनि सिद्धयत् सकलज्ञानादिगुणप्रकर्षपर्यन्तगमनमेव साधयेत्, तस्य तेन व्याप्तत्वादिति नानुमानं सर्वज्ञस्य बाधकं बुद्ध्यामहे।

[उपमानस्य सर्वज्ञाबाधकत्वकथनम्]

§ २७७. नाप्युपमानम्, तस्योपमानोपमेयग्रहणपूर्वकत्वात्। प्रसिद्धे हि गोगवयोरुपमानोपमेयभूतयोः सादृश्ये दृश्यमानाद्गोर्गवये विज्ञानमुपमानम्, [1]सादृश्योपाध्युपमेयविषयत्वात्। तथा चोक्तम्—

"दृश्यमानाद्यदन्यत्र विज्ञानमुपजायते।
सादृश्योपाधितः कैश्चिदुपमानमिति स्मृतम्॥" [मीमांसाश्लो० वा०]

§ २७८. न चोपमानभूतानामस्मदादीनामुपमेयभूतानां चासर्वज्ञत्वेन साध्यानां पुरुषविशेषाणां साक्षात्करणं सम्भवति। न च तेष्वसाक्षात्करणेषु[2] तत्सादृश्यं प्रसिद्धयति। न चाप्रसिद्धतत्सादृश्यः सर्वज्ञाभाववादी 'सर्वेऽप्यसर्वज्ञाः पुरुषाः कालान्तरदेशान्तरवर्तिनो यथाऽस्मदादयः' इत्युपमानं कर्तुमुत्सहते जात्यन्ध इव दुग्धस्य वकोपमानम्। तत्साक्षात्करणे वा स एव

विपरीत—सर्वज्ञताको सिद्ध करता है। स्पष्ट है कि समस्त अज्ञानादि दोषरहित पुरुषपना परमात्मा (सर्वज्ञ) में सिद्ध होता हुआ समस्त ज्ञानादि गुणोंके परमप्रकर्षकी प्राप्तिको सिद्ध करेगा, क्योंकि वह उसके साथ व्याप्त है। इस प्रकार उक्त अनुमान सर्वज्ञका बाधक नहीं है।

§ २७७. उपमान भी सर्वज्ञका बाधक नहीं है, क्योंकि उपमानप्रमाण उपमानभूत और उपमेयभूत पदार्थोंके ग्रहणपूर्वक होता है। प्रकट है कि गाय और गवयका, जो उपमान और उपमेयभूत हैं, सादृश्य प्रसिद्ध हो जानेपर देखी गायसे जो गवयमें 'गायके समान गवय है' इस प्रकारका ज्ञान होता है उसे उपमानप्रमाण कहा जाता है, क्योंकि वह सदृशतारूप उपमेयको विषय करता है। अत एव कहा भी है :—

"देखे पदार्थसे जो दूसरे पदार्थमें सदृशतारूप उपाधिको लेकर ज्ञान उत्पन्न होता है उसे विद्वानोंने उपमान कहा है।" [मीमांसाश्लोक०]

२७८. पर उपमानभूत हमलोगोंका और असर्वज्ञरूपसे सिद्ध किये जानेवाले उपमेयभूत पुरुषविशेषोंका प्रत्यक्षज्ञान होना सम्भव नहीं है और उनका प्रत्यक्षज्ञान न होनेपर उनका सादृश्य प्रसिद्ध नहीं होता तथा जब सर्वज्ञाभाववादीके लिये उनका सादृश्य प्रसिद्ध नहीं है तब वह 'अन्य काल और अन्य देशवर्ती सभी पुरुष असर्वज्ञ हैं, जैसे हम लोग आदि' ऐसा उपमान करनेको उत्साहित नहीं हो सकता। जैसे जन्मसे अन्धेको दूधका बगलेका उपमान। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार जन्मसे अन्धे पुरुषको यह उपमानज्ञान नहीं हो सकता कि 'दूधके समान बगला है' क्योंकि उसने जन्मसे ही न दूधको देखा और न बगलेको। उसी प्रकार सर्वज्ञाभाववादी न तो त्रिलोक और त्रिकालवर्ती अशेष पुरुषविशेषोंको, जिन्हें असर्वज्ञ बतलाना है, प्रत्यक्ष जानता है और न त्रिलोक तथा त्रिकालगत समस्त हम लोगों आदिको, जिनके उपमान (सादृश्य) से अशेष पुरुषविशेषों (अर्हन्तों) को असर्वज्ञ सिद्ध करना है, प्रत्यक्ष जानता है। ऐसी हालतमें वह यह

---

1 द 'सादृश्योपाधिरूपोपमेयविषयत्वात्'। 2 द 'साक्षात्कृतेषु'।

सर्वज्ञ इति कथमुपमानं तदभावसाधनायालम् ?

[अर्थापत्तेः सर्वज्ञाबाधकत्वप्रतिपादनम्]

§ २७९. तथाऽर्थापत्तिरपि न सर्वज्ञरहितं जगत्सर्वदा साधयितुं क्षमा, क्षीणत्वात्, तस्याः साध्याविनाभावनियमाभावात् । 'सर्वज्ञेन रहितं जगत्[1] तत्कृतधर्माद्युपदेशासम्भवान्यथानुपपत्तेः' इत्यार्थापत्तिरपि न साधीयसी, सर्वज्ञकृतधर्माद्युपदेशासम्भवस्यार्थापत्त्युत्थापकस्यार्थस्य प्रत्यक्षाद्यन्यतमप्रमाणेन विज्ञातुमशक्तेः ।

§ २८०. नन्वपौरुषेयाद्वेदादेव धर्माद्युपदेशसिद्धेः, "धर्मे चोदनैव[2] प्रमाणम्" [ ] इति वचनात्, न धर्मादिसाक्षात्कारी कश्चित्पुरुषः सम्भवति यतोऽसौ धर्माद्युपदेशकारी स्यात् । ततः सिद्ध एव सर्वज्ञकृतधर्माद्युपदेशासम्भव इति चेत्; न; वेदादपौरुषेयाद्धर्माद्युपदेशनिश्चयायोगात् । स हि वेदः केनचिद्व्याख्यातो धर्मस्य प्रतिपादकः स्याद[3]व्याख्यातो वा ? प्रथमपक्षे तद्व्याख्याता रागादिमान् वीतरागो[1] वा ? रागादिमांश्चेत्, न तद्व्याख्यानाद्वेदार्थनिश्चयः, तदसत्यत्वस्य सम्भवात् । व्याख्याता हि रागाद् द्वेषादज्ञानाद्वा वितथार्थमपि व्याचक्षाणो दृष्ट इति वेदार्थं वितथमपि व्याचक्षीत, अवितथमपि[2] व्याचक्षीत, नियामकाभावात् । गुरुपर्वक्रमायातवेदार्थवेदी महाजनो नियामक इति चेत्, न, तस्यापि रागादिमत्त्वे यथार्थवेदित्वनिर्णयानुपपत्तेः, गुरुपर्वक्रमायातस्य वितथार्थस्यापि वेदे सम्भाव्यमानत्वादुपनिषद्वाक्यार्थवदीश्वराद्यर्थवाद[3]वद्वा । न हि स गुरुपर्वक्रमायातो न भवति वेदार्थो वा । न चावितथः प्रतिपद्यते मीमांसकैस्तद्वद् "अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः" [ ] इत्यादिवेदवाक्यस्याप्यर्थः कथं वितथः पुरुषव्याख्यानान्न शक्येत वक्तुम् ?

§ २८१. यदि पुनर्वीतरागद्वेषमोहो वेदस्य व्याख्याता प्रतिज्ञायते, तदा स एव पुरुषविशेषः सर्वज्ञः किमिति न क्षम्यते ? वेदार्थानुष्ठानपरायण एव वीतरागद्वेषः पुरुषोऽभ्युपगम्यते, वेदार्थव्या-

---

नहीं कह सकता कि 'अन्य काल और अन्य देशवर्ती सभी पुरुष असर्वज्ञ हैं, जैसे इस काल और इस देशवर्ती हम समस्त लोग ।' और यदि वह उन सबको प्रत्यक्ष जानता है तो वही सर्वज्ञ है और उस दशामें उपमानप्रमाण उसका अभाव सिद्ध करनेमें कैसे समर्थ है ? अर्थात् नहीं है ।

§ २७९. तथा अर्थापत्ति भी जगतको हमेशा सर्वज्ञरहित सिद्ध नहीं कर सकती, क्योंकि वह क्षीण है—अशक्त है और अशक्त इस लिये है कि उसकी साध्यके साथ अविनाभावरूप व्याप्ति नहीं है । 'संसार सर्वज्ञसे रहित है, क्योंकि यदि सर्वज्ञ हो तो सर्वज्ञकृत धर्मादिके उपदेशका अभाव नहीं हो सकता' इस प्रकारकी अर्थापत्ति भी साधक नहीं है । कारण, सर्वज्ञकृत धर्मादिके उपदेशका अभाव, जो अर्थापत्तिका जनक(उत्थापक) है, प्रत्यक्षादिक प्रमाणोंमेंसे किसी एक भी प्रमाणसे जाना नहीं जासकता । अर्थात् यह किसी भी प्रमाणसे प्रतीत नहीं है कि सर्वज्ञकृत अतीन्द्रिय धर्मादि पदार्थोंका उपदेश नहीं है ।

§ २८०. शंका—अपौरुषेय वेदसे ही धर्मादि अतीन्द्रिय पदार्थोंका उपदेश प्रसिद्ध है, क्योंकि "धर्मके विषयमें वेद ही प्रमाण है" [ ] ऐसा कहा गया है और इसलिये कोई पुरुष धर्मादिका प्रत्यक्षद्रष्टा सम्भव नहीं है जिससे वह धर्मादिका उपदेश करनेवाला हो । अतः सर्वज्ञकृत धर्मादिके उपदेशका अभाव सिद्ध ही है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि अपौरुषेय वेदसे धर्मादिके उपदेशका निश्चय असम्भव है अर्थात् अपौरुषेय वेदसे धर्मादि अतीन्द्रिय पदार्थोंका उपदेश नहीं बन सकता । हम पूछते हैं कि वह अपौरुषेय वेद किसीके द्वारा व्याख्यात (व्याख्यान किया गया) होकर धर्मका प्रतिपादक है अथवा अव्याख्यात (व्याख्यान न किया गया) ? यदि पहला पक्ष लें तो यह बतायें कि उसका व्याख्याता रागादिदोषयुक्त है अथवा रागादिदोषसे रहित ? यदि रागादिदोषयुक्त है तो उसके व्याख्यानसे वेदार्थका निश्चय (निर्णय) नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें असत्यपना सम्भव है । स्पष्ट है कि व्याख्याता रागसे, द्वेषसे अथवा अज्ञानसे मिथ्या अर्थको भी व्याख्यान करते हुए देखे जाते हैं और इस लिये वे वेदके अर्थको मिथ्या भी व्याख्यान कर सकते हैं और सम्यक् भी व्याख्यान कर सकते हैं, क्योंकि कोई नियमाक नहीं है अर्थात् ऐसा कोई विनिगमक नहीं है कि वे रागादिमाय् व्याख्याता वेदार्थका सम्यक् ही व्याख्यान करेंगे, मिथ्या नहीं ।

शंका—गुरु परम्पराके क्रमसे चले आये वेदके अर्थको जाननेवाला महाजन (विशिष्ट-पुरुष) वेदार्थके व्याख्यानमें नियामक है और इसलिये वेदार्थव्याख्याता वेदार्थका सम्यक् ही व्याख्यान करते हैं, मिथ्या नहीं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि वह महाजन भी यदि रागादिदोषयुक्त है तो वह वेदार्थको याथार्थ जानने वाला है, यह निर्णय नहीं हो सकता । कारण, गुरुपरम्पराके क्रमसे चला आया मिथ्या अर्थ भी वेदमें सम्भव है, जैसे उपनिषद्वाक्यका अर्थ (ब्रह्म) अथवा ईश्वरादि अर्थवाद (ईश्वरस्तुति) । तात्पर्य यह कि यद्यपि उपनिषद्वाक्य वेदवाक्य ही है पर ब्रह्माद्वैतवादी उसका ब्रह्म अर्थ और नैयायिक-वैशेषिक ईश्वरादि अर्थस्तुति करते हैं । और यह नहीं कि वह गुरुपरम्पराके क्रमसे चला आया नहीं है, अथवा वेदार्थ नहीं है । पर मीमांसक उसे सम्यक् नहीं बतलाते । उसी प्रकार "जिसे स्वर्गकी इच्छा है वह ज्योतिष्टोम याग करे" [ ] इत्यादि वेदवाक्यका भी अर्थ पुरुषका व्याख्यान होनेसे मिथ्या क्यों नहीं कहा जासकता ? अर्थात् वह भी मिथ्या कहा जासकता है, क्योंकि उसका व्याख्याता रागादिदोषयुक्त पुरुष है ।

§ २८१. यदि वेदका व्याख्याता राग, द्वेष और मोह (अज्ञान) से रहित पुरुष स्वीकार करें तो उस पुरुषविशेषको ही सर्वज्ञ क्यों नहीं मान लिया जाता ? अर्थात् उसे ही सर्वज्ञ मान लेना चाहिए ।

शंका—वेदार्थके अनुष्ठानमें प्रवीण पुरुषको ही हम राग-द्वेषरहित मानते

---

1 द 'जगत्त्रयं' । 2 द 'नोदनैव' । 3 द 'दथाव्याख्या' ।

1 मु स 'विरागो' । 2 द 'अवितथमपि व्याचक्षीत्' पाठो नास्ति । 3 मु स 'श्वराद्यर्थवद्वा' ।

ख्यानविषय एव रागद्वेषाभावान्न पुनर्वीतसकलविषयरागद्वेषः कश्चित्, कस्यचित्क्वचिद्विषये वीतरागद्वेषस्यापि विषयान्तरे रागद्वेषदर्शनात्। तथा वेदार्थविषय एव वीतमोहः[1] पुरुषस्तद्व्याख्याताऽभ्यनुज्ञायते न सकलविषये, कस्यचित्क्वचित्सातिशयज्ञानसद्भावेऽपि विषयान्तरेष्वज्ञानदर्शनात्। न च सकलविषयरागद्वेषप्रक्षयो ज्ञानप्रकर्षो वा वेदार्थ[2]व्याचक्षाणस्योपयोगी। यो हि यद्व्याचष्टे तस्य तद्विषयरागद्वेषाज्ञानाभावः प्रेक्षावद्भिरन्विष्यते, रागादिमतो विप्रलम्भसम्भवात्, न पुनः सर्वविषये, [3]कस्यचित्क्वचिच्छास्त्रान्तरे यथार्थव्याख्याननिर्णयविरोधात्। तथापि तदन्वेषणे[4] च सर्वज्ञवीतराग एव सर्वस्य शास्त्रस्य व्याख्याताऽभ्युपगन्तव्य इत्यसर्वज्ञशास्त्रव्याख्यानव्यवहारो निखिलजनप्रसिद्धोऽपि न भवेत्। न चैदंयुगीनशास्त्रार्थ[5]व्याख्याता कश्चित्प्रक्षीणाशेषरागद्वेषः सर्वज्ञः प्रतीयते, इति नियतविषयशास्त्रार्थपरिज्ञानं तद्विषयरागद्वेषरहितत्वं च यथार्थव्याख्याननिबन्धनं तद्व्याख्यातुरभ्युपगन्तव्यम्। तच्च वेदार्थव्याचक्षाणस्यापि ब्रह्म-प्रजापति-मनु-जैमिन्यादे[6]र्विद्यते एव, तस्य [7]वेदार्थविषयाज्ञानरागद्वेषविकलत्वात्। अन्यथा तद्व्याख्यानस्य शिष्टपरम्परया

हैं, क्योंकि वेदार्थके व्याख्यानविषयमें ही उसके राग और द्वेषका अभाव है न कि कोई सम्पूर्ण विषयमें रागद्वेषरहित है। कारण, कोई किसी विषयमें राग-द्वेषरहित होता हुआ भी दूसरे विषयमें रागी और द्वेषी देखा जाता है। इसी तरह वेदार्थव्याख्याता पुरुषको हम वेदार्थविषयमें ही मोह (अज्ञान) रहित स्वीकार करते हैं, सम्पूर्ण विषयमें नहीं, क्योंकि कोई किसी विषयमें विशिष्ट ज्ञानी होनेपर भी दूसरे विषयोंमें उसके अज्ञान देखा जाता है। दूसरी बात यह है कि वेदार्थका व्याख्यान करनेवालेके लिये समस्तविषयक राग-द्वेषका अभाव और ज्ञानका प्रकर्ष (समस्त पदार्थोंका ज्ञान) उपयोगी नहीं है। प्रकट है कि जो जिसका व्याख्याता है उसके उस विषयका राग-द्वेष और अज्ञानका अभाव प्रेक्षावान् स्वीकार करते हैं; क्योंकि वह उस विषयमें यदि रागादियुक्त होगा तो उसके विप्रलम्भ—अन्यथा कथन सम्भव है। प्रेक्षावान् उसे सब विषयमें रागादिरहित नहीं मानते हैं, क्योंकि किसी व्यक्तिके दूसरे शास्त्रमें यथार्थ व्याख्यान करनेका निश्चय नहीं बनता है। फिर भी उसके सब विषयमें रागादिका अभाव मानें तो सर्वज्ञवीतराग ही सब शास्त्रोंका व्याख्याता स्वीकार करना चाहिये और इस तरह असर्वज्ञकृत शास्त्रव्याख्यानका लोकप्रसिद्ध व्यवहार भी नहीं होसकेगा। इसके अलावा, इस युगका कोई शास्त्रार्थव्याख्याता सर्वथा रागद्वेषरहित और सर्वज्ञ प्रतीत नहीं होता। अतः कुछ विषयोंका शास्त्रार्थ-ज्ञान और कुछ विषयोंके रागद्वेषरहितपनेको ही यथार्थ व्याख्यानका कारण उन विषयोंके व्याख्याताके मानना चाहिये और यथार्थ व्याख्यानकी कारणभूत ये दोनों बातें वेदार्थका व्याख्यान करनेवाले ब्रह्म, प्रजापति, मनु और जैमिनि आदिके भी मौजूद ही हैं, क्योंकि वे वेदार्थके विषयमें अज्ञान, राग और द्वेषरहित हैं। यदि ऐसा न हो तो उनका व्याख्यान शिष्टपरम्पराद्वारा ग्रहण नहीं हो सकता। इसलिये वेदका

1 मु स प 'वीतमोहपुरुष'। 2 मु स प 'वेदार्थं व्या'। 3 मु स प 'कस्यचिच्छास्त्रा'। 4 द 'तथापि तदन्वेषणे च' पाठस्थाने 'तथा च'। 5 मु स 'शास्त्रव्याख्या'। 6 द 'मनुप्रमुखस्य जैमिन्या'। 7 द 'तदर्थ'।

परिग्रहविरोधात्। ततो वेदस्य व्याख्याता तदर्थज्ञ एव न पुनः सर्वज्ञः, तद्विषयरागद्वेषरहित एव न पुनः सकलविषयरागद्वेषशून्यो यतः सर्वज्ञो वीतरागश्च पुरुषविशेषः क्षम्यत इति केचित्; तेऽपि न मीमांसकाः; सकलसमयव्याख्यानस्य यथाथतानुषङ्गात्[1]।

§ २८२. स्यान्मतम्—समयान्तराणां व्याख्यानं न यथार्थम्, बाधकप्रमाणसद्भावात्, प्रसिद्धमिथ्योपदेशव्याख्यानवत्, इति; तदपि न विचारक्षमम्; वेद[ार्थ]व्याख्यानस्यापि बाधकसद्भावात्। यथैव हि सुगत-कपिलादिसमयान्तराणां परस्परविरुद्धार्थाभिधायित्वं बाधकं तथा भावना-नियोग-विधिधात्वर्थादिवेदवाक्यार्थव्याख्यानानामपि तत्प्रसिद्धमेव। न चैतेषां मध्ये भावनामात्रस्य नियोगमात्रस्य विधिमात्रस्य[2] वा वेदवाक्यार्थस्यान्ययोगव्यवच्छेदेन निर्णयः कर्त्तुं शक्यते, सर्वथाविशेषाभावात्। तत्राक्षेपसमाधानानां समानत्वादिति देवागमालङ्कृतौ तत्त्वार्थालङ्कारे विद्यानन्दमहोदये च विस्तरतो निर्णीतं प्रतिपत्तव्यम्। ततो न केनचित्पुरुषेण व्याख्याताद्वेदाद्धर्माद्युपदेशः

व्याख्याता वेदार्थज्ञ ही है, सर्वज्ञ नहीं तथा वेदार्थविषयमें ही वह रागद्वेषरहित है, समस्त विषयमें रागद्वेषरहित नहीं है, जिससे सर्वज्ञ और वीतराग पुरुषविशेष स्वीकार किया जाय?

समाधान—आप विचारक नहीं हैं, क्योंकि इस तरह समस्त मतोंका व्याख्यान यथार्थ हो जायगा। तात्पर्य यह कि जिस पद्धतिसे आप वेदार्थव्याख्यानमें अज्ञानादि-दोषोंके अभावका समर्थन करते हैं उसी पद्धतिसे सभी मतानुयायिओंके शास्त्रार्थ-व्याख्यान भी उक्तदोषोंसे रहित सिद्ध हो सकते हैं और उस हालतमें उन्हें अप्रमाण नहीं कहा जासकता।

§ २८२. शंका—मतान्तरोंके व्याख्यान यथार्थ नहीं हैं, क्योंकि उनमें बाधक प्रमाण मौजूद हैं, जैसे प्रसिद्ध मिथ्या उपदेशोंके व्याख्यान?

समाधान—यह शंका भी विचारसह नहीं है, क्योंकि वेदार्थव्याख्यानमें भी बाधक विद्यमान हैं। प्रकट है कि जिस प्रकार सुगत, कपिल आदिके मतोंके व्याख्यानोंमें परस्परविरोधी अर्थका प्रतिपादनरूप बाधक मौजूद है उसी प्रकार भावना, नियोग और विधिरूप धात्वर्थ आदि वेदार्थव्याख्यानोंमें भी वह (परस्परविरोधी अर्थका प्रतिपादनरूप बाधक) प्रसिद्ध है। और इन व्याख्यानोंमें केवल भावना, केवल नियोग अथवा केवल विधि ही वेदवाक्यका अर्थ है, अन्य नहीं, ऐसा दूसरेका निराकरणपूर्वक निर्णय करना शक्य नहीं है, क्योंकि उनमें एक-दूसरेसे कुछ भी विशेषता नहीं है—एक अर्थसे भिन्न दूसरे अर्थोंमें आक्षेप और समाधान दोनों समान हैं अर्थात् उन अर्थोंमें जो आपत्तियाँ प्रस्तुत की जा सकती हैं उनके परिहार भी उपस्थित किये जासकते हैं और इसलिये आक्षेप तथा समाधान दोनों बराबर हैं। इस बातका देवागमालङ्कृति (अष्टसहस्री), तत्त्वार्थालङ्कार (तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक) और विद्यानन्दमहोदयमें विस्तारसे निर्णय किया गया है, अत एव वहाँसे जानना चाहिये। अतः किसी पुरुषद्वारा व्याख्यात वेदसे धर्मादिकका उपदेश व्यवस्थित नहीं होता। अव्याख्यात वेदसे भी

1 मु 'यथार्थभावानु'। 2 मु स द प्रतिषु पाठोऽयं नास्ति।

समवतिष्ठते । नाप्यान्याख्यातात्, तस्य स्वयं स्वार्थप्रतिपादकत्वेन तदर्थविप्रतिपत्त्यभावप्रसङ्गात् । दृश्यते च तदर्थविप्रतिपत्तिर्वेदवादिनामिति न वेदाद्धर्माद्युपदेशस्य सम्भवः, पुरुषविशेषादेव सर्वज्ञवीतरागात्तस्य सम्भवात् । ततो न धर्माद्युपदेशासम्भवः, पुरुषविशेषस्य सिद्धेः, यः सर्वज्ञरहितं जगत् साधयेदिति कुतोऽर्थापत्तिः सर्वज्ञस्य बाधिका ?

[आगमस्य सर्वज्ञाबाधकत्ववर्णनम्]

§ २८३. यदि पुनरागमः सर्वज्ञस्य बाधकः, [1]तदाऽप्यसावपौरुषेयः पौरुषेयो वा ? न तावदपौरुषेयः, तस्य कार्यादर्थादन्यत्र परैः प्रामाण्यानिष्टेरन्यथाऽनिष्टसिद्धिप्रसङ्गात् । नापि पौरुषेयः, तस्यासर्वज्ञप्रणीतस्य[2] प्रामाण्यानुपपत्तेः । सर्वज्ञप्रणीतस्य तु परेषामसिद्धेरन्यथा सर्वज्ञसिद्धेस्त[3]दभावायोगादिति न प्रभाकरमतानुसारिणां प्रत्यक्षादिप्रमाणानामन्यतममपि प्रमाणं सर्वज्ञाभावसाधनायालम्, यतः सर्वज्ञस्य बाधकमभिधीयते ।

[अभावप्रमाणस्यानुपपत्त्यैव सर्वज्ञाबाधकत्वमिति प्रतिपादयति]

§ २८४. भट्टमतानुसारिणामपि सर्वज्ञस्या[4]भावसाधनमभावप्रमाणं नोपपद्यत एव । तद्धि सदुपलम्भक[5]प्रमाणपञ्चकनिवृत्तिरूपम्, सा च सर्वज्ञविषयसदुपलम्भकप्रमाणपञ्चकनिवृत्तिरा-

वह नहीं बनता है, क्योंकि वह स्वयं अपने अर्थका प्रतिपादक होनेसे उसके अर्थमें विप्रतिपत्ति (विवाद) के अभावका प्रसंग आता है। तात्पर्य यह कि अन्याख्यात वेद जब स्वयं अपने अर्थका प्रतिपादक है तो उसके अर्थमें विवाद नहीं होना चाहिये और उससे एक ही अर्थ प्रतिपादित होना चाहिए। पर वेदवादियोंके उसके अर्थमें विवाद देखा जाता है—एक ही वेदवाक्यका भाट्ट भावना, ब्रह्माद्वैतवादी विधि और प्राभाकर नियोग अर्थ बतलाते हैं और ये तीनों परस्परविरुद्ध हैं। अतः वेदसे धर्मादिका उपदेश सम्भव नहीं है, किन्तु सर्वज्ञ और वीतराग पुरुषविशेषसे ही वह सम्भव है। अतएव धर्मादिका उपदेश असम्भव नहीं है, क्योंकि पुरुषविशेष सिद्ध है जिससे वह (धर्मादिके उपदेशका अभाव) जगतको सर्वज्ञरहित सिद्ध करता। ऐसी हालतमें अर्थापत्ति सर्वज्ञकी बाधक कैसे हो सकती है ? अर्थात् नहीं हो सकती है।

§ २८३. यदि कहा जाय कि आगम सर्वज्ञका बाधक है तो बतलाइये, वह आगम अपौरुषय है या पौरुषेय ? अपौरुषेय आगम तो सर्वज्ञका बाधक हो नहीं सकता, क्योंकि आप मीमांसकोंने उसे यज्ञादिकार्यरूप अर्थके अतिरिक्त दूसरे विषयमें प्रमाण नहीं माना है। अन्यथा अनिष्टसिद्धिका प्रसंग आवेगा। पौरुषेय आगम भी सर्वज्ञका बाधक नहीं है, क्योंकि असर्वज्ञपुरुषरचित आगम तो प्रमाण नहीं है—अप्रमाण है। और सर्वज्ञपुरुषरचित आगम मीमांसकोंके असिद्ध है। अन्यथा सर्वज्ञपुरुषकी सिद्धि हो जानेसे उसका अभाव नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार प्राभाकरोंके प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाणोंमेंसे एक भी प्रमाण सर्वज्ञका अभाव सिद्ध करनेमें समर्थ नहीं है।

भाट्टोंका भी सर्वज्ञके अभावका साधक अभावप्रमाण नहीं बनता है। प्रकट है कि वह अस्तित्वके साधक पाँच प्रमाणोंकी निवृत्तिरूप है। सो वह सर्वज्ञको विषय

1 द 'तदापि स' । 2 मु स 'स्यासर्वज्ञपुरुषप्रणीतस्य' । 3 मु स प 'ततस्तदभावा' । 4 मु स 'सर्वज्ञाभाव' । 5 मु 'सदुपलम्भप्रमा'

त्मनोऽपरिणामो वा, विज्ञानं वाऽन्यवस्तुनि स्यात् ? गत्यन्तराभावात् । न तावत्सर्वज्ञविषयप्रत्यक्षादिप्रमाणरूपेणात्मनो[1]ऽपरिणामः सर्वज्ञस्याभावसाधकः, सत्यपि सर्वज्ञे तत्सम्भवात्, तद्विषयस्य ज्ञानस्यासम्भवात्तस्यातीन्द्रियत्वात्परचेतोवृत्तिविशेषवत् । नापि[2] निषेध्यात्सर्वज्ञादन्यवस्तुनि विज्ञानम्, तदेकज्ञानसंसर्गिणः कस्यचिद्वस्तुनोऽभावात्, घटैकज्ञानसंसर्गिभूतलवत् । न हि यथा घटभूतलयोश्चाक्षुषैकज्ञानसंसर्गात्केवलभूतले प्रतिषेध्याद् घटादन्यत्र वस्तुनि विज्ञानं घटाभावव्यवहारं साधयति तथा[3] प्रतिषेध्यात्सर्वज्ञादन्यत्र वस्तुनि विज्ञानं न तदभावसाधनसमर्थं सम्भवति । सर्वज्ञस्यातीन्द्रियत्वात्तद्विषयज्ञानस्यासम्भवात्तदेकज्ञानसंसर्गिणोऽस्मदादिप्रत्यक्षस्य कस्यचिद्वस्तुनोऽनभ्युपगमात् । अनुमानाद्येकज्ञानेन सर्वज्ञतदन्यवस्तुनोः संसर्गात्सर्वज्ञैकज्ञानसंस-

करनेवाले अस्तित्वसाधक पाँच प्रमाणोंकी निवृत्ति आत्माका अपरिणाम है अथवा अन्य वस्तुमें ज्ञान ? अन्य विकल्पका अभाव है। सर्वज्ञविषयक प्रत्यक्षादि प्रमाण रूपसे आत्माका अपरिणाम तो सर्वज्ञका अभावसाधक नहीं है, क्योंकि वह सर्वज्ञके सद्भावमें भी रह सकता है। कारण, कोई यह नहीं जान सकता कि 'यह पुरुष सर्वज्ञ है' क्योंकि वह अतीन्द्रिय है—इन्द्रियगोचर नहीं है, जैसे दूसरेके मनकी विशेष बात। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार दूसरेके मनकी विशेष बात जाननेमें नहीं आती फिर भी उसका सद्भाव है और इसलिये उसका अभाव नहीं किया जा सकता है उसी प्रकार किसीको सर्वज्ञका प्रत्यक्षादिप्रमाणोंसे ज्ञान न हो—अज्ञान हो तो उससे सर्वज्ञका अभाव नहीं हो सकता है, क्योंकि आत्मामें सर्वज्ञविषयक अज्ञान रहनेपर भी उसका सद्भाव बना रह सकता है। कारण, वह अतीन्द्रिय है। फलितार्थ यह हुआ कि अदृश्यानुपलब्धि अभावकी व्यभिचारिणी है और इस लिये वह अभावकी साधक नहीं है। किन्तु दृश्यानुपलब्धि अभावकी साधक है—जो उपलब्धियोग्य होनेपर भी उपलब्ध न हो उसका अभाव किया जाता है। जो उपलब्धियोग्य नहीं है उसका अभाव नहीं किया जा सकता। अतएव सर्वज्ञ उपलब्धि-अयोग्य होनेसे उसका अभावप्रमाणसे अभाव नहीं किया जा सकता है। अतः अदृश्यानुपलब्धिरूप सर्वज्ञविषयक प्रत्यक्षादिप्रमाणरूपसे आत्माका अपरिणाम सर्वज्ञके अभावका साधक नहीं है। और न निषेध्य—सर्वज्ञसे अन्य वस्तुमें होनेवाला ज्ञान भी सर्वज्ञके अभावका साधक है, क्योंकि सर्वज्ञके एक ज्ञानसे संसर्गी कोई वस्तु नहीं है, जैसे घटके एकज्ञानसे संसर्गी भूतल। प्रकट है कि जिस प्रकार घट और भूतलके एक चाक्षुषज्ञानसंसर्गसे घटशून्य भूतलमें प्रतिषेध्य घटसे अन्य वस्तुमें होनेवाला 'इस भूतलमें घड़ा नहीं है' इस प्रकारका ज्ञान घटाभावके व्यवहारको कराता है उस प्रकार प्रतिषेध्य सर्वज्ञसे अन्य वस्तुमें होनेवाला ज्ञान सर्वज्ञाभावको सिद्ध करनेमें समर्थ सम्भव नहीं है। कारण, सर्वज्ञ अतीन्द्रिय है और इस लिये सर्वज्ञविषयक ज्ञान असम्भव है। अतएव सर्वज्ञके एकज्ञानसे संसर्गी हम लोगों आदिकी प्रत्यक्षभूत कोई वस्तु स्वीकार नहीं की गई है। यदि कहा जाय कि अनुमानादि किसी एकज्ञानसे सर्वज्ञ और उससे अन्य वस्तुका संसर्ग बन सकता है और इसलिये

1 द 'प्रत्यक्षादिप्रमाणनिवृत्तिरूपेणात्मनः परिणामः' । 2 द 'नापि अन्यवस्तुन्यन्यस्य विज्ञानं' । 3 द 'न हि तथा' ।

गिणि क्वचिदनुमेयेऽर्थेऽनुमानज्ञानं सम्भवत्येवेति चेत्, न, तथा [1]क्वचित्कदाचित्कस्यचित्सर्वज्ञस्य सिद्धिप्रसङ्गात्, सर्वत्र सर्वदा सर्वस्य सर्वज्ञस्याभावे कस्यचिद्वस्तुनस्तेनैकज्ञानसंसर्गायोगात्तदन्यवस्तुविज्ञानलक्षणादभावप्रमाणात्सर्वज्ञाभावसाधनविरोधात् ।

§ २८५. किञ्च, गृहीत्वा निषेध्याधारवस्तुसद्भावं स्मृत्वा च तत्प्रतियोगिनं निषेध्यमर्थं नास्तीति ज्ञानं मानसमक्षानपेक्षं जायत इति येषां दर्शनं तेषां निषेध्यसर्वज्ञाधारभूतं त्रिकालं भुवनत्रयं च कुतश्चित्प्रमाणाद् ग्राह्यम्, तत्प्रतियोगी च प्रतिषेध्यः सर्वज्ञः स्मर्त्तव्य एव, अन्यथा तत्र नास्तिताज्ञानस्य मानसस्याक्षानपेक्षस्या[2]नुपपत्तेः । न च निषेध्याधारत्रिकालजगत्त्रयसद्भावग्रहणं कुतश्चित्प्रमाणान्मीमांसकस्यास्ति । नापि प्रतिषेध्यसर्वज्ञस्य स्मरणम्[3], तस्य

सर्वज्ञके एकज्ञानसे संसर्गी किसी अनुमेय पदार्थमें अनुमानज्ञान सम्भव है, तो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस तरह कहीं कभी किसीके सर्वज्ञकी सिद्धि हो जायगी। अत एव सब जगह, सब कालमें और सबके सर्वज्ञका अभाव माननेपर किसी वस्तुका उसके साथ एकज्ञानसंसर्ग नहीं बन सकता है। ऐसी हालतमें सर्वज्ञसे अन्य वस्तुमें होनेवाले ज्ञानरूप अभावप्रमाणसे सर्वज्ञका अभाव सिद्ध नहीं होता । तात्पर्य यह कि जिस प्रकार घट और भूतल एक ही चाक्षुषज्ञानद्वारा ग्रहण होते हैं और जब घटरहित केवल भूतलका ही ग्रहण होता है तो वहाँ 'यहाँ भूतलमें घड़ा नहीं है, क्योंकि उपलब्धियोग्य होनेपर भी उपलब्ध नहीं होता' इस प्रकारसे घटका अभाव सिद्ध होता है उस प्रकार निषेध किया जानेवाला सर्वज्ञ और निषेधस्थान तीनों लोक और तीनों कालरूप वस्तु एक ही चाक्षुषादिज्ञानसे ग्रहण नहीं होते, क्योंकि सर्वज्ञ अतीन्द्रिय है और समस्त निषेधस्थान त्रिलोक तथा त्रिकालरूप वस्तु इन्द्रियद्वारा ग्रहण नहीं होती और इसलिये अन्य वस्तुमें ज्ञानरूप अभावप्रमाण बनता ही नहीं । अनुमानादिज्ञानसे सर्वज्ञ और तदन्य वस्तुका ग्रहण यदि माना जाय तो वह भी मीमांसकोंके यहाँ सम्भव नहीं है, क्योंकि सब जगह और सब कालोंमें तथा सबके सर्वज्ञका अभाव माननेवालोंके यहाँ सर्वज्ञविषयक अनुमान ज्ञान सम्भव नहीं है । अतः अन्य वस्तुमें ज्ञानरूप दूसरे विकल्पसे भी सर्वज्ञका अभाव सिद्ध नहीं होता।

§ २८५. अपिच, जहाँ निषेध किया जाता है उसके सद्भावको ग्रहण करके और उसके प्रतियोगीका स्मरण करके 'नहीं है' इसप्रकारका इन्द्रियनिरपेक्ष मानसिक नास्तिताज्ञान (अभावप्रमाणज्ञान) होता है, यह जिनका सिद्धान्त है उन्हें निषेध्य—सर्वज्ञके आधारभूत तीनों काल और तीनों जगतका किसी प्रमाणसे ग्रहण करना चाहिये और उसके प्रतियोगी प्रतिषेध्य सर्वज्ञका स्मरण होना चाहिए। अन्यथा इन्द्रियनिरपेक्ष मानसिक अभावज्ञान नहीं होसकता है। पर निषेध्यके आधारभूत त्रिकाल और तीनों जगतके सद्भावका ग्रहण किसी प्रमाणसे मीमांसकके नहीं है। और न ही प्रतिषेध्य-

1 मु स 'क्वचित्सर्वज्ञस्य'। 2 मु स 'अक्षानपेक्षस्य' पाठो नास्ति। तत्र स त्रुटितः प्रतीयते —सम्पा०। 3 द 'सर्वज्ञस्मरणं'।

प्रागननुभूतत्वात् । पूर्वं तदनुभवे वा क्वचित् सर्वत्र सर्वदा[1] सर्वज्ञाभावसाधनविरोधात् ।

§ २८६. ननु च पराभ्युपगमात्सर्वज्ञः सिद्धः, तदाधारभूतं च त्रिकालं भुवनत्रयं सिद्धम्, तत्र श्रुतसर्वज्ञस्मरणनिमित्तं तदाधारवस्तुग्रहणनिमित्तं च सर्वज्ञे नास्तिताज्ञानं मानसमक्षानपेक्षं युक्तमेवेति चेत्; न; स्वेष्टबाधनप्रसङ्गात् । पराभ्युपमस्य हि प्रमाणत्वे[2] तेन सिद्धं सर्वज्ञं प्रतिषेधतोऽभावप्रमाणस्य तद्बाधनप्रसङ्गात् । तस्याप्रमाणत्वे न ततो निषेध्याधारवस्तुग्रहणं निषेध्यसर्वज्ञस्मरणं[3] वा तथ्यं[4] स्यात् । तदभावे तत्र सर्वज्ञेऽभावप्रमाणं न प्रादुर्भवेदिति तदेव स्वेष्टबाधनं दुर्वारमायातम् ।

§ २८७. नन्वेवं मिथ्यैकान्तस्य प्रतिषेधः स्याद्वादिभिः कथं विधीयते[5] ? तस्य क्वचित्कथञ्चित्कदाचिदनुभवाभावे स्मरणासम्भवात्, तस्याननुस्मर्यमाणस्य प्रतिषेधायोगात् । क्वचित्क-

सर्वज्ञका उसके स्मरण है, क्योंकि उसने उसका पहले कभी अनुभव ही नहीं किया है। यदि पहले उसका कहीं अनुभव हो तो सब जगह और सब कालमें सर्वज्ञका अभाव सिद्ध नहीं किया जासकता है।

§ २८६. शंका—सर्वज्ञवादियोंके स्वीकारसे सर्वज्ञ सिद्ध है और उसके आधारभूत तीनों काल और तीनों जगत भी सिद्ध हैं। और इसलिये सुने सर्वज्ञके स्मरण और सर्वज्ञके आधारभूत तीनों कालों तथा तीनों लोकोंके ग्रहणपूर्वक सर्वज्ञमें इन्द्रियनिरपेक्ष मानसिक 'सब जगह और सब कालमें सर्वज्ञ नहीं है' इस प्रकारका अभावज्ञान युक्त है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि इस तरह आपके इष्ट मतमें बाधा आती है। प्रकट है कि सर्वज्ञवादियोंका स्वीकार यदि प्रमाण है तो उससे सिद्ध सर्वज्ञका निषेध करनेवाले अभावप्रमाणकी उससे बाधा प्रसक्त होती है। और यदि वह अप्रमाण है तो उससे न निषेध्य (सर्वज्ञ) की आधारभूत वस्तुका ग्रहण यथार्थ (प्रमाण) हो सकता है और न निषेध्य सर्वज्ञका स्मरण यथार्थ (सत्य) हो सकता है। तात्पर्य यह कि जब सर्वज्ञवादियोंका सर्वज्ञाभ्युपगम मीमांसकोंके लिये प्रमाण नहीं है तो उनसे उन्हें निषेध किये जानेवाले सर्वज्ञके आधारभूत त्रिलोक और त्रिकालका ज्ञान और निषेध्य सर्वज्ञरूप प्रतियोगीका स्मरण दोनों ही प्रमाण नहीं होसकते हैं। और जब वे दोनों प्रमाण नहीं होसकते हैं तो सर्वज्ञके विषयमें अभावप्रमाण उद्भूत नहीं होसकता है अर्थात् सर्वज्ञनिषेधक अभावप्रमाण नहीं बनता है और इस तरह आपके इष्ट मतमें वही अपरिहार्य बाधा आती है।

§ २८७. शंका—यदि आप (स्याद्वादी) हमारे सर्वज्ञके निषेध करनेमें उक्त बाधादोष देते हैं तो आप मिथ्या एकान्तका निषेध कैसे करते हैं ? क्योंकि उसका आपको कहीं किसी तरह कभी अनुभव न होनेसे स्मरण नहीं बन सकता है और बिना स्मरण

1 द 'सर्वदा सर्वत्र'। 2 मु स 'प्रमाणप्रसिद्धत्वे'। 3 द 'सर्वज्ञश्रवणं'। 4 द 'तथा'। 5 द 'कथमभिधीयते'।

दाचित्तदनुभवे वा सर्वथा तत्प्रतिषेधविरोधात् । पराभ्युपगमात्प्रसिद्धस्य मिथ्यैकान्तस्य स्मर्यमाणस्य प्रतिषेधेऽपि स पराभ्युपगमः प्रमाणमप्रमाणं वा ? यदि प्रमाणम्, तदा तेनैव[1] मिथ्यैकान्तस्याभावसाधनाय प्रवर्त्तमानं प्रमाणं बाध्यते, इति स्याद्वादिनामपि स्वेष्टबाधनम् । यदि पुनरप्रमाणं पराभ्युपगमः, तदाऽपि ततः सिद्धस्य मिथ्यैकान्तस्य स्मर्यमाणस्य नास्तीति ज्ञानं प्रजायमानं मिथ्यैव स्यादिति तदेव स्वेष्टबाधनं परेषामिवेति न मन्तव्यम्, स्याद्वादिनामनेकान्तसिद्धेरेव मिथ्यैकान्तनिषेधनस्य व्यवस्थानात् । प्रमाणतः प्रसिद्धे हि [2]बहिरन्तर्वस्तुन्यनेकान्तात्मनि तत्राध्यारोप्यमाणस्य मिथ्यैकान्तस्य दर्शनमोहोदयाकुलितचेतसां बुद्धौ विपरीताभिनिवेशस्य प्रतिभासमानस्य प्रतिषेधः क्रियते, प्रतिषेधव्यवहारो वा प्रवर्त्तते, [3]विप्रतिपन्नप्र-

किये उसका प्रतिषेध हो नहीं सकता। यदि कहीं, कभी उसका अनुभव स्वीकार करें तो सर्वथा उसका प्रतिषेध नहीं होसकता है। यदि कहें कि एकान्तवादी मिथ्या एकान्तको स्वीकार करते हैं और इसलिये उनके स्वीकारसे प्रसिद्ध एवं स्मरण किये गये मिथ्या एकान्तका प्रतिषेध किया जाता है तो बतलाइये वह एकान्तवादियोंका स्वीकार प्रमाण है अथवा अप्रमाण? यदि प्रमाण है तो उससे ही मिथ्या एकान्तका अभाव सिद्ध करनेके लिये प्रवृत्त हुआ प्रमाण बाधित होजाता है और इस तरह स्याद्वादियोंके भी अपने इष्टकी बाधाका दोष आता है। यदि आप यह कहें कि एकान्तवादियोंका स्वीकार अप्रमाण है तो उस हालतमें भी उससे सिद्ध एवं स्मरण किये गये मिथ्या एकान्तका 'नहीं है' इसप्रकारका उत्पन्न हुआ ज्ञान मिथ्या ही होगा और इसतरह वही अपने इष्टकी बाधाका दोष हमारी तरह आपके भी है?

समाधान—आपकी यह मान्यता ठीक नहीं है, हम स्याद्वादी अनेकान्तकी सिद्धसे ही मिथ्या एकान्तके प्रतिषेधकी व्यवस्था करते हैं। निश्चय ही बाह्य और अन्तरङ्ग वस्तु प्रमाणसे अनेकान्तात्मक प्रसिद्ध है उसमें अध्यारोपित मिथ्या एकान्तका, जो दर्शनमोहके उदयसे आकुलित (चलरूप परिणामको प्राप्त) चित्तवालोंकी बुद्धिमें कदाग्रहसे प्रतिभासमान होता है, निषेध करते हैं अथवा प्रतिषेधका व्यवहार प्रवर्तित होता है, क्योंकि गैरसमझको समझानेके लिये सम्यक् नयका प्रयोग किया जाता है—सर्वथा एकान्तका प्रतिषेध करके कथंचित् एकान्तका प्रदर्शन किया जाता है। तात्पर्य यह कि समस्त पदार्थ स्वभावतः अनेकान्तमय हैं। जो लोग मिथ्यात्वजन्य हठाग्रहसे उनमें एकान्तका आरोप करते हैं उन्हें समझाया जाता है कि वस्तु अनेकधर्मात्मक है—जो अपने स्वरूपादि चतुष्टयसे सत्‌रूप है वही पररूपादिचतुष्टयसे असत्‌रूप है, जो द्रव्यकी अपेक्षासे नित्य है वही पर्यायकी अपेक्षासे अनित्य है। इसी तरह वह एक-अनेक आदिरूप भी है, इसप्रकार वस्तु अनेकान्तरूप है— उसे एकान्तरूप—केवल सत् ही, केवल नित्य ही, केवल अनित्य ही, केवल एक ही, केवल अनेक ही आदिरूप न मानो, इस तरह प्रमाणतः सिद्ध अनेकान्तात्मक वस्तुमें मिथ्या अज्ञानसे अध्यारोपित एकान्तोंका निषेध किया जाता है और इसलिये मिथ्या एकान्तका निषेध करनेमें हमारे लिये कोई बाधादिदोष नहीं आता।

1 द 'तव' 2 । मु प स 'बहिरन्तर्वा वस्तु' । 3 द 'विप्रतिपत्तिप्रत्याय' ।

त्यायनाय सन्नयोपन्यासात् । न चैवमसर्वज्ञजगत्सिद्धेरेव सर्वज्ञप्रतिषेधो युज्यते[1], तस्याः कुतश्चित्प्रमाणादसम्भवस्य समर्थनात् ।

§ २८८. तदेवमभावप्रमाणस्यापि सर्वज्ञबाधकस्य सदुपलम्भकप्रमाणपञ्चकवदसम्भवात् । देशान्तरकालान्तरपुरुषान्तरापेक्षयाऽपि तद्बाधकशङ्कानवकाशात्सिद्धः सुनर्णीतासम्भवद्बाधकप्रमाणः सर्वज्ञः स्वसुखादिवत्, सर्वत्र वस्तुसिद्धौ सुनिर्णीतासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वमन्तरेणाऽऽश्वासनिबन्धनस्य कस्यचिदभावात् । स च विश्वतत्त्वानां ज्ञाताऽर्हन्नेव [2]परस्येश्वरादेर्विश्वतत्त्व-

शंका—इस प्रकार असर्वज्ञ जगतकी सिद्धि होनेसे ही सर्वज्ञका प्रतिषेध किया जासकता है? तात्पर्य यह कि हम मीमांसक भी यह कह सकते हैं कि प्रमाणसे असर्वज्ञ (सर्वज्ञरहित) जगत् सिद्ध है और सर्वज्ञवादियोंद्वारा कल्पना किये गये सर्वज्ञका हम उसमें निषेध करते हैं। अतएव हमारे यहाँ भी सर्वज्ञका निषेध करनेमें उक्त दोष नहीं है?

समाधान—नहीं; क्योंकि असर्वज्ञ जगतकी सिद्धि किसी प्रमाणसे समर्थित नहीं होती है। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार प्रत्यक्षादि प्रमाणसे वस्तुमें अनेकान्त सिद्ध है उस प्रकार प्रत्यक्षादि प्रमाणसे जगत् असर्वज्ञ सिद्ध नहीं है, इस बातको हम पहले कह आये हैं। अतः आपके यहाँ सर्वज्ञका निषेध नही बन सकता और इस लिये उपर्युक्त बाधादि दोष तदवस्थ हैं।

§ २८८. इस प्रकार सत्ताके साधक पाँच प्रमाणोंकी तरह अभावप्रमाण भी सर्वज्ञका बाधक असम्भव है अर्थात् उससे भी सर्वज्ञका निषेध नहीं किया जासकता है। और इस तरह भाट्टोंके भी प्रत्यक्षादि छहों प्रमाण सर्वज्ञके बाधक सिद्ध नहीं होते हैं। दूसरे देश, दूसरे काल और दूसरे पुरुषकी अपेक्षासे भी अभावप्रमाण सर्वज्ञका बाधक नहीं हो सकता है, क्योंकि उस हालतमें किसी देश, किसी काल और किसी पुरुषकी अपेक्षासे सर्वज्ञका अभ्युपगम अवश्यम्भावि है। तात्पर्य यह कि देशविशेषादिकी अपेक्षा अभावप्रमाणको सर्वज्ञका बाधक कहा जाय तो दूसरे देशादिविशेषमें उसका अस्तित्व स्वीकार करना अनिवार्य होगा और इस तरह सर्वत्र सर्वदा और सब पुरुषोंमें सर्वज्ञका अभाव नहीं बनता। दूसरी बात यह है कि अमुक देशमें, अमुक कालमें और अमुक पुरुष सर्वज्ञ नहीं है यह तो हम भी स्वीकार करते हैं—इस भरतक्षेत्रमें, पंचम कालमें, कोई पुरुष सर्वज्ञ नही है, यह आज भी हम मानते हैं। अतः सार्वत्रिक और सार्वकालिक सर्वज्ञका अभाव नहीं हो सकता है। और इस लिये देशविशेषादिकी अपेक्षासे उठनेवाली सर्वज्ञाभावकी शंकाको अवकाश ही नहीं है। अत एव बाधकप्रमाणोंका अभाव अच्छी तरह निश्चित होनेसे सर्वज्ञ सिद्ध होता है, जैसे अपना सुख वगैरह। सब जगह वस्तुसिद्धिमें सुनिर्णीत बाधकाभावको छोड़कर अन्य कोई वस्तुस्थितिका प्रसाधक नहीं है—संवादजनक नहीं है। और वह सर्वज्ञ अर्हन्त ही सुज्ञात होता है—सुनि-

1 द प्रसज्यते' । 2 मु 'परमेश्वरादे' ।

ज्ञतानिराकरणादेवावसीयते । स एव कर्मभूभृतां भेत्ता निश्चीयते, अन्यथा तस्य विश्वतत्त्वज्ञतानुपपत्तेः ।

[अर्हतः कर्मभूभृत्भेतृत्वसाधनम्]

§ २८९. स्यादाकूतम्—कर्मणां कार्यकारणसन्तानेन प्रवर्त्तमानानामनादित्वात्, विनाशहेतोरभावात्कथं कर्मभूभृतां भेत्ता विश्वतत्त्वज्ञोऽपि कश्चिद्व्यवस्थाप्यते ? इति; तदप्यसत्; विपक्षप्रकर्षपर्यन्तगमनात्कर्मणां सन्तानरूपतयाऽनादित्वेऽपि प्रक्षयप्रसिद्धेः । न ह्यनादिसन्ततिरपि शीतस्पर्शः क्वचिद्विपक्षस्योष्णस्पर्शस्य प्रकर्षपर्यन्तगमनान्निर्मूलं प्रलयमुपव्रजन्नोपलब्धः । नापि कार्यकारणरूपतया बीजाङ्कुरसन्तानो वाऽनादिरपि प्रतिपक्षभूतदहनान्निर्दग्धबीजो निर्दग्धाङ्कुरो वा न प्रतीयत इति वक्तुं शक्यम्, यतः कर्मभूभृतां सन्तानोऽनादिरपि क्वचित्प्रतिपक्षसात्मीभावान्न[1] प्रक्षीयते । ततो यथा शीतस्योष्णस्पर्शप्रकर्षविशेषेण कश्चिद्भेत्ता तथा कर्मभूभृतां तद्विपक्षप्रकर्षविशेषेण भेत्ता भगवान् विश्वतत्त्वज्ञ इति सुनिश्चितं नश्चेतः ।

र्णीत होता है, क्योंकि अन्य ईश्वरादिकके सर्वज्ञताका निराकरण है। तथा अर्हन्त ही कर्मपर्वतोंका भेदक निश्चित होता है, अन्यथा वह सर्वज्ञ नहीं बन सकता है।

§ २८९. शंका— चूँकि कर्म कार्य-कारणप्रवाहसे प्रवर्त्तमान हैं, इस लिये वे अनादि हैं। अतः उनका विनाशक कारण न होनेसे कर्म-पर्वतोंका कोई सर्वज्ञ भी भेदक कैसे व्यवस्थापित किया जा सकता है। अर्थात् कोई सर्वज्ञ हो भी पर वह कर्म-पर्वतोंका नाशक नहीं हो सकता है ?

समाधान—यह शंका भी ठीक नहीं है, क्योंकि अरहन्तके विपक्षियोंका प्रकर्ष जब चरम सीमाको प्राप्त होजाता है तब कर्मोंका प्रवाहरूपसे अनादि होनेपर भी सर्वथा नाश हो जाता है। यह कौन नहीं जानता कि सन्तानकी अपेक्षा अनादि शीतस्पर्श भी कहीं विपक्षी उष्णस्पर्शके अत्यन्त प्रकर्षको प्राप्त होनेपर समूल नष्ट नहीं हो जाता है अर्थात् सब जानते हैं कि वह अनादि होकर भी सर्वथा नष्ट हो जाता है। तथा न कोई यह कह सकता है कि कार्य-कारणरूपसे प्रवृत्त बीजाङ्करकी अनादि सन्तान भी प्रतिपक्षी अग्निसे सर्वथा जला बीज और सर्वथा जला अंकुर प्रतीत नहीं होता। अपि तु दोनों अनादि होकर भी जलकर खाक देखे जाते हैं, जिससे कर्मपर्वतोंकी अनादि सन्तान भी किसी आत्मविशेषमें प्रतिपक्षीके आत्मीभाव (पूर्णतः तद्रूप होजाने) से नष्ट न हो। अतः जिस प्रकार शीतस्पर्शका उष्णस्पर्शके प्रकर्षविशेषसे कोई भेदक है उसी प्रकार कर्मपर्वतोंका उनके विपक्षी प्रकर्षविशेषसे भेत्ता भगवान् सर्वज्ञ है, इस प्रकार हमारे यहाँ कोई आपत्ति अथवा चिन्ताकी बात नहीं है—आपत्ति अथवा चिन्ता उन्हींको होनी चाहिये जो अनादि कर्मोंका नाश असम्भव मानते हैं अर्थात् आप मीमांसकोंके लिये उपर्युक्त शङ्कागत आपत्ति है, क्योंकि कर्मोंको आप आत्माका अनादि स्वभाव मानकर उन्हें अविनाशी मानते हैं।

---

1 द 'प्रतिपक्षतश्चात्मीभावा'।

§ २९०. कः पुनः कर्मभूभृतां विपक्षः ? इति चेत्, उच्यते—

तेषामागामिनां तावद्विपक्षः संवरो मतः ।
तपसा सञ्चितानां तु निर्जरा कर्मभूभृताम् ॥१११॥

§ २९१. द्विविधा हि कर्मभूभृतः, केचिदागामिनः, परे पूर्वभवसन्तानसञ्चिताः । तत्रागामिनां कर्मभूभृतां विपक्षस्तावत्संवरः, तस्मिन्सति तेषामनुत्पत्तेः । संवरो हि कर्मणामास्रवनिरोधः । स चास्रवो मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगविकल्पात्पञ्चविधः, तस्मिन्सति कर्मणामास्रवणात्[1] । "कर्मागमनहेतुरास्रवः"[2] [ ] इति व्यपदेशात् । कर्माण्यास्रवन्ति आच्छन्ति यस्मादात्मनि स आस्रव इति निर्वचनात् । स एव हि बन्धहेतुर्विनिश्चितः प्राग्विशेषेण । मिथ्याज्ञानस्य मिथ्यादर्शनेऽन्तर्भावात् । तन्निरोधः पुनः कार्त्स्न्यतो देशतो वा । तत्र कार्त्स्न्यतो गुप्तिभिः सम्यग्योगनिग्रहलक्षणाभिर्विधीयते । समितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैस्तु देशतस्तन्निरोधः सिद्धः । सम्यग्योगनिग्रहस्तु साक्षादयोगकेवलिनश्चरमक्षणप्राप्तस्य प्रोच्यते, तस्यैव सकल-

---

§ २९०. शङ्का—अच्छा तो यह बतलायें कि कर्मपर्वतोंका विपक्ष क्या है ?

समाधान—इसका उत्तर अगली कारिकाद्वारा दिया जाता है:—

'आगामी कर्मोंका विपक्ष संवर है और संचित कर्मपर्वतोंका तपसे होनेवाली निर्जरा विपक्ष है।'

§ २९१. प्रकट है कि कर्मपर्वत दो प्रकारके हैं—एक तो आगामी (आगे होनेवाले) और दूसरे पूर्वपर्यायपरम्परासे संचित (इकट्ठे) हुए। उनमें आगामी कर्मपर्वतोंका विपक्ष संवर है, क्योंकि उसके होनेपर वे (आगामी कर्मपर्वत, उत्पन्न नहीं होते हैं। निःसन्देह कर्मोंके आस्रवके निरोध (रुक जाने) का नाम संवर है। तात्पर्य यह कि कर्मोंके आनेके जो द्वार हैं उनका बन्द होजाना संवर है। और वे कर्मोंके आनेके द्वार, जिन्हें आस्रव कहा जाता है, पाँच हैं:— १ मिथ्यादर्शन, २ अविरति, ३ प्रमाद, ४ कषाय और ५ योग। इनके होनेपर कर्म आते हैं। इसी कारण कर्मोंके आनेके कारणोंको 'आस्रव' कहा जाता है, क्योंकि 'कर्म जिससे आस्रव होते हैं—अर्थात् आते हैं वह आस्रव है' ऐसा 'आस्रव' शब्दका निर्वचन (व्युत्पत्ति) है। वही बन्धकारणरूपसे पहले विशेषरूपसे निर्णीत किया गया है। मिथ्याज्ञानका मिथ्यादर्शनमें अन्तर्भाव (समावेश) होजाता है अतः वह स्वतंत्र आस्रव नहीं है और इसलिये आस्रव पाँच ही प्रकारका है। आस्रवका निरोध सम्पूर्णरूपसे अथवा एक-देशसे होता है । सम्पूर्णरूपसे निरोध तो गुप्तियों द्वारा, जो मन, बचन, कायके योग (क्रिया) को सम्यक् प्रकारसे रोकनेरूप है, किया जाता है और अंशतः निरोध समितियों, धर्मों, अनुप्रेक्षाओं, परीषहजयों और चारित्रोंसे सिद्ध होता है। उनमें पूर्णतः मन, वचन, कायके योगका रुकनारूप संवर अन्तिमसमयवर्ती अयोगकेवलीके कहा है, क्योंकि वही (पूर्णतः मन, वचन, कायके योगका रुकना) समस्त कर्मरूपी पर्वतोंके निरोधका कारण है। इसीसे

---

1 मु स प 'स्रवात्'। 2 'हेतोरास्रवः'।

कर्मभूभृन्निरोधनिबन्धनत्वसिद्धेः, सम्यग्दर्शनादित्रयस्य चरमक्षणपरिप्राप्तस्य साक्षान्मोक्षहेतोस्तथाभिधानात् । पूर्वत्र गुणस्थाने तदभावात् । योगसद्भावात्सयोगकेवलिक्षीणकषायोपशान्तकषायगुणस्थाने । ततोऽपि पूर्वत्र[1] सूक्ष्मसाम्परायानिवृत्तिवादरसाम्पराये चापूर्वकरणे चाप्रमत्ते च [2]कषायविशिष्टयोगसद्भावात् । ततोऽपि पूर्वत्र प्रमत्तगुणस्थाने [3]प्रमादकषायविशिष्टयोगनिर्णीतिः । संयतासंयतासंयत[4]सम्यग्दृष्टिगुणस्थाने [5]प्रमादकषायाविरतिविशिष्टयोगानां । ततोऽपि पूर्वस्मिन् गुणस्थानत्रये कषायप्रमादाविरतिमिथ्यादर्शनविशिष्टयोगसद्भावनिश्चयात् । योगो हि त्रिविधः कायादिभेदात्, "कायवाङ्मनःकर्म योगः" [तत्त्वार्थसू० ६।१] इति सूत्रकारवचनात् । कायवर्गणालम्बनो ह्यात्मप्रदेशपरिस्पन्दः काययोगो वाग्वर्गणालम्बनो वाग्योगो मनोवर्गणालम्बनो मनोयोगः । "स आस्रवः" [तत्त्वार्थसू० ६।२] इति वचनात् । मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषायाणामास्रवत्वं न स्यादिति न मन्तव्यम्, योगस्य सकलास्रवव्यापकत्वात्तद्ग्रहणादेव तेषां परिग्रहात्, तन्निग्रहे तेषां निग्रहप्रसिद्धेः । योगनिग्रहे हि[6] मिथ्यादर्शनादीनां निग्रहः

अन्तिमसमयवर्ती सम्यग्दर्शनादि तीनको साक्षात् मोक्षका कारण कहा गया है क्योंकि पूर्वके गुणस्थानोंमें उसका अभाव है । सयोगकेवली, क्षीणकषाय और उपशान्तमोह इन तीन गुणस्थानोंमें योगका सद्भाव है और उनसे भी पूर्वके सूक्ष्मसाम्पराय, अनिवृत्तिवादरसाम्पराय, अपूर्वकरण और अप्रमत्त इन चार गुणस्थानोंमें कषायविशिष्ट योग विद्यमान है। इनसे भी पहलेके प्रमत्तगुणस्थानमें प्रमाद और कषायविशिष्ट योग मौजद है । संयतासंयत, और असंयतसम्यग्दृष्टि इन दो गुणस्थानोंमें प्रमाद, कषाय और अविरतिविशिष्ट योग पाया जाता है । तथा इनसे भी पहले मिश्र, सासादन और मिथ्यात्व इन तीन गुणस्थानोंमें कषाय, प्रमाद, अविरति और मिथ्यादर्शनविशिष्ट योगके सद्भावका निश्चय है । स्पष्ट है कि कायादिके भेदसे तीन प्रकारका योग है । सूत्रकारने भी कहा है—"काय, वचन और मनकी क्रियाको योग कहते हैं" [तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ६, सूत्र १] । कायवर्गणाके आश्रयसे जो आत्माके प्रदेशोंमें क्रिया होती है वह काययोग है, वचनवर्गणाके आश्रयसे जो आत्मप्रदेशोंमें परिस्पन्द होता है वह वचनयोग है और मनोवर्गणाके आश्रयसे जो आत्मप्रदेशोंमें चलन होता है वह मनोयोग है । इस तरह योगके तीन भेद हैं और "इन तीनों योगोंको आस्रव" कहा है [तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ६, सूत्र २] ।

शङ्का—यदि योग आस्रव है तो मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद और कषाय ये आस्रव नहीं होना चाहिए ?

समाधान—यह मान्यता ठीक नहीं है, क्योंकि योग मिथ्यादर्शनादि समस्त आस्रवोंमें व्याप्त है और इसलिये उसके ग्रहणसे ही उन सबका ग्रहण होजाता है । अतएव उसका निग्रह होनेपर उन सबका निग्रह प्रसिद्ध है । स्पष्ट है कि योगका निग्रह होनेपर मिथ्या-

1 स 'गुणस्थाने' इत्यधिकः पाठः । 2 मुक 'कषाययोगविशिष्ट' । 3 मुक 'प्रमादकषाययोगनिर्णीतिः' । 4 मु स 'असंयत' नास्ति । 5 मुक 'प्रमादकषायविशिष्टयोगा' । 6 मु प 'हि' नास्ति ।

सिद्ध एव, अयोगकेवलिनि तदभावात् । कषायनिग्रहे तत्पूर्वास्रवनिरोधः[1] क्षीणकषाये । प्रमादनिग्रहे [2]तत्पूर्वास्रवनिरोधोऽप्रमत्तादौ । सर्वा(सर्व-देशा-)विरतिनिरोधे तत्पूर्वास्रवमिथ्यादर्शननिरोधः[3] प्रमत्ते संयतासंयते च । मिथ्यादर्शननिरोधे तत्पूर्वास्रवनिरोधः[4] सासादनादौ । [5]पूर्वपूर्वास्रवनिरोधे [6]ह्युत्तरोत्तरास्रवनिरोधः साध्य एव न पुनरुत्तरास्रवनिरोधे पूर्वास्रवनिरोधः, तत्र तस्य सिद्धत्वात् । कायादियोगनिरोधेऽप्येवं वक्तव्यम् । तत्राप्युत्तरयोगनिरोधे पूर्वयोगनिरोधस्यावश्यम्भावात् । काययोगनिरोधे हि तत्पूर्ववाङ्मानसनिरोधः सिद्ध एव, वाग्योगनिरोधे च मनोयोगनिरोधः । पूर्वयोगनिरोधे तूत्तरयोगनिरोधो भाज्यः[7], इति सकलयोगनिरोधलक्षणया परमगुप्त्या सकलास्रवनिरोधः परमसंवरः सिद्धः । समित्यादिभिः पुनरपरः संवरो देशत एवास्रवनिरोधसद्भावात् । तत्र हि यो यदास्रवप्रतिपक्षः स तस्य संवर इति [8]यथायोगमागमाविरोधेनाभिधानीयम् । कर्मागमनकारणस्यास्रवस्य निरोधे कर्मभूभृतामागामिनामनुत्पत्तिसिद्धेः, अन्यथा तेषामहेतुकत्वापत्तेः, सर्वस्य संसारिणः सर्वकर्मागमनप्रसक्तेश्च । ततः संवरो विपक्षः कर्मभूभृ-

दर्शन आदिका भी अभाव अवश्य होजाता है, क्योंकि अयोगकेवलीमें उन सबका अभाव है । क्षीणकषायमें कषायका निग्रह होनेपर उसके पूर्ववर्ती आस्रवोंका अभाव है । अप्रमत्तादिकमें प्रमादका निग्रह होनेपर उसके पूर्वके आस्रवोंका निरोध है । प्रमत्त और संयतासंयतमें क्रमशः सम्पूर्ण और एकदेशसे अविरतिका अभाव होनेपर वहाँ उसका पूर्ववर्ती आस्रव मिथ्यादर्शन नहीं है । सासादनादिकमें मिथ्यादर्शनका अभाव होजानेपर उसके पूर्ववर्ती आस्रवका निरोध है । किन्तु पहले-पहलेके आस्रवके अभाव होनेपर आगे-आगेके आस्रवका अभाव साध्य है—वह हो, नहीं भी हो । पर आगेके आस्रवका निरोध होनेपर पहलेके आस्रवका निरोध साध्य अर्थात् भजनीय नहीं है उसके होनेपर वह अवश्य होता है । इसी प्रकार कायादि योगोंके निरोधमें भी समझ लेना चाहिए, क्योंकि वहाँ भी अगले योगका निरोध होनेपर पूर्व योगका निरोध अवश्यम्भावी है । प्रकट है कि काययोगका निरोध होनेपर उससे पूर्ववर्ती वचनयोग और काययोगका निरोध अवश्य सिद्ध है । और वचनयोगका निरोध होनेपर मनोयोगका निरोध सिद्ध है । परन्तु पूर्वयोगका निरोध होनेपर उत्तर (अगले) योगका निरोध भजनीय है—हो भी, नहीं भी हो । इस तरह समस्त योगोंके निरोधरूप परमगुप्तिके द्वारा समस्त आस्रवोंका निरोधरूप परम संवर सिद्ध होता है । और समितियों, अनुप्रेक्षाओं आदिके द्वारा अपर संवर होता है; क्योंकि उनसे एकदेशसे ही आस्रवोंका निरोध होता है । स्पष्ट है कि उनमें जो जिस आस्रवका प्रतिपक्षी है वह उसका संवर है । इस प्रकार आगमानुसार यथायोग्य कथन करना चाहिये । अतः कर्मागमनके कारणभूत आस्रवोंका निरोध होजानेपर आगामी (आनेवाले) कर्मपर्वतोंकी उत्पत्तिका अभाव सिद्ध होता है । यदि ऐसा न हो—(कर्मोंके कारणभूत आस्रवोंके नष्ट होजानेपर भी आनेवाले कर्मोंकी उत्पत्तिका अभाव न हो) तो वे कर्म अहेतुक होजायेंगे और समस्त संसारियोंके समस्त कर्मोंके आगमनका प्रसंग आवेगा । तात्पर्य यह कि यदि कर्म अपने कारणभूत आस्रवोंके बिना भी आते रहें तो वे अहेतुक हो-

1 मु स प 'निरोधवत्' । 2 मु स प 'पूर्वास्रवनिरोधवत्' । 3, 4 मु स प 'निरोधवत्' । 5 द 'सर्वपूर्वा' । 6 मु स प 'ह्युत्तरास्रव' । 7 मु स प 'भाज्यते' । 8 मुब 'यथायोग्यमा ।

तामागामिनामिति स्थितम् ।

§ २६२. सञ्चितानां तु निर्जरा विपक्षः । सा च द्विविधा, [1]अनुपक्रमौपक्रमिकी च । तत्र पूर्वा यथाकालं संसारिणः स्यात् । [2]औपक्रमिकी तु तपसा द्वादशविधेन साध्यते संवरवत् । यथैव हि तपसा सञ्चितानां कर्मभूभृतां निर्जरा विधीयते तथाऽऽगामिनां संवरोऽपीति सञ्चितानां कर्मणां निर्जरा विपक्षः प्रतिपाद्यते ।

§ २६३. अथैतस्य कर्मणां विपक्षस्य परमप्रकर्षः कुतः सिद्धः[3] ? यतस्तेषामात्यन्तिकः क्षयः स्यादित्याह—

तत्प्रकर्षः पुनः सिद्धः परमः परमात्मनि ।
तारतम्यविशेषस्य सिद्धेरुष्णप्रकर्षवत् ॥११२॥

§ २६४. यस्य तारतम्यप्रकर्षस्तस्य क्वचित्परमः[4] प्रकर्षः सिद्ध्यति, यथोष्णस्य, तारतम्यप्रकर्षश्च कर्मणां विपक्षस्य संवरनिर्जरालक्षणस्यासंयतसम्यग्दृष्ट्यादिगुणस्थानविशेषेषु प्रमाणतो निश्चीयते, तस्मात्परमात्मनि तस्य परमः[5] प्रकर्षः सिद्ध्यतीत्यवगम्यते । [6]दुःखादिप्रकर्षेण व्यभिचारः; इति चेत्, न; दुःखस्य सप्तमनरकभूमौ नारकाणां परमप्रकर्षसिद्धेः । सर्वार्थसिद्धौ देवानां सांसारिकसुखपरमप्रकर्षवत् । एतेन क्रोधमानमायालोभानां तारतम्येन व्यभिचारशङ्का निरस्ता, तेषामभव्येषु मिथ्यादृष्टिषु च परमप्रकर्षसिद्धेः । तत्प्रकर्षो हि परमोऽनन्तानुबन्धित्वलक्षणः, स च तत्र प्रसिद्धः, क्रोधादीनामनन्तानुबन्धिनां तत्र सद्भावात् । ज्ञानहानिप्रकर्षेण व्यभिचार इति चेत्; न; तस्यापि क्षायोपशमिकस्य हीयमानतया प्रकृष्यमाणस्य प्रसिद्धस्य केवलिनि [1]परमापकर्षसिद्धेः । क्षायिकस्य तु हानेरेवानुपलब्धेः कुतस्तत्प्रकर्षो येन व्यभिचारः शङ्क्यते[2] ?

[कर्मभूभृतां स्वरूपप्रतिपादनम्]

§ २६५. के पुनः कर्मभूभृतः, येषां[3] विपक्षः परमप्रकर्षभाक् साध्यते ? इत्यारेकायामिदमाह—

कर्माणि द्विविधान्यत्र द्रव्यभावविकल्पतः ।
द्रव्यकर्माणि जीवस्य पुद्गलात्मान्यनेकधा ॥११३॥

जायेंगे और सभी प्राणियोंके सभी प्रकारके कर्म आवेंगे और ऐसी हालतमें अमीर-गरीब, रोगी-निरोगी आदि कर्मवैषम्य नहीं बन सकेगा। अतः सिद्ध हुआ कि आगामी कर्मोंका विपक्ष संवर है।

§ २६२. सञ्चित कर्मपर्वतोंका विपक्ष निर्जरा है और वह दो प्रकारकी है—अनुपक्रमा और औपक्रमिकी। उनमें पहली अनुपक्रमा निर्जरा यथासमय (समय पाकर) सब संसारी जीवोंके होती है और औपक्रमिकी बारह प्रकारके तपोंसे साधित होती है, जैसे संवर। प्रकट है कि जिस प्रकार तपसे संचित कर्मपर्वतोंकी निर्जरा की जाती है उसी प्रकार उससे आगामी कर्मपर्वतोंका संवर भी किया जाता है। अतएव संचित कर्मोंका विपक्ष निर्जरा कही जाती है।

§२६३. शंका—कर्मोंके इस विपक्ष (संवर और निर्जरा) का परमप्रकर्ष कैसे सिद्ध है ? जिससे उनका आत्यन्तिक अभाव हो ?

समाधान—इसका आचार्य अगली कारिकामें उत्तर देते हैं—

'कर्मोंके विपक्षका परमप्रकर्ष परमात्मामें सिद्ध है, क्योंकि उसकी तरतमता (न्यूनाधिकता) विशेष पाई जाती है, जैसे उष्ण प्रकर्ष।'

§२६४. जिसके तारतम्य (न्यूनाधिक्य) का प्रकर्ष होता है उसका कहीं परमप्रकर्ष सिद्ध होता है, जैसे उष्णस्पर्शका। और संवर और निर्जरारूप कर्मोंके विपक्षका तारतम्यका प्रकर्ष असंयतसम्यग्दृष्टि आदि गुणस्थानविशेषोंमें प्रमाणसे निश्चित है, इस कारण परमात्मामें उसका परमप्रकर्ष सिद्ध है, ऐसा निश्चयसे जाना जाता है।

शंका—दुःखादिके प्रकर्षके साथ उक्त हेतु व्यभिचारी है, अतः वह अभिमत साध्यका साधक नहीं हो सकता है ?

समाधान—नहीं क्योंकि दुःखका परमप्रकर्ष सातमी नरकपृथ्वीमें नारकी जीवोंके सिद्ध है, जैसे सर्वार्थसिद्धिमें देवोंके सांसारिक सुखका परमप्रकर्ष प्रसिद्ध है। इस कथनसे क्रोध, मान, माया और लोभके तारतम्यके साथ व्यभिचार होनेकी शंका भी निराकृत हो जाती है, क्योंकि उनका अभव्यों और मिथ्यादृष्टियोंमें परमप्रकर्ष सिद्ध है। प्रकट है कि उन (क्रोधादिकों) का परमप्रकर्ष अनन्तानुबन्धितारूप है और वह उन (अभव्यों तथा मिथ्यादृष्टियों) में मौजूद है, क्योंकि उनमें अनन्तानुबन्धी क्रोधादि कषाएँ पायी जाती हैं।

शंका—ज्ञानहानिके प्रकर्षके साथ हेतु अनैकान्तिक है ?

समाधान—नहीं; क्योंकि क्षायोपशमिकरूप ज्ञानका भी घटने रूपसे प्रकर्ष होता हुआ केवलीमें परम अपकर्ष अर्थात् सर्वथा प्रध्वंस प्रसिद्ध है और इसलिये क्षायोपशमिक ज्ञानकी हानिके प्रकर्षके साथ हेतु अनैकान्तिक नहीं है। और क्षायिक ज्ञानकी तो हानि ही उपलब्ध नहीं है, क्योंकि वह असम्भव है। तब उसका प्रकर्ष कैसे ? जिसके साथ व्यभिचारकी शंका की जाय। तात्पर्य यह कि जब उसकी हानि ही नहीं होती—एकबार हो जानेपर वह सदैव बना रहता है तब न उसकी हानिका प्रकर्ष है और न उसके साथ व्यभिचारकी शंका उत्पन्न हो सकती है। अतः उक्त हेतु पूर्णतः निर्दोष है और वह अपने अभिमत साध्यका साधक है।

§ २६५. शंका—अच्छा, यह बतलाइये, कर्मपर्वत क्या हैं, जिनके विपक्षको आप परमप्रकर्षवाला सिद्ध करते हैं ?

समाधान—इसका उत्तर आगे तीन कारिकाओंमें कहते हैं—

'कर्म दो प्रकारके हैं—१ द्रव्यकर्म और २ भावकर्म। जीवके जो द्रव्यकर्म हैं वे पौद्गलिक हैं और उनके अनेक भेद हैं।'

---

1. द 'अनुपक्रमा चौपक्रमिकी च'। 2 मु स द प 'उपक्रमकी'। 3 मु स प 'प्रसिद्ध'। 4, 5 द 'परमप्रकर्षः'। 6 अत्र 'दुःखप्रकर्षेण' इति पाठेन भाव्यम्, 'दुःखस्य' इत्युत्तरग्रन्थेन तस्य सङ्गतिप्रतीतेः प्रमेयकमलमार्तण्डादौ [पृ० २४५]च तथैवोपलब्धेः —सम्पा०

1 सर्वासु प्रतिषु 'परमप्रकर्ष' पाठः। स चायुक्तः प्रतिभाति, केवलिनि क्षायोपशमिकस्य ज्ञानस्य प्रकर्षासम्भवात्, तस्यापकर्षस्तु सम्भवत्येव। अत एव मूले 'परमापकर्ष' इति पाठो निक्षिप्तः प्रमेयकमलमार्त्तण्डे(पृ० २४५)ऽपि तथैव दर्शनात्। सं०। 2 मु स प 'शक्यते' स 'शंक्येत'। 3 मु 'एषां'।

भावकर्माणि चैतन्यविवर्त्तात्मानि भान्ति नुः ।
क्रोधादीनि स्ववेद्यानि कथञ्चिदभेदतः ॥११४॥
तत्स्कन्धराशयः प्रोक्ता भूभृतोऽत्र समाधितः ।
जीवाद्विश्लेषणं भेदः सतो नात्यन्तसंक्षयः ॥११५॥

§ २९६. जीवं परतन्त्रीकुर्वन्ति, स परतन्त्रीक्रियते वा यैस्तानि कर्माणि, जीवेन वा मिथ्यादर्शनादिपरिणामैः क्रियन्ते इति कर्माणि। तानि द्विप्रकाराणि—द्रव्यकर्माणि भावकर्माणि च । तत्र द्रव्यकर्माणि ज्ञानावरणादीन्यष्टौ मूलप्रकृतिभेदात् । तथाऽष्टचत्वारिंशदुत्तरशतम्, उत्तरप्रकृतिविकल्पात् । तथोत्तरोत्तरप्रकृतिभेदादनेकप्रकाराणि। तानि च पुद्गलपरिणामात्मकानि जीवस्य पारतन्त्र्यनिमित्तत्वात्, निगडादिवत् । क्रोधादिभिर्व्यभिचार इति चेत्, न, तेषां जीवपरिणामानां पारतन्त्र्यस्वरूपत्वात्[1] । पारतन्त्र्यं हि जीवस्य क्रोधादिपरिणामो न पुनः पारतन्त्र्यनिमित्तम् ।

§ २९७. ननु च ज्ञानावरणदर्शनावरणमोहनीयान्तरायाणामेवानन्तज्ञानदर्शनसुखवीर्यलक्षणजीवस्वरूप[2]घातित्वात्पारतन्त्र्यनिमित्तत्वं न पुनर्नामगोत्रसद्वेद्यायुषाम्, तेषामात्मस्वरूपाघातित्वात्पारतन्त्र्यनिमित्तत्वासिद्धेरिति पक्षाव्यापको हेतुः, वनस्पतिचैतन्ये स्वापवत्, इति चेत्; न; तेषामपि जीवस्वरूपसिद्धत्वप्रतिबन्धित्वात्पारतन्त्र्यनिमित्तत्वोपपत्तेः । कथमेवं तेषामघातिकर्मत्वम् ? इति चेत्, जीवन्मुक्तिलक्षणपरमार्हन्त्यलक्ष्मीघातित्वा[1]भावादिति ब्रूमहे । ततो न पक्षाव्यापको हेतुः । नाप्यन्यथानुपपत्तिनियमनिश्चयविकलः पुद्गलपरिणामात्मकत्व[2]साध्यमन्तरेण पारतन्त्र्यनिमित्तत्वस्य साधनस्यानुपपत्तिनियमनिर्णयात् । तानि च स्वकार्येण यथानाम प्रतीयमानेनानुमीयन्ते, दृष्टकारणव्यभिचारादृष्टकारणसिद्धेः । भावकर्माणि पुनश्चैतन्यपरिणामात्मकानि क्रोधाद्यात्मपरिणामानां क्रोधादिकर्मोदयनिमित्तानामौदयिकत्वेऽपि कथञ्चिदात्मनोऽनर्थान्तरत्वाच्चिद्रूपत्वाविरोधात् । ज्ञानरूपत्वं तु तेषां विप्रतिषिद्धम्, ज्ञानस्यौदयिकत्वाभावात् ।

'तथा जो भावकर्म हैं वे आत्माके चैतन्यपरिणामात्मक हैं, क्योंकि आत्मासे कथंचित् अभिन्नरूपसे स्ववेद्य प्रतीत होते हैं और वे क्रोधादिरूप हैं।'

'इन द्रव्य और भावकर्मोंकी स्कन्धराशिको यहाँ संक्षेपमें 'पर्वत' कहा गया है। उनको जीवसे पृथक् करना उनका भेदन है। यहाँ भेदनका अर्थ नाश नहीं है क्योंकि जो सत् है उसका अत्यन्त नाश नहीं होता।'

§ २९६. जो जीवको परतन्त्र करते हैं अथवा जीव जिनके द्वारा परतन्त्र किया जाता है उन्हें कर्म कहते हैं। अथवा, जीवके द्वारा मिथ्यादर्शनादि परिणामोंसे जो किये जाते हैं—उपार्जित होते हैं वे कर्म हैं। वे दो प्रकारके हैं—१ द्रव्यकर्म और २ भावकर्म। उनमें द्रव्यकर्म मूलप्रकृतियोंके भेदसे ज्ञानावरण आदि आठ प्रकारका है तथा उत्तर प्रकृतियोंके भेदसे एक-सौ अड़तालीस प्रकारका है। तथा उत्तरोत्तर प्रकृतियोंके भेदसे अनेक प्रकारका है और वे सब पुद्गलपरिणामात्मक हैं, क्योंकि वे जीवकी परतन्त्रतामें कारण हैं, जैसे निगड (बन्धनविशेष) आदि।

शंका—उपर्युक्त हेतु (जीवकी परतन्त्रतामें कारण) क्रोधादिके साथ व्यभिचारी है?

समाधान—नहीं; क्योंकि क्रोधादि जीवके परिणाम हैं और इस लिये वे परतंत्रतारूप हैं—परतन्त्रतामें कारण नहीं। प्रकट है कि जीवका क्रोधादिपरिणाम स्वयं परतन्त्रता है, परतन्त्रताका कारण नहीं। अतः उक्त हेतु क्रोधादिके साथ व्यभिचारी नहीं है।

§ २९७. शंका—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार घातिकर्म ही अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त सुख और अनन्तवीर्यरूप जीवके स्वरूपघातक होनेसे परतन्त्रताके कारण हैं। नाम, गोत्र, वेदनीय और आयु ये चार अघाति कर्म नहीं, क्योंकि वे जीवके स्वरूपघातक नहीं हैं। अतः उनके परतन्त्रताकी कारणता असिद्ध है और इसलिये हेतु पक्षाव्यापक है, जैसे वनस्पतिमें चैतन्य सिद्ध करनेके लिये प्रयुक्त किया गया 'स्वाप' (सोनारूप क्रियाविशेष) हेतु?

समाधान—नहीं, क्योंकि नामादि अघाति कर्म भी जीवके स्वरूप-सिद्धपनेके प्रतिबन्धक हैं और इसलिये उनके भी परतंत्रताकी कारणता उपपन्न है।

शंका—यदि ऐसा है तो फिर उन्हें अघाति कर्म क्यों कहा जाता है?

समाधान—वे जीवन्मुक्तिरूप उत्कृष्ट आर्हन्त्यलक्ष्मी—अनन्तचतुष्टयादि विभूतिके घातक नहीं हैं और इसलिये उन्हें हम अघातिकर्म कहते हैं। अतः हेतु पक्षाव्यापक (भागासिद्ध) नहीं है। और न अन्यथानुपपत्तिनियम—अविनाभावरूप व्याप्तिके निश्चय रहित है, क्योंकि पुद्गलपरिणामरूप साध्यके बिना परतन्त्रतामें कारणतारूप साधनके न होनेका अविनाभावनियम निर्णीत है। तथा वे जिसका जो नाम है उस नामसे प्रतीत होनेवाले अपने कार्यद्वारा अनुमान किये जाते हैं, क्योंकि दृष्टकारणोंमें व्यभिचार होनेसे अदृष्टकारणकी सिद्धि होती है। तात्पर्य यह कि जो पौद्गलिक द्रव्यकर्म हैं और जो ज्ञानावरणादिरूप हैं वे ज्ञानदर्शनादि आत्मगुणोंके घातक हैं और अज्ञान-अदर्शन आदि दोषोंको उत्पन्न करते हैं। इन दोषरूप कार्योंसे उन ज्ञानावरणादि पौद्गलिक द्रव्यकर्मोंका अनुमान होता है, क्योंकि जो कार्य होता है वह कारणके बिना नहीं होता और चूँकि कार्य अज्ञानादि हैं, इसलिये उनके भी कारण होने चाहिये और जो उनके कारण हैं वे ज्ञानावरणादि कर्म हैं। अन्य दृष्टकारणोंमें व्यभिचार देखनेसे सर्वत्र अदृष्ट (अतीन्द्रिय) कारणकी सिद्धि की जाती है। इस प्रकारसे ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म सिद्ध होते हैं।

भावकर्म चैतन्यपरिणामरूप हैं, क्योंकि क्रोधादिकर्मोंके उदयसे होनेवाले क्रोधादि आत्मपरिणाम यद्यपि औदयिक हैं तथापि वे कथंचित् आत्मासे अभिन्न हैं और इसलिये उनके चैतन्यरूपताका विरोध नहीं है। लेकिन ज्ञानरूपता तो उनके नहीं है, क्योंकि ज्ञान औदयिक (कर्मोदयजन्य) नहीं है। अतः क्रोधादि आत्मपरिणाम आत्मासे कथंचित् अभिन्न होनेसे चैतन्यपरिणामात्मक हैं।

1 मु स प 'स्वरूपात्'। 2 द 'लक्षणस्वरूप'।

1 मु स प 'घातिकत्वा'। 2 मु प द 'परिणामात्मकसाध्य'।

§ २६८. [1]धर्माधर्मयोः कर्मरूपयोरात्मगुणत्वान्नौदयिकत्वम् । नापि पुद्गलपरिणामात्मकत्वमिति केचित्; तेऽपि न युक्तिवादिनः; कर्मणामात्मगुणत्वे तत्पारतन्त्र्यनिमित्तत्वायोगात्, सर्वदाऽऽत्मनो बन्धानुपपत्तेर्मुक्तिप्रसङ्गात् । न हि यो यस्य गुणः स तस्य पारतन्त्र्यनिमित्तम्, यथा पृथिव्यादेः रूपादि[2], आत्मगुणश्च धर्माधर्मसंज्ञकं कर्म परैरभ्युपगम्यते, इति न तत् आत्मनः पारतन्त्र्यनिमित्तं स्यात् ।

§ २६९. तत एव च "प्रधानविवर्त्तः शुक्लं कृष्णं च कर्म" [ ] इत्यपि मिथ्या, तस्यात्मपारतन्त्र्यनिमित्तत्वाभावे कर्मत्वायोगात्, अन्यथाऽतिप्रसङ्गात् । प्रधानपारतन्त्र्यनिमित्तत्वात्तस्य कर्मत्वमिति चेत्, न, प्रधानस्य तेन बन्धोपगमे मोक्षोपगमे च पुरुषकल्पनावैयर्थ्यात् । बन्धमोक्षफलानुभवनस्य पुरुषे प्रतिष्ठानान्न पुरुषकल्पनावैयर्थ्यमिति चेत्, तदेतदसम्बद्धाभिधानम्, प्रधानस्य बन्धमोक्षौ पुरुषस्तत्फलमनुभवतीति कृतनाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गात् ।

---

§ २६८. शंका—कर्म धर्म और अधर्मरूप हैं और वे आत्माके गुण हैं, इसलिये वे औदयिक नहीं हैं और न पुद्गलपरिणामरूप हैं। तात्पर्य यह कि जो धर्म-अधर्म (अदृष्ट) रूप कर्म हैं वे आत्माका गुण हैं। अतएव उन्हें औदयिक अथवा पुद्गलपरिणामात्मक मानना उचित नहीं है ?

समाधान—आपका यह कथन युक्तिपूर्ण नहीं है, क्योंकि यदि कर्म आत्माके गुण हों तो वे आत्माकी परतन्त्रतामें कारण नहीं होसकते और इस तरह आत्माके कभी भी बन्ध न हो सकनेसे उसके मुक्तिका प्रसंग आवेगा। प्रकट है कि जो जिसका गुण है वह उसकी परतन्त्रताका कारण नहीं होता, जैसे पृथिवी आदिके रूपादिगुण और आत्माका गुण धर्म-अधर्मसंज्ञक अदृष्टरूप कर्मको नैयायिक और वैशेषिक स्वीकार करते हैं, इस कारण वह आत्माकी परतन्त्रताका कारण नहीं होसकता है।

§ २६९. जो यह प्रतिपादन करते हैं कि "प्रधानका परिणामरूप शुक्ल और कृष्ण दो प्रकारका कर्म है" [ ] वह भी सम्यक् नहीं है, क्योंकि यदि वह आत्माकी पराधीनताका कारण नहीं है तो वह कर्म नहीं हो सकता। अन्यथा अतिप्रसङ्ग दोष आवेगा। तात्पर्य यह कि यदि कर्म प्रधानका परिणाम हो तो वह आत्माको पराधीन नहीं कर सकता और जब वह आत्माको पराधीन नहीं कर सकता तो उसे कर्म नहीं कहा जासकता। प्रसिद्ध है कि कर्म वही है जो आत्माको पराधीन बनाता है। यदि आत्माको पराधीन न बनाने पर भी उसे कर्म माना जाय तो जो कोई भी पदार्थ कर्म हो जायगा। यदि कहें कि वह प्रधानकी परतंत्रताका कारण है और इसलिये प्रधानपरिणाम कर्म है तो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि यदि प्रधानके उससे बन्ध और मोक्ष मानें तो पुरुष (आत्मा) की कल्पना करना व्यर्थ है। अगर कहा जाय कि बन्ध और मोक्षके फलका अनुभवन पुरुषमें होता है, अतः पुरुषकी कल्पना व्यर्थ नहीं है तो यह कथन भी सङ्गत नहीं है, क्योंकि प्रधानके बन्ध-मोक्ष मानने और पुरुषको उनका फलभोक्ता मानने पर कृतनाश और अकृतके स्वीकारका प्रसङ्ग आता है।

---

1 मु ब 'ननु' इत्यधिकः पाठः । 2 मु स प 'रूपादिः' ।

प्रधानेन हि कृतौ बन्धमोक्षौ, न च तस्य तत्फलानुभवनमिति कृतनाशः, पुरुषेण तु तौ न कृतौ तत्फलानुभवनं च तस्येत्यकृताभ्यागमः कथं परिहर्तुं शक्यः ? पुरुषस्य चेतनत्वात्फलानुभवनम् , न प्रधानस्य, अचेतनत्वादिति चेत् ; न; मुक्तात्मनोऽपि प्रधानकृतकर्मफलानुभवनानुषङ्गात् । मुक्तस्य प्रधानसंसर्गाभावान्न तत्फलानुभवनमिति चेत्, तर्हि संसारिणः प्रधानसंसर्गाद्बन्धफलानुभवनं सिद्धम् । तथा च पुरुषस्यैव बन्धः सिद्धः[1], प्रधानेन संसर्गस्य बन्धफलानुभवननिनिमित्तस्य बन्धरूपत्वात्, बन्धस्यैव संसर्ग इति नामकरणात् । स चात्मनः प्रधानसंसर्गः कारणमन्तरेण न सम्भवतीति पुरुषस्य मिथ्यादर्शनादिपरिणामस्तत्कारणमिति प्रत्येतव्यम् । प्रधानपरिणामस्यैव तत्संसर्गकारणत्वे मुक्तात्मनोऽपि तत्संसर्गकारणत्वप्रसक्तेरिति मिथ्यादर्शनादीनि भावकर्माणि पुरुषपरिणामात्मकान्येव पुरुषस्य परिणामित्वोपपत्तेः, तस्यापरिणामित्वे वस्तुत्वविरोधात्, निरन्वयविनश्वरक्षणिकचित्तवत् । द्रव्यकर्माणि तु पुद्गलपरिणामात्मकान्येव प्रधानस्य पुद्गलपर्यायत्वात्, पुद्गलस्यैव प्रधानमिति नामकरणात् । न च प्रधानस्य पुद्गलपरिणामात्मकत्वमसिद्धम्, पृथिव्यादिपरिणामात्मकत्वात् । पुरुषस्यापुद्गलद्रव्यस्य तदनुपलब्धिः,

---

प्रकट है कि प्रधानके द्वारा बन्ध और मोक्ष किये जाते हैं पर वह उनके फलका भोक्ता नहीं है और इस तरह कृतका नाश हुआ। तथा पुरुषके द्वारा वे (बन्ध और मोक्ष) किये नहीं जाते हैं लेकिन वह उनके फलका भोक्ता है और इसतरह यह अकृताभ्यागम हुआ। बतलाइये, इनका परिहार कैसे करेंगे ? यदि कहें कि पुरुष चेतन है, इसलिये वह फलका भोक्ता है किन्तु प्रधान फलका भोक्ता नहीं है, क्योंकि वह अचेतन है तो यह कहना भी उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि मुक्तात्माके भी प्रधानद्वारा किये कर्मके फलानुभवनका प्रसङ्ग आवेगा। कारण, वह भी चेतन है। यदि माना जाय कि मुक्तात्माके प्रधानका संसर्ग नहीं है और इसलिये प्रधानकृत कर्मके फलानुभवनका मुक्तात्माके प्रसंग नहीं आसकता तो संसारी आत्माके प्रधानके संसर्गसे बन्धके फलका अनुभवन सिद्ध हो जाता है। और इस तरह पुरुषके ही बन्ध सिद्ध होता है, क्योंकि प्रधानके साथ जो संसर्ग है और जो बन्धके फलानुभवनमें कारण होता है वह बन्धरूप है, अतः बन्धका ही संसर्ग नाम रखा गया है। सो वह आत्माका प्रधानसंसर्ग (बन्ध) बिना कारणके सम्भव नहीं है, अतएव पुरुष (आत्मा) का मिथ्यादर्शनादिरूप परिणाम उस (प्रधानसंसर्गरूप बन्ध) का कारण समझना चाहिये। यदि प्रधानपरिणामको ही प्रधान-संसर्गका कारण माना जाय तो मुक्तात्माके भी वह (प्रधानपरिणाम) प्रधानसंसर्ग करानेमें कारण होगा। इसलिये मिथ्यादर्शन आदि भावकर्म पुरुषपरिणामात्मक ही हैं, क्योंकि पुरुष परिणामी है। यदि वह अपरिणामी हो तो वह वस्तु नहीं बन सकता है, जैसे अन्वयरहित विनष्ट होनेवाला क्षणिक चित्त। किन्तु द्रव्यकर्म पुद्गलपरिणामात्मक ही हैं क्योंकि प्रधान पुद्गलका ही नाम है। हम जिसे पुद्गल कहते हैं उसे आप (सांख्य) प्रधान बतलाते हैं और इस तरह पुद्गलका ही आपने प्रधान नाम रख दिया है। तथा प्रधानको पुद्गलका परिणाम कहना असिद्ध नहीं है, क्योंकि वह (प्रधान) पृथिवी आदिका परिणामरूप है। और यह पृथिवी आदिका परिणाम पुरुषके, जो पुद्गल द्रव्य नहीं

---

1 द 'बन्धसिद्धि' ।

बुद्ध्यहङ्कारादिपरिणामात्मकत्वात् । न हि प्रधाने बुद्ध्यादिपरिणामो घटते । तथा हि—न प्रधानं बुद्ध्यादिपरिणामात्मकम्, पृथिव्यादिपरिणामात्मकत्वात् । यत्तु बुद्ध्यादिपरिणामात्मकं तन्न पृथिव्यादिपरिणामात्मकं दृष्टम्, यथा पुरुषद्रव्यम्, तथा च [1]प्रधानम्, तस्मान्न बुद्ध्यादिपरिणामात्मकम् ।

§ ३००. पुरुषस्य बुद्ध्यादिपरिणामात्मकत्वासिद्धेर्न वैधर्म्यदृष्टान्ततेति चेत्; न; तस्य तत्साधनात् । तथा हि—बुद्ध्यादिपरिणामात्मकः पुरुषः, चेतनत्वात् । यस्तु न बुद्ध्यादिपरिणामात्मकः स न चेतनो दृष्टः, यथा घटादिः, चेतनश्च पुरुषः, तस्माद्बुद्ध्यादिपरिणामात्मक इति सम्यगनुमानात् ।

§ ३०१. तथा[2]ऽऽकाशपरिणामात्मकत्वमपि प्रधानस्य न घटते मूर्तिमत्पृथिव्यादिपरिणामात्मकस्यामूर्ताकाशपरिणामात्मकत्वविरोधात्, घटादिवत् । शब्दादितन्मात्राणां तु पुद्गलद्रव्यपरिणामात्मकत्वमेव कर्मेन्द्रियद्रव्यमनोवत् । भावमनोबुद्धीन्द्रियाणां तु पुरुषपरिणामात्मकत्वसाधनान्न जीवपुद्गलद्रव्यव्यतिरिक्तं द्रव्यान्तरमन्यत्र धर्माधर्माकाशकालद्रव्येभ्य इति न

है—चेतन द्रव्य है, उपलब्ध नहीं होता; क्योंकि वह बुद्धि, अहंकार आदि परिणामात्मक है। निश्चय ही प्रधानमें बुद्ध्यादिपरिणाम नहीं बन सकते हैं। हम सिद्ध करेंगे कि प्रधान बुद्ध्यादिपरिणामरूप नहीं है, क्योंकि वह पृथिवी आदिके परिणामरूप है। जो बुद्ध्यादिपरिणामरूप है वह पृथिवी आदिके परिणामरूप नहीं देखा गया, जैसे पुरुष। और पृथिवी आदिके परिणामरूप प्रधान है, इस कारण वह बुद्ध्यादि परिणामरूप नहीं है।

§ ३००. शंका—पुरुषमें बुद्ध्यादिपरिणाम असिद्ध हैं और इस लिये वह वैधर्म्यदृष्टान्त नहीं होसकता है ?

समाधान—नहीं; क्योंकि हम पुरुषके बुद्ध्यादि परिणाम निम्न अनुमानसे सिद्ध करते हैं:—पुरुष बुद्ध्यादिपरिणात्मक है, क्योंकि वह चेतन है। जो बुद्ध्यादिपरिणामात्मक नहीं है वह चेतन नहीं देखा गया, जैसे घट वगैरह। और चेतन पुरुष है, इसलिये वह बुद्ध्यादिपरिणामात्मक है।

§ ३०१. तथा प्रधानको जो आकाशपरिणामात्मक कहा जाता है वह भी नहीं बनता है, क्योंकि जो मूर्तिमान् पृथिवी आदिका परिणामरूप है वह अमूर्त्तिक आकाशका परिणाम नहीं हो सकता। कारण, दोनों परस्परविरुद्ध हैं, जैसे घटादिक। शब्दादिक पाँच तन्मात्राएँ तो पुद्गलद्रव्यके परिणाम ही हैं, जैसे कर्मेन्द्रियाँ और द्रव्यमन। किन्तु भावमन और बुद्धीन्द्रियाँ पुरुषपरिणामात्मक सिद्ध होती हैं और इस तरह जीव और पुद्गलके सिवाय धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन द्रव्योंको छोड़कर अन्य द्रव्य सिद्ध नहीं

---

1 स द 'च न'। 2 द प्रतौ 'तथा शब्दो नाकाशपरिणामात्मकः पुद्गलपरिणामात्मकत्वात्, यदाकाशपरिणामात्मकं तन्न पुद्गलपरिणामात्मकं' इति पाठः तथेत्यादिमूर्तिमदन्तपाठस्थाने उपलभ्यते।

प्रधानं नाम तत्त्वान्तरमस्ति । सत्त्वरजस्तमसामपि द्रव्यभावरूपाणां पुद्गलद्रव्यपुरुषद्रव्यपरिणामत्वोपपत्तेः, अन्यथा तदघटनात्, इति द्रव्यकर्माणि पुद्गलात्मकान्येव सिद्धानि, भावकर्मणां जीवपरिणामत्वसिद्धेः । तानि च द्रव्यकर्माणि पुद्गलस्कन्धरूपाणि, परमाणूनां कर्मत्वानुपपत्तेः, तेषां जीवस्वरूपप्रतिबन्धकत्वाभावादिति कर्मस्कन्धसिद्धिः[1] । ते च कर्मस्कन्धा बहवः इति कर्मस्कन्धराशयः सिद्धाः । ते च भूभृत इव भूभृत इति व्यपदिश्यन्ते समाधिवचनात् । तेषां कर्मभूभृतां भेदो विश्लेषणमेव न पुनरत्यन्तसंक्षयः, सतो द्रव्यस्यात्यन्तविनाशानुपपत्तेः प्रसिद्धत्वात् । तत एव कर्मभूभृतां भेत्ता भगवान् प्रोक्तो न पुनर्विनाशयितेति निरवद्यमिदं "भेत्तारं कर्मभूभृतां ज्ञातारं विश्वतत्त्वानाम्" इति विशेषणद्वितयं "मोक्षमार्गस्य नेतारम्" इति विशेषणवत् ।

[मोक्षस्य स्वरूपम्]

§ ३०२. कः पुनर्मोक्षः ? इत्याह—

स्वात्मलाभस्ततो मोक्षः कृत्स्नकर्मक्षयान्मतः ।
निर्जरासंवराभ्यां नुः[2] सर्वसद्वादिनामिह ॥११६॥

होता। ऐसी हालतमें प्रधान नामका अलग तत्त्व नहीं है। सत्त्व, रज और तम ये तीन भी, जो द्रव्य और भावरूप हैं, पुद्गलद्रव्य और पुरुषद्रव्यके परिणाम सिद्ध होते हैं। यदि वे उन दोनोंके परिणाम न हों तो वे बन ही नहीं सकते हैं। तात्पर्य यह कि जो सत्त्व, रज और तम इन तीनकी साम्य अवस्थाको प्रधान कहा गया है वे तीनों भी जीव और पुद्गलके ही परिणाम हैं और इसलिये इन दोनोंके अलावा उन (सत्त्वादि) का आधारभूत कोई अलग द्रव्य नहीं है जिसे प्रधान माना जाय। इस प्रकार द्रव्यकर्म पुद्गलपरिणात्मक ही सिद्ध होते हैं, क्योंकि भावकर्म जीवके परिणाम सिद्ध हैं। और वे द्रव्यकर्म पुद्गलस्कन्धरूप हैं, क्योंकि परमाणुओंमें कर्मपना नहीं बन सकता है। कारण, वे जीवस्वरूपके प्रतिबन्धक नहीं हैं, इस तरह कर्मस्कन्ध प्रसिद्ध होते हैं। तथा वे कर्मस्कन्ध बहुत हैं, इस लिये कर्मस्कन्धराशि भी सिद्ध हो जाती है और चूँकि वे पर्वतोंकी तरह विशाल और दुर्भेद्य हैं इस लिये उन्हें संक्षेपमें भूभृत्—पर्वत कहा जाता है। उन कर्मपर्वतोंका जो भेदन है वह उनका विश्लेषण—जुदा करना ही है, अत्यन्त नाश नहीं, क्योंकि सत्तात्मक द्रव्यका अत्यन्त विनाश नहीं होता, यह सर्वप्रसिद्ध है। इसीसे भगवान्को कर्मपर्वतोंका भेत्ता—भेदनकर्ता—विश्लेषणकर्ता कहा है, नाशकर्ता नहीं। इस प्रकार 'कर्मपर्वतोंका भेत्ता, विश्वतत्त्वोंका ज्ञाता' ये दोनों आप्तके विशेषण निरवद्य हैं—निर्दोष हैं, जैसे 'मोक्षमार्गका नेता' यह विशेषण निर्दोष है।

§ ३०२. शंका—मोक्षका स्वरूप क्या है अर्थात् मोक्ष किसे कहते हैं ?

समाधान—इसका उत्तर अगली कारिकामें कहते हैं—

'चूँकि कर्मपर्वतोंका क्षय होता है, अतः समस्त कर्मोंका संवर और निर्जराद्वारा क्षय होकर जीव (पुरुष) को जो अपने स्वरूपका लाभ होता है वह आस्तिकोंके मोक्ष माना गया है।'

---

1 द 'कर्मस्कन्धसिद्धेः'। 2 मु 'तु'।

§ ३०३. यत एवं ततः स्वात्मलाभो जीवस्य मोक्षः कृत्स्नानां कर्मणामागामिनां सञ्चितानां च संवरनिर्जराभ्यां क्षयाद्विश्लेषात्सर्वसद्वादिनां मत इति सर्वेषामास्तिकानां मोक्ष-स्वरूपे विवादाभावं दर्शयति तेषामात्मस्वरूपे कर्मस्वरूपे च विवादात्। स च प्रागेव निरस्तः, अनन्तज्ञानादिचतुष्टयस्य सिद्धत्वस्य चात्मनः स्वरूपस्य प्रमाणप्रसिद्धत्वात्। न ह्यचेतनत्वमात्मनः स्वरूपम्, तस्य ज्ञानसमवायित्वविरोधात्, आकाशादिवत्[1]। तत्कारणादृष्टविशेषासम्भवाच्च, तद्वत्, तस्यान्तःकरणसंयोगस्यापि दुर्घटत्वात्। प्रतीयते च ज्ञानमात्मनि, ततस्तस्य नाचैतन्यं स्वरूपम्।

§ ३०४. ज्ञानस्य चैतन्यस्यानित्यत्वात्कथमात्मनो नित्यस्य तत्स्वरूपम्? इति चेत्; न; अनन्तस्य ज्ञानस्यानादेश्चानित्यत्वैकान्ताभावात्। ज्ञानस्य नित्यत्वे न कदाचिदज्ञानमात्मनः[2] स्यादिति चेत्; न; तदावरणोदये तदविरोधात्। एतेन समस्तवस्तुविषयज्ञानप्रसङ्गोऽपि विनिवारितः, तद्घातिकर्मोदये सति संसारिणस्तदसम्भवात्। तत्क्षये तु केवलिनः सर्वद्रव्यपर्यायविषयस्य ज्ञानस्य प्रमाणतः प्रसिद्धेः सर्वज्ञत्वस्य साधनात्। चैतन्यमात्रमेवात्मनः स्वरूपं

---

§ ३०३. आगामी और सञ्चित समस्त कर्मोंका संवर और निर्जराद्वारा क्षय होनेसे जीवके स्वात्मलाभरूप मोक्ष होता है। कारिकामें जो 'सर्वसद्वादिनां मतः' पदका प्रयोग है उससे सभी आस्तिकोंका मोक्षके स्वरूपविषयमें विवादाभाव प्रदर्शित किया गया है अर्थात् मोक्षके उक्त स्वरूपमें सभी आस्तिकोंको अविवाद है—वे उसे मानते हैं। केवल आत्माके स्वरूप और कर्मके स्वरूपमें उन्हें विवाद है किन्तु वह पहले ही निराकृत हो चुका है क्योंकि प्रमाणसे अनन्तज्ञानादिचतुष्टय और सिद्धत्व आत्माका स्वरूप प्रसिद्ध होता है। प्रकट है कि अचेतनता (जडता) आत्माका स्वरूप नहीं है, अन्यथा आत्माके ज्ञानका समवाय नहीं बन सकेगा, जैसे आकाशादिकमें वह नहीं बनता है। और ज्ञानका कारणभूत अदृष्टविशेष भी आकाशादिकी तरह उस (जड आत्मा) के सम्भव नहीं है। तथा अन्तःकरणसंयोग भी उसके दुर्घट है। और आत्मामें ज्ञान प्रतीत होता है। अतः आत्माका अचेतनता स्वरूप नहीं है।

§ ३०४. शंका—चैतन्यरूप ज्ञान अनित्य है और इसलिये वह नित्य आत्माका स्वरूप कैसे बन सकता है?

समाधान—नहीं, क्योंकि ज्ञान अनन्त और अनादि है, इसलिये वह सर्वथा अनित्य नही है—नित्य भी है।

शंका—यदि ज्ञान नित्य है तो आत्माके कभी अज्ञान नहीं होना चाहिये?

समाधान—नहीं, क्योंकि ज्ञानावरणकर्मका उदय होनेपर अज्ञानके होनेमें कोई विरोध नहीं है। इस कथनसे समस्त पदार्थोंके ज्ञानका प्रसङ्ग भी दूर हो जाता है क्योंकि समस्त पदार्थोंके ज्ञानको घातनेवाले घातिकर्मोंके उदयमें संसारियोंके वह सम्भव नहीं है। उनके नाश हो जानेपर तो केवलीभगवानके वह समस्त द्रव्यों और उनकी समस्त पर्यायोंको विषय करनेवाला ज्ञान प्रमाणसे प्रसिद्ध है और इसलिये सर्वज्ञताकी उनके

---

1 मुक 'आकाशादि'। 2 द 'दज्ञतात्मनः'।

[न ज्ञानम्] इत्यप्यनेन[1] निरस्तम्, ज्ञानस्वभावरहितस्य चेतनत्वविरोधात्, गगनादिवत्।

§ ३०५. "प्रभास्वरमिदं चित्तम्" [ ] इति स्वसंवेदनमात्रं चित्तस्य स्वरूपं वदन्नपि सकलार्थविषयज्ञानसाधना[2]न्निरस्तः, स्वसंविन्मात्रेण वेदनेन सर्वार्थसाक्षात्करणविरोधात्।

§ ३०६. तदेवं प्रतिवादिपरिकल्पिताऽऽत्मस्वरूपस्य प्रमाणबाधितत्वात्स्याद्वादिनिगदितमेवानन्तज्ञानादिस्वरूपमात्मनो व्यवतिष्ठते। ततस्तस्यैव लाभो मोक्षः सिद्ध्येन्न पुनः स्वात्मप्रहाणमिति प्रतिपद्येमहि प्रमाणसिद्धत्वात्।

§ ३०७. तथा कर्मस्वरूपे च विप्रतिपत्तिः कर्मवादिनां कल्पनाभेदात्। सा च पूर्वं निरस्ता, इत्यलं विवादेन।

[संवरनिर्जरामोक्षाणां भेदप्रदर्शनम्]

§ ३०८. ननु च संवरनिर्जरामोक्षाणां भेदाभावः, कर्माभावस्वरूपत्वाविशेषात्, इति चेत्;

सिद्धि की जाती है। तात्पर्य यह कि आत्मामें जब तक घातिकर्मोंका उदय विद्यमान रहता है तब तक समस्त पदार्थोंका ज्ञान संसारी जीवोंको नहीं होता, किन्तु जिस आत्मविशेषके घातिकर्मोंका अभाव होजाता है उसके समस्त पदार्थविषयक ज्ञान होता है क्योंकि विशिष्ट आत्माको सर्वज्ञ माना गया है। अतः ज्ञानको आत्माका स्वरूप माननेमें न सर्वार्थविषयक ज्ञानका प्रसङ्ग आता है और न अज्ञानके अभावका प्रसङ्ग आदि दोष प्राप्त होता है

जो कहते हैं कि 'चैतन्यमात्र ही आत्माका स्वरूप है, ज्ञान नहीं' [ ] उनका यह कहना भी उपर्युक्त विवेचनसे निराकृत होजाता है, क्योंकि जो ज्ञानस्वभावसे रहित है वह चेतन नहीं होसकता है, जैसे आकाशादिक।

§ ३०५. "प्रकाशस्वरूप यह चित्त (आत्मा) है", [ ] अतः स्वसंवेदनमात्र चित्तका स्वरूप है, बौद्धोंका यह कथन भी ज्ञानको सकलार्थविषयक सिद्ध करनेसे खण्डित होजाता है क्योंकि जो ज्ञान अपने आपका ही वेदक (प्रकाशक) है वह समस्त पदार्थोंका साक्षात्कर्ता नहीं होसकता है।

§ ३०६. इस प्रकार प्रतिवादियोंद्वारा कल्पित किया गया आत्माका स्वरूप प्रमाणबाधित होनेसे स्याद्वादियोंद्वारा कहा गया आत्माका अनन्तज्ञानादि स्वरूप व्यवस्थित होता है। अतः उसी अनन्तज्ञानादि स्वरूपका लाभ (प्राप्ति) मोक्ष सिद्ध होता है, आत्माका नाश मोक्ष नहीं, यही हम ठीक समझते हैं क्योंकि वह प्रमाण-सिद्ध है।

§ ३०७. इसी तरह कर्मको माननेवालोंके कर्मस्वरूपमें विवाद है, क्योंकि उसमें उनकी नाना कल्पनाएँ हैं जिनका पहले निराकरण किया जा चुका है। अतः इस विवादको अब समाप्त करते हैं।

§ ३०८. शङ्का—संवर, निर्जरा और मोक्ष इनमें भेद नहीं है क्योंकि तीनों ही कर्मोंके अभावस्वरूप हैं?

---

1 मु स प 'इत्यनेन'। 2 द 'साधनो नि–'।

न; संवरस्यागामिकर्मानुत्पत्तिलक्षणत्वात् । "आस्रवनिरोधः संवरः" [तत्त्वार्थसू० ९।१] इति वचनात् । निर्जरायास्तु देश[1]सञ्चितकर्मविप्रमोक्षलक्षणत्वात्, "देशतः कर्मविप्रमोक्षो निर्जरा" [ ] इति प्रतिपादनात् । कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षस्यैव मोक्षत्ववचनात् । ततः सञ्चितानागतद्रव्यभावकर्मणां विप्रमोक्षस्य संवरनिर्जरयोरभावात्ताभ्यां मोक्षस्य भेदः सिद्धः[2] ।

[मोक्षमस्वीकुर्वतां नास्तिकानां प्रतिपादनं न मोक्षसद्भावबाधकमिति प्रदर्शयति]

§ ३०९ ननु च नास्तिकान्प्रति मोक्षस्वरूपेऽपि विवादः, इति चेत्; न; तेषां प्रलापमात्रविकारात्[3] । तदेवाह—

नास्तिकानां च नैवास्ति प्रमाणं तन्निराकृतौ ।
प्रलापमात्रकं तेषां नावधेयं महात्मनाम् ॥११७॥

§ ३१०. येषां प्रत्यक्षमेकमेव[4] प्रमाणं नास्तिकानां ते कथं मोक्षनिराकरणाय प्रमाणान्तरं वदेयुः ? स्वेष्टहानिप्रसङ्गात् । पराभ्युपगतेन प्रमाणेन मोक्षाभावमाचक्षाणा मोक्षसद्भावमेव किमाचक्षते [5]न चे द्विक्षिप्तमनसः परपर्यनुयोगपरतया ? प्रलापमात्रं तु महात्मनां नावधेयम्,

समाधान—नहीं; क्योंकि आगामी कर्मोंका उत्पन्न न होना संवर है। कारण, "आस्रवका रुक जाना संवर है" [तत्त्वार्थसू० ९-१] ऐसा सूत्रकारका उपदेश है। और सञ्चित कर्मोंका एक-देश क्षय होना निर्जरा है। कारण, "एक-देशसे कर्मोंका नाश होना निर्जरा है" [ ] ऐसा कहा गया है। तथा समस्त कर्मोंका सर्वथा क्षीण हो जाना मोक्ष है। अतः संवर तो आगामी द्रव्य और भावकर्मोंके अभावरूप है और निर्जरा संचित द्रव्य और भावकर्मोंके एक-देश अभावरूप है। तथा मोक्ष आगामी और संचित समस्त द्रव्य-भाव कर्मोंके सम्पूर्णतः अभावरूप है जो न संवरसे होता है और न निर्जरासे और इसलिये दोनों (संवर और निर्जरा) का तथा दोनोंसे मोक्षका भेद सिद्ध है।

§ ३०९. शङ्का—नास्तिकोंके लिये मोक्षके स्वरूपमें भी विवाद है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि उनका वह केवल प्रलाप है। यही आगे कहते हैं:—

'नास्तिकोंके मोक्षका निराकरण करनेमें कोई प्रमाण नहीं है और इसलिये उनका वह कहना प्रलापमात्र (केवल बकना अथवा रोना) है, अतः वह महात्माओंके द्वारा ध्यान देने योग्य नहीं है।'

§ ३१०. जिन नास्तिकोंके एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण है वे मोक्षका निराकरण करनेके लिये अन्य प्रमाण कैसे मान सकते हैं ? अन्यथा अपने इष्टकी हानिका प्रसङ्ग आवेगा। यदि वे दूसरोंके माने प्रमाणद्वारा मोक्षका अभाव बतलायें तो वे यदि विक्षिप्तचित्त नहीं हैं तो दूसरोंके प्रश्न करनेपर मोक्षका सद्भाव ही क्यों नहीं बतलाते ? तात्पर्य यह कि नास्तिकोंके द्वारा केवल एक प्रत्यक्षप्रमाण माना जाता है और वह सद्भावका ही साधक है। इसलिये वे उसके द्वारा मोक्षका निषेध नहीं कर सकते हैं।

1 मु स प 'देश' पाठो नास्ति। 2 द 'भेदसिद्धिः'। 3 मु प स 'अत्रानधिकारात्'। 4 मु 'प्रत्यक्षमेव'। 5 द 'एतद्विक्षिप्तमनसः'।

तेषामुपेक्षार्हत्वात् । ततो निर्विवाद एव मोक्षः प्रतिपत्तव्यः ।

[मोक्षमार्गस्य स्वरूपकथनम्]

§ ३११. कस्तर्हि मोक्षमार्गः ? इत्याह—

मार्गो मोक्षस्य वै सम्यग्दर्शनादित्रयात्मकः ।
विशेषेण प्रपत्तव्यो नान्यथा तद्विरोधतः ॥११८॥

§ ३१२. मोक्षस्य हि मार्गः साक्षात्प्राप्त्युपायो विशेषेण प्रत्यायनीयः[1], असाधारणकारणस्य तथाभावोपपत्तेः, न पुनः सामान्यतः साधारणकारणस्य द्रव्यक्षेत्रकालभवभावविशेषस्य सद्भावात् । स च त्र्यात्मक एव प्रतिपत्तव्यः । तथा हि—'सम्यग्दर्शनादित्रयात्मको मोक्षमार्गः, साक्षान्मोक्षमार्गत्वात् । यस्तु न सम्यग्दर्शनादित्रयात्मकः स न साक्षान्मोक्षमार्गः, यथा ज्ञानमात्रादि, साक्षान्मोक्षमार्गश्च विवादाध्यासितः, तस्मात्सम्यग्दर्शनादित्रयात्मकः' इति ।

अतः उसका निषेध करनेके लिए उन्हें प्रमाणान्तर (अनुमान) मानना पड़ेगा और जब वे उसे मान लेते हैं तो उससे अच्छा यह है कि उसी प्रमाणान्तर (सद्भावसाधकानुमान) से मोक्षका सद्भाव ही मान लेना चाहिए ? दूसरोंसे प्रश्न करवानेकी अपेक्षा स्वयं ही विवेकी बनकर उसका अस्तित्व उन्हें स्वीकार कर लेना उचित है। यदि वे बिना प्रमाणके ही उसका अभाव करें तो उनका वह प्रलापमात्र (प्रमाणशून्य कथन) कहा जायेगा और जो महात्माओंके ध्यान देनेयोग्य नहीं है, उनके लिये वह उपेक्षाके योग्य है। अतः निर्विवाद ही मोक्ष स्वीकार करना चाहिये।

§ ३११. शंका—अच्छा तो यह बतलायें, मोक्षका मार्ग क्या है ?

समाधान—इसका उत्तर इस कारिकामें देते हैं—

'मोक्षका मार्ग निश्चय ही विशेषरूपसे सम्यग्दर्शनादि तीनरूप जानना चाहिये, अन्यथा नहीं, क्योंकि उसमें विरोध है। तात्पर्य यह कि मोक्षप्राप्तिका उपाय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंकी एकता है, अकेला सम्यग्दर्शन अथवा, अकेला सम्यग्ज्ञान या अकेला सम्यक्चारित्र मोक्षप्राप्तिका उपाय नहीं है, क्योंकि वह प्रत्यक्षादि प्रमाणसे प्रतीत नहीं होता और इसलिये उसमें प्रतीतिविरोध है।'

§ ३१२. प्रकट है कि मोक्षका मार्ग, साक्षात् मोक्षकी प्राप्तिका उपाय विशेषरूपसे ज्ञातव्य (जानने योग्य) है, क्योंकि जो असाधारण कारण होता है वही विशेषरूपसे ज्ञातव्य होता है, सामान्यरूपसे नहीं, क्योंकि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावविशेषरूपसे साधारण कारण विद्यमान रहता है और इसलिये वह विशेषतः ज्ञातव्य नहीं होता। और वह (मोक्षका विशेषतः मार्ग) तीनरूप ही जानना चाहिए, एक या दो रूप नहीं। वह इस प्रकारसे है:—मोक्षमार्ग सम्यग्दर्शन आदि तीनरूप है, क्योंकि वह साक्षात् मोक्षमार्ग है, जो सम्यग्दर्शन आदि तीनरूप नहीं है वह साक्षात् मोक्षमार्ग नहीं है, जैसे अकेला ज्ञान आदि। और साक्षात् मोक्षमार्ग विचारकोटिमें स्थित मोक्षमार्ग है, इस कारण

1 द 'प्रत्यासन्नस्यासाधा', स 'प्रत्यासनीये सा'।

अत्र नाप्रसिद्धो धर्मी, मोक्षमार्गमात्रस्य सकलमोक्षवादिनामविवादास्पदस्य[1] धर्मित्वात्। तत एव नाप्रसिद्धविशेष्यः पक्षः। नाप्यप्रसिद्धविशेषणः, सम्यग्दर्शनादित्रयात्मकत्वस्य व्याधिविमोक्षमार्गे[2] रसायनादौ प्रसिद्धत्वात्। न हि रसायनश्रद्धानमात्रं सम्यग्ज्ञानाचरणरहितं सकलामयविनाशनायालम्। नापि रसायनज्ञानमात्रं श्रद्धानाचरणरहितम्। न च रसायनाचरणमात्रं श्रद्धानज्ञानशून्यम्। तेषामन्यतमापाये सकलव्याधिविप्रमोक्षलक्षणस्य रसायनफलस्यासम्भवात्। तद्वत्सकलकर्ममहाव्याधिविप्रमोक्षोऽपि तत्त्वश्रद्धानज्ञानाचरणत्रयात्मकादेवोपायादनपायमुपपद्यते, तदन्यतमापाये तदनुपपत्तेः।

§ ३१३. ननु चायं प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्धो हेतुः, शब्दानित्यत्वे शब्दत्ववत्, इति न मन्तव्यम्, प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वेन हेतोरसिद्धत्वायोगात्। प्रतिज्ञा हि धर्मिधर्मसमुदायलक्षणा, तदेकदेशस्तु धर्मी धर्मो वा। तत्र न धर्मी तावदप्रसिद्धः, "प्रसिद्धो धर्मी" [न्यायप्रवेश पृ० १] इति वचनात्। न चायं धर्मित्वविवक्षायामप्रसिद्ध इति वक्तुं युक्तम्, प्रमाणतस्तत्सम्प्रत्ययस्याविशेषात्।

§ ३१४. ननु मोक्षमार्गो धर्मी मोक्षमार्गत्वं हेतुः, तच्च न धर्मि, सामान्यरूपत्वात्, [सामान्यरूपस्य च] साधनधर्मत्वेन प्रतिपादनात्, इत्यपरः; सोऽप्यनुकूलमाचरति; साधनधर्मस्य धर्मिरूपत्वाभावे प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वनिराकरणात्। "विशेषं धर्मिणं कृत्वा सामान्यं हेतुं ब्रुवतो न दोषः" [   ] इति परैः स्वयमभिधानात्। 'प्रयत्नानन्तरीयकः [1]शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वात्' इत्यादिवत्।

§ ३१५. कः पुनरत्र विशेषो धर्मी ? मोक्षमार्ग इति ब्रूमः। कुतोऽस्य विशेषः ? स्वास्थ्यमार्गात्। न ह्यत्र मार्गसामान्यं धर्मि। किं तर्हि ? मोक्षविशेषणो मार्गविशेषः।

वह सम्यग्दर्शनादि तीनरूप है। यहाँ (अनुमानमें) धर्मी अप्रसिद्ध नहीं है क्योंकि मोक्षमार्गमात्रको धर्मी बनाया गया है और उसमें सभी मोक्षवादियोंको अविवाद है—मोक्षमार्गविशेषमें ही उन्हें विवाद है (क्योंकि कोई सिर्फ ज्ञानको, कोई केवल दर्शन—श्रद्धाविशेषको और कोई केवल चारित्रको मोक्षका मार्ग मानते हैं और इसलिये उसीमें मतभेद है।) मोक्षमार्गसामान्यमें तो सब एकमत हैं। अतएव पक्ष अप्रसिद्धविशेष्य नहीं है और न अप्रसिद्धविशेषण भी है, क्योंकि सम्यग्दर्शन आदिकी तीनरूपता रोगके मोक्षमार्ग (रोगके निवृत्तिकारण) रसायनादिक (दवा आदि) में प्रसिद्ध है। प्रकट है कि रसायनके सम्यग्ज्ञान और पथ्यापथ्यके आचरणरहित केवल रसायनका श्रद्धान (विश्वास) समस्त रोगोंको नाश करनेमें समर्थ नहीं है। न रसायनके श्रद्धान और आचरणरहित केवल उसका ज्ञान भी समर्थ है और न श्रद्धान-ज्ञानशून्य केवल रसायनका आचरण भी। कारण, उनमेंसे यदि एकका भी अभाव हो तो सम्पूर्ण रोगकी निवृत्तिरूप रसायनका फल प्राप्त नहीं होसकता है। उसी प्रकार समस्त कर्मरूपी महाव्याधिका मोक्ष (छूटना) भी यथार्थ श्रद्धान, यथार्थ ज्ञान और यथार्थ आचरण इन तीनरूप ही उपायसे निर्बाध प्रसिद्ध होता है, उनमेंसे किसी एकका भी अभाव होनेपर वह नहीं बन सकता है। तात्पर्य यह कि मोक्षमार्गमें, चाहे वह किसी भी प्रकारका क्यों न हो, सम्यक् श्रद्धा, सम्यक् बोध और सम्यक् आचरण इन तीनोंकी एकता अनिवार्य है और इस लिये पक्ष अप्रसिद्धविशेषण भी नहीं है।

§ ३१३. शंका—यह हेतु प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्ध है, जैसे शब्दको अनित्य सिद्ध करनेमें 'शब्दत्व'—शब्दपना हेतु ?

समाधान—नहीं; क्योंकि प्रतिज्ञार्थैकदेशरूपसे हेतु असिद्ध नहीं है। स्पष्ट है कि धर्म और धर्मीके समुदायको प्रतिज्ञा कहते हैं उसका एकदेश धर्मी अथवा धर्म है। उनमें धर्मी तो असिद्ध नहीं है, क्योंकि "धर्मी प्रसिद्ध होता है" [न्यायप्रवे० पृ० १] ऐसा कहा गया है। तथा यह कहना कि धर्मित्व (धर्मीपना) की विवक्षाके समय धर्मी असिद्ध है, युक्त नहीं है। कारण, प्रमाणसे उसकी सम्यक् प्रतीति होती है। तात्पर्य यह कि धर्मी कहीं तो प्रमाणसे, कहीं विकल्पसे और कहीं प्रमाण तथा विकल्प दोनोंसे प्रसिद्ध रहता है। प्रकृतमें 'मोक्षमार्ग' रूप धर्मी प्रमाणसे प्रसिद्ध है और इसलिये उक्त (धर्मीको अप्रसिद्ध होनेका) दोष नहीं है।

§ ३१४. शंका—'मोक्षमार्ग' (विशेष) धर्मी है, 'मोक्षमार्गत्व' (सामान्य) हेतु है और इसलिये वह धर्मी नहीं होसकता, क्योंकि वह सामान्यरूप है और सामान्यरूपका साधनधर्मरूपसे प्रतिपादन किया जाता है अर्थात् सामान्यको हेतु बनाया जाता है, धर्मी नहीं। और ऐसी हालतमें आप यह कैसे कहते हैं कि प्रकृतमें मोक्षमार्गमात्र—मोक्षमार्गसामान्यको धर्मी बनाया है ?

समाधान—आपका कथन हमारे अनुकूल है, क्योंकि यदि साधनधर्म (सामान्य) धर्मीरूप नहीं है तो वह प्रतिज्ञार्थैकदेश नहीं होसकता और उस दशामें प्रतिज्ञार्थैकदेशरूपसे हेतुको असिद्ध नहीं कहा जा सकता है। "विशेषको धर्मी बनाकर सामान्यको हेतु कहनेवालोंके कोई दोष नहीं है" [   ] ऐसा दूसरे दार्शनिकोंने भी कहा है। जैसे 'शब्द प्रयत्नका अविनाभावी है—प्रयत्नके बिना वह उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि प्रयत्नका अविनाभावी है' इस स्थलमें विशेष—प्रयत्नका अविभावी—व्यक्तिको धर्मी और प्रयत्नका अविनाभावित्व (प्रयत्नानन्तरीयकत्व)-सामान्यको हेतु बनाया गया है।

§ ३१५. शंका—अच्छा तो बतलाइये, यहाँ किस विशेषको धर्मी बनाया गया है ?

समाधान—'मोक्षमार्ग' विशेषको।

शंका—इसको विशेष कैसे कहा जाता है अर्थात् यह विशेष कैसे है ?

समाधान—क्योंकि वह आत्मनिष्ठ मार्ग है। प्रकट है कि यहाँ (अनुमानमें) मार्गसामान्यको धर्मी नहीं किया। किसे क्या ? मोक्ष जिसका विशेषण है ऐसे मार्गविशेषको धर्मी किया है। तात्पर्य यह कि हमने उपर्युक्त अनुमानमें 'मोक्षमार्ग' विशेष(व्यक्ति)को धर्मी और 'मोक्षमार्गत्व' सामान्यको हेतु बनाया है और इसलिये उपर्युक्त दोष नहीं है।

---

1 मु स प 'मविवादस्य'। 2 मु 'मोक्षमार्गरसा'।

1 मु स प 'क्षणिकः' इत्यधिकः पाठः।

कथमेवं मोक्षमार्गत्वं सामान्यम् ? मोक्षमार्गानेक[1]व्यक्तिनिष्ठत्वात् । क्वचिन्मानसशारीरव्याधिविशेषाणां मोक्षमार्गः[2], क्वचिद्द्रव्यभावसकलकर्मणाम्, इति मोक्षमार्गत्वं सामान्यं शब्दत्ववत् । शब्दत्वं हि यथा शब्दविशेषे वर्णपदवाक्यात्मके विवादास्पदे तथा ततविततघनसुषिरशब्देऽपि [3]श्रावणज्ञानजननसमर्थतया शब्दव्यपदेशं नातिक्रामति, इति शब्दविशेषं धर्मिणं कृत्वा शब्दत्वं सामान्यं हेतुं ब्रुवाणो न कश्चिद्दोषमास्तिघ्नुते[4] तथाऽनन्वय[5]दोषस्याप्यभावात् । तद्वन्मोक्षमार्गविशेषं धर्मिणमभिधाय मोक्षमार्गत्वं सामान्यं साधनमभिदधानो नोपालब्धव्यः[6] । तथा साध्यधर्मोऽपि प्रतिज्ञार्थैकदेशो हेतुत्वेनोपादीयमानो न प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वेनासिद्धः, तस्य धर्मिणा व्यभिचारात्, प्रतिज्ञार्थैकदेशस्यापि धर्मिणोऽसिद्धत्वानुपपत्तेः । किं तर्हि ? साध्यत्वेनै[7]वासिद्धः, इति न प्रतिज्ञार्थैकदेशो नामासिद्धो हेतुरस्ति ।

§ ३१६. विपक्षे बाधकप्रमाणाभावादन्यथानुपपन्नत्वनियमानिश्चयादगमको[8]ऽयं हेतुः, इति चेत्; न; ज्ञानमात्रादौ विपक्षे मोक्षमार्गत्वस्य हेतोः प्रमाणबाधितत्वात् । सम्यग्दर्शनादित्रयात्मकत्वे हि मोक्षमार्गस्य साध्ये ज्ञानमात्रादिर्विपक्षः, तत्र च न मोक्षमार्गत्वं सिद्धम्, बाधकसद्भावात् । तथा हि—ज्ञानमात्रं हि[1] न कर्ममहाव्याधिमोक्षमार्गः, श्रद्धानाचरणशून्यत्वात्, शारीरमानसव्याधिविमोक्षकारणरसायनज्ञानमात्रवत् । नाप्यचरणमात्रं तत्कारणम्, श्रद्धानज्ञानशून्यत्वात्, रसायनाचरणमात्रवत् । नापि ज्ञानवैराग्ये तदुपायः, तत्त्वश्रद्धानविधुरत्वात्, रसायनज्ञानवैराग्यमात्रवत्, इति सिद्धोऽन्यथानुपपत्तिनियमः साधनस्य । ततो मोक्षमार्गस्य सम्यग्दर्शनादित्रयात्मकत्वसिद्धिः ।

§ ३१७. परम्परया मोक्षमार्गस्य सम्यग्दर्शनमात्रात्मकत्वसिद्धेर्व्यभिचारी हेतुः, इति चेत्; न; साक्षादिति विशेषणात् । साक्षान्मोक्षमार्गत्वं हि[2] सम्यग्दर्शनादित्रयात्मकत्वं न व्यभिचरति, क्षीणकषायचरमक्षणवर्त्तिपरमार्हन्त्यलक्षणजीवन्मोक्षमार्गं इवेति सुप्रतीतम् । तथैवायोगकेवलिचरमक्षणवर्त्तिकृत्स्नकर्मक्षयलक्षणमोक्षमार्गे[3]साक्षान्मोक्षमार्गत्वं सम्यग्दर्शनादित्रयात्मकत्वं न व्यभि-

---

शंका—यदि आत्मनिष्ठ होनेसे 'मोक्षमार्ग' विशेष है तो 'मोक्षमार्गत्व' सामान्य कैसे है अर्थात् उसे सामान्य क्यों कहा जाता है ?

समाधान—क्योंकि वह (मोक्षमार्गत्व) अनेक मोक्षमार्गव्यक्तियोंमें रहता है। किसीमें मानसिक एवं शारीरिक व्याधिविशेषोंका मोक्षमार्ग है और किसीमें द्रव्य तथा भाव समस्त कर्मोंका मोक्षमार्ग है और इसलिये 'मोक्षमार्गत्व' शब्दत्वकी तरह सामान्य है। प्रकट है कि जिस प्रकार 'शब्दत्व' विचारकोटिमें स्थित वर्ण, पद और वाक्यरूप शब्दविशेषोंमें रहता है तथा तत, वितत, घन एवं सुषिर शब्दोंमें भी श्रावणज्ञानको उत्पन्न करनेमें समर्थ होनेसे 'शब्द' व्यपदेशको उलंघन नहीं करता अर्थात् इन सभी विभिन्न शब्दोंमें शब्दत्व रहता है और इस लिये शब्दविशेषको धर्मी बनाकर शब्दत्वसामान्यको हेतु कहनेवालोंके कोई दोष नहीं होता। और न उसमें अनन्वयदोष ही आता है । उसी प्रकार मोक्षमार्गविशेषको धर्मी बनाकर मोक्षमार्गत्वसामान्यको साधन कहनेवाले भी दोषयोग्य नहीं हैं अर्थात् उनके भी कोई दोष नहीं हो सकता है।

तथा साध्यधर्म भी प्रतिज्ञार्थैकदेश है, यदि उसे हेतु बनाया जाय तो वह प्रतिज्ञार्थैकदेशरूपसे असिद्ध नहीं कहा जासकता; क्योंकि उसका धर्मीके साथ व्यभिचार है। कारण, धर्मी प्रतिज्ञार्थैकदेश होता हुआ भी असिद्ध नहीं होता। फिर वह असिद्ध कैसे है ? इसका उत्तर यह है कि चूँकि वह साध्य है और साध्य असिद्ध होता है, इसलिये वह साध्यरूपसे ही असिद्ध (स्वरूपासिद्ध) है। अतः हमारा हेतु प्रतिज्ञार्थैकदेश नामका असिद्ध हेत्वाभास नहीं है।

§ ३१६. शङ्का—विपक्षमें बाधक प्रमाण न होनेसे हेतुमें अविनाभावरूप व्याप्तिका निश्चय नहीं है और इसलिये आपका यह हेतु अगमक है—साध्यका साधक नहीं होसकता है ?

समाधान—नहीं; क्योंकि विपक्षभूत अकेले ज्ञानादिकमें 'मोक्षमार्गत्व' हेतु प्रमाणसे बाधित है—अर्थात् प्रत्यक्षादिसे यह सुप्रतीत है कि मोक्षमार्गपना अकेले ज्ञान, अकेले दर्शन और अकेले चारित्रमें, जो कि विपक्ष हैं, नहीं रहता है और इसलिये विपक्षबाधक प्रमाण विद्यमान ही है । प्रकट है कि मोक्षमार्गको सम्यग्दर्शनादि तीनरूप सिद्ध करनेमें अकेला ज्ञान आदि विपक्ष हैं और उनमें मोक्षमार्गत्व सिद्ध नहीं है, क्योंकि उसमें बाधक मौजूद हैं। वह इस तरहसे—अकेला ज्ञान कर्मरूप महाव्याधिका मोक्षमार्ग नहीं है क्योंकि वह श्रद्धान और आचरणशून्य है, जैसे शारीरिक और मानसिक व्याधिके छूटनेका कारणभूत रसायनज्ञानमात्र। न अकेला आचरण भी उसका कारण है क्योंकि वह श्रद्धान और ज्ञानशून्य है, जैसे रसायनका आचरणमात्र। तथा न केवल ज्ञान और वैराग्य उस-(कर्ममहाव्याधिके मोक्ष)का उपाय हैं क्योंकि वे यथार्थ श्रद्धानरहित हैं, जैसे रसायनका केवल ज्ञान और केवल आचरण। इस प्रकार हेतुमें अविनाभावरूप व्याप्तिका निश्चय सिद्ध है और इसलिये उससे मोक्षमार्ग सम्यग्दर्शनादि तीनरूप सिद्ध होता है।

३१७. शङ्का—परम्परासे मोक्षमार्ग अकेला सम्यग्दर्शनरूप सिद्ध है और इसलिये हेतु उसके साथ व्यभिचारी है। तात्पर्य यह कि परम्परासे केवल सम्यग्दर्शनको भी मोक्षका मार्ग कहा गया है और इस लिये उपर्युक्त हेतु उसके साथ अनैकान्तिक है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि 'साक्षात्' यह हेतुमें विशेषण दिया गया है। निश्चय ही 'साक्षात् मोक्षमार्गपना' सम्यग्दर्शनादि तीनरूपताका व्यभिचारी नहीं है, जैसे क्षीणकषाय नामक बारहवें गुणस्थानके चरमसमयवर्ती परम आर्हन्त्यरूप जीवन्मोक्षके मार्गमें वह सुप्रतीत है। उसी प्रकार अयोगकेवली नामक चउदहवें गुणस्थानके अन्तिम समयमें होनेवाले समस्त कर्मोंके नाशरूप मोक्षके मार्गमें वृत्ति 'साक्षात् मोक्षमार्गपना' सम्यग्द-

---

1 मु स प 'मोक्षमार्गाणामनेक' । द 'मोक्षमार्गोऽनेक' । मूले स्वसंशोधितः पाठो निक्षिप्तः । 2 द 'मोक्षो रसायनमार्गः' । स 'मोक्षस्य मार्ग' । 3 द 'श्रवण' । 4 द 'ब्रुवतो न किंचिद्दोषस्तिष्ठते' । 5 द 'अनन्वयत्व' । 6 मुक स द 'नोपलब्धव्यः' । 7 मु स प 'साध्यत्वेनासि' । 8 द 'नियमनिश्चयात् । सम्यग्दर्शनादित्रयात्मकरहिते पदार्थगमकोऽयं' ।

1, 2 मु स प 'हि' नास्ति । 3 मु 'मार्गः', स 'मार्गो', द मोक्षमार्गो' । मूले संशोधितः पाठो निक्षिप्तः । —सम्पा० ।

चरति तपोविशेषस्य परमशुक्लध्यानलक्षणस्य सम्यक्चारित्रेऽन्तर्भावादिति विस्तरतस्तत्त्वार्थालङ्कारे युक्त्यागमाविरोधेन परीक्षितमवबोद्धव्यम् ।

३१८. तदेवंविधस्य मोक्षमार्गस्य प्रणेता विश्वतत्त्वज्ञः साक्षात्, परम्परया वा ? इति शङ्कायामिदमाह—

प्रणेता मोक्षमार्गस्याबाध्यमानस्य सर्वथा ।
साक्षाद्य एव स ज्ञेयो विश्वतत्त्वज्ञताऽऽश्रयः ॥११९॥

३१९. न हि परम्परया मोक्षमार्गस्य प्रणेता गुरुपर्वक्रमाविच्छेदादधिगत[1]तत्त्वार्थशास्त्रार्थोऽप्यस्मदादिभिः साक्षाद्विश्वतत्त्वज्ञतायाः समाश्रयः साध्यते, प्रतीतिविरोधात् । किं तर्हि ? साक्षान्मोक्षमार्गस्य सकलबाधकप्रमाणरहितस्य य प्रणेता स एव विश्वतत्त्वज्ञताऽऽश्रयः[2] प्रतिपाद्यते,

र्शनादि तीनरूपताका व्यभिचारी नहीं है, क्योंकि परमशुक्लध्यानरूप तपोविशेषका सम्यक्चारित्रमें समावेश होता है । तात्पर्य यह कि चउदहवें गुणस्थानके अन्तमें जो समस्त कर्मोंका क्षयरूप मोक्ष प्रसिद्ध है उसके मार्गमें रहनेवाला साक्षात् मोक्षमार्गत्व सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंकी परिपूर्णताका अविनाभावी है । यही कारण है कि तेरहवें गुणस्थानमें परमशुक्लध्यानरूप तपोविशेषका अभाव रहनेसे वहाँके मोक्षमार्गमें सम्यग्दर्शनादि तीनोंकी परिपूर्णताका अभाव है । पर वह परमशुक्लध्यान, जो तपोविशेषरूप है और जिसका सम्यक्चारित्रमें अन्तर्भाव होता है, यहीं चउदहवें गुणस्थानके अन्त (चरम समय) में होता है और इस लिये यहाँका मोक्षमार्गवृत्ति साक्षात्मोक्षमार्गपना सम्यग्दर्शनादितीनरूपताका अव्यभिचारी है, इस सबका विस्तारके साथ तत्त्वार्थालङ्कारमें युक्ति और आगमपुरस्सर परीक्षण किया गया है, अतः वहाँसे जानना चाहिए ।

§ ३१८. शंका—इस प्रकारके मोक्षमार्गका प्रणेता सर्वज्ञ साक्षात् है अथवा परम्परासे ?

समाधान—इसका उत्तर निम्न कारिकाद्वारा देते हैं:—

'जो सब प्रकारसे अबाधित मोक्षमार्गका साक्षात् प्रणेता है वही सर्वज्ञताका आश्रय अर्थात् सर्वज्ञ जानने योग्य है ।'

§ ३१९. प्रकट है कि हम परम्परासे मोक्षमार्गके प्रणेताको, जिसने गुरुपरम्पराके अविच्छिन्न क्रमसे तत्त्वार्थशास्त्रके प्रतिपाद्य अर्थको भी जान लिया है, साक्षात् विश्वतत्त्वज्ञताका आधार अर्थात् विश्वतत्त्वज्ञ सिद्ध नहीं करते, क्योंकि उसमें प्रतीतिविरोध आता है—अर्थात् यह प्रतीत नहीं होता कि जो परम्परासे मोक्षमार्गका उपदेशक है और आचार्यपरम्परासे तत्त्वार्थशास्त्रके अर्थका ज्ञाता है वही साक्षात् सर्वज्ञ है ।

शङ्का—तो क्या सिद्ध करते हैं ?

समाधान—जो समस्त बाधकप्रमाणोंसे रहित—निर्बाध मोक्षमार्गका प्रणेता (प्रधान उपदेशक) है वही विश्वतत्त्वज्ञता—सर्वज्ञताका आश्रय अर्थात् सर्वज्ञ है, यह हम

1 द 'दवगत' । 2 मु 'तत्त्वार्थसूत्रकारैरुमास्वामिप्रभृतिभिः' इत्यधिकः पाठः ।

भगवतः[1] साक्षात्सर्वतत्त्वज्ञतामन्तरेण साक्षादबाधितमोक्षमार्गस्य प्रणयनानुपपत्तेरिति ।

[विशेषणत्रयं व्याख्याय शेषपदं व्याख्याति]

§ ३२०. 'वन्दे तद्गुणलब्धये' इत्येतद्व्याख्यातुमनाः[2] प्राह—

वीतनिःशेषदोषोऽतः प्रवन्द्योऽर्हन् गुणाम्बुधिः ।
तद्गुणप्राप्तये सद्भिरिति संक्षेपतोऽन्वयः ॥१२०॥

§ ३२१. यतश्च यः साक्षान्मोक्षमार्गस्याबाधितस्य प्रणेता स एव विश्वतत्त्वानां ज्ञाता कर्मभूभृतां भेत्ताऽत एवार्हन्नेव[3] प्रवन्द्यो मुनीन्द्रैः, तस्य वीतनिशेषाज्ञानादिदोषत्वात्तस्यानन्तज्ञानादिगुणाम्बुधित्वाच्च । यो हि गुणाम्बुधिः स एव तद्गुणलब्धये सद्भिराचार्यैर्वन्दनीयः स्यात्, नान्यः, इति मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृतां ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां भगवन्तमर्हन्तमेवान्ययोगव्यवच्छेदेन निर्णीतमहं वन्दे तद्गुणलब्धयेमिति संक्षेपतः शास्त्रादौ परमेष्ठिगुणस्तोत्रस्य मुनिपुङ्गवैर्विधीयमानस्यान्वयः सम्प्रदायाव्यवच्छेदलक्षणः पदार्थघटनालक्षणो वा लक्षणीयः, [4]प्रपञ्चतस्तद-

प्रतिपादन करते हैं, क्योंकि भगवान्के साक्षात् विश्वतत्त्वज्ञताके बिना साक्षात् निर्बाध मोक्षमार्गका प्रणयन नहीं बन सकता है । तात्पर्य यह कि भगवान् समस्त पदार्थोंके साक्षात् ज्ञानके बिना बाधारहित साक्षात् मोक्षमार्गका उपदेश नहीं दे सकते हैं । यथार्थतः साक्षात् सर्वज्ञ ही साक्षात् समीचीन मोक्षमार्गका प्रणेता सम्भव है, अन्य नहीं ।

§ ३२०. अब 'वन्दे तद्गुणलब्धये' इसका व्याख्यान करनेकी इच्छासे आचार्य कहते हैं—

'अतः समस्त दोषरहित, गुणोंके समुद्र अरहन्त भगवान उनके गुणोंकी प्राप्तिके लिये सत्पुरुषोंद्वारा प्रकृष्टरूपसे वन्दनीय हैं, इस प्रकार यह 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' इत्यादि पद्यका संक्षेपमें अन्वय—व्याख्यान है ।'

§ ३२१. चूँकि जो बाधारहित साक्षात् मोक्षमार्गका प्रणेता है वही विश्वतत्त्वोंका ज्ञाता और कर्मपर्वतोंका भेत्ता है, अतएव अरहन्त ही मुनीन्द्रों अथवा स्तोत्रकार आचार्य श्रीगृद्धपिच्छद्वारा प्रकर्षरूपसे वन्दना किये जाने योग्य हैं, क्योंकि वह समस्त अज्ञानादि दोषोंसे रहित है और अनन्तज्ञानादि गुणोंका समुद्र है । निश्चय ही जो गुणोंका समुद्र है वह ही उन गुणोंकी प्राप्तिके लिये सज्जनों—आचार्योंद्वारा वन्दनीय होना चाहिए, अन्य नहीं, इस प्रकार 'मोक्षमार्गके नेता (प्रधान उपदेशक),कर्मपर्वतोंके भेत्ता और विश्वतत्त्वोंके ज्ञाता (सर्वज्ञ) भगवान अरहन्तको ही, जो अन्य (महेश्वरादि) का व्यवच्छेद करके आप्त निर्णीत होते हैं, उनके गुणोंकी प्राप्तिके लिये मैं वन्दना करता हूँ ।' यह शास्त्र (तत्त्वार्थशास्त्र—तत्त्वार्थसूत्र) के आरंभमें मुनिश्रेष्ठों (आचार्य श्रीगृद्धपिच्छ)द्वारा किये गये परमेष्ठीगुणस्तवनका संक्षेपसे सम्प्रदायका अव्यवच्छेद (अपनी पूर्वपरम्पराका विच्छेदरहित अनुसरण) रूप अथवा पदोंके अर्थका सम्बन्धघटक अर्थात् प्रकाशनरूप अन्वय—

1 मु स प 'भगवद्भिः' । 2 द 'मना' । 3 मु स 'र्हन्' । 4 द 'प्रपञ्च' ।

न्वयस्याक्षेपसमाधानलक्षणस्य [1]श्रीमत्समन्तभद्रस्वामिभिर्देवागमाख्याप्तमीमांसायां प्रकाशनात्। देवागम-तत्त्वार्थालङ्कार-विद्यानन्दमहोदयेषु[2] च तदन्वयस्य[१] [अस्माभिः] व्यवस्थापनात्, अलं प्रसङ्गपरम्परया, अत्र समासतस्तद्विनिश्चयात्।

[अर्हतः वन्द्यत्वे प्रयोजनकथनम्]

§ ३२२. कस्मात्पुनरेवंविधो भगवान् सकलपरीक्षालक्षितमोहक्षयः साक्षात्कृतविश्वतत्त्वार्थो वन्द्यते सद्भिः ? इत्यावेद्यते—

मोहाऽऽक्रान्तान्न भवति गुरोर्मोक्षमार्गप्रणीति-
र्नर्ते तस्याः सकलकलुषध्वंसजा स्वात्मलब्धिः।
तस्यै वन्द्यः परगुरुरिह क्षीणमोहस्त्वमर्हन्-
साक्षात्कुर्वन्नमलकमिवाशेषतत्त्वानि नाथ !॥१२१॥

§ ३२३. मोहस्तावदज्ञानं रागादिप्रपञ्चश्च[3] तेनाऽऽक्रान्ताद् गुरोर्मोक्षमार्गस्य यथोक्तस्य प्रणीतिर्नोपपद्यते, यस्माद्रागद्वेषाज्ञानपरवशीकृतमानसस्य [1]सम्यग्गुरुत्वेनाभिमन्यमानस्यापि यथार्थोपदेशित्वनिश्चयासम्भवात्, तस्य वितथार्थाभिधानशङ्काऽनतिक्रमाद् दूरे[2] मोक्षमार्गप्रणीतिः। यतश्च तस्या मोक्षमार्गप्रणीतेर्विना मोक्षमार्ग[3]भावनाप्रकर्षपर्यन्तगमनेन सकलकर्मलक्षणकलुषप्रध्वंसजन्या अनन्तज्ञानादिलक्षणा[4] स्वात्मलब्धिः परमनिर्वृतिः कस्यचिन्न घटते तस्मात्तस्यै स्वात्मलब्धये यथोक्तायै[5] त्वमेवार्हन् परमगुरुरिह शास्त्रादौ वन्द्यः, क्षीणमोहत्वात्, करतलनिहितस्फटिकमणिवत्साक्षात्कृताशेषतत्त्वार्थत्वाच्च। न ह्यक्षीणमोहः साक्षादशेषतत्त्वानि द्रष्टुं समर्थः, कपिलादिवत्। नापि साक्षादपरिज्ञाताशेषतत्त्वार्थो मोक्षमार्गप्रणीतये समर्थः। न च तदसमर्थः परमगुरुरभिधातुं शक्यः, तद्वदेव। इति न मोहाक्रान्ताः[6] परमनिःश्रेयसार्थिभिरभिवन्दनीयाः[7]।

§ ३२४. कथमेवमाचार्यादयः प्रवन्दनीयाः स्युः ? इति चेत्, परमगुरुवचनानुसारितया तेषां प्रवर्त्तमानत्वात्, देशतो मोहरहितत्वाच्च तेषां वन्दनीयत्वमिति प्रतिपद्यामहे। तत एव परापरगुरुगुणस्तोत्रं शास्त्रादौ [8]मुनीन्द्रैर्विहितम्, इति व्याख्यानमनुवर्त्तनीयम्, पञ्चानामपि परमेष्ठिनां

व्याख्यान जानना चाहिए। विस्तारसे उसका व्याख्यान, जो आक्षेप-समाधान(प्रश्नोत्तर) रूप है, श्रीसमन्तभद्रस्वामीने 'देवागम' अपरनाम 'आप्तमीमांसा' में प्रकाशित किया है और देवागमालङ्कृति (अष्टसहस्री), तत्त्वार्थालङ्कार (तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक और विद्यानन्दमहोदयमें उस अन्वय (आक्षेप-समाधानरूप)—व्याख्यानका हमने व्यवस्थापन किया है। अतः और विस्तार नहीं किया जाता। यहाँ (आप्त-परीक्षामें) संक्षेपमें उस (अन्वय) का निश्चय किया गया है।

§ ३२२. अब आगे आचार्य यह बतलाते हैं कि किस कारणसे श्रेष्ठ पुरुष इस प्रकारके भगवान् अरहन्तकी, जिसके मोहका नाश समस्त परीक्षाओंसे जान लिया है और जो समस्त पदार्थोंको साक्षात् जानता है, वन्दना करते हैं ?—

'मोहविशिष्ट गुरुसे मोक्षमार्गका प्रणयन सम्भव नहीं है और उसके बिना समस्त दोषोंके नाशसे उत्पन्न होनेवाली आत्मस्वरूपकी प्राप्ति नहीं होती। अतः हे अर्हन्! हे नाथ! उस आत्मस्वरूपकी प्राप्तिके लिये आप उत्कृष्ट गुरु—यथार्थ आप्त—हितोपदेशीरूपसे यहाँ वन्दनीय हैं, क्योंकि आप क्षीणमोह हैं और हाथपर रखे हुए आँवलेकी तरह समस्त तत्त्वोंको साक्षात् करने—प्रत्यक्ष जाननेवाले हैं।'

§ ३२३. अज्ञान और रागद्वेषादिका प्रपञ्च (विस्तार) मोह है और उससे विशिष्ट गुरु (आप्त) से पूर्वोक्त (सम्यग्दर्शनादि तीनरूप) मोक्षमार्गका प्रणयन (सम्यक् उपदेश) नहीं बन सकता है, क्योंकि जिसका मन राग, द्वेष और अज्ञानके वशीभूत है और जिसे सच्चा गुरु भी मान लिया जाता है उसके सम्यक् उपदेष्टा होनेका निश्चय (गारंटी) नहीं है। कारण, वह मिथ्या अर्थका भी कथन कर सकता है, ऐसी शंका बनी रहनेसे मोक्षमार्गका प्रणयन उससे सम्भव नहीं है। और उस (मोक्षमार्गप्रणयन) के बिना मोक्षमार्ग (सम्यग्दर्शनादि तीन) की भावनाके प्रकर्षपर्यन्तको प्राप्त होनेसे सम्पूर्ण कर्मरूप पापोंके सर्वथा नाशसे उत्पन्न होनेवाली अनन्तज्ञानादिरूप आत्मस्वरूपकी प्राप्ति, जो परममोक्षरूप है, असम्भव है। इसलिये हे नाथ! हे अर्हन्! उस आत्मस्वरूपकी, जो पहले कहा जाचुका है, प्राप्तिके लिये, आप ही यथार्थ आप्तरूपसे यहाँ शास्त्रारम्भमें वन्दनीय हुए हैं, क्योंकि आप क्षीणमोह हैं—आपने मोहका सर्वथा नाश कर दिया है और हथेलीपर रखे हुए स्फटिकमणिकी तरह अशेष पदार्थोंको साक्षात् जानते हैं। वास्तवमें जो अक्षीणमोह है—जिसने मोह (रागद्वेषाज्ञान) का नाश नहीं किया, जो उससे विशिष्ट है वह अशेष तत्त्वोंको साक्षात् जानने-देखनेमें समर्थ नहीं है, जैसे कपिल वगैरह। और जो अशेष तत्त्वोंको साक्षात् नहीं जानता वह मोक्षमार्गके प्रणयन करनेमें समर्थ नहीं है। तथा जो मोक्षमार्गके प्रणयनमें असमर्थ है उसे परमगुरु (आप्त) नहीं कहा जासकता है, जैसे वही कपिल वगैरह। अतः जो मोहविशिष्ट हैं वे मोक्षाभिलाषियोंद्वारा अभिवन्दनीय नहीं हैं।

§ ३२४. शंका—यदि ऐसा है तो आचार्यादिक बन्दनीय कैसे हो सकेंगे ?

समाधान—इसका उत्तर यह है कि वे परमगुरु (आप्त) के वचनानुसार प्रवृत्त होते हैं और एक-देशसे मोहरहित हैं और इसलिये वे वन्दनीय हैं। यही कारण है कि शास्त्रके आदिमें मुनीश्वर पर और अपर गुरुके गुणोंका स्तवन करते हैं, इस प्रकारसे व्याख्यानकी अनुवृत्ति करनी चाहिए अर्थात् यह बात मूलस्तोत्रमें कण्ठोक्त न होनेपर भी ऊपरसे व्याख्यान कर लेनी चाहिए, क्योंकि पाँचों ही परमेष्ठियोंमें गुरुपना

---

1 मु स प 'श्रीमत्स्वामिसमन्तभद्रैः'। 2 प्राप्तप्रतिषु 'तत्त्वार्थविद्यानन्दमहोदयालङ्कारेषु' इति पाठ उपलभ्यते। स चायुक्तः प्रतिभाति, यतो हि बहुवचनप्रयोगात् सूचितं देवागमालङ्कारस्य (अष्टसहस्र्याः) नाम त्रुटितं प्रतीयते, अन्यथा द्विवचनप्रयोग एव स्यात्। अत एव तन्नामनिक्षेपो मूले कृतः। किञ्च, विद्यानन्दमहोदयपदेन सहाऽलङ्कारपदप्रयोगो नोपपद्यते विद्यानन्दमहोदयालङ्कारस्याभावात्, विद्यानन्दमहोदयस्यैव विद्यानन्दकृतग्रन्थस्य श्रवणात्, तथैवोल्लेखोपलब्धेश्च। —सम्पा०। 3 मु 'प्रपञ्चस्ते'। १ परमेष्ठिगुणस्तोत्रव्याख्यानस्येत्यर्थः।

1 द 'प्रतौ 'सम्यक्' नास्ति। 2 मु 'दूरमोक्ष'। 3 मु 'मार्ग'। 4 द 'तत्त्वज्ञानादिलक्षणा'। स 'स्वलक्षणा'। 5 मु स प 'यथोक्तायै' नास्ति। 6 मु 'मोहाक्रान्तः'। 7 मु 'वन्दनीयः'। 8 द 'योगीन्द्रैः'।

गुरुत्वोपपत्तेः, कार्त्स्न्यतो देशतश्च क्षीणमोहत्वसिद्धेरशेषतत्त्वार्थज्ञानप्रसिद्धेश्च यथार्थाभिधायित्व-निश्चयाद्वितथार्था[1]भिधानशङ्काऽपायान्मोक्षमार्गप्रणीतौ गुरुत्वोपपत्तेः । तत्प्रसादादभ्युदयनिःश्रेयस-सम्प्राप्ते[2]रवश्यम्भावात् ।

[उपसंहारः]

§ ३२५. तदेवमाप्तपरीक्षैषा [3]हिताहितपरीक्षादक्षैर्विचक्षणैः पुनः पुनश्चेतसि परिमलनीया, इत्याचक्ष्महे—

[4]न्यक्षेणाऽऽप्तपरीक्षा प्रतिपक्षं क्षपयितुं क्षमा साक्षात् ।
प्रेक्षावतामभीक्ष्णं विमोक्षलक्ष्मीक्षणाय संलक्ष्या ॥१२२॥

उपपन्न है । कारण, उनके सम्पूर्णतया और एक-देशसे मोहका नाश सिद्ध है तथा प्रत्यक्ष और आगमसे अशेषतत्त्वार्थका ज्ञान भी उनके प्रसिद्ध है । और इसलिये उनके यथार्थ कथन करनेका निश्चय होनेसे मिथ्या अर्थके कथन करनेकी शङ्का नहीं होती । अतएव वे मोक्षमार्गके प्रणयनमें गुरु सिद्ध हैं । उनके प्रसादसे अभ्युदय—स्वर्गादिविभूति और निःश्रेयस—मोक्षलक्ष्मीकी अवश्य सम्प्राप्ति होती है । तात्पर्य यह कि अरहन्त भगवान्की तरह सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये चारों परमेष्ठी भी वन्दनीय हैं, क्योंकि उनमें सिद्धपरमेष्ठी तो पूर्णतः मोहको नाश कर चुके हैं और अरहन्तपदको प्राप्त करके पर-मोक्षको पाचुके हैं तथा आचार्य, उपाध्याय और साधु ये तीन परमेष्ठी अरहन्त-परमात्माद्वारा उपदेशित मार्गपर ही चलनेवाले हैं, एकदेशसे मोहरहित हैं और आगमसे समस्त तत्त्वार्थको जाननेवाले हैं, अतः ये चारों परमेष्ठी भी अभिवन्दनीय हैं । और वे भी मोक्षमार्गके कथंचित् प्रणेता सिद्ध होते हैं, क्योंकि उनके उपासकोंको उनके प्रसादसे स्वर्गादिकी अवश्य प्राप्ति होती है ।

[उपसंहार]

§ ३२५. इस प्रकार आप्तका स्वरूप निर्णय करनेके लिये रची गई यह 'आप्त-परीक्षा' हित और अहितके परीक्षणमें कुशल विद्वानोंद्वारा बार-बार अपने चित्तमें लाने—अनुशीलन एवं चिन्तवन करनेयोग्य है, यह आगे कारिकाद्वारा कहते हैं—

'यह 'आप्त-परीक्षा' प्रतिपक्षों (आप्ताभासों) का सम्पूर्णतया निराकरण करनेके लिये साक्षात् समर्थ है । अतः इसे विद्वानोंको सदैव मोक्ष-लक्ष्मीका दर्शन करानेवाली समझना चाहिए ।'

1 द 'वितथाभिधा' । 2 द 'निश्रेयसशक्त्यन्तरावश्य' । 3 मु स प 'विहिता हितपरीक्षादक्षैः' इति पाठः । 4 'न्यक्षं कार्त्स्न्यनिकृष्टयोः'—अमरकोष ३-२२५ । 'न्यक्षं परशुरामे स्यान्न्यक्षः कार्त्स्न्य-निकृष्टयोः' इति विश्वः ।

श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राद्भुतसलिलनिधेरिद्धरत्नोद्भवस्य,
प्रोत्थानाऽऽरम्भकाले सकलमलभिदे शास्त्रकारैः कृतं यत् ।
स्तोत्रं तीर्थोपमानं प्रथित-पृथु-पथं स्वामि-मीमांसितं तत्,
विद्यानन्दैः स्वशक्त्या कथमपि कथितं सत्यवाक्यार्थसिद्ध्यै ॥१२३॥
इति तत्त्वार्थशास्त्रादौ मुनीन्द्र-स्तोत्र-गोचरा ।
प्रणीताऽऽप्तपरीक्षेयं विवाद-विनिवृत्तये[1] ॥१२४॥

विद्यानन्द-हिमाचल-मुखपद्म-विनिर्गता सुगम्भीरा ।
आप्तपरीक्षाटीका गङ्गावच्चिरतरं जयतु ॥१॥

'श्रीतत्त्वार्थशास्त्ररूपी अद्भुत समुद्रके, जो प्रकृष्ट अथवा महान् रत्नोंके उद्भवका स्थान है, रचनारम्भसमयमें समस्त पापों अथवा विघ्नोंका नाश करनेके लिये शास्त्रकार श्रीगृद्धपिच्छाचार्य (उमास्वाति) ने जो 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' इत्यादि मङ्गलस्तोत्र रचा, जो तीर्थके समान है—तीर्थ जैसा पूज्य एवं उपास्य है और महान् पथको प्रसिद्ध करनेवाला है अर्थात् गुणस्तवनकी उच्च एवं आदर्श परम्पराको प्रदर्शित करनेवाला है तथा जिसकी स्वामी (समन्तभद्राचार्य) ने मीमांसा की है—अर्थात् जिसको आधार बनाकर उन्होंने 'आप्तमीमांसा' नामक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ लिखा है उसीका 'विद्यानन्द' ने अपनी शक्त्यनुसार किसी तरह यथार्थ वाक्य और उसके यथार्थ अर्थकी सिद्धिके लिये यह 'आप्तपरीक्षा' रूप कथन—व्याख्यान किया है अर्थात् उसी 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' इत्यादि प्रसिद्ध स्तोत्रपर प्रस्तुत 'आप्तपरीक्षा' लिखी है ।'

'इस तरह 'तत्त्वार्थशास्त्र' के आदिमें किये गये मुनीन्द्र (श्रीगृद्धपिच्छाचार्य) के स्तोत्र—'मोक्षमार्गस्य' इत्यादि स्तवनकी विषयभूत यह 'आप्त-परीक्षा' विरुद्ध वादों (सिद्धान्तों) का सम्पूर्णतया निराकरण करनेके लिये रची गई है ।'

तीनों कारिकाओंका भावार्थ—प्रस्तुत 'आप्त-परीक्षा' आप्तका स्वरूप निर्णीत करनेके लिये लिखी गई है, जिससे गुणग्राही सत्पुरुषों तथा विद्वानोंको यह मालूम होसके कि आप्त कौन है ? और उसका स्वरूप कैसा होना चाहिए ? इससे वे अपने हिताहितके निर्णय करनेमें समर्थ हो सकते हैं । अतएव यह आप्त-परीक्षा आप्ताभासोंका निराकरण करने और सच्चे आप्तका स्वरूप प्रदर्शन करनेमें पूर्णतः समर्थ है ।

तत्त्वार्थशास्त्रके शुरूमें जो 'मोक्षमार्गस्य' इत्यादि मङ्गलस्तोत्र शास्त्रकार (श्रीगृद्धपिच्छाचार्य) ने रचा है और जो तीर्थके समान महान् है तथा जिसपर ही स्वामी समन्तभद्रने अपनी आप्त-मीमांसा लिखी है उसी स्तोत्रके व्याख्यानस्वरूप विद्यानन्दने यह आप्त-परीक्षा रची है ।

यह आप्त-परीक्षा मिथ्या वादोंका निराकरण तथा सत्यासत्य एवं हिताहितका निर्णय करनेके लिये बनाई गई है, अपने अभिमानकी पुष्टि या ख्याति आदि प्राप्त

1 मु 'कुविवादनिवृत्तये', स 'कुवादनिनिवृत्तये', प 'विवादनिवृत्तये' ।

भास्वान्मा[1]सिरदोषा कुमतमल-ध्वान्त-भेदन-पटिष्ठा[2] ॥
आप्तपरीक्षालङ्कृतिराचन्द्रार्कं चिरं जयतु ॥२॥
स जयतु विद्यानन्दो रत्नत्रय-भूरि-भूषणः सततम्[3] ।
तत्त्वार्थार्णवतरणे सदुपायः प्रकटितो येन ॥३॥
इत्याप्तपरीक्षा [स्वोपज्ञटीका युता] समाप्ता[4] ।

करनेके लिये नहीं, यही आप्त-परीक्षाके बनानेका मुख्य प्रयोजन अथवा उद्देश्य है।

टीका-पद्योंका अर्थ—'विद्यानन्दरूपी हिमाचलके मुखकमलसे निकली और अत्यन्त गम्भीर यह 'आप्तपरीक्षा-टीका' गङ्गाकी तरह चिरकाल तक पृथिवीमण्डलपर विजयी रहे—विद्यमान रहे।'

'सूर्य तथा चन्द्रमाके समान जिसका निर्मल प्रकाश है, निर्दोष है और जो मिथ्या मतरूपी अन्धकारके भेदन करनेमें पटु (समर्थ) है वह 'आप्तपरीक्षालङ्कृति' टीका सूर्य-चन्द्रमा पर्यन्त चिरकाल तक मौजूद रहे।

जिसने तत्त्वार्थशास्त्ररूपी समुद्रमें उतरने—अवगाहन करनेके लिये यह आप्त-परीक्षा व उसकी आप्तपरीक्षालङ्कृति टीका अथवा तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालङ्काररूप सम्यक् उपाय प्रकट किया और जो निरन्तर रत्नत्रयरूप बहु भूषणोंसे भूषित है वह विद्यानन्द जयवन्त हो—बहुत काल तक उसका प्रभाव, यश और वचनोंकी मान्यता पृथिवीपर प्रवर्तित रहे।

इस तरह [स्वोपज्ञटीकासहित] आप्त-परीक्षा सानुवाद समाप्त हुई।

---

1 द 'भास्वद्भी निर्दोषा'। 2 मु स प 'कुमतिमतध्वान्तभेदने पटवी'। 3 मु 'भूरिभूषणं-स्सबलं'। 4 '॥छ॥ शुभमस्तु इत्याप्तपरीक्षा समाप्ता' इति द प्रतिपाठः। अत्र प्रतौ तदनन्तरं 'संवत् १५७८ वर्षे श्रावणशुदि ३ शनौ उँ॥ श्री॥ श्री॥' इति प्रतिलेखनसमयोऽपि उपलभ्यते। मु स प 'इत्याप्तपरीक्षा समाप्ता'। 'स्वोपज्ञटीकायुता' इति तु स्वनिक्षिप्तपाठः।

परिशिष्ट

परिशिष्ट

—❀—

१. आप्तपरीक्षाकी कारिकानुक्रमणिका

अनित्यत्वं तु तज्ज्ञान-	३०
अनीशः कर्मदेहेना-	२४
अन्ययोगव्यवच्छेदान्	५
अभावोऽपि प्रमाणं ते	१०५
अव्यापि च यदि ज्ञान-	३२
अस्वसंविदितं ज्ञान-	३७
इति तत्त्वार्थशास्त्रादौ	१२४
इत्यसम्भाव्यमेवास्या-	८१
इत्यसाधारणं प्रोक्तं	४
इह कुण्डे दधीत्यादि-	४२
इहेति प्रत्ययोऽप्येष	६४
एक एव च सर्वत्र	६३
एतेनैव प्रतिव्यूढः	७८
एतेनैवेश्वरज्ञानं	३६
एवं सिद्धः सुनिर्णीता-	१०९
कथं चानाश्रितः सिद्ध्येत्	६२
कर्माणि द्विविधान्यत्र	११३
कारणान्तरवैकल्यात्	३४
गत्वा सुदूरमप्येवं	३९
गुणादिद्रव्ययोर्भिन्न-	५८
चोदनातश्च निःशेष-	९४
ज्ञाता यो विश्वतत्त्वानां	८
ज्ञानमीशस्य नित्यं चे-	२७
ज्ञानशक्त्यैव निःशेष-	१३
ज्ञानसंसर्गतो ज्ञत्व-	७९
ज्ञानस्यापीश्वरादन्य-त	४
ज्ञानादन्यस्तु निर्देहः	७७
ज्ञानान्तरेण तद्वित्तौ	३८
ततो नायुतसिद्धिः स्या-	५०
ततो नेशस्य देहोऽस्ति	२५
ततोऽन्तरिततत्त्वानि	८८
तत्प्रकर्षः पुनः सिद्धः	११२
तद्बोधस्य प्रमाणत्वे	२८
तत्रासिद्धं मुनीन्द्रस्य	६
तत्त्वान्यन्तरितानीह	९०
तत्स्कन्धराशयः प्रोक्ता	११५
तस्यानन्त्यात्प्रपतृणा-	५७
तत्स्वार्थव्यवसायात्म	४०
तत्स्वार्थव्यवसायात्म-	७५
तथा धर्मविशेषोऽस्य	१७
तथेशस्यापि पूर्वस्मा-	२३
तद्बाधाऽस्तीत्यबाधत्वं	५३
तेषामागामिनां तावद्	१११
तेषामिहेति विज्ञानाद्	५४
देहान्तरात्स्वदेहस्य	२०
देहान्तराद्विना तावत्	१९
द्रव्यस्यैवात्मनो बोद्धुः	७३
द्रव्यं स्वयवयवाधारं	४४
न चाचेतनता तत्र	६५
न चाशेषजगज्ज्ञानं	१०६
न चासिद्धं प्रमेयत्वं	९२
न चास्मादृक्समक्षाणा-	९१
न चेच्छाशक्तिरीशस्य	१२
न स्वतः सन्नसन्नापि	६९
नागमोऽपौरुषेयोऽस्ति	१०३
नानुमानोपमानार्था-	९८
नायमात्मा न चानात्मा	६७
नार्थापत्तिरसर्वज्ञं	१०२

नार्हन्नि:शेषतत्त्वज्ञो ९९
नास्तिकानां तु नैवास्ति ११७
नास्पृष्ट: कर्मभि: शश्वद् ९
निग्रहानिग्रहौ देहं १८
नेशो ज्ञाता न चाज्ञाता ६६
नेशो द्रव्यं न चाद्रव्यं ६८
नोपमानमशेषाणां १०१
न्यक्षेणाप्तपरीक्षा १२२
पृथगाश्रयवृत्तित्वं ४५
पौरुषेयोऽप्यसर्वज्ञ: १०४
प्रणीतिर्मोक्षमार्गस्य १०
प्रणेता मोक्षमार्गस्य ११
प्रणेता मोक्षमार्गस्या- ११९
प्रत्यक्षमपरिच्छिन्दत् ९७
प्रधानं ज्ञत्वतो मोक्ष- ८०
प्रधानं मोक्षमार्गस्य ८३
प्रबुद्धाशेषतत्त्वार्थे- १
प्रसिद्ध: सर्वतत्त्वज्ञ: ७
फलत्वे तस्य नित्यत्वं २९
बुद्ध्यन्तरेण तद्बुद्धे: ३१
भावकर्माणि चैतन्य- ११४
भोक्तात्मा चेत्स एवास्तु ८२
मार्गो मोक्षस्य वै सम्यग् ११८
मिथ्यैकान्तनिषेधस्तु १०८
मोक्षमार्गस्य नेतारं ३
मोहाक्रान्तान्न भवति गुरो- १२१
यत्तु संवेदनाद्वैतं ८६
यथाऽनीश: स्वदेहस्य २२
यदि षड्भि: प्रमाणै: स्यात् ९३
यद्येकत्र स्थितं देशे ३३
यत्रार्हत: समक्षं तत्र ९५
युतप्रत्ययहेतुत्वाद् ४९
येनाशेषजगत्यस्य १०७
येनेच्छामन्तरेणाऽपि २६
विभुद्रव्यविशेषाणा- ४७
विशेषणविशेष्यत्वप्रत्यया- ५६
विशेषणविशेष्यत्वसम्बन्धो ५५
वीतनि:शेषदोषोऽत: १२०
श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राद्भुत- १२३
श्रेयोमार्गस्य संसिद्धि: २
स एव मोक्षमार्गस्य ७६
सति धर्मविशेषे हि १५
सत्यामयुतसिद्धौ चे- ४३
समवाय: प्रसज्येता- ४८
समवायान्तराद्वृत्तौ ५२
समवायिषु सत्स्वेव ६१
समवायेन तस्यापि ४१
समीहामन्तरेणाऽपि १४
संयोग: समवायो वा ५९
सर्वत्र सर्वदा तस्य ३५
संवृत्त्या विश्वतत्त्वज्ञ: ८५
सिद्धस्यापास्तनि:शेष- १६
सिद्धेऽपि समवायस्य ५१
स्वयं देहाविधाने तु २१
सुगतोऽपि न निर्वाण- ८४
सुनिश्चितान्वयाद्धेतो: ९६
सोऽर्हन्नेव मुनीन्द्राणां ८७
स कर्मभूभृतां भेत्ता ११०
स्वतन्त्रस्य कथं तावत् ६०
स्वत: सतो यथा सत्त्व- ७२
स्वयं ज्ञत्वे च सिद्धेऽस्य ७४
स्वरूपेण सत: सत्त्व- ७१
स्वरूपेणासत: सत्त्व- ७०
स्वात्मलाभस्ततो मोक्ष: ११६
हेतोर्न व्यभिचारोऽत्र ८९
हेतोरस्य विपक्षेण १००

२. आप्तपरीक्षामें आये हुए अवतरणवाक्योंकी सूची—

अवतरणवाक्य	पृष्ठ
अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकाम: [ ]	२३१
अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमा- [महाभा०वनप. ३०।२]	३६, ९७
अद्वैतैकान्तपक्षेऽपि [आप्तमी. का. २४]	१७५
अपूर्वकर्मणामास्रवनिरोध:[त. सू. ९-१]	६
अपृथगाश्रयवृत्तित्वं [ ]	११०
अयुतसिद्धानामाधार्या- [प्रशस्तपा. भा. पृ. १४]	१०६
अर्थस्यासम्भवेऽभावात् [ ]	१७३
आदावन्ते च यन्नास्ति [गौडपा. का. ६ पृ. ७०]	१९७
आदौ मध्येऽवसाने च [धवला १-१-१ उद्धृत]	१०
आस्रवनिरोध: संवर: [तत्त्वार्थसू. ९-१]	२५४
इन्द्रजालादिषु भ्रान्त- [न्यायविनि. का. ५१]	१९८
एकद्रव्यमगुणं [वैशेषिक सू. १-१-१७]	१९, २०
एकशास्त्रपरिज्ञाने [ ]	२१६
कर्मद्वैतं फलद्वैतं [आप्तमी. का. २५]	१८५
कर्मागमनहेतुरास्रव: [ ]	२४१
कामशोकभयोन्माद— [प्रमाणवा. ३।२८२]	१७२
कायवाङ्मन:कर्म योग: [तत्त्वार्थसू. ६-१]	२४२
क्रियावद्गुणवत्समवायि- [वैशेषिकसू. १-१-१५]	१७, १८
चितिशक्तिरपरिणामि- [ ]	६२
चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपं [योगभाठ० १-९]	१६२, २५२
चोदना हि भूतं भवन्तं [शावरभा० १-१-२]	२१२
जीवन्नेव हि विद्वान् [ ]	१६
ज्ञाते त्वनुमानादवगच्छति बुद्धिं [शावरभाष्य १।१।५]	२१३
ज्ञात्वा व्याकरणं दूरं [तत्त्वसं. द्वि. भा. ३१६५]	२१६
ज्योतिर्विच्च प्रकृष्टोऽपि [तत्त्वसं. द्वि. भा. ३१६६]	२१६
तत्त्वं भावेन व्याख्यातम् [वैशेषिकसू. ७-२-२८]	१२२
तथा वेदेतिहासादि— [तत्त्वसं. द्वि. भा. ३१६७]	२१६
तदा द्रष्टु: स्वरूपेऽवस्थानम् [योगद. सू. १-३]	१५८
तिष्ठन्त्येव पराधीना- [प्रमाणवा. २।१९९]	१७४
दश हस्तान्तरं व्योम्नि [तत्त्वसं. द्वि. भा. ३१६८]	२१६
देशत: कर्मविप्रमोक्षो निर्जरा [ ]	२५४
द्रव्याश्रय्यगुणवान [वैशेषिकसू. १-१-१६]	१९
दृश्यमानाद्यदन्यत्र [मीमांसाश्लो० वा.]	२२९
दृष्टहानिरदृष्टपरिकल्पना च पापीयसी	१६६
धर्मे चोदनैव प्रमाणम् [ ]	२३०
न हि कृतमुपकारं [तत्त्वार्थश्लोकवा. पृ. २ उद्धृत]	११
नाकारणं विषय: [ ]	१६८
नाऽन्योऽनुभाव्यो बुद्ध्यास्ति- [प्रमाणवा. ३-३२७]	१९२
नैकं स्वस्मात्प्रजायते-[आप्तमी. का. २४]	२०५

अवतरणवाक्य	पृष्ठ	अवतरणवाक्य	पृष्ठ
पदार्थधर्मसंग्रहः [प्रशस्तपा. भा. पृ. १]	२२,२७	वर्षशतान्ते वर्षशतान्ते [ ]	५३
पृथगाश्रयाश्रयित्वं [ ]	११२	वस्तुविषयं प्रामाण्यं द्वयोरपि [ ]	१७३
प्रणम्य हेतुमीश्वरं [प्रशस्तपा. भा. पृ. १]	२८	विस्तरेणोपदिष्टाना-- [ ]	२२
प्रधानविवर्त्तः शुक्लं कृष्णं च कर्म [ ]	२४८	विश्वतश्चक्षु- [श्वेताश्वत. ३-३]	३६
प्रमाणं प्रमाता [न्यायभाष्य पृ. २]	१०१	षण्णामाश्रितत्वमन्यत्र [प्रशस्त० भाष्य पृ. ६]	१२९
प्रभास्वरमिदं चित्तं [ ]	२५३	स आस्रवः [तत्त्वार्थसू. ६-२]	२४२
प्रसिद्धो धर्मी [न्यायप्रवेश पृ. १]	२५६	स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षा- [तत्त्वार्थसू. ९-२]	६
बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां [तत्त्वार्थसू. १०-२]	२	सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्य- [मीमांसाद. १।१।४]	२०६,२१९
बुद्धो भवेयं जगते हिताय [अद्वयवज्रसं. पृ. ५]	१७५	सदकारणवन्नित्यम् [वैशेषिकसू. ४-१-१]	४
बुद्ध्यवसितमर्थं पुरुषश्चेतयते [ ]	१६४	सदैव मुक्तः सदैवेश्वरः [ ]	३०
भावनाप्रकर्षपर्यन्तजं [न्यायबिन्दु पृ. २०]	१७१	स पूर्वेषामपि [योगद. सू. १-२६]	३३
भिन्नकालं कथं [प्रमाणवा. ३-२४७]	१७०	सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनं प्रत्यक्षम् [न्यायबिन्दु पृ. १९]	१६८
यत्रैव जनयेदेनां [ ]	१७०	सर्वं सर्वत्र विद्यते [ ]	१३७
येऽपि सातिशया दृष्टाः [तत्त्वसं. द्वि. भा. ३१६०]	२१६	संसर्गहानेः सकलार्थहानिः- [युक्त्यनुशा. का. ७]	११८
यो लोकान् ज्वलयत्यनल्प- [ ]	२०२	स्वरूपस्य स्वतो गतिः [प्रमाणवा. १।६]	१९२
		हेतोरद्वैतसिद्धि- [आप्तमी. का. २६]	१८६

३. आप्तपरीक्षामें उल्लिखित ग्रन्थोंकी सूची—

ग्रन्थ नाम	पृष्ठ	ग्रन्थनाम	पृष्ठ
आप्तमीमांसा	२६२	तत्त्वार्थालङ्कार	२०४, २३३, २६०, २६२
तत्त्वार्थ	२६६	देवागम	२६२
तत्त्वार्थशास्त्र	२६५	देवागमालङ्कार	२६२
देवागमालङ्कृति	२३३	विद्यानन्दमहोदय	२३३, २६२

———

४. आप्तपरीक्षामें उल्लिखित ग्रन्थकारोंकी सूची

ग्रन्थकार नाम	पृष्ठ	ग्रन्थकार नाम	पृष्ठ
अकलंकदेव	१९८	भट्ट (कुमारिल)	१०६, १९९, २१३, २१६
कणाद	२८, २९, ६८	व्यास	३६
जैमिनि	२०८, २३२	शङ्कर	६९, ११६
दिग्नागाचार्य	१६९	शवर	२१३
प्रभाकर	२००, २१३	समन्तभद्रस्वामी	२०५, २६२
प्रशस्कर	१०६	स्वामी	२६५

५. आप्तपरीक्षामें उल्लिखित न्यायवाक्य

न्यायवाक्य	पृष्ठ	न्यायवाक्य	पृष्ठ
अन्धसर्पविलप्रवेशन्याय	४७	विशेषं धर्मिणं कृत्वा सामान्यं हेतुं ब्रुवतो न दोषः	२५७
दृष्टहानिरदृष्टपरिकल्पना च पापीयसी	११६		
नैकं स्वस्मात्प्रजायते	२०५		

———

६. आप्तपरीक्षागत विशेष नामों तथा शब्दोंकी सूची

विशेष नाम	पृष्ठ	विशेष नाम	पृष्ठ
अनेकान्त	२२५, २३८	चित्राद्वैत	१९४
अन्तकृत्केवली	१५५	जिनेन्द्र	१०, ७१
अपरपरमेष्ठी	८	जिनेश	१२९
अयोगकेवली	२४३,२५९	जिनेश्वर	६३, ६४, १५५, २०९
अर्हत्	२८, २०६, २०८, २१०, २११, २१४, २१५, २२०, २२१, २२३, २२४, २२६, २२७, २३९, २६१, २६२	ज्ञानान्तरवेद्यज्ञानवादिन्	१९९
असम्प्रज्ञात	१५८, १८८	तंत्र	१२९
आचार्य	१३, २६१, २६३	तीर्थंकरत्व	६४
उपनिषद्वाक्य	२०५	त्रिदशेश्वर	६०
ईश	७२, १११	द्वादशाङ्ग	८
ईश्वर	१४, १५, २८, २९, ३१, ३२, ३३, ३४, ३९, ४२, ४४, ४५ आदि।	नास्तिक	२५४
कपिल	१४, २८, १५६, १५७, १५८, १६२, १६७, १६९, १७८, २०६, २३३, २६३	निरीश्वरसांख्यवादिन्	१५७
कर्मवादिन्	२५३	नैयायिक	४६
कापिल	६२, ७२, १६३	परमपुरुष	१८६, १९५, २०२, २०६
केवलज्ञान	१६९, २०४	परमब्रह्म	५६, ५७, १८७, १९५, १९६, २०५
केवली	५, ६४, २२१, २५२	परमागम	८, २०४
गजासुर	६८	परमात्मन्	३०, ३१, २२८, २२९, २४४
गणधरदेवादि	८, १६९	परमेष्ठी	२, ८, ९, १०, ११, १२, १४. २२८, २६१, २६३
गुरु	३३, २६०, २६१, २६३	परोक्षज्ञानवादिन्	१९०, १९९
		पुरुषाद्वैत	१८२, १८३, १८५, १८६, १८७, १९१, १९४, २०३, २०५, २०६,
		पुरुषाद्वैतवादिन्	१८६, १९३

विशेष नाम	पृष्ठ
प्रजापति	२३२
प्रभाकरदर्शन	२१३
प्रभाकरमतानुसारिन्	१९१, २००, २३४,
प्रवचन	६४
बुद्ध	१७५, १८०
बोध्याद्वैत	२०३
ब्रह्म	५७, २०६, २२४, २२७, २३२
ब्रह्माद्वैत	१९५
भट्टमतानुसारिन्	१९१, २००, २३४
भाष्यकार	२१३
मनु	२३२
महेश	१४६
महेश्वर	३०, ३१, ३३, ३९, ४१, ४३, ४८, ४९, ६२, ६५, आदि।
मीमांसक	२११, २१२, २३१
योगाचारमतानुसारिन्	१७८
योगिज्ञान	१७१
योगिन्	२६, ६५, १७२
योगिप्रत्यक्ष	२६, १७१, १७७, २२६
यौग	२९
रावण	१८५
विदग्धवैशेषिक	११३
वीतराग	८, २३१
विवेकख्याति	१६३
वेद	२१७, २३०, २३१, २३४
वेदान्तवादिन्	१८३, १९७, २०२, २०५
वैशेषिक	१३, १५, १६, २०, २२, ४०, ७२, ७३, ८०, ८६, ९१, १०५, १०८, १०९, १२९, २०६, १३०, १४७, १५०
वैशेषिकतंत्र	२१
वैशेषिकमत	८३, ११९
वैशेषिकशास्त्र	१०९, ११०
वैशेषिकसिद्धान्त	६१
वृद्धवैशेषिक	१४८
व्युत्पन्नवैशेषिक	१३३
शक्र	६३
शङ्कर	१३३
शङ्खचक्रवर्ती	१८५
शम्भु	१४५, १४६
शास्त्र	९, १०, ११, १२, १३, २६३
शास्त्रकार	११, १३, २६५
शिव	१२९, १५५
श्रुति	३६
सदाशिव	५९, ७१
सद्वादिन्	२५२
सम्प्रज्ञातयोग	१५८, १६२, १८८
सम्प्रज्ञातसमाधि	१६३
संवेदनाद्वैत	१८२, १९१, १९४, २०४
सर्वज्ञ	३१, १०१, १६३, १६९, २२५, २२६, २२७, २२८, २२९, २३०, २३१, २३४, २३५, २३६, २३७, २३९
सर्वज्ञवादिन्	१६२, २१७
सर्वज्ञाभाववादिन्	२०८, २२६
सांख्य	७३, १३७, १६२, १६६, १८७
सिद्ध	६४
सिद्धान्त	७५, १२२, १२६
सुगत	१५, २८, १६७, १६८, १६९, १७०, १७१, १७४, १७७, १८०, १८१, १९५, २०६, २३३
सूत्रकार	६, ८, ९, १२, १६९, २४२
सौगत	१६९, १७५, १९४, १९५
सौगतमत	८३
सौत्रान्तिक	१७७
सौत्रान्तिकमतानुसारिन्	१७५
स्याद्वादन्याय	८९
स्याद्वादिन्	२१, ३०, ६४, ८३, ८७, ९०, ९१, १०६, १४७, १६९, २१०, २११, २३७, २३८, २५३
स्याद्वादिदर्शन	१६९, २००
स्याद्वादिमत	२१, ४७

७. आप्तपरीक्षाकी प्रस्तावनामें चर्चित विद्वानोंका अस्तित्व-समय

जैन विद्वान्	वि० सं०	बौद्ध विद्वान्	वि० सं०	वैदिक विद्वान्	वि० सं०
गृद्धपिच्छाचार्य	१ ली श०			कणाद	१-२ री श०
समन्तभद्रस्वामी	२-३ री श०			जैमिनि	२ री श०
श्रीदत्त	३-५ श०का			अक्षपाद	२-३ श०
	मध्य	दिङ्नाग	४८२	वात्स्यायन	३-४ श०
पूज्यपाद	६ ठी शती				
सिद्धसेन	६-७ वीं श०			प्रशस्तपाद	५ वीं श०
(सन्मतिसूत्रकार)	का मध्य			उद्योतकर	६५७
पात्रस्वामी	६-७ श०का मध्य			भर्तृहरि	७०५
अकलङ्कदेव	७-८ श०का मध्य	धर्मकीर्ति	६८२	कुमारिल	६८२-७३७
वीरसेन	८७३	प्रज्ञाकर	७५७	प्रभाकर	६८२-७३७
जिनसेन प्रथम	८१५-८९४	धर्मोत्तर	७८२	व्योमशिव	७०५-७५७
जिनसेन द्वितीय		शान्तरक्षित	८८२	वाचस्पति मिश्र	८९८
(हरिवंशपुराणकार)	८४०	कमलशील	९०७	जयन्त भट्ट	८९८
कुमारसेन	८०७			मण्डनमिश्र	७२७-७७७
कुमारनन्दि	८-९ वीं श०			सुरेश्वरमिश्र	८४५-८७७
विद्यानन्द	८३२-८९७			उदयन	१०४१
अनन्तवीर्य (सिद्धि-				श्रीधर	१०४८
विनिश्चयटीकाकार)	९ वीं श०				
माणिक्यनन्दि	१०५०-१११०				
नयनन्दि	११००				
वादिराज	१०८२				
प्रभाचन्द्र	१०६७-११३७				
अनन्तवीर्य					
(प्रमेयरत्नमालाकार)	११-१२ वीं श०				
अभयदेव	१०६७-११३७				
वादि देवसूरि	११४३-१२२६				
हेमचन्द्र	११४५-१२२९				
गणधरकीर्ति	११८९				
लघुसमन्तभद्र	१३ वीं श०				
अभिनव धर्मभूषण	१४१५-१४७५				
उपाध्याय यशोविजय	१८ वीं श०				

विद्वानोंकी कुछ सम्मतियाँ

मैंने 'आप्तपरीक्षा' की भाषाव्याख्या, जिसके निर्माता श्रीदरबारीलालजी जैसे विज्ञ हैं, विमर्शपूर्वक देखी। इस व्याख्याके कर्तृत्वमें अध्ययन, श्रम, गवेषणा तथा भाषासौष्ठव विशद प्रकारसे उपलब्ध होता है। पदार्थविवेचन स्पष्ट, शुद्ध और अस्खलितभावसे किया गया है। मार्मिक स्थलोंकी ग्रन्थियाँ ऐसी उद्घाटित हुई हैं कि उससे अध्येतृवर्गको सुगमता प्राप्त करनेमें विशेष बुद्धिव्यायामका प्रसङ्ग कदाचित् उपस्थित होसके। यह प्रयत्न राष्ट्रभाषाके भण्डारके लिये सफल होगा।

महादेव पाण्डेय

अध्यक्ष साहित्य, संस्कृतमहाविद्यालय, हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी।

आज इस 'आप्तपरीक्षा' के भाषानुवादको देखकर मुझे परम सन्तोष हो रहा है। इसमें पं० दरबारीलालजी जैनने ऐसी रीतिका आश्रयण किया है, जिससे कठिन-से-कठिन रहस्य सरलतासे समझमें आजावें। यह हिन्दी भाषानुवाद केवल साधारण जनोंके लिये ही नहीं, किन्तु संस्कृत जाननेवालोंके लिये भी अतीव उपयोगी है। इससे समाजका परम उपकार होगा।

मुकुन्दशा० खिस्ते

प्रो० गवर्नमेन्टसंस्कृतकालेज, बनारस।

'आप्तपरीक्षा' के प्रस्तुत संस्करणमें विद्यानन्दकी दार्शनिक प्रतिभा और प्रौढता पृष्ठ-पृष्ठपर है। इस सुन्दर संस्करणमें सम्पादकने जो प्रयत्न किया है वह अनुकरणीय है।

मुनि कान्तिसागर

सम्पादक 'ज्ञानोदय', भारतीयज्ञानपीठ, काशी।

मुनिविद्यानन्दविरचिता, आप्तपरीक्षा स्वोपज्ञटीकासहिता मयाऽऽपातत एव दृष्टा, परन्तु तावतैवास्याः स्थालीपुलाकन्यायेन यत्परीक्षणं समजनि, तेनास्याः परमोपादेयतां सम्मन्यते। सम्पादनञ्च नवीनप्रणाल्या सुष्ठु कृतं चेति प्रमोदावहम्।

नारायणशास्त्री खिस्ते

प्रिंसिपल गवर्नमेन्ट संस्कृत कालेज, बनारस।

अनूदिताऽऽप्तपरीक्षाऽसीम-समीक्षा-समुल्लसद्विवृतिः।
अनुपदमेषाऽनिन्द्या कलितोन्मेषाऽनवद्यया हिन्द्या ॥१॥
क्लिष्टमपीह विमृष्टं विस्पष्टं नैव किञ्चिदवशिष्टम्।
दृष्ट्वाऽन्ते तु निविष्टं परिशिष्टं मन्मनो हृष्टम् ॥२॥
मतिमन्माननीयस्यामुष्यामन्दमनस्विनः।
महिमानमिमं मत्वा मोमुदीति मनो मम ॥३॥

भूपनारायण झा शास्त्री

प्रो० ग० सं० कालिज, बनारस।

मुद्रक— अजितकुमार जैन शास्त्री, अकलङ्कप्रेस, पानमंडी, सदरबाजार, देहली।